बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास

• • •

हिन्दी-समिति-ग्रन्थमाला--७१

बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास

लेखक

डॉ० गोविन्दचन्द्र पाण्डेय

हिन्दी समिति, सूचना विभाग

उत्तर प्रदेश, लखनऊ

प्रकाशक की ओर से

○ ○ ○

विश्व में एशिया खण्ड ही ऐसा स्थल है जहाँ धर्मों और सम्प्रदायो का उद्गम हुआ है। पारसी, यहूदी, ताओ, कनफ्यूसियन, सांख्य-योग, बौद्ध, जैन, जैसे धर्म इसी उर्वर भूमि मे जन्मे और इनकी वैचारिक उद्भावनाएँ ईसापूर्व पाँच-छ: शताब्दियों में ही नवीन चेतना के रूप में प्रतिष्ठित हुईं। इनमें से भारत में प्रादुर्भूत बौद्ध धर्म व्यापक मानवीयता, करुणा और नैतिकता का अधिक पोषक माना गया और इसका प्रसार शिष्टता एवं आदर के साथ पूरे एशिया-खण्ड में आरम्भ से ही होने लगा। इस धर्म में किसी सद्विचार का विरोध नही था, किसी जीवधारी का अहित चिन्तन नही था, अपितु समन्वयात्मक विश्व-कल्याण की भावना थी। इस देश में प्राचीनकाल से यह भावना अनजानी न थी, किन्तु कुछ शतकों के बीच लौकिक जीवन का नेतृत्व राजाओं और पुरोहितों, श्रेष्ठियों और ऋत्विजों के अधीन हो गया था। ये लोग शक्ति, धन और देवपूजा द्वारा अपने भोग और सुविधाएँ जुटाना ही जीवन का लक्ष्य मानने लगे थे। अत: जन-सामान्य के कष्ट से तप्त गौतम बुद्ध ने भरी तरुणाई में व्यक्तिगत सुख से मुँह मोड़कर मानवता के उद्धार मे ही अपनी शान्ति एवं निर्वाण-प्राप्ति की सिद्धि की। कृतज्ञ जनता ने उनको भगवान् माना और उनके वचनामृतों से अपनी जीवन-पद्धति निर्धारित की।

पुन: एक युग ऐसा आया जिसमें बौद्ध धर्म के प्रभाव से अशोक, मिलिन्द, शालिवाहन, कनिष्क, हर्षवर्धन जैसे महान् शासक धन, वैभव, मद, मोह को त्याग कर लोकहितकारी पवित्र जीवन बिताने लगे। भारत

का यह धर्मसन्देश यूनानी, तूरानी, चीनी, जापानी शासकों को भी शिरोधार्य हुआ। इस आधुनिक नये युग में भी बुद्ध-उपदिष्ट धर्म को मानने वाले विदेशी लोगों की संख्या भारतवासी हिन्दुओं से अधिक है और वे सब इस देश भारत को पुण्य भूमि मानते हैं।

हिन्दी समिति की प्रस्तुत पुस्तक में संक्षेप में इन्हीं सब विषयों का दिग्दर्शन कराते हुए उन परिस्थितियों और घटनाओं का विवेचन किया गया है जो बौद्ध धर्म के उद्भव और विकास की पृष्ठभूमि मानी जाती हैं। इस प्रसंग में बौद्ध धर्म के सिद्धान्तों, उपदेशों, कलात्मक, साहित्यिक और सामाजिक रचना एवं रीति-नीतियों का विशद वर्णन किया गया है। विद्वान् लेखक के गम्भीर चिन्तन तथा पाण्डित्यपूर्ण पाश्चात्य शैली के गवेषणात्मक अध्ययन की छाप पुस्तक में स्पष्ट मिलती है। यह उपयोगी रचना इतिहास-प्रेमियों को बहुत रुचिकर हुई और इसका प्रथम संस्करण शीघ्र ही समाप्त हो गया। पाठकों की आग्रहपूर्ण माँग को ध्यान में रखकर अब इसका द्वितीय संस्करण प्रस्तुत किया जा रहा है। हमारे अनुरोध पर लेखक ने इस संस्करण में यत्र-तत्र आवश्यक संशोधन और परिवर्धन कर दिया है। इससे उपयोगिता बढ़ गयी है। गुणग्राही अध्येता प्रस्तुत संस्करण का भी पूर्ववत स्वागत करेंगे, ऐसा हमारा विश्वास है।

काशीनाथ उपाध्याय 'भ्रमर'
सचिव,
हिन्दी समिति, उत्तर प्रदेश शासन

लखनऊ
हिन्दी भवन

विषय-सूची

संकेत विवरण

अथर्व०	=अथर्ववेद संहिता
अनु०	=अनुवादक
अंगुत्तर (रो०)	=अंगुत्तरनिकाय, रोमन लिपि में सम्पादिन (Pali Text Society) के द्वारा प्रकाशित।
अट्ठसालिनी (ना०)	=अट्ठसालिनी, नागरी लिपि में सम्पादित, वापट और वाडेकर के द्वारा, १९४२।
अप्ट०, अप्टसाहस्रिका	=अप्टसाहस्रिका प्रज्ञापारमिना (सं० राजेन्द्रलाल मित्र)।
आयारंग	=आयारंगमुत्त (शीलांक की व्याख्या के साथ, कलकत्ता, १८७९)
आपस्तम्ब	=आपस्तम्ब धर्मसूत्र (सं० बूलर, **द्वितीय** संस्करण)
आइ० एच० क्यू०=IHQ	=Indian Historical Quarterly
ई० आर० ई०=ERE	=Encyclopaedia of Religion and Ethics (सं० J. Hastigs.)
ई०	=ईसवी सन्
ई० पू०	=ईसापूर्व
उप०, उ०	=उपनिषद्
उत्तर०	=उत्तरज्झयण (आगमोदय समिति के द्वारा प्रकाशित)
उदा०	=उदाहरणार्थ
ऋ० सं०	=ऋग्वेदसंहिता
एस० बी० ई०=SBE	=Sacred Book of the East
ए० एस० आई०=ASI	=Archaeological Survey of India

एम० ए० एस० आइ०=MASI =Memoir. of the Archaeological Survey of India

ऐ० =ऐतरेयोपनिषद्

ऐ० आ० =ऐतरेयारण्यक

ऐ० ब्रा० =ऐतरेय ब्राह्मण

आरजिन्स आव बुद्धिज्म =डा० गोविन्दचन्द्र पाण्डेय, Studies in the Origins of Buddhism (Allahabad. 1957).

कठ० =कठोपनिषद्

कथा० =कथावत्थु

का० सं० =काठक संहिता (स्वाध्याय मंडल, औंध)

कोश =L'Abhidharmakos'a de Vasubandhu (tr. et an. par L. dela Vallee Poussin, Paris, 1923-31)

कोनाड =Sten konows Kharosthè Inscriptions.

काम्प्रिहेन्सिव हिस्टरी =A Comprehensive History of India Vol. II (Ed. K. A. N. Sastri)

कौषीतकि० =कौषीतकिब्राह्मणोपनिषद्

केन० =केनोपनिषद्

खुद्दक (ना०) =खुद्दकनिकाय, नागरी लिपि मे सम्पादित (नालन्दा-देवनागरी-पालि-ग्रन्थमाला)

गौतम गौतमधर्मसूत्र (आनन्दाश्रम-संस्कृत-ग्रन्थ-माला में प्रकाशित, १९१०)

छा० =छान्दोग्योपनिषद्

जि० =जिल्द

जे० आर० ए० एस०=JRAS =Journal of the Royal Asiatic Society of Great Britain Ireland.

जे० ए०=JA =Journal Asiatique

जे० ए० एस० बी०=JASB =Journal of the Asiatic Society of Bengal.

जे०आर०ए०एस०बी०=JRASB=Journal of the Royal Asiatic Society of Bengal.

जे० बी० ओ० आर० एस०=
JBORS=Journal of the Bihar Orissa Research Society.

जे० बी० बी० आर० ए० एस०—
JBBRAS=Journal of the Bombay Branch of the Royal Asiatic Society.

जे० जी० आर० आइ०=JGRI =Journal of the Ganganatha Jha Research Institute

जेड० डी० एम० जी०=ZDMG=Zeitschrift der deutschen Morgenlandischen Gesellschaft.

जे० पी० टी० एस०–JPTS =Journal of the Pali Text Society.

जे० डी० एल०=JDL =Journal of the Department of Letters.

जातक (ना०) =जातकट्ठकथा, भाग १ (काशी, १९५१)

जातक० =Jatakatthavannana (लन्दन, १८७७–९७) (Ed Eausbëll)

तै० =तैत्तिरीयोपनिषद्

तै० आ० =तैत्तिरीयारण्यक (आनन्दाश्रमीय संस्करण)

तै० ब्रा० =तैत्तिरीय ब्राह्मण

ताण्ड्य० =ताण्ड्यमहाब्राह्मण (चौखम्बा का संस्करण)

तारानाथ =A. Schiefner (अनु०) Taranathas Geschichte des Buddhism in Indian (St. Petersberg, 1867)

तकाकुसु, इ-चिंग =J. Takakusu, A Record of the Buddhist Religion as practised in India and the Malaya Archipelage by I-tsing (Oxford, 1896).

तु० =तुलनीय

त्रिंशिका	=द्र० विंशतिका
दीघ (ना०)	=दीघनिकाय, नागरी लिपिमें सम्पादित (नालन्दा-देवनागरी-पालि-ग्रन्थमाला में प्रकाशित)
दीघ (रो०)	=दीघनिकाय, रोमन-लिपि में सम्पादित (पी० टी० एस० के द्वारा प्रकाशित)
दे०	=देखिए
द्र०	=द्रष्टव्य
दिव्यावदान	=दिव्यावदान (पी० एल० वैद्य द्वारा सम्पादित)
दत्त, महायान	=नलिनाक्ष दत्त, Aspects of Mahayana & its Relation to Hīnayāna.
धम्मसंगणि	=धम्मसंगणि, नागरी लिपि में सम्पादित, बाप और वाडेकर के द्वारा, पूना, १९४०
नंजियो	=Bunyin Nanjio, Catalogue of the Chinese translation of the Buddhist Tripitaka (Oxford, 1883).
पी० टी० एस०	=Pali Text Society
पी० एच० ए० आइ०=PHAI	=H. C. Raychaudhuri, Political History of Ancient India.
पी० आइ० एच० सी०=PIHC	=Proceedings of the Indian History Congress.
प्रश्न०	=प्रश्नोपनिषद्
पूर्व०	=पूर्वोल्लिखित ग्रन्थ
पृ०	=पृष्ठ
प्र०	=प्रभृति
बील, श्वाँच्वाँग	=S. Beal, (tr.) Si-Yu-Ki or Buddhist Records of the Western World (कलकत्ता, १९५७)
बौधायन	=बौधायनधर्मसूत्र (मैसूर, १९०७)
बुदोन	=E. Oberiller (tr.), Bu-Ston-History of Buddhism. २ जि० (१९३१–३२)

बारो	=A. Bareau, Les Sectes Bouddhiques du Petit Vehicule (सैगोन, १९५५)
बोधिचर्या०	=बोधिचर्यावतार (बिब्लियोथेका इण्डिका में प्रकाशित)
बिब० इण्ड०	=बिब्लियोथेका इण्डिका
ब्र० सू०	=ब्रह्मसूत्र
बृ०	=बृहदारण्यकोपनिषद्
मललसेकर	=Malalesckara, Dictionary of Pali Proper Names. २ जिल्द
मसुदा	=J. Masuda, Origin and Doctrines of Early Indian Buddhist Schools (Asia Major II, 1925)
मिलिन्द	=मिलिन्दपञ्हो (आर० डी० वाडेकर द्वारा नागरी में सम्पादित)
मध्यमक०	=Mulamadhyamakakarikas de Nagarjuna avec le Prasannapada (सं० La Valee Poussin)
मज्झिम (ना०)	=मज्झिमनिकाय (नालन्दा-देवनागरी-पालि-ग्रन्थमाला में प्रकाशित)
मज्झिम (रो०)	=मज्झिमनिकाय (पी०टी०एस० के द्वारा प्रकाशित)
मुण्ड०	=मुण्डकोपनिषद्
ललित	=ललितविस्तर (पी० एल० वैद्य द्वारा सम्पादित)
लामोत, लत्रैते	=E. Lamotte, Le Traite' de La Grande Vertue de Sagesse de Nagarjuna. २ जि०
लंका०	=लंकावतार (कियोटो, १९२३)
लूदर्स	=M, Luders, A List of Brahmi Inscriptions (Epigraphia Indica, X)

वसिष्ठ	=वसिष्ठधर्मशास्त्र (पूना, १९३०)
वाटर्स	=T. Watters, On Yuan Chwang's travels in India, २ जि०
वालेज़ेर	=M. Walleser: Die Seken desalten Buddhismus, (Heidelberg, 1927)
विनय (ना०)	=विनयपिटक, (नालन्दा-देवनागरी-पालि-ग्रन्थ-माला में प्रकाशित)
विन्टरनित्स	=Winternitz, History of Indian Literature, जि० २ (कलकत्ता, १९३८)
विसुद्धिमग्गो	=विसुद्धिमग्गो (धर्मानन्द कोसम्बि द्वारा नागरी में सम्पादित)
विंशतिका	=Vijnaptimatratasiddhi deux traites de Vasubandhu, Vinśatika et Trinśikā (Paris, १९२५)
वैदिक इन्डेक्स	=A. A. Macdonell & A. B. Keith, Vedic Index. २ जि० ।
शत०, शतसाहस्रिका	=शतसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता (सं० प्रतापचन्द्रघोष)
शतपथ०	=शतपथब्राह्मण (अच्युत ग्रन्थमाला का संस्करण)
सी० आइ० जाइ०	=Corpus Inscriptionum Indicarum
सी० एच० आइ०	=Cambridge History of India, Vol. I.
सिद्धि	=Vijnaptimatratasiddhi-La Siddhi be Hiuen Tsawg. tr. et an. ar de la Vall'e Poussin (Paris १९२८–२९)
श्चेरबात्स्की, सेन्ट्रल कन्सेप्सन	=T. Stcherbatsky, Central conception of Buddhism and the Meaning of the Word Dharm
श्चेरबात्स्की, निर्वाण	=T. Stcherbatsky the Conception of Buddhist Nirvana (1927)
,, ,, लाजिक	=T. Stcherbatsky, Buddhist Logic 1932 २ जि०

सूत्रालंकार	=महायानसूत्रालंकार (सिल्वें लेवि द्वारा सम्पादित)
स्फुटार्था	=स्फुटार्था, अभिधर्मकोशव्याख्या, वोगिहारा के द्वारा रोमन में सम्पादित।
श्लो०	=श्लोक
सूय०	=सूयगडंग (=सूत्रकृतांग, पी० एल० वैद्य द्वारा सम्पादित)
श्वेताश्व०	=श्वेताश्वतरोपनिषद्
संयुत्त (ना०)	=संयुत्तनिकाय (नालन्दा-देवनागरी-पालि-ग्रन्थमाला में प्रकाशित)
संयुत्त (रो०)	=संयुत्त निकाय (पी०टी०एस० के द्वारा प्रकाशित)
स०	=सम्पादक
शिक्षा	=शिक्षासमुच्चय (सं०C. Bendall)

अध्याय १

बुद्ध और उनका युग

वैदिक पृष्ठभूमि

आर्येतरीय और आर्यधर्म—प्रागैतिहासिक काल से भारत नाना जातियों और संस्कृतियों का आश्रय रहा है और उनकी विभिन्न प्रवृत्तियों तथा जीवन-विधाओं के संघर्ष और समन्वय के द्वारा भारतीय इतिहास की प्रगति और संस्कृति का विकास हुआ है। इस विकास में आर्येतर जातियों का उतना ही महत्त्वपूर्ण हाथ रहा है जितना आर्य जाति का। पिछले इतिहासकार भारत की आर्येतर जातियों को प्रायः बर्बर अथवा असभ्य मानते थे, अतएव यह कल्पना करते थे कि वैदिक तथा परवर्ती भारतीय सभ्यता के अभ्युन्नत तत्त्व मूलतः आर्यों की देन होंगे। परन्तु अब हरप्पा-संस्कृति के पता लगने पर न केवल यह दृष्टि भ्रान्त ठहरती है, प्रत्युत् यह प्रतीत होता है कि भारत में आर्यो के आक्रमण को एक सभ्य प्रदेश में बर्बर जाति का प्रवेश समझना चाहिए।[1] यद्यपि आर्यो ने अपनी पूर्ववर्तिनी आर्येतर सभ्यता को ध्वस्त कर अपनी विशिष्ट भाषा, धर्म और समाज को भारत में प्रतिष्ठित किया तथापि यह निर्विवाद है कि यह सांस्कृतिक विध्वंस निरन्वय विनाश नहीं था और सिन्धु-संस्कृति के अनेक तत्त्व परवर्ती आर्य-सभ्यता में अंगीकृत हुए। आर्य तथा आर्येतर सांस्कृतिक परम्पराओं का यह समन्वय भारतीय सभ्यता के निर्माण की आधार-शिला सिद्ध हुई। इसका प्रभाव एक ओर उत्तर वैदिक-कालीन समाज-रचना में स्पष्ट देखा जा सकता है, दूसरी ओर उस बौद्धिक और आध्यात्मिक आन्दोलन में जिसका चरम परिणाम बौद्ध धर्म का अभ्युदय था।[2]

१—तु०—पिगट, प्रिहिस्टरिक इण्डिया, पृ० २५७—५८।

२—द्र०—लेखक की स्टडीज इन दि ओरिजिन्स आव बुद्धिज्म, अध्याय ८।

सैन्धव-संस्कृति—आर्यों का भारत में आगमन और वैदिक सभ्यता का प्रारम्भ ई० पू० द्वितीय सहस्राब्दी के मध्य में निर्धारित किया गया है[3]। पर यह धारणा अयुक्त प्रतीत होती है। बोगजकोई के अभिलेखों में उल्लिखित देवताओं को वैदिक देवता स्वीकार करने पर आर्यों का भारत-प्रवेश १४०० ई० पू० से पर्याप्त पहले होगा[4]। वैदिक भाषा और संस्कृति का सुदीर्घ विकास तथा पश्चिमी एशिया का इतिहास देखते हुए आर्यों का भारत में पदार्पण १८०० ई० पू० के लगभग मानना युक्ति-संगत होगा। उस समय ताम्र-प्रस्तर-युगीन, साक्षर और नागरिक सैन्धव सभ्यता शिमला की पहाड़ियों की तलहटी से लेकर कराची से ३०० मील पश्चिम अरब सागर के तट तक फैली हुई थी। पूर्व की ओर इसका प्रभाव काठियावाड़, बीकानेर और कदाचित् उत्तरकालीन हस्तिनापुर तक विस्तृत था। इस संस्कृति के निर्माता अनेक जातियों के थे—मूल-आस्ट्रेलिद (निषाद), भूमध्यसागरीय (द्रविड़ ?), तथा मंगोलिद (किरात[5])। नगरमापन, मूर्तिकला और व्यापार में समुन्नत होते हुए भी यह सभ्यता शस्त्रास्त्र के विज्ञान में दुर्बल थी और अश्वारोहण से प्रायः अपरिचित। इसके आध्यात्मिक कृतित्व के विषय में निर्विवाद रूप से कुछ कहना कठिन है क्योंकि तत्कालीन लिखित सामग्री जितनी अल्प है उतनी ही दुर्बोध। इस विरोधाभास पर विस्मय प्रकट किया गया है कि सैन्धव सभ्यता अपने उत्तराधिकारियों को अध्यात्म-विद्या की अक्षय थाती सौंप सकी जबकि उसका वह भौतिक कलेवर, जिसके अवशेषों में वह इस समय विद्यमान है, आर्यों के आक्रमण को बिलकुल न सह सका[6]। इसका प्रत्याख्यान नहीं किया जा सकता कि परवर्ती भारतीय धार्मिक जीवन के अनेक महत्त्वपूर्ण तत्त्व सिन्धु-सभ्यता से लिये गये, जिनमें विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं—पशुपति, योगीश्वर तथा कदाचित् नटराज के रूपों में शिव की पूजा, मातृ-शक्ति की पूजा, अश्वत्थ-पूजा, वृषभादि अनेक

३—ह्वीलर, इण्डस सिविलिज़ेशन, पृ० ४, ८४–९२; केम्ब्रिज हिस्टरी ऑव इण्डिया, जि० १, पृ० ७६।

४—तु०—दि वैदिक एज (भारतीय विद्या भवन) पृ० २०४।

५—यह स्मरणीय है कि हड़प्पा ('आर ३७' तथा 'एरिया जी') से उपलब्ध प्रचुरतर सामग्री का नृतत्त्वीय विश्लेषण अभी कर्तव्य है, द्र०—ह्वीलर, इन्डस सिविलिज़ेशन, पृ० ५१–५२।

६—वही, पृ० ९५।

पशुओं का देव-संबन्ध, लिंग-पूजा, जल की पवित्रता, मूर्ति-पूजा और योगाभ्यास जो कि आसन और मुद्रा के अंकन से संकेतित होता है[७]। योग-विद्या की प्राचीनता का यह संकेत बौद्ध-धर्म के अभ्युदय की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। पर यह कहना कि केवल आध्यात्मिक तत्त्व ही सिन्धु सभ्यता से उत्तरकालीन सभ्यता में अंगीकृत हुए, अत्युक्ति होगी। भौतिक सभ्यता के भी अनेक तत्त्व परवर्ती काल में स्पष्टतः अनुसन्तत देखे जा सकते हैं, यथा गेहूँ, जौ, और कपास की खेती, गृह-विन्यास एवं दुर्ग-विन्यास, नाप-तौल की प्रणाली, लिपि-विद्या आदि[८]। कितने उत्तरकालीन शिल्प प्राचीन आर्येतर जातियों की देन हैं, यह कह सकना कठिन है, पर अधिकांश शिल्पियों की . काल में हीन सामाजिक दशा विजेता आर्यों की अपेक्षा विजित आर्येतरों से उनका अधिक सम्बन्ध द्योतित करती है।

यह उल्लेखनीय है कि सिन्धु-संस्कृति का यह विविध प्रभाव आर्यसभ्यता के प्रथम आविर्भाव के समय कम था और पीछे क्रमशः अधिक। प्रारम्भ में विजेता आर्य और विजित, पलायमान अथवा दासकृत आर्येतर जातियाँ परस्पर संघर्ष में निरत थीं और यह कहना आवश्यक है कि युद्धजन्य सम्पर्क सांस्कृतिक आदान-प्रदान अथवा समन्वय के लिए अधिक उपयोगी नहीं होता। आर्य-समाज का प्रारम्भिक रूप भी एक विजयी समाज का था जिसमें शक्ति और प्रतिष्ठा क्षत्रियों तथा ब्राह्मणों के हाथ में थी। क्षत्रिय अथवा राजन्य शासक थे और ब्राह्मण उनके पुरोहित। शेष जनता 'विशः' पद से सम्बोधित होती थी और कृषि तथा पशुपालन के द्वारा आर्थिक जीवन उन पर आवारित था। यद्यपि ऋक्संहिता के 'दास' तथा 'दस्यु' शब्दों की अनार्यपरक व्याख्या समीचीन नहीं प्रतीत होती तथापि भृत्यार्थक एक दूसरा 'दास' शब्द भी वहाँ

७—सैन्धव धर्म पर द्र०—मार्शल, मोहेन्जोदड़ो एन्ड दि इन्डस सिविलिज़ेशन, जि० १, पृ० ७७–७८; ह्वीलर, इन्डस सिविलिज़ेशन, पृ० ८२–८४; पिगट, प्रिहिस्टरिक इण्डिया पृ० २०१–३; मैके, दि इन्डस सिविलिज़ेशन, पृ० ६४–९९; ऑरिजिन्स ऑव बुद्धिज्म, पृ० २५२–५६।

८—द्र०—ह्वीलर, पूर्व०, पृ० ६२–६३; पिगट, पूर्व, पृ० १५३ प्र०; सैन्धव लिपि का ब्राह्मी से सम्बन्ध अनायास कल्पनीय, किन्तु विवादग्रस्त है। सैन्धव दुर्गविन्यास की परम्परा पर द्र०—जी० आर० शर्मा, एक्सकवेशन्स एट कौशाम्बी, पृ० ६; तु०—ह्वीलर, अर्ली इण्डिया एन्ड पाकिस्तान, पृ० १२९।

पाया जाता है[९]। और यह मानना युक्तिसंगत प्रतीत होता है कि आर्य-ग्रामों और आर्य-कुटुम्बों में आर्येतर दास-दासियों का अभाव नहीं था। आर्यजनों के पर्यन्त में स्थित ग्रामों तथा अरण्यों में निषाद, किरात आदि अनेक आर्येतर जनों का निवास था। सम्भव है कि दास-वर्ग में सिन्धु-संस्कृति के अनेक उन्मूलित किसान और कारीगर थे जिन्होंने कालान्तर में आर्य-कृषि और शिल्प के विकास में योग दिया। वैदिक ब्राह्मण समाज की सांस्कृतिक पर्यन्त भूमि में 'मुनियों' और 'श्रमणों' का एक निराला वर्ग था जिसका योगविद्या से परिचय होने के कारण कदाचित् पिछली सिन्धु संस्कृनि से अन्वय स्थापित किया जाना चाहिए। ये मुनि और श्रमण ब्राह्मणेतर, तथा वैदिक संस्कृति के अनभ्यन्तर, प्रतीत होते हैं।

मुनि-श्रमण—ऋक्संहिता के केशि-सूक्त में केशधारी, मैले 'गेरुए' कपड़े पहने हवा में उड़ते , जहर पीते, 'मौनेय' से 'उन्मदित' और 'देवेषित' 'मुनियों' का विलक्षण चित्र अलिखित है। मुनियों का उल्लेख ऋक्संहिता में अन्यत्र भी है, पर विरल है, और ऐसा लगता है कि चमत्कार दिखलाते हुए मुनियों के दर्शन ने सूक्तकार को विस्मय में और इस भ्रान्ति में डाल दिया था कि वे उन्माद अथवा आवेश में हैं। यहां पर यह भी स्मरणीय है कि निवृत्तिपरक अथवा क्लेश-लक्षण तप ऋक्संहिता के सुविदित जीवन-दर्शन के विरुद्ध था तथा योगजन्य सिद्धियाँ उनकी अपरिचित थीं अतएव यह स्वाभाविक है कि मुनियों का आचरण वैदिक ऋषियों को विचित्र प्रतीत हो। कात्यायन की सर्वानुक्रमणी के अनुसार इस सूक्त में 'वातरशन' मुनियों के नाम इस प्रकार थे—जूति, वातजूति, विप्रजूति, वृषाणक, करिक्रत, एतश और ऋष्यश्रृंग। ऐतरेय ब्राह्मण में एक ऐतश का 'उन्मत्त' मुनि के रूप में उल्लेख आता है[१०]। ऋष्यश्रृंग की कथा परवर्ती साहित्य में अनेकत्र और अनेक रूपों में पायी जाती है, पर यह स्पष्ट है कि ऋष्यश्रृंग एक ब्रह्मचारी और आरण्यक तपस्वी थे। तैत्तिरीय आरण्यक में श्रमणों को 'वातरशनाः' कहा गया है[११]। ताण्ड्य० में 'तुरो देवमुनिः' का उल्लेख है[१२]।

९—द्र०—पं० क्षेत्रेशचन्द्र चट्टोपाध्याय, दास एन्ड दस्यु इन दि ऋग्वेद (रोम में संयोजित प्राच्य तत्त्वविदों के १९वें अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन की विवरण पत्रिका)।

१०—वैदिक इन्डेक्स, जि० २, पृ० १६७।

११—तै० आ०, जि० १, पृ० ८७, १३७—३८।

१२—ताण्ड्य० जि० २, पृ० ६०१।

ऋक्संहिता के अरण्यानी सूक्त के द्रष्टा ऐरम्मद देवमुनि थे, जिससे अथर्व० में पठित है 'मुनेर्देवस्य मूलेन' इत्यादि तुलनीय है। ताण्ड्य० में 'मुनिमरण' नामक स्थान का उल्लेख है और 'यतियों' को इन्द्र का शत्रु कहा गया है[13]। उत्तरकाल में यति का अर्थ तापस था, यथा मुण्ड० २. ३. ६। शतपथ में तुर कावषेय को मुनि कहा गया है[14]। शंकराचार्य शारीरकभाष्य (ब्र० सू० ३, ४, ९) में एक श्रुति का उद्धरण देते हैं जिसके अनुसार कावषेय ऋषि वेदाध्ययन और यज्ञ के समर्थक नहीं थे। यह स्मरणीय है कि कवष ऐलूष सरस्वती तट के वैदिक यज्ञ से साक्रोश अब्राह्मण कहकर निकाल दिये गये थे[15]। तैत्तिरीय आरण्यक में गंगा-यमुना के मुनियों को नमस्कार किया गया है[16]। आरुण केतुक चयन के विधान में भिक्षा आवश्यक है। एक भिक्षु आंगिरस ऋक्संहिता के दान की महिमा ख्यापित करनेवाले दशम मण्डल के ११७ वें सूक्त के ऋषि कहे गये हैं। उपनिषदों में श्रमण शब्द का सकृत् प्रयोग है,[17] यद्यपि मुण्डकोपनिषद् स्पष्ट ही यज्ञ-विधि के निन्दक मुण्डित-शिर भिक्षुओं की कृति प्रतीत होती है। इस प्रसंग में बहुचर्चित व्रात्य भी उल्लेख्य हैं[18]। इन उल्लेखों से स्पष्ट है कि वैदिक काल में मुनि-श्रमण ब्राह्मण-प्रधान वैदिक समाज के बहिर्भूत होते हुए भी एक प्राचीन और उदात्त आध्यात्मिक परम्परा के उन्मूलित अवशेष थे। जैन और बौद्ध साहित्य में श्रमणों के विषय में अधिक सामग्री प्राप्त होती है और इसमें सन्देह नहीं रहता कि ब्राह्मण और श्रमण परस्पर विविक्त और विरोधी थे। ई० पू० चतुर्थ शताब्दी में यूनानियों ने उनके विभेद का उल्लेख किया है[19] और महाभाष्यकार पतञ्जलि ने उनका शाश्वत विरोध बताया है[20]। बुद्धकालीन श्रमण समुदायों का विवरण आगे प्रस्तुत किया गया है, पर इतना स्पष्ट है कि वे प्रायः दुःखवादी, निवृत्तिवादी, निरीश्वरवादी, जीववादी और

१३—ताण्ड्य०, जि० १, पृ० २०८।
१४—शतपथ, जि० २, पृ० १०४१।
१५—ऐ० ब्रा० ८, १।
१६—तै० आ० जि० १, पृ० १६६।
१७—बृ० उप० ४, ३, २२।
१८—व्रात्यों पर द्र०—अथर्व० काण्ड १५।
१९—मैकक्रिन्डल, एन्शेन्ट इण्डिया ऐज डिस्क्राइब्ड बाइ मेगास्थेनीज एण्ड एरियन, पृ० ९७–१०५।
२०—अष्टाध्यायी २, ४, ९ पर महाभाष्य।

क्रियावादी थे। उनकी दार्शनिक निष्ठा का मूल आधार संसारवाद अथवा कर्म और पुनर्जन्म के सिद्धान्त थे।

इस मुनि-श्रमण दृष्टि के प्रतिकूल थी पूर्ववैदिक कालीन ब्राह्मण-धर्म की प्रवृत्ति-वादी और दैववादी दृष्टि। जहाँ मुनियों के लिए प्रवृत्तिमूलक कर्म बन्धनात्मक तथा हेय था और ब्रह्मचर्य, तपस्या, योग आदि निवृत्तिपरक क्रियाएँ ही उपादेय थीं, ब्राह्मण-धर्म में ऐहिक और आमुष्मिक सुख मुख्य पुरुषार्थ था और यज्ञात्मक कर्म प्रधान साधन। शंकराचार्य ने कहा है कि वैदिक धर्म द्विविध है, प्रवृत्तिलक्षण और निवृत्तिलक्षण[21]। पर यह स्मरणीय है कि पूर्व-वैदिक-कालीन ब्राह्मण-धर्म केवल प्रवृत्तिलक्षण था। निवृत्तिलक्षण धर्म के अनुयायी इस समय केवल मुनि-श्रमण थे।

वैदिक आर्यधर्म—देवता

पूर्व वैदिक धर्म की निष्ठा को गीता के इन शब्दों में संगृहीत किया जा सकता है—"सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः। अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्। देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः। परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ॥"[22] भौतिक प्रकृति और मानव-जीवन के विविध व्यापारों के पीछे बहुविध शक्तियाँ अधि-ष्ठातृरूप से विद्यमान हैं। इन शक्तियों का ही देवता शब्द से अभिधान होता है[23]। देवताओं की सत्ता ज्योतिर्मय, शुभ और अमर है। उनकी अभिव्यक्ति सर्वत्र पुरुषविध नहीं होती, पर समीचीन यजन का उचित फल प्रदान करने में वे चेतनवत् सामर्थ्य रखते हैं[24]। यज्ञ और उसके फल का सम्बन्ध देव-शक्ति के द्वारा ही सम्पन्न होता है

२१—गीताभाष्य का उपोद्घात।

२२—गीता, ३, १०—११।

२३—तु०—"ज्योतिरादेस्तु भूतधातोरादित्यादिष्वचेतनत्वमभ्युपगम्यते। चेतनास्त्वधिष्ठातारो देवतात्मानः····।"

(ब्रह्मसूत्र, १, ३, ३३ पर शांकरभाष्य)

२४—द्र०—निरुक्त, दैवतकाण्ड; ब्रह्मसूत्र, १.३. २६-३३ तथा उन पर शांकरभाष्य; गीता, ७.२०—२३, तु०—योगसूत्र, २.४४—"स्वाध्यायादिष्टदेवतासम्प्रयोगः" जहाँ देवताविषयक तान्त्रिक सिद्धान्त अन्तर्निहित है।

और इस प्रकार का फलप्रदत्व ही देवसत्ता का वास्तविक अर्थक्रियाकारित्व है[२५]। यज्ञ के द्वारा मनुष्य देवताओं को प्रसन्न और उनके प्रसाद से अपना कल्याण कर सकते हैं। देवता के लिए मन्त्रपूर्वक द्रव्यत्याग को यज्ञ कहते हैं। ईरान में एक समय प्राचीन आर्य लोग हवि को अग्नि में नहीं डालते थे[२६]। भारतीय आर्यों में बहुत पहले ही वैदिक काल में अग्नि हव्यवाह के रूप में प्रकट होते हैं, यद्यपि यह स्मरणीय है कि यहाँ भी उत्तरकालीन सिद्धान्त के अनुसार हवि का अग्नि में प्रक्षेप 'प्रतिपत्ति कर्म' ही समझा जाता था।

वेद के अनेक देवताओं में इन्द्र का प्राधान्य था[२७]। इन्द्र बल के देवता थे और आर्य-प्रसार के युग मे संग्रामों का बाहुल्य उनकी लोक-प्रियता का कारण था। उत्तर-काल में इन्द्र वर्षा के देवता के रूप में अर्चित हुए और इस प्रकार लोक-प्रिय बने रहे। अग्नि, बृहस्पति और सोम विशेष रूप से ब्राह्मणों के देवता थे। वरुण, सत्य और ऋत के पालक के रूप में माने जाते थे। उनके सूक्तों में ऋक्-संहिता के नैतिक आदर्श प्रकाश पाते हैं। और्ध्वदेहिक जीवन के विषय में भी पूर्व वैदिक कालीन धारणाएँ अस्पष्ट थीं। यह माना जाता था कि देवताओं का यजन करने वाले सत्पुरुष मृत्यु के पश्चात् पितृलोक में निवास करते हैं[२८]। अनृत-परायण व्यक्तियों की और्ध्वदेहिक अवस्था के विषय में कुछ स्पष्ट नहीं कहा गया है। देवताओं का उस समय मुख्यतया ऐहिक प्रसाद

२५–तु०—महिम्नस्तोत्र, श्लो० २०, "क्रतौ सुप्ते जाग्रत्वमसि फलयोगे क्रतुमताम्" इत्यादि तथा उस पर मधुसूदनी व्याख्या।

२६–द्र०—हेरोडोटस, हिस्टरीज़, (पेंग्विन क्लासिक्स में अनुवाद), पृ० ६८–६९।

२७–वैदिक देवताओं एवं देववाद पर सामान्यतः द्र०—मैकडॉनल, वैदिक माइथॉलॉजी; कीथ—रिलिजन एण्ड फिलॉसफ़ी ऑव दि वेद एण्ड दि उपनिषद्स जि० १; वैदिक 'ऐकेश्वरवाद' पर द्र०—श्मित्, ऑरिजिन एण्ड ग्रोथ ऑव रिलिजन, पृ० १७२–८७; मैक्समूलर के 'पर्यायेश्वरवाद' (हेनोथीइज्म) पर मैकडॉनल, पूर्व० पृ० १० प्र०, कीथ, पूर्व०, जि० १, पृ० ८८–८९; "विभागीय देवताओं" ('ज़ान्देरगातर') पर, ओल्देनबर्ग, दी रेलिगियोन देस वेद, पृ० ६०–७३, इन्द्र आदि देवताओं पर, ऑरिजिन्स ऑव बुद्धिज्म, पृ० २६६–७०।

२८–ऋ० सं० १०.१४–१८; ९.११३; १.१५४।

प्राथित था। यह भी उल्लेख्य है कि वैदिक देवताओं को आर्येतर प्रभाव से सर्वथा मुक्त नहीं माना जा सकता[२९]।

सामाजिक परिवर्तन

मध्य और उत्तर वैदिक काल में दूर तक प्रभाव डालने वाले सामाजिक और धार्मिक परिवर्तन हुए। वैदिक आर्य सभ्यता का उत्तर-भारत में क्रमशः पूर्वाभिमुख प्रसार होता गया। शतपथ से विदित होता है कि अरण्यानी का साम्राज्य दग्ध करते हुए अग्नि वैश्वानर ने प्रसार का पथ प्रदर्शित किया और आर्य-ग्राम सदानीरा के पार विदेह तक जा पहुँचे[३०]। भाषा का परिवर्तन और चातुर्वर्ण्य का विकास 'आर्य' तथा 'आर्येतर' जनता के पर्याप्त संमिश्रण की ओर संकेत करता है। स्वयं वेद का संकलन और विभाजन महर्षि व्यास का कार्य बताया गया है, जिनमें अनार्य रक्त प्रचुर मात्रा में विद्यमान था। बृहदारण्यक उपनिषद् में श्यामवर्ण, लोहिताक्ष और वेदवित् पुत्र की प्राप्ति के लिए विधि का निर्देश किया गया है[३१]। ये लक्षण निश्चय ही आर्यों के प्रथित गौरवर्ण और पिंगलकेशों से बहुत दूर हैं[३२]। पूर्ववैदिक काल की जनता-विशः—अब वैश्यों और शूद्रों में विभक्त हो गयी। शूद्र-वर्ण में आर्येतर जाति की प्रधानता निर्विवाद है, पर केवल आर्येतर ही शूद्र नहीं थे और जैसा कि ऊपर देखा गया है, न अन्य वर्णों में आर्येतर रक्त का अभाव था[३३]।

२९—उदाहरणार्थ, वैदिक रुद्र का सम्बन्ध सिन्धु संस्कृति से अनायास प्रतिपाद्य है—तु०—दि वैदिक एज, पृ० २०३। वैदिक उषा और उर्वशी का सिन्धु-संस्कृति से सम्बन्ध स्थापित किया गया है। द्र०—इण्डिया पास्ट एण्ड प्रेजेन्ट, १.१ पृ० १६३ प्र०।

३०—खाण्डवदहन की कथा इस प्रसंग में स्मरणीय है।

३१—बृ० उप० ६.४.१६।

३२—तु०—महाभाष्य, अष्टाध्यायी २.२.६ पर, "कपिलःपिंगलकेश इत्येतानप्यभ्यन्तरान् ब्राह्मण्ये गुणान् कुर्वन्ति"।

३३—शूद्रों की उत्पत्ति पर तु०—केम्ब्रिज हिस्टरी ऑव इण्डिया, जि० १, पृ० ८५–८६, १२८–१२९; काणे, हिस्टरी ऑव दि धर्मशास्त्र जि० २, भा० १, पृ० २५ प्र०, ३३ प्र०, ४५ प्र०; हटन, कास्ट इन इण्डिया, अध्याय ११; आर० एस० शर्मा, दि शूद्रज इन एन्श्येन्ट इण्डिया, ऑरिजिन्स ऑव बुद्धिज्म, पृ० २६३–६४।

जब एक ओर वैदिक समाज जातीय और सांस्कृतिक दृष्टियों से मिश्रित और संकीर्ण हो रहा था और एक पुरानी परम्पराओं से बोझिल और जटिल समाज में परिणत हो रहा था, पुरानी विद्याओं पर संशय और नवीन तत्त्व-विचार का जन्म अनिवार्य था। अतः वैदिक धर्म भी परिवर्तनग्रस्त था और देवताओं के प्राधान्य तथा यज्ञ द्वारा मर्त्यों और अमर्त्यों की सहयोगिता को छोड़ ब्रह्म-विद्या और आत्म-विद्या की ओर विकसित हो रहा था। देव-यजन से आत्म-यजन की ओर यह विकास प्रवृत्ति से निवृत्ति की ओर दिग्दर्शक बन गया। किन्तु निवृत्ति-मार्ग का यह उन्मेष अभी कुछ ही विचार-शील व्यक्तियों में हुआ था। इस परिवर्तन का कारण मुख्यतया श्रमण विचार-धारा का प्रभाव था जिसके लिए जातीय और सांस्कृतिक संमिश्रण तथा ब्राह्मण धर्म के आन्तरिक विकास ने अब मार्ग प्रशस्त कर दिया था।

मध्य और उत्तर वैदिक काल में देवता-विषयक धारणाओं में अनेक परिवर्तन हुए। अदिति, विश्वकर्मा, मन्यु, काम, श्रद्धा, काल, स्कम्भ, प्राण आदि अमूर्त देवताओं का इस काल में उल्लेख मिलता है। साथ ही सौर देवताओं के अभ्युदय से नैतिक निष्ठाओं का अभ्युदय द्योतित होता है। बहुदेववाद का स्थान एकेश्वरवाद तथा ब्रह्मवाद ले लेते हैं[३४]। और फिर कर्मवाद का प्रभाव देववाद-मात्र की पुरानी स्थिति के लिए प्रतिकूल सिद्ध होता है।

यज्ञ

यज्ञ का प्रारम्भिक रूप जटिल न था। ऋत्विक् के द्वारा देवता की स्तुतिपरक मन्त्र पढ़े जाते थे और हवि के रूप में विविध धान्य अथवा गोरस से निर्मित अन्न, पशु अथवा सोम-रस अर्पित किये जाते थे। 'यदन्न. पुरुषो लोके तदन्ना तस्य देवता।' क्रमशः अनेक यज्ञों में ऋत्विक् के कार्य का चतुर्धा विभाजन दृष्ट होता है। होता नाम का ऋत्विक् ऋक्संहिता की ऋचाओं का पाठ करता था। अध्वर्यु कर्म का भार सम्हालता था और यजुर्वेद से सम्बद्ध होता था। उद्गाता साम-गान करता था और ब्रह्मा समस्त यज्ञ-कर्म का अध्यक्ष होता था। श्रौत यज्ञों को हविर्यज्ञ और सोम, इन दो विभागों में बांटा गया है[३५]। हविर्यज्ञ में अग्निहोत्र, दर्श-पूर्णमास, चातुर्मास्य, आग्रयण, पशु,

३४–उदाहरणार्थ, बृ० उप० ३.९; केन० ३,४।

३५–विस्तार के लिए द्र०––ऑरिजिन्स ऑव बुद्धिज्म, पृ० २७४–७७, काणे, हिस्टरी ऑव दि धर्मशास्त्र जि० २, भा० २, पृ० ९७६ प्र०; कीथ, रिलिजन एण्ड फिलॉसफी ऑव दि वेद एण्ड दि उपनिषद्स, जि० २; यज्ञों के विस्तृत

सौत्रामणी और पिण्डपितृयज्ञ परिगणित होते हैं। सोम याग की सात संस्थाएँ हैं—अग्निष्टोम, अत्यग्निष्टोम, उक्थ्य, षोडशी, वाजपेय, अतिरात्र और आप्तोर्याम। सोम-यागों के विकास से और ऋत्विजों के बढ़ते वर्ग के अथक प्रयास और संचित परम्परा से यज्ञविधान अधिकाधिक विपुल, जटिल और रहस्यात्मक होता गया। अग्नि-चयन के विकास ने याज्ञिक रहस्यवाद को विशेष रूप से पुष्ट किया। इस प्रसंग में 'कर्म' से 'विद्या' का अधिक महत्त्व शीघ्र ही समझा और घोषित किया गया[३६]। आरुणकेतुक अथवा सावित्रचयन सदृश अग्नि चयनों में यज्ञ-विधि का भौतिक पक्ष प्रतीकात्मता में विलीन प्राय हो गया[३७]। इन चितिविषयक विद्याओं की आगे चलकर उपनिषत्वकालीन विद्याओं अथवा उपासनाओं में परिणति हुई[३८]। इस प्रकार क्रमशः मनीषियों का ध्यान देवयजन से आत्म-विद्या और ब्रह्म-विद्या की ओर गया। चिति-निर्माण में ईंटों का प्रयोग तथा प्रारम्भिक पञ्च-पशु-वध प्राचीन आर्येतरीय प्रभाव का उन्मज्जन सूचित करता है।[३९]

उपनिषदों का दार्शनिक चिन्तन

आत्मा तथा ब्रह्म—सृष्टि-विषयक जिज्ञासा का प्राचीन वैदिक साहित्य में उन्मेष दो दिशाओं में हुआ—जगत् के मूलकर्ता के विषय में और जगत् के मूल-उपादान के विषय

विवरण का आधार ब्राह्मण-ग्रन्थ तथा उन पर आश्रित विविध श्रौतसूत्र हैं, जिन पर सामान्यतः द्र०—विन्टरनित्स, हिस्टरी ऑव इण्डियन लिटरेचर, जि० १, पृ० २७१ प्र०, कात्यायन-श्रौतसूत्र (अच्युतग्रन्थमाला), भूमिका।

३६—द्र०—ऑरिजिन्स ऑव बुद्धिज्म, पृ० २७९–८०।

३७—द्र०—तै० आ० जि० १, पृ० २, प्र०।
तै० ब्रा० पृ० १३१५ प्र०; तै० आ० जि० १.८३–८५ में विभिन्न चित्तियों के प्रतीकों का उल्लेख है।

३८—इस प्रसंग में छान्दोग्य एवं बृहदारण्यक विशेष रूप से द्रष्टव्य हैं।

३९—यह स्मरणीय है कि तत्कालीन वैदिक गृह-निर्माण में ईंटों का प्रयोग नहीं होता था। उस समय इष्टकामय चित्ति-निर्माण को विलुप्त नागरिक सभ्यता का धार्मिक क्रिया-कलाप की रूढ़िवादिता के कारण अविलुप्त, प्रतीकात्मक अवशेष मानना चाहिए। पञ्च-पशु-वध भी एक प्रकार की आधार-बलि (फ़ाउण्डेशन सैक्रिफाइस) है। अग्निचयन की पुरातत्त्वीय और साहित्यिक सामग्री की विस्तृत तुलना—द्र० शर्मा, जी० आर०, पूर्व०, अध्याय ८–१०।

में। जगत् की निर्मिति अथवा विमिति पहले देवताओं का ही कार्य माना जाता था। देवताओं के एकत्व की स्पष्टतर उद्भावना के साथ इस धारणा की भी स्पष्टतर उद्भावना हुई कि जगत् की सृष्टि के पीछे एक सर्वशक्तिशाली चेतन सत्ता है जिसे पुरुष, आत्मा, ईश्वर, अथवा ब्रह्म की आख्या दी गयी[३९]। दूसरी ओर जगत् का मूल-उपादान अनेक तत्त्वों में खोजा गया—जल, वायु, आकाश, असत् सत् आदि[४०]। कुछ विचारकों ने चेतन सत्ता, आत्मा अथवा पुरुष को जगत् का न केवल कर्ता, अपितु उसका मूल उपादान भी स्वीकार किया। इस प्रकार आत्माद्वैत अथवा ब्रह्माद्वैत के सिद्धान्त का प्ररोह हुआ।

आत्मा के स्वरूप के विषय में वैदिक चिन्तन की एक सुदीर्घ विकास-परम्परा देखी जा सकती है[४१]। प्रारम्भ में देह अथवा अंगों से आत्मा को पृथक् नहीं समझा जाता था यद्यपि 'प्राण' ही आत्मा का मुख्य अर्थ था। प्राण को देह तथा इन्द्रियों की प्रेरिका शक्ति माना जाता था[४२]। प्राण के सहारे ही इन्द्रियाँ कार्यशील रह सकती हैं, और सुषुप्ति में भी केवल प्राण ही जागरूक रहता है। प्राण का जीवित देह की साँस और उष्णता से संबंध देखकर उसका वायु और अग्नि से तादात्म्य भी स्थापित किया गया। प्राण में ही समस्त देवताओं का समाहार होता है[४३]। प्राण का चेतना के साथ घनिष्ठ संबंध है और कुछ विचारकों ने दोनों को एक ही माना,[४४] किन्तु औरों ने इनमें भेद किया तथा आत्मा का स्वरूप विज्ञान, प्रज्ञा अथवा प्रज्ञान माना[४५]। कुछ ने और आगे बढ़कर प्रश्न किया—'विज्ञातारं वा अरे केन विजानीयात्', और इस प्रकार आत्मा की अनिर्वचनीयता, किन्तु अनिवार्यता के सिद्धान्त को उपस्थित किया[४६]।

ब्रह्म शब्द का मौलिक अर्थ बृंहण या बढ़ाई अर्थात् स्तुति था। अतएव देवताओं के स्तुतिपरक मन्त्रों को ब्रह्म कहा जाता था। ब्राह्मण-ग्रन्थों में यज्ञ और मन्त्र की महिमा इतनी बढ़ी कि ब्रह्म शब्द प्रकारान्तर से मूल-तत्त्व-वाची हो गया। जिस वस्तु को दार्श-

४०—द्र०—ऑरिजिन्स ऑव बुद्धिज्म, पृ० २९५–९८, विशेषतः पादटिप्पणियाँ।
४१—द्र०—ऑरिजिन्स ऑव बुद्धिज्म, पृ० २९०–९८।
४२—प्राण और इन्द्रियों के विवाद पर, द्र० बृ० उप० ६.१।
४३—बृ० उप० ३.९.९।
४४—कौषीतकि० ३.१.४।
४५—बृ० उप० २.१.१७, कठ० ४.३ इत्यादि।
४६—बृ० उप० २.४.१४, वही, ३.७.२२–२३, वही, ३.८.११ इत्यादि; तु०—इण्डियन कल्चरल हेरिटेज (द्वितीय संस्करण) जि० ३, पृ० ४७३–९४।

निकों ने सृष्टि का मूल-तत्त्व बताया उसे ही ऋत्विजों ने ब्रह्म की संज्ञा दे दी और इस प्रकार देवताओं की मूल-भूत शक्ति को ब्रह्म कहा गया और आत्मवाद को ब्रह्मवाद के अन्दर कवलित कर लिया गया।

निवृत्ति रूप लक्ष्य—ऊपर कहा गया है कि पूर्ववैदिक दर्शन के अनुसार यज्ञ द्वारा, जगत् और जीवन में कार्यशील देवताओं के आराधन से ऐहिक और आमुष्मिक सुख और सौभाग्य प्राप्त किया जा सकता है। उत्तरवैदिक काल में न केवल देवताओं का स्थान ब्रह्म और ईश्वर ने ले लिया अपितु पुरुषार्थ-विषयक धारणा में भी प्रवृत्ति से निवृत्ति की ओर परिवर्तन हुआ। इस परिवर्तन के प्रधान कारण थे आत्मवाद और संसारवाद। आत्मा को अमर और आनन्दमय समझ लेने पर मरणशील और सुखासक्त मनुष्यों की लौकिक और स्वर्गिक भोग कामना अवश्य ही घट जाती है और उसके स्थान पर आत्म-ज्ञान की अभिलाषा प्रतिष्ठित होती है क्योंकि आत्म-बोध ही समस्त कामनाओं की आत्यन्तिक निवृत्ति का उपाय है। पर यह स्मरणीय है कि बहुधा विशुद्ध आत्मवाद के सन्दर्भों में 'आप्तकामता' अथवा 'आनन्द' ही परमार्थ निरूपित किया गया है, न कि दुःखनिवृत्ति अथवा केवल उपशम। प्राचीन वैदिक परम्परा की जीवन की ओर उन्मुखता तथा आनन्द की खोज का यह एक आध्यात्मिक रूपान्तर है[४७]।

कर्म एवं संसार

दुःखवाद और निवृत्तिवाद की धारा मुनि-श्रमणों की प्रचारित थी और संसारवाद अथवा पुनर्जन्मवाद पर आश्रित थी, जिसका कि आत्माद्वैतवाद से कोई अनिवार्य संबंध नहीं है। पुनर्जन्म का सिद्धान्त पूर्ववैदिक संहिताओं अथवा मध्यवैदिक ब्राह्मण ग्रन्थों में उपलब्ध नहीं होता। और न इन ग्रन्थों में और्ध्वदैहिक जीवन के विषय में विकसित धारणाएँ मिलती हैं। उत्तर वैदिक कालीन उपनिषदों में संसारवाद परिनिष्ठित, किन्तु अल्प-प्रचलित सिद्धान्त के रूप में प्रकट होता है। इससे स्पष्ट है कि इस सिद्धान्त का जन्म केवल वैदिक परम्परा के अन्तर्गत बौद्धिक अथवा आध्यात्मिक विकास का परिणाम नहीं मानना चाहिए, यद्यपि यह अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि आत्मवाद के विकास के बिना पुनर्जन्मवाद वैदिक ऋत्विजों को ग्राह्य न हो पाता। और न यह मानना उचित होगा कि पुनर्जन्मवाद एक बहुप्रचलित 'आदिम' तथा 'प्राकृत' धारणा है क्योंकि वह आत्मा की केवल और्ध्वदैहिक सत्ता तथा किसी रूप में कादाचित्क जन्म का

४७—तु०—ऑरिजिन्स ऑव बुद्धिज्म, पृ० २९८–९९, २८९–९०।

ही सिद्धान्त नहीं है, जो कि अनेक प्राचीन समाजों में सिद्धान्तित पाया जाता है, अपितु एक स्वभावतः विशुद्ध, अमर तथा अशरीरी आत्मा का सत्, और असत्, कर्म की अपरिहार्य शक्ति के द्वारा मुक्तिपर्यन्त बार-बार देह-धारण का सिद्धान्त है। संसारवाद जीव, कर्म और मुक्ति अथवा निवृत्ति के सिद्धान्तों से पृथक् अपनी सत्ता नहीं रखता[४८]। इसका आधार किसी भी विचारक की तर्क-बुद्धि का कादाचित्क और अपर्यनुयोज्य विलास भी नहीं माना जा सकता। अन्यथा इसका व्यापक और संतत परवर्ती प्रभाव दुर्बोध हो जाता है। उत्तरकाल में भी पुनर्जन्म का युक्तिशः समर्थन नितान्त गौण रहा। 'कृतहानि' और 'अकृताभ्यागम' की युक्ति पीछे की उद्भावित है। और केवल इस युक्ति के सहारे शायद ही कोई पुनर्जन्म पर विश्वास रखता। योगियों का अलौकिक ज्ञान ही पुनर्जन्म का वास्तविक साक्ष्य है और योग-विद्या में अभिज्ञ मुनि-श्रमणों का बढ़ता जीवन्त प्रभाव ही संसारवाद की वैदिक परम्परा में अनुप्रविष्ट और जनता में प्रचलित करा सका।

मोक्षमार्ग

देवताओं को पुरुषवत् मानकर स्तवन और अन्नादि के अर्पण द्वारा उनका प्रसादन सरल था। अलक्षण और अनिर्वाच्य ब्रह्म अथवा आत्मा की प्राप्ति किस प्रकार हो? दूसरी ओर, संसार से मुक्ति के लिए भी उपाय आवश्यक था। और इन उपायों में प्रधान था आत्म-ज्ञान। प्रायः उपनिषदों में यह विश्वास है कि योग्य गुरु से उपदेश सुनने पर तत्त्व-ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है[४९]। गुरु प्रायः शिष्य के लिए ब्रह्मचर्यवास आवश्यक समझते थे, पर यह ज्ञान का साक्षात् अथवा आवश्यक उपाय नहीं था[५०]। सच्चरित्र तथा नैतिक गुणों पर भी बल दिया गया है, किन्तु वे परम्परा-द्वार ही है[५१]।

४८–संसारवाद की उत्पत्ति पर द्र०—वही, पृ० २८०–८८, अन्य मतों के लिए, तु०—टाइलर, प्रिमिटिव कल्चर, जि० २, पृ० १६, ई० आर० ई०, जि० १२, पृ० ४२६, ओल्देनबर्ग, दी लेर देर उपनिषदेन उन्द दी आनफेंगे देस बुद्धिसमुस, पृ० २७ प्र०, १०५ प्र०, ला० वाले पूसें, लेंद जूस्को ३०० आवाँ जैसी, पृ० २८२ प्र०, वेलवल्कर एण्ड रानाडे, दि क्रियेटिव पीरियड ऑव इण्डियन फिलॉसफी, पृ० ८२।

४९–यथा, दा० उप० ६.१४.२, श्वेताश्वतर० ६.२३, छा० उप० ४.९.३।

५०–यथा, छा० उप० १८.७ प्र०, वही, ४.४-१०।

५१–यथा, कठ० १.२.२३।

यह स्वीकार किया गया है कि यदि उपदेश का श्रवण पर्याप्त न हो तो उस पर मनन और निदिध्यासन करना चाहिए, किन्तु यहाँ भी ये बाद की क्रियाएँ एक प्रकार से बाधक-निराकरण मात्र करती हैं। प्रधान हेतु श्रवण ही है[५२]। अर्थात् उपनिषदों में प्रायः आत्मा अथवा ब्रह्म के लिए शब्द को ही प्रमाण माना गया है। कुछ स्थलों पर यह भी स्पष्ट कर दिया गया है कि आत्मा समस्त विषयों का भासक होने के कारण स्वयं भास्य अथवा विषय नहीं बन सकता। आत्मा नित्य-सिद्ध है, न कार्य है न ज्ञाप्य। आत्मज्ञान के लिए केवल उस अज्ञान का निरास अपेक्षित है जो कि देहादि-विषय-वर्ग में आत्म-प्रतीति-रूप है। इस दृष्टि से आत्मा का स्वरूप-वर्णन तथा प्राप्ति का उपाय, दोनों ही 'नेति नेति' इन शब्दों में सूचित हैं।

गुरूपदेश तथा तत्त्व-विचार के अतिरिक्त कहीं-कहीं उपनिषदों में भक्ति तथा योग की भी साधन के रूप में सूचना उपलब्ध होती है। श्वेताश्वतरोपनिषद् में कहा है— "यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ। तस्यैते कथिताह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः॥" कठ में कृपा के सिद्धान्त की अभिव्यक्ति है—"नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन। यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम्॥" ईश के प्रारम्भ में तथा छान्दोग्य के घोर आंगिरस के उपदेश में गीता के निष्काम कर्म की पूर्व-सूचना प्राप्त होती है।

सांख्य-योग

कठ, मुण्डक और श्वेताश्वतर में सांख्य-योग का परिचय मिलता है। प्रायः यह माना जाता है कि सांख्य और योग अपने परवर्ती परिनिष्ठित रूप में क्रमशः विकसित हुए और इस विकास की पहली अवस्था उपनिषदों के इन संदर्भों में उपलब्ध होती है[५३]। किन्तु औपनिषद सांख्य के परवर्ती सांख्य से मेल न खाने का एक और भी कारण हो सकता है और वह यह कि उपनिषदों में सांख्य की अवतारणा नहीं की गयी है, केवल कुछ सांख्य-सिद्धान्तों का वेदान्त की दृष्टि से उपयोग किया गया है। अर्थात् औपनिषद, सांख्य विशुद्ध सांख्य नहीं, सांख्य की छायामात्र है। वस्तुतः सांख्य दर्शन के लिए वैदिक मूल

५२—तु०—पंचदशी, ९.३०, वेदान्तपरिभाषा, (हरिदास संस्कृत ग्रंथमाला,) पृ० १९९।

५३—तु०—याकोबी, दी एन्तवि क्लुग देर गॉतेस इदे बाइ देन इन्देर्न, पृ० २४–२५, ओल्देनबर्ग, दी लेर इत्यादि (पूर्व०), पृ० २०६ प्र०।

नहीं खोजना चाहिए[५४]। स्वयं सांख्य कारिका में, जो कि सांख्य का सबसे प्रामाणिक और प्राचीन ग्रन्थ है, वैदिक मार्ग को 'अविशुद्धिक्षयातिशययुक्त' कहा है[५५]। वेदान्त-सूत्रों के 'प्रधान (प्रकृति) को 'अशब्द' अर्थात् वेद-विरुद्ध कहा है[५६]। सिद्धान्ततः भी विरोध अपरिहार्य है—औपनिषद सिद्धान्त चेतनकर्तृत्ववाद अथवा पुरुषवाद है, सांख्य-सिद्धान्त अचेतन-कर्तृत्ववाद अथवा प्रधानवाद है। सांख्य दर्शन स्वयं अपना मूल अनादि श्रुति में नहीं, किन्तु कपिल मुनि के उपदेश में मानता है। 'कपिल मुनि', इस संज्ञा में कदाचित् 'पिशङ्गवस्त्रधारी' मुनियों की ओर इंगित पाया जाता है। सांख्य दर्शन की निरीश्वर-वादिता, निवृत्तिपरायणता और श्रुति-विरोध से इस संकेत का समर्थन होता है और उसके मूल की श्रमण-विचारधारा में खोज युक्ति-संगत प्रतीत होती है, न कि वैदिक-विचारधारा में। किन्तु यह निस्सन्देह है कि उपनिषदों के सांख्यसन्दर्भ वैदिक क्षेत्र में श्रमण-प्रभाव को विशद करते हैं। मुण्डकोपनिषद् का नाम ही इस प्रसंग में अवधेय है क्योंकि मुण्डक का साधारण अर्थ श्रमण ही होता है।

सांख्य के साधन पक्ष का कुछ परिचय तो सांख्य के सिद्धान्त-पक्ष के परिचय से ही आक्षेप्य है। इसके अतिरिक्त योग की अन्य प्रक्रियाओं का सांख्य से कोई अपरिहार्य संबंध नहीं है और उनका कुछ-न-कुछ परिचय नाना प्रकार के रहस्यवाद की परम्पराओं में मिलता है। किन्तु, गुरु-शिष्य-परम्परा में संरक्षित, एक व्यवस्थित आध्यात्मिक विज्ञान के रूप में योग-विद्या सांख्यादि श्रमण-संप्रदायों में उद्भूत और परिपुष्ट हुई। उपनिषदों में नाना रहस्यवादी संकेत मिलते हैं और ध्यान का उल्लेख भी[५७]। अधिकांश उल्लेखों से रीतिबद्ध योगविद्या के परिचय का अनुमान नहीं किया जा सकता, किन्तु कठ और श्वेताश्वतर के उल्लेख विशिष्ट हैं और अवश्य ही योग-विद्या की गहरी जानकारी जतलाते हैं।

श्वेताश्वतर से यह भी स्पष्टतर प्रतीत होता है कि वह युग एक बौद्धिक और आध्यात्मिक आन्दोलन का था जब कि नाना दार्शनिक मत प्रस्तुत किये जा रहे थे।[५८]

५४–द्र०—ऑरिजिन्स ऑव बुद्धिज्म, पृ० ३०५–९, तु०—गार्वे, दी सांख्य फिलोजोफी, पृ० ३, प्र०; तु०—कीथ, सांख्य सिस्टम, पृ० ७–८।

५५–सांख्यकारिका, का० २।

५६–ब्रह्मसूत्र, १.१.५।

५७–द्र०—ऑरिजिन्स आव बुद्धिज्म, पृ० ३०१–२।

५८–श्वेताश्वतर० १.१–२।

यही धारणा बृहदारण्यक की जनक-सभा के विवरण से और प्रश्नोपनिषद् तथा अन्य स्थलों से भी मन में बनती है[५९]। यह प्रतीत होता है कि विदेह के अभ्युदय के युग में आर्य और आर्येतरीय सांस्कृतिक सम्पर्क घनिष्ठ और आध्यात्मिक बौद्धिक स्तर पर सविशेष फलप्रद बन गया। ब्रह्म, आत्मा और ईश्वर, संसार, कर्म और निवृत्ति के जटिल विषयों पर इस समय नाना ब्राह्मण और श्रमण मनीषी दत्तावधान थे।

छठी शताब्दी ईसापूर्व

सामाजिक परिवर्तन—ई० पू० छठी शताब्दी समस्त प्राचीन संसार में व्यापक धर्मसुधार का युग था जबकि चीन, यूनान और भारत में बौद्धिक और आध्यात्मिक प्रतिभा का आश्चर्यजनक प्रस्फुरण देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि मानो पिछली अनेक सहस्राब्दियों की पर्येषणा के बाद मानव-जाति-मात्र के लिए 'अभिसम्बोधि' का युग उपस्थित हुआ हो। इस व्यापक आध्यात्मिक क्रान्ति के लिए ऐतिहासिक 'हेतु-प्रत्यय-सामग्री' का समुचित निर्देश करना सरल नहीं है। भौतिकवादी दृष्टिकोण के अनुसार मानव-चेतना के परिवर्तनों का कारण सामाजिक धरातल पर खोजना चाहिए[६०]; अध्यात्मवादी दृष्टि के अनुसार चेतनागत क्रान्ति ज्ञान के स्वाधीन विकास अथवा अति-मानवीय प्रेरणा से ही उत्पन्न होती है। इन दोनों दृष्टियों में से किसी की भी अवहेलना नहीं की जा सकती। सच तो यह है कि दोनों परस्पर सापेक्ष हैं, क्योंकि जहाँ एक ओर भौतिक-सामाजिक परिवर्तन के पीछे भी अन्ततोगत्वा नवीन आविष्कार और उनकी जननी प्रतिभा कारणरूप में विद्यमान हैं, वहाँ दूसरी ओर सामाजिक धरती के अनुकूल न होने पर किसी भी आध्यात्मिक बीज का प्रबल ऐतिहासिक परम्परा के रूप में प्ररोह असंभव है। ई० पू० छठी और पाँचवी शताब्दियों में अनेक महापुरुषों और मनीषियों के चिन्तन और उपदेश के साथ ही महत्त्वपूर्ण आर्थिक और सामाजिक परिवर्तन भी दृष्टिगोचर होते हैं, जिन्होंने न्यूनाधिक मात्रा में कुछ सामाजिक वर्गों के लिए क्लेश और उसके द्वारा जिज्ञासा के भाव को जन्म दिया होगा। सामाजिक परिवर्तन और आर्ति का अनुभव निस्सन्देह धर्म और दर्शन की नयी सरणियों की खोज से सम्बन्ध रखता है, किन्तु सामाजिक क्रान्ति नवीन चिन्तन की अपेक्षामात्र को जन्म देती है,

५९—बृहदारण्यक० ३।

६०—उदाहरणार्थ, द्र०—कार्ल मार्क्स, क्रिटीक ऑव पुलीटिकल इकॉनमी, प्रेफेस, गॉर्डन चाइल्ड, हिस्टरी।

उसके विषय और प्रकार का निर्णय नहीं करती। संस्कृति के आध्यात्मिक पक्ष के विकास में प्रतिभा बीज का कार्य करती है और सामाजिक स्थिति भूमि का। दोनों के सहयोग से ही नवीन आध्यात्मिक परम्पराएँ बनतीं और बढ़ती हैं। बुद्ध भगवान् की देशना में उनकी विशिष्ट आध्यात्मिक अनुभूति कितनी और किस रूप में अभिव्यक्त हुई, इसमें तत्कालीन समाज और चिन्तन का हाथ अवश्य ही था[६१]।

जनपद

भारत में छठी शताब्दी तक जनों के 'संचार और संनिवेश' का युग बीत चुका था और राज्य के संगठन में साजात्य की अपेक्षा देश-तत्त्व अधिक महत्त्वशाली हो गया था। फलतः जनों का स्थान जनपदों ने ले लिया था जिनमें कुछ राजाधीन थे और कुछ गणाधीन। अंगुत्तरनिकाय की एक प्रसिद्ध सूची के अनुसार उस समय 'सोलह महाजनपद' थे जिनके नाम इस प्रकार हैं—कासि, कोशल, अंग, मगध, वज्जि, मल्ल, चेतिय, वंस, कुरु, पञ्चाल, मच्छ, सूरसेन, अस्सक, अवन्ति, गन्धार और कम्बोज[६२]। जैन वियाहपन्नत्ति में उससे अंशतः भिन्न सूची दी गयी है जिसमें वंग, पाढ, और लाढ के नाम उल्लेखनीय हैं। जनपद परस्पर संघर्ष में निरत थे और उनकी स्थिति परिवर्तनशील थी। सुदूर उत्तर-पश्चिम में हाखामनीषी साम्राज्य का प्रसार महत्त्वशाली घटना थी यद्यपि इस प्रसार की देश-गत और काल-गत परिधियों के विषय में अथवा इसके तत्कालीन ऐतिहासिक, सांस्कृतिकप्रभाव के विषय में निर्विवाद रूप से कुछ कहना कठिन है। इस युग के उदीच्य भारत का महत्त्व और सांस्कृतिक चित्र पाणिनि की अष्टाध्यायी में सुरक्षित है[६३]। मध्यदेश के जनपदों की संस्कृति उत्तरवैदिक साहित्य में

६१–साधारण लौकिक स्तर पर वैखरी के द्वारा ही उपदेश सम्भव है, किन्तु इस उपदेश को श्रोता अथवा वक्ता के संस्कारों से पृथक् रखना असम्भव है। ये संस्कार ही ऐतिहासिक-सांस्कृतिक प्रभाव के मुख्य द्वार हैं। किन्तु वैखरी के अतिरिक्त, अथवा शब्दरहित, उपदेश भी सम्भव होने के कारण, एवं अनौपदेशिक ज्ञान के सम्भव होने के कारण, सब ज्ञान को इतिहासानुविद्ध नहीं माना जा सकता। तथापि सामान्यतः लोकसिद्ध शास्त्रीय परंपराएँ शब्दमय एवं संस्कारविद्ध ही हैं, अतएव उनकी ऐतिहासिक आलोचना सम्भव है।

६२–अंगुत्तर (रो०) जि० १ पृ० २१३, जि० ४, पृ० २५२, २५६, २६०।

६३–द्र०—वासुदेवशरण अग्रवाल, पाणिनिकालीन भारत।

और महाभारत के प्राचीन अंशों में प्रतिबिम्बित है। पूर्वी उत्तरप्रदेश और बिहार के जनपदों और उनकी संस्कृति का चित्र प्राचीन बौद्ध और जैन साहित्य में उपलब्ध होता है[६४]। इस प्रदेश में शाक्यादि गणों और निर्ग्रन्थादि श्रमणों का प्राचुर्य था और यही बौद्ध धर्म की जन्म-भूमि थी। दक्षिणापथ का परिचय इस युग में बहुत अल्प था।

राजा और राजनीति—राजाओं का पारस्परिक संघर्ष उतना ही तीव्र था जितना कि राजाधीन और गणाधीन जनपदों का। जहाँ उपनिषदों में और जातकों में काशी एक बलवान् स्वतन्त्र राज्य के रूप में हमारे सामने आती है, बुद्ध के समय में वह कोशल के साम्राज्य का एक अंग बन चुकी है। ऐसे ही बिम्बिसार के समय में मगध ने अंग जनपद को बलपूर्वक आत्मसात् कर लिया। शाक्य गण कोशल की अधीनता स्वीकार करता था तब भी विडूडभ ने उस पर सांघातिक आक्रमण किया, और अजातशत्रु ने लिच्छवियों से संग्राम ठाना।

इन घटनाओं में गण-राज्यों का ह्रास, राज-तन्त्र का उत्कर्ष और मगध के साम्राज्य का प्रसार स्पष्ट देखे जा सकते हैं। इस युग के अनेकविध राजनीतिक परिवर्तनों ने स्वभावतः तत्संबंधी विचार-विमर्श को प्रोत्साहित किया और दण्डनीति की उस परम्परा को जन्म दिया जिसकी चरम परिणति परवर्ती काल के कौटलीय अर्थशास्त्र में उपलब्ध होती है। अनेक ब्राह्मण विचारकों ने चक्रवर्ती राजा का आदर्श निरूपित किया था और इस आदर्श का तत्कालीन आकर्षण इससे स्पष्ट है कि बौद्धों ने उसका आध्यात्मिक क्षेत्र में उपयोग करना चाहा[६५]। समाज और राज्य की उत्पत्ति तथा गणों के बलाबल पर विशेष रूप से विचार किया गया जैसा कि दीघनिकाय, महाभारत और अर्थशास्त्र से प्रकट होता है[६६]।

शासन की बागडोर क्षत्रियों के हाथ में थी। उत्तर-पूर्वी भारत के शाक्य, लिच्छवि आदि गण क्षत्रियबहुल और राजशब्दोपजीवी थे। लिच्छवियों के ७७०७

६४—आधुनिक निरूपण के लिए द्र०—फ़िक (अंग्रेजी अनुवाद) सोशल ऑर्गनाइजेशन इन नार्थ-ईस्टर्न इण्डिया इन दि एज ऑव् बुद्ध; बी० सी० लॉ०, इण्डिया इन अर्ली बुधिस्ट एण्ड जैन लिटरेचर; जे० सी० जैन, एन्श्येन्ट इण्डिया ऐज डिस्क्राइब्ड इन जैन कैनन; टी० डब्ल्यू राइज डेविड्स—बुधिस्ट इण्डिया इत्यादि।

६५—दीघ० लक्खण-सुत्तन्त, चक्कवत्ति-सीहनादसुत्तन्त, दे०—नीचे।

६६—दीघ० अग्गञ्जसुत्तन्त, महाभारत (चित्रशाला प्रेस, पूना), शान्तिपर्व, अध्याय १०७; अर्थशास्त्र (त्रिवेन्द्रम् संस्करण), जि० ३ पृ० १४४।

राजाओं का उल्लेख प्राप्त होता है। कदाचित् ये गण के मुख्य क्षत्रियकुलों के प्रधान थे। लिच्छवियों की न्याय-व्यवस्था विशष रूप से सुचारु थी। शाक्यों में भी राजा अथवा 'राजशब्दोपजीवी' शुद्धोदन का बाद में उल्लेख आता है। कपिलवस्तु में शाक्य गण का संस्थागार था जहाँ बूढ़े और जवान एकत्र होते थे और परामर्श से गण के शासन का कार्य चलाते थे। इन गणों की शासन-पद्धति कितनी जनतन्त्रात्मक और कितनी सामन्ततन्त्रात्मक थी, यह निश्चय से नही कहा जा सकता।

कोशल, मगध आदि जनपदों में भी राजा और उनके सजात क्षत्रिय थे यद्यपि अजातशत्रु या विडूडभ सरीखे नये राजाओं का बल उनके अमात्यों की कूटनीति, सेना की शक्ति तथा व्यक्तिगत योग्यता पर अधिक निर्भर था, उनकी मूर्धाभिषिक्तता पर कम[६७]। धर्म और अर्थ की विभिन्न दृष्टियों से राजकीय आदर्श दो रूपों में प्रकट होता है। धर्म की दृष्टि राजा के कर्त्तव्यों पर जोर देती थी, अर्थ की दृष्टि राजा की शक्ति पर। धर्मविषयक धारणा भी ब्राह्मणों की ओर थी, बौद्धों तथा जैनों की ओर।

क्षत्रिय और धार्मिक आन्दोलन—राजाओं और उनके बन्धुओं के जीवन-यापन के लिए अनेक व्यसन थे—मृगया, द्यूत, पान, स्त्रियाँ और युद्ध। किन्तु अनेक राजा अपने अवकाश में नवीन धर्म-दर्शन की प्रवृत्तियों को प्रोत्साहन देते थे। सच तो यह है कि ब्राह्मणों के समान ही क्षत्रिय भी इस युग में बौद्धिक जीवन का नेतृत्व करते थे। उपनिषदों में अनेक ज्ञानी राजाओं का वर्णन आता है, जैसे पांचालराज प्रवाहण जैवलि जिन्होंने श्वेतकेतु के पिता उद्दालक को उपदेश दिया[६८]। केकयराज अश्वपति और काशिराज अजातशत्रु भी ब्राह्मणों को ज्ञान का उपदेश देते पाये जाते हैं[६९]। विदेह-राज जनक तो भारतीय आध्यात्मिक इतिहास में राजर्षि के रूप में सुप्रथित ही हैं। महाभारत में कृष्ण और भीष्म ज्ञान का उपदेश करते है। गीता में ज्ञान की एक राजर्षि-परम्परा की ओर संकेत किया गया है जिसकी तुलना प्रवाहण जैवलि के द्वारा निर्दिष्ट क्षत्रिय-विद्या से होनी चाहिए। बुद्ध और महावीर भी क्षत्रिय उपदेशक थे। जैन परम्परा में तीर्थकरों का क्षत्रिय होना अनिवार्य है।

यह उल्लेखनीय है कि कुछ विद्वानों ने क्षत्रियों को इस युग के एक ब्राह्मण-विरोधी धार्मिक-सामाजिक आन्दोलन का नेता ठहराया है[७०]। किन्तु उपर्युक्त तथ्य

६७—तु०—जे० बी० बी० आर० ए० एस०, १९२१, पृ० १८६–८७।

६८—बृ० उप० ६.२, छा० उप०, ५.३ प्र०।

६९—छा० उप० ५.११ प्र०, बृ० उप० २.१।

७०—तु०—राइस डेविड्स, बुधिस्ट इण्डिया, पृ० २५७, वैदिक एज, पृ० ४६८-६९।

इस मत का निश्चित समर्थन नहीं करते। विश्वामित्र और वसिष्ठ के संघर्ष की कथा इस प्रसंग में निस्सार है और ऐसे ही महाभारत में उल्लिखित जामदग्न्य के किये हुए क्षत्रिय-संहार की कथा को भी भार्गवों की अतिरंजित कल्पना ही मानना चाहिए[७१]। ब्राह्मण-क्षत्रिय संघर्ष की ऐतिहासिकता स्वीकार करने के लिए कोई वास्तविक आधार नहीं मिलता। क्षत्रियों ने नवीन आध्यात्मिक और बौद्धिक आन्दोलनों में महत्त्व-पूर्ण भाग लिया, किन्तु इससे यह अनुमान नहीं किया जा सकता कि आर्थिक लाभ, सामाजिक प्रतिष्ठा अथवा राजकीय शक्ति के लिए ब्राह्मणों और क्षत्रियों में जातिशः अथवा वर्गशः संघर्ष था। अवश्य ही नैष्कर्म्यपरक अध्यात्मविद्या पौरोहित्य की विरो-धिनी थी, पर इसके नेता वास्तव में श्रमण थे जिनकी आध्यात्मिक-सांस्कृतिक पर-म्परा में इस समय क्षत्रिय और ब्राह्मण दोनों ही थे। बुद्ध और महावीर जन्मना क्षत्रिय थे, किन्तु जाति के परित्यागपूर्वक ही वे श्रमण बन सके। दूसरी ओर उपनिषदों में और गीता में संकेतित विशुद्ध क्षत्रिय-विद्या 'कर्म' का प्रत्याख्यान नहीं करती। फलतः उपलब्ध साक्ष्य के आधार पर केवल इतना ही स्वीकार किया जा सकता है कि पुरोहितों के कर्मकाण्ड का इस युग में अनेक दिशाओं से विरोध हुआ, जिसका श्रमणों, प्रबुद्ध क्षत्रियों और अध्यात्मवादी ब्राह्मणों ने नेतृत्व किया।

आर्थिक प्रगति—ग्रामीण और 'आरण्यक' वैदिक सभ्यता अब अनेकत्र नगर-वासिनी हो गयी थी[७२]। व्यापार के सुदूर-विस्तृत स्थल और जल-पथों पर सार्थवाहों के उद्यम ने इन नगरों को समृद्धि प्रदान की थी।[७३] नागरिक वाणिज्य और व्यवसाय श्रेणियों में संगठित थे और इन श्रेणियों के प्रधान श्रेष्ठी समाज में और राजसभा में प्रतिष्ठा प्राप्त करते थे।[७४] नागरिक जीवन का विविध विकास इस युग के सामाजिक दृश्य को पिछले युग से विभक्त करता है। व्यावसायिक श्रमविभाजन से उत्पन्न व्यापार

७१–तु०—सुक्थंकर, क्रिटिकल स्टडीज इन दि महाभारत, पृ० २७८–३३३, (पूना, १९४४)।

७२–द्र०—ऑरिजिन्स ऑव बुद्धिज्म, पृ० ३१४–१५, तु० सी० ए० एफ० राइज डेविड्स, केम्ब्रिज हिस्टरी, जि० १, पृ० १८९ प्र०, एन० सी० वन्द्योपाध्याय, इकोनामिक लाइफ एण्ड प्रोग्रेस इन एन्श्येन्ट इण्डिया, जि० १, भाग ३।

७३–व्यापारपथों एवं सार्थवाहों पर, द्र०—राइज डेविड्स, बुधिस्ट इण्डिया, पृ० १०३–१०५, मोतीचन्द, सार्थवाह।

७४–श्रेणियों पर, द्र०—मजुमदार, कॉरपोरेट लाइफ इन एन्श्येन्ट इण्डिया।

को स्वयं एक विनिमय-साधन की अपेक्षा रहती है। द्रव्य ('मनी') का आविर्भाव इस अपेक्षा की पूर्ति करता हुआ समाज में एक नयी और रहस्यमयी-सी शक्ति को जन्म देता है। समाज में पहले की अपेक्षा अधिक परिवर्तनशीलता आती है, सामाजिक चिन्तन अमूर्त और पुरुष-निरपेक्ष बनने लगता है, और सामाजिक सम्बन्धों का 'वस्तु-सात्करण' ('रेइफिकेशन') प्रारम्भ हो जाता है[७५]। बुद्ध के समय में ही भारतीय संस्कृति सर्वप्रथम 'द्रव्य के युग' में अवतीर्ण हो रही थी। यह श्रमणों का ही नहीं, श्रेष्ठियों का युग था। अंग के मेण्डक, कोशल के अनाथपिण्डिक और कोशाम्बी के घोषक इन धनाढ्य श्रेष्ठियों के कुछ ज्वलन्त उदाहरण हैं[७६]। यह स्मरणीय है कि ये बड़े श्रेष्ठी प्रायः उस युग के सन्यास-परायण श्रमण-सम्प्रदायों के पोषक थे।

कुछ इतिहासकारों ने सोलहवीं शताब्दी के यूरोपीय धार्मिक सुधार को तत्कालीन धनिक-वर्ग के अभ्युदय के साथ जोड़ा है[७७]। ऐसे ही, कुछ विद्वानों का सुझाव है कि जैन और बौद्ध धर्मों के अभ्युदय में भी श्रेष्ठियों की अनुकूलता एक सहयोगी कारण था। इस सुझाव के लिए विशुद्ध सम्भावना के अतिरिक्त विशेष प्रमाण नहीं है। यह सच है कि प्राचीन वैदिक देवता और यज्ञ एक ग्रामीण और कृषिप्रधान सामाजिक परिवेश में उद्भूत हुए थे। नगर-जीवन के बदले हुए वातावरण ने पुराने वैदिक धर्म के प्राकृतिक देवताओं तथा ग्राम-जीवन सम्बन्ध रखनेवाले अनेक प्रतीकों का धुंधलाना उतना ही स्वाभाविक था जितना उनके साथ उस श्रद्धा का जो कि पुराने देवताओं और उनके धार्मिक कर्मकलाप का आधार थी। तथापि यह स्मरणीय है कि प्रोटेस्टेंट आन्दोलन के विपरीत जैन और बौद्ध सम्प्रदाय निवृत्तिपरक थे और उनके अनुसरण का धार्मिक सम्पत्ति के हथियाने के लोभ के साथ कोई सम्बन्ध स्थापित नहीं किया जा सकता। और फिर इन सम्प्रदायों को सुधारवादी कहना वस्तुतः संगत नहीं है। अतएव यद्यपि यह निर्विवाद है कि श्रेष्ठियों ने श्रमणसम्प्रदायों की सहायता की, यह नहीं कहा जा सकता कि इन सम्प्रदायों का उद्भव अथवा विकास समाज के धनिक-वर्ग के तत्कालीन उद्भव तथा विकास के साथ अनिवार्य सम्बन्ध रखता था।

ब्राह्मण वर्ग—ब्राह्मण इस युग में अपना सामाजिक श्रेष्ठत्व प्रख्यापित करते थे और पुरोहित तथा आचार्य के जीवन को अपना आदर्श मानते थे। धर्मशास्त्र के

७५—तु०—स्वीजी, थियरी ऑव कैपिटलिस्ट डिवेलपमेंट, पृ० ३५ प्र०।
७६—द्र०—मललसेकर, डिक्शनरी ऑव पालिप्रोपर नेम्स, २ जि०।
७७—तु०—टाउनी, रिलिजन एण्ड दि राइज़ ऑव कैपिटलिज्म।

अनुसार ब्राह्मण के ६ प्रधान कर्त्तव्य थे—'यजन, याजन, अध्ययन, अध्यापन, दान और प्रतिग्रह । पर यथार्थ में अनेक ब्राह्मण न पुरोहित थे न आचार्य, कुछ प्रशासकीय कार्यों में अधिकृत थे और कुछ जमींदार अथवा क्षुद्र किसान, अथवा दरिद्र कर्मकर थे[७८] । साधारण जनता के जीवन में जटिल श्रौत यागों की अपेक्षा नाना गृह्य कर्मों का अनुष्ठान अधिक महत्त्व रखता था । यह स्मरणीय है कि जहाँ श्रौत कर्म का बौद्धों और जैनों ने बहुत विरोध किया, गृह्य कर्मों का बौद्ध और जैन उपासकों ने सर्वथा तिरस्कार नहीं किया। अतएव परवर्ती काल में उदयनाचार्य ने कहा कि 'नास्त्येव तद्दर्शनं यत्र सांवृतमेतदित्युक्त्वापि गर्भाधानाद्यन्त्येष्टिपर्यन्तां वैदिकीं क्रियां नानुतिष्ठति जनः[७९] । ऊपर उपनिषदों की आलोचना में यह कहा गया है कि स्वयं ब्राह्मणों के धर्म में कर्मकाण्ड के अतिरिक्त ज्ञान-काण्ड ने महत्त्वशाली स्थान पा लिया था और ब्राह्मण ऋत्विजों और आचार्यों ने इसका सतत प्रयत्न किया कि उनके धर्म का प्रगतिशीलतम दार्शनिक सिद्धान्तों से सामञ्जस्य बना रहे । आत्मवाद और ब्रह्मवाद का समन्वय तथा संसारवाद और कर्मवाद का स्वीकार, इस प्रवृत्ति के उदाहरण हैं । महाभारत में, विशेषतः गीता और शान्तिपर्व में, कर्म और ज्ञान के प्रचलित विरोध का स्पष्ट परिचय मिलता है । मोक्षधर्म पर्व में ज्ञान को प्राधान्य दिया गया है । भगवद्गीता में कर्म और ज्ञान के समन्वय का प्रयत्न किया गया है । ये दोनों धाराएँ उपनिषदों में भी देखी जा सकती है—मुण्डक में कर्म का तिरस्कार, ईश और अंशतः छान्दोग्य में ज्ञान-कर्म-समुच्चय । यह कहा गया है कि वैदिक प्रवृत्ति धर्म का विरोध उत्तरपूर्व में व्यापक रूप से किया गया जब कि उत्तर-पश्चिम में प्रवृत्ति और निवृत्ति के समन्वय का यत्न किया गया । इस प्रकार एक ओर बौद्ध धर्म और जैन धर्म का तथा दूसरी ओर भागवत धर्म का विकास हुआ[८०] । इस मत में बौद्धिक प्रवृत्तियों का जैसा असंकीर्ण प्रादेशिक विभाजन अभीष्ट है वैसा यथार्थ में सिद्ध नहीं किया जा सकता । इतना अवश्य सत्य है कि गणों और श्रमणों के पूर्वी प्रदेशों में निवृत्तिपरक सम्प्रदायों का

७८–तु०—फिक, पूर्व० (कलकत्ता, १९२०), पृ० २२२ प्र० ।

७९–आत्मतत्त्वविवेक (चौखम्भा संस्कृत ग्रन्थमाला) पृ० ४१७—"ऐसा कोई दर्शन नहीं है जिसमें लोग गर्भाधान से लेकर अन्त्येष्टि क्रिया पर्यन्त वैदिक कर्म को सांवृत्त बताते हुए भी उसका अनुष्ठान न करते हों ।"

८०–तु०—आर० जी० भण्डारकर, वैष्णविज्म, शैविज्म, एन्ड अदर माइनर रिलिजस सिस्टम, पृ० ४१–४२ ।

जितना प्रचार था उतना इस समय पश्चिमी प्रदेशों में नहीं था। इस आपेक्षिक भेद का कारण न तो मूलतः भौगोलिक था—क्योंकि भौगोलिक कारणों का विशिष्ट बौद्धिक अथवा आध्यात्मिक प्रवृत्तियों से सम्बन्ध जोड़ पाना सरल नहीं है[८१]—और न एक व्यापक सुधार की प्रवृत्ति का अतर्क्य न्यूनाधिक था, प्रत्युत यह स्वीकार करना होगा कि उत्तरपूर्वी आध्यात्मिक आन्दोलन वैदिक धर्म का आन्तरिक सुधार-आन्दोलन न होकर वास्तव में श्रमणों के प्रभाव का विस्तार था जिसमें प्रादेशिक, सामाजिक, सांस्कृतिक कारण सहकारी बन गये, जब कि पश्चिम में वैदिक धर्म के अन्तर्गत सुधार की प्रवृत्तियाँ अनेक रूपों मे विकसित हुई।

प्रचलित धर्म—भारतीय समाज में सदैव अनेक सांस्कृतिक स्तर संगृहीत रहे हैं और उनके अनुरूप धार्मिक निष्ठा भी बिविध रही है। भगवद्गीता में कहा गया है "सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत। श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः॥ यजन्ते सात्त्विका देवान्यक्षरक्षांसि राजसाः। प्रेतान्भूतगणांश्चान्ये यजन्ते तामसा जनाः॥" (१७, ३–४)[८२] देव-पूजा वैदिक थी और यहाँ सात्त्विक कही गयी है। यक्ष-पूजा, जिसे यहाँ राजस कहा गया है, साधारण जनता में सुप्रचलित थी। यक्ष शब्द प्रायः देवता के समान ही अर्थ रखता था, और यक्ष-पूजा को अनेकांश में आर्य-धर्म का ही प्रचलित, परिवर्तित और परिवर्धित रूप मानना अयुक्त न होगा। यक्षों को अलौकिक सत्त्व माना जाता था जो प्रायः वृक्षों में निवास करते थे और प्रसन्न होने पर नाना सांसारिक कामनाओं की पूर्ति का वर देते थे। वे अनेकत्र स्थानदेवता अथवा कुलदेवता के रूप में प्रतिष्ठित थे। यम और शक्र के साथ उनका विशेष संबंध था। कभी वे अनिष्टकारी भी हो सकते थे और आवेश के कारण भी बन जाते थे। यक्षियों में अप्सराओं का सादृश्य देखा जा सकता है और कभी वे पुरुषों को प्रलोभित करती मिलती हैं। कुछ यक्ष बाद में ब्राह्मण और बौद्ध देवताओं में रूपान्तरित पाये जाते हैं

८१–भौगोलिक और बौद्धिक तत्त्वों के सम्बन्ध पर, तु०—बकल, हिस्टरी ऑव सिविलजेशन इन इंग्लैण्ड, अध्याय २, इसकी आलोचना, लॉर्ड एक्टन, हिस्टॉरिकल एसेज एण्ड स्टडीज, अध्याय १०–११।

८२–अर्थात् 'सबकी श्रद्धा सत्त्वानुरूप होती है, मनुष्य श्रद्धामय है, जिसकी जैसी श्रद्धा है, वह वैसा ही है। सात्त्विक पुरुष देवताओं का यजन करते हैं, राजसिक यक्ष-राक्षसों का, तथा अन्य तामसिक जन भूत-प्रेतों का।

और उनका प्रभाव कुछ अंशों में प्रतिभा-विधान की परम्परा तथा तान्त्रिक पद्धतियों पर देखा जा सकता है।"[83]

यक्षों की पूजा के अतिरिक्त नाना प्रेत, भूत और पशुओं की तामस पूजा भी लोक में प्रचलित थी। इन्द्र, स्कन्द, रुद्र, मुकुन्द, यक्ष, प्रेत, नाग आदि के अनेक उत्सव मनाये जाते थे। इन अवसरों पर ब्राह्मणों और श्रमणों को, दरिद्रों को और भिखारियों को दान दिये जाते थे और खिलाया जाता था। इन उत्सवों में जन-संमर्द और मद्यपान अविदित नही थे और इनकी तुलना बौद्ध ग्रन्थों मे उल्लिखित 'समज्जा' से की जा सकती है।[84]

प्रचलित धारणा के अनुसार जीव एक सूक्ष्म और अप्रत्यक्ष पुरुष है जो कि स्थूल आधिभौतिक देह का संचालन करता है और मन और प्राण की चेष्टाओं का वास्तविक आधार है। उपनिषदों और बौद्ध ग्रन्थों में इस प्रकार की धारणा नाना रूपों में हमारे सामने आती है। "अंगुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा सदा जनानां हृदये संनिविष्टः···" (कठ० २.६.१७), "इहैवान्तः शरीरे सौम्य स पुरुषो···" (प्रश्न ६.२), "य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यत एष आत्मेति···" (छा० ४.१५.१), "अथ योऽयं भगवोऽप्सु परिख्यायते यश्चायमादर्शे कतमएष इत्येष उ एवैषु सर्वेष्वेतेषु परिख्यायत इति" (छा० ८.७.४), "य एष स्वप्ने महीयमानश्चरत्येष आत्मेति···" (छा० ८.१०.१) आदि उपनिषदों के वाक्यों मे आत्मविषयक ऐसी प्रचलित धारणा का उल्लेख मिलता है। किन्तु इस प्रकार की सूक्ष्मदेहाध्यास-युक्त धारणा उपनिषदों के वास्तविक सिद्धान्त को प्रकट नहीं करती। 'जीव' अथवा 'आत्मा'—इन शब्दों से एक ओर प्रचलित, अध्यास-दूषित पुरुषविषयक धारणाएँ और दूसरी ओर उपनिषदों के अनिर्वचनीय, किन्तु अनपोह्य आत्मा का सिद्धान्त, ये दोनों ही सूचित होते रहते है। बौद्ध ग्रन्थों में 'जीवन' तथा 'आत्मा' का प्रयोग प्रायः पहले अर्थ में, अर्थात् प्रत्यगात्मा में अध्यस्त सूक्ष्मादि देह के अर्थ में, होता रहा है। ब्रह्मजाल सुत्तन्त, पायासि० आदि सन्दर्भो में यह स्पष्ट है। वस्तुतः यही अर्थ बुद्धिस्थ रखने पर 'नैरात्म्य' के सिद्धान्त की संगति होती है। आत्ममात्र का प्रत्याख्यान नही किया जा सकता क्योंकि वह अपनी ही सत्ता का अपलाप होगा और स्वयं व्याहत। आत्मा की विशिष्ट व्याख्याओं का

८३–यक्षों पर द्र०—कुमारस्वामी—यक्षज २ भाग।
८४–द्र०—ऑरिजिन्स ऑव बुद्धिज्म, पृ० ३१८–१९।

अवश्य खण्डन किया जा सकता है, यथा इसका कि आत्मा में कर्तृत्व और नित्यत्व दोनों धर्म हैं, किन्तु इन व्याख्यानों में आत्मा की अनिर्वाच्यता का संग्रह अयुक्त होगा।

परिव्राजक-उद्भव—छठी शताब्दी के लौकिक जीवन का नेतृत्व राजाओं और श्रेष्ठियों, ऋत्विजों और आचार्यों के हाथ में था जो कि शक्ति और धन से अथवा देवताओं की कृपा से अपने और दूसरों के लिए भोग और सुविधाएँ जुटाने में दत्तचित्त थे और जिनके प्रश्रय से साम्राज्य विस्तृत और नगर समृद्ध हो रहे थे। दूसरी ओर, सामाजिक जीवन के इस प्रवृत्ति-पक्ष की सर्वथा अवहेलना करते हुए अनेक श्रमण, मुण्डक अथवा भिक्षु जीवन के अवार्य दुःख से त्रस्त जनता के समक्ष निवृत्ति और शान्ति का आदर्श उपस्थित कर रहे थे। संसार-त्याग के प्रचारक नाना 'पाषण्डों' में विभक्त इन परिव्राजकों का अभ्युदय और प्रभाव इस युग के धार्मिक जीवन का सम्भवतः सबसे महत्त्वशाली तथ्य था।

याकोबी ने यह सुझाव प्रस्तुत किया है कि ब्राह्मण नियमों के अनुकरण से बौद्ध और जैन भिक्षुओं का उदय हुआ था। इसके समर्थन में उन्होंने मुख्य युक्ति यह दी कि बौद्ध और जैन भिक्षुओं के नियम गौतम और बौधायन के धर्म-सूत्रों में उक्त नियमों से सादृश्य रखते हैं। वस्तुतः यह सादृश्य केवल संसार-त्याग के आदर्श की समानता में पर्यवसित हो जाता है और अनन्य व्यापक नियमों की परिधि तक अतिक्रमण नहीं करता। याकोबी का विश्वास था कि निवृत्ति का आदर्श ब्राह्मणों के धर्म में पहले उत्पन्न हुआ और चतुर्थ आश्रम के रूप में व्यक्त हुआ। पीछे इस आदर्श का बौद्धों और जैनों ने अनुसरण और अनुकरण किया। किन्तु इस अनुमान के समर्थन में पर्याप्त युक्ति-बल नहीं दीखता क्योंकि चातुराश्रम्य के सिद्धान्त की ब्राह्मण-धर्म में प्रतिष्ठा तथाकथित धर्म-सूत्रों से हुई उसके पहले नहीं। और अधिक सम्भावना इस बात की है कि संसार-त्याग के साथ परिव्रज्या का भी ग्रहण ब्राह्मणों ने श्रमणों से किया था, न कि श्रमणों ने ब्राह्मणों से।

वैदिक संहिताओं में तथा ब्राह्मणों में आश्रम शब्द की कहीं उपलब्धि नहीं होती। सायण ने ऐतरेय ब्राह्मण के "किं नु मलं किमजिनं किमु श्मश्रूणि किं तपः। पुत्रं ब्रह्माण इच्छध्वं स वै लोको वदावदः॥" (७.३.१)। इस श्लोक की व्याख्या में कहा है कि "आश्रम-चतुष्टय विवक्षितम्" और काणे महोदय ने इसको वैदिक-

८५—एस० बी० ई० जि० २२, भूमिका, तु०—मैक्समूलर, हर्बर्ट लेक्चर्स, पृ० ३५१, बूलर, बौधायन-धर्म सूत्र (एस० बी० ई० में अनु०)।

साहित्य में चार आश्रमों का प्राचीनतम, अस्फुट उल्लेख माना है।[८६] किन्तु यह व्याख्या निर्विवाद नहीं कही जा सकती, विशेषतः सायण का 'मल' को गार्हस्थ्य का द्योतक मानना। सम्भव है कि इस श्लोक में ब्रह्मचारियों, तपस्वियों और मुनियों की ओर संकेत हो, किन्तु किसी स्वीकृत चातुराश्रम्य की व्यवस्था की ओर संकेत नहीं है। उपनिषदों में जैसे कुछ स्थलों में संसारवाद और कर्मवाद का अभ्युपगम है, वैसे ही कुछ स्थलों में संसार-त्याग का भी उल्लेख मिलता है। श्वेताश्वतर में 'अत्याश्रमिभ्यः' पद पाया जाता है,[८७] बृहदारण्यक में याज्ञवल्क्य से सम्बद्ध कुछ स्थलों में प्रवज्या का संकेत है,[८८] मुण्डक (३.२.६) में "सन्न्यासयोग" का उल्लेख है। मुण्डक (१.२.११) में भी संन्यासियों का उल्लेख है, यद्यपि इस स्थल में अरण्यवासियों और भिक्षुओं में विभेद नहीं किया गया है। छान्दोग्य (२.२३.१) में भी तृतीय और चतुर्थ आश्रमों का विवेक नहीं है। इन उल्लेखों से यह तो स्पष्ट है कि कुछ वैदिक आचार्य उपनिषत्काल के उत्तरार्ध में न केवल भिक्षु-जीवन से परिचित थे, अपितु उसको आदर्श मानना चाहते थे। किन्तु इन उल्लेखों से यह नहीं प्रतीत होता कि इस समय वैदिक धर्म के अन्दर चार आश्रमों का व्यवस्थित आदर्श प्रतिष्ठा-लाभ कर चुका था। ऐसा प्रतीत होता है कि प्राचीन वैदिक काल में केवल दो ही आश्रम अंगीकृत थे—ब्रह्मचर्य और गार्हस्थ्य, यद्यपि वैदिक जीवन के बाहर पुरानी सभ्यता के अवशेष मुनि-श्रमणों की सत्ता सर्वथा अविदित नहीं थी। उत्तर वैदिक काल में प्रतीकात्मक और रहस्यमय विद्याओं और उपासनाओं के आविर्भाव के साथ आरण्यक-जीवन का भी प्रचार हुआ और एक तीसरे आश्रम का आदर्श विकसित हुआ जिसमें पहले दोनों आश्रमों का तथा कर्म और विद्या का समन्वय है। साथ ही साथ श्रमणों के सिद्धान्त और दृष्टान्त से कुछ वैदिक ऋषि और विचारक प्रभावित हुए और फलतः उपनिषदों में कहीं-कहीं वैदिक कर्म की अवहेलना तथा संन्यासियों की स्तुति पायी जाती है। परवर्ती काल में संन्यास को चतुर्थ आश्रम के रूप में धर्म-सूत्रों ने स्वीकार किया, किन्तु उनके युग में भी इन आश्रमों के नामादि सर्वसम्मत नहीं प्रतीत होते। आपस्तम्ब की पंक्ति है—"चत्वार आश्रमा गार्हस्थ्यमाचार्यकुलं मौनं वानप्रस्थ्यमिति।"[८९] गौतम ने ब्रह्मचारी, गृहस्थ, भिक्षु

८६—काणे, हिस्टरी ऑव दि धर्मशास्त्र, जि० २, भा० १, पृ० ४१८।

८७—श्वेताश्वतर, ६.२१।

८८—बृ० उप० २.४.१, ३.५.१, ४.४.२२, ४.५.२।

८९—"चार आश्रम हैं—गार्हस्थ्य, आचार्यकुल, मौन एवं वानप्रस्थ्य" (आपस्तम्ब, २.९.२१.१)

और वैखानस का उल्लेख किया है।[९०] वसिष्ठ और बौधायन ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ और परिव्राजक—ये संज्ञाएँ प्रस्तुत करते हैं।[९१] यही नहीं, बौधायन और गौतम दोनों गार्हस्थ्य को प्राधान्य देते हैं। बौधायन का कथन है—"ऐकाश्रम्यं त्वाचार्या अप्रजननत्वादितरेषाम्। तत्रोदाहरन्ति प्रह्लादि वै कपिलो नामासुर आस स एतान्भेदांश्चकार देवैः स्पर्धमानस्तान्मनीषी नाद्रियेत।"[९२] गौतम की तुलनीय उक्ति है—"तेषां गृहस्थो योनिरप्रजननत्वादितरेषाम्।"[९३] इस प्रकार श्रामण्य की एक प्राचीन परम्परा को ही ई० पू० छठी शताब्दी के वैदिक और अवैदिक भिक्षु सम्प्रदायों के मूल में मानना चाहिए।

ब्राह्मण-परिव्राजक—भिक्षुओं के अनेक सम्प्रदाय थे जो कि दो मुख्य विभागों में बाँटे जा सकते हैं—ब्राह्मण और श्रमण। संसार-त्यागी और तपस्वी दोनों ही थे, किन्तु कुछ विषयों में व्यापक भेद था। ब्राह्मणों की दृष्टि से संसार-त्याग नाना लौकिक कर्त्तव्यों की पूर्ति के बाद युक्त था। इसी दृष्टि की ओर उत्तरज्झयण का यह निर्देश है—"अहिज्ज वेये परिविस्स विषे पुत्ते परिठप्प गिहंसि जाया। मोच्चाण भोए सह इत्थियाहिं आरण्णगा होह मुणो पसत्थ।[९४] इसके अतिरिक्त 'बम्भणय' में वर्ण-भेद के अनुसार प्रव्रज्या का अधिकार केवल ब्राह्मण अथवा द्विज को ही प्राप्त था जब कि बौद्ध संघ में सब ही वर्ण और जातियाँ सागर में नदियों के समान भेद छोड़कर हिल-मिल जाती थीं। और फिर वेद के प्रमाण और महत्त्व की ओर भी ब्राह्मणों और श्रमणों की दृष्टियाँ विभक्त थीं। वसिष्ठ का कथन है—"सन्न्यासेत्सर्वकर्माणि वेदमेकं न सन्न्यसेत्। वेदसन्न्यसनाच्छूद्रस्तस्माद्वेदं न सन्न्यसेत्।"[९५] इसके विपरीत उत्तरज्झयण में

९०—गौतम, १.३.२।

९१—वसिष्ठ, ७, १—२; बौधायन, २. ६. १४।

९२—"किन्तु आचार्य एक ही आश्रम बताते हैं क्योंकि अन्य (आश्रम) सन्तानोत्पत्ति के अयोग्य हैं। कहते हैं कि प्रहलादि कपिल नाम का असुर था, उसने देवताओं की होड़ में इन भेदों का निर्माण किया। अतः मनीषी को चाहिए कि उनका आदर न करे।" (बौधायन २.६.२९—३०)।

९३—"गृहस्थ उनका मूल है, शेष के प्रजोत्पत्ति में अक्षम होने के कारण।" (गौतम, १.३.३।

९४—उत्तरज्झयण, १४.९।

९५—वसिष्ठ, १०.४।

कहा है—"वैया अहीया न भवन्ति तापं।"[९६] अन्त में, स्त्रियों की प्रव्रज्या पर भी ब्राह्मणों का मत श्रमणों की अपेक्षा भिन्न तथा अनुदार था। यह भी स्मरणीय है कि ब्राह्मणों में तापस और भिक्षु अलग-अलग थे। शंकराचार्य ने इन दोनों का अभेद प्रतिपादित करने वाले मत का खण्डन करते हुए यह स्पष्ट किया है कि वानप्रस्थ्य में काय-क्लेश-लक्षण तप का महत्त्व है जब कि संन्यास में संयम का प्राधान्य है।[९७] वस्तुतः वानप्रस्थ्य मे वैदिक कर्म शेष रहता था, संन्यास मे नहीं। दोनों के लिए पृथक् सूत्रों की रचना हुई थी। वानप्रस्थों के लिए वैखानस-शास्त्र था और भिक्षुओं के लिए पाराशर्यकृत सूत्रों का उल्लेख प्राप्त होता है।[९८] किन्तु क्रमशः उत्तरकाल मे वानप्रस्थ अप्रचलित-सा हो गया। अरण्यवास, तपस्या और व्रतादि क्रिया मे निरत वानप्रस्थों की संज्ञा 'जटिल' भी थी। विनयपिटक मे उन्हे कर्मवादी, क्रियावादी और अग्नि के परिचारक बताया गया है।[९९] कदाचित् मेगास्थेनेज के 'हलोबियोइ' भी ये ही थे जो कि 'न नगरों में रहते थे, न घरों में', वल्कल पहनते थे, अञ्जलि से पानी पीते थे, और न विवाह करते थे, न सन्तानोत्पादन।[१००] किन्तु यह आश्चर्यजनक है कि मेगास्थेनेज ने इनको श्रमणों के साथ रखा है, न कि ब्राह्मणों के। इसका कारण स्पष्ट ही यह था कि तपस्या आदि के द्वारा वानप्रस्थ श्रामण्य के निकट अधिक थे और ब्राह्मणों में प्रायिक पहले दो आश्रमों के कम। मेगास्थेनेज़ ने भारतीय साधुओं को ब्राह्मण और श्रमण इन दो भागों में बांटा है, किन्तु उसके वर्णन से स्पष्ट है कि उसने ब्राह्मणों को ब्रह्मचारी और गृहस्थ ही देखा। सम्भवतः वह ब्राह्मण तथा ब्राह्मणेतर श्रमण परिव्राजकों में विवेक नहीं कर सका और अतएव उसने श्रमणों के आपेक्षिक प्राचुर्य के कारण सब परिव्राजकों और तापसों को 'श्रमण' की ही आख्या दे दी।

परिव्राजक-गण एवं उनके नियम—परिव्राजक अकेले अथवा गणों में भ्रमण करते थे। उनके गुरु अथवा नेता शास्ता या गणाचार्य कहे जाते थे।[१०१] संगठन का प्रकार विविध था। निगण्ठों में संगठन सुदृढ़ था, आजीविकों में अपेक्षया शिथिल। शाक्य-

९६—उत्तरज्झयण, १४.१२।

९७—ब्रह्मसूत्र, ३.४.२० पर भाष्य।

९८—द्र०—बौधायन, २.६.१६, पाणिनि, ४.३.११०।

९९—विनय ना०, महावग्ग, पृ० २७–३४।

१००—मैक्क्रिन्डल, पूर्व, पृ० १०२, १०५।

१०१—दे०—नीचे।

पुत्रीयो में बुद्ध के बाद 'धर्म'-मात्र को शास्ता मानना सर्वथा अपूर्व था। प्रसिद्ध आचार्यों के पास ज्ञान के लिए परिव्राजक एकत्र होते थे और उनके शास्तृत्व में ब्रह्मचर्यवास स्वीकार करते थे। ब्रह्मचर्य का प्राचीन अर्थ वेदाध्ययन के लिए नियमाचरण था। किन्तु जब उपनिषदों में ब्रह्म शब्द का अर्थ परम तत्त्व हो गया तो ब्रह्मचर्य का अर्थ भी ब्रह्म की जिज्ञासा से प्रेरित होकर विशिष्ट नियमों का पालन हो गया, यद्यपि वेदाध्ययन सम्बन्धी पुराना अर्थ लुप्त नहीं हुआ और इस प्रकार ब्रह्मचर्य शब्द के दो अर्थ प्रचलित हुए—वेदाध्ययन-परक अनुशासन अथवा प्रथम आश्रम और ब्रह्म अथवा परमार्थ की खोज में गुरु के पास शिष्यत्वपूर्वक नियम-चर्या। मुण्डकोपनिषद् में निर्दिष्ट अपरा और परा विद्या के भेद का अनुसरण करते हुए इन दोनों अर्थों को यदि अपर-ब्रह्मचर्य और पर-ब्रह्मचर्य की संज्ञा दी जाय, तो यह कहा जा सकता है कि परिव्राजक केवल पर-ब्रह्मचर्य का ही अनुसंधान करते थे।

योग-सूत्रों में अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह को सार्वभौम महाव्रत कहा गया है।[१०२] इनके द्वारा भिक्षु-जीवन के आदर्श की रूप-रेखा प्रस्तुत होती है, और इनमें सभी प्रमुख परिव्राजक सम्प्रदायों का ऐकमत्य था। इनमें पहले तीन व्रत सभी अवस्थाओं में सबके लिए मान्य होते हुए भी शेष दो अवस्था-विशेष की अपेक्षा रखते हैं। अन्तिम व्रत केवल भिक्षु-जीवन में ही स्वीकार किया जाता था। 'विशुद्धि' को प्राय भिक्षु-जीवन का लक्ष्य अभिहित किया गया है। विशुद्धि की प्राप्ति के लिए अनेक उपाय बताये जाते थे—आहार, संसार, उपपत्ति, आवास, यज्ञ, अग्नि, परिचर्या, नैष्कर्म्य, तपश्चर्या ध्यान इत्यादि। बाह्य आचार में परिधान, भोजन और निवास विषयक निश्चित नियमों का विस्तर-भेद के साथ विभिन्न सम्प्रदायों में विधान था।

ब्राह्मण यतियों के लिए कौपीन का विधान था जो कि धोई जा सकती थी, और गेरुए रंग में रंगी जा सकती थी।[१०३] वे अपने साथ दण्ड, रज्जु, पानी छानने के लिए वस्त्र, तथा कमण्डलु और भिक्षा-पात्र रख सकते थे।[१०४] वानप्रस्थ जटा रखते थे, भिक्षु प्रायः सिर मुँडाते थे। निर्ग्रन्थ लुंचित केश रहते थे। आजीवक साधु नग्नता को ही श्रेष्ठ मानते थे। महावीर ने यद्यपि स्वयं उस आचार का अनुसरण किया तथापि उन्होंने निर्ग्रन्थों को एक वस्त्र धारण करने की अनुमति दी। इस कारण निर्ग्रन्थों

१०२—योगसूत्र, २.३०—३१।

१०३—एस० बी० इ० जि० ५२, भूमिका, पृ० २६।

१०४—वही, पृ० २८।

को गोशाल के अनुयायी 'एकशाटक' कहते थे ।[१०५] किन्तु व्यवहार में निर्ग्रन्थों को विभिन्न अवस्थाओं में अधिक वस्त्र धारण करने की भी अनुमति थी । आजीवक भिक्षा-पात्र का निषेध करते थे और 'हस्तापलेखन' कहे जाते थे । पर निर्ग्रन्थों का आचार भिन्न था । आहार के विषय में भी पर्याप्त आचार-भेद था । ब्राह्मण यतियों के लिए आवश्यक था कि मधुर भोजन की कामना छोड़ दें और बीजविनाश न करते हुए पेड़-पौधों के स्वयं स्रस्त अवयवों से आहार-निष्पादन करें । यह स्मरणीय है कि छान्दोग्योपनिषद् में आहार-शुद्धि के द्वारा सत्त्वशुद्धि को साध्य बताया है ।[१०६] आजीवक अनुष्ण जल और अतप्त बीजों का निषेध नहीं करते थे और न सोद्देश्य कल्पित अन्न का । निर्ग्रन्थ तीनों का निषेध करते थे ।[१०७] परिधान और आहार दोनों ही विषयों में शाक्यपुत्रीयों के नियम अधिक उदार थे ।

आवास के विषय में वसिष्ठ का विधान है—"अनित्यावसतिं वसेत् । ग्रामान्ते देवगृहे शून्यागारे वा वृक्षमूले वा ।"[१०८] सुत्तनिपात में कहा गया है "एको चरे खग्गविसाणकप्पो" ।[१०९] प्रारम्भ में प्रायः सभी भिक्षुओं के समक्ष यह आदर्श था कि वे एकान्त में रहें, यथाशक्ति अकेले विचरण करें, और प्रकृतिदत्त निवासों का आश्रय लें, यथा वृक्षमूल अथवा गिरि-गह्वर का । किन्तु उपासकों की श्रद्धा बढ़ने पर और भिक्षु-गणों के अधिक संगठित होने पर उनके लिए विशिष्ट उपवन, आराम, विहार आदि का प्रबन्ध होना भी स्वाभाविक था ।[११०] इस विषय में ब्राह्मण संन्यासियों के नियम अपेक्षया अधिक कड़े थे ।

वर्षा में चारिका का निषेध सभी भिक्षुओं के लिए था । इसमें ब्राह्मणों, बौद्धों और जैनों का ऐकमत्य था । इस प्रथा का आविर्भाव उस समय के मार्गों और यातायात के साधनों की अविकसित अवस्था में तथा कोशल और विदेह की समतल भूमि में नाना

१०५—तु०—ई० आर० ई० जि० १, पृ० २६५ ।

१०६—छा० उप० ७.२६.२ ।

१०७—एस० बी० ई० जि० २२, भूमिका, पृ० २४–२६, ई० आर० ई० जि० १, पृ० २६५ ।

१०८—वसिष्ठ, १०, १२–१३, "ग्रामान्त में, देवायतन में, शून्य आगार में अथवा वृक्ष के नीचे अनित्य आवास कल्पित करना चाहिए ।"

१०९—सुत्तनिपात, खग्गविसाणसुत्त ।

११०—द्र०—नीचे ।

नदियों की ओघ-प्रवणता में स्पष्टतः देखा जा सकता है। आज भी पूर्वी उत्तरप्रदेश और उत्तर बिहार में वर्षाकालिक यात्रा की कठिनाइयाँ सुविदित हैं। वर्षावास के ही 'उपवसथ' की संस्था सब सम्प्रदायों में व्यापक थी। 'उपवसथ' अथवा 'उपोसथ' भिक्षुगण के पाक्षिक सम्मेलन को कहा जाता था। इस प्रसंग में यह स्मरणीय है कि वैदिक कर्मकाण्ड में भी दर्श और पूर्णमास की दृष्टियाँ पक्षान्त का धार्मिक महत्त्व स्पष्ट करती हैं।

विचारमन्थन—उपनिषदों से तथा प्राचीन बौद्ध और जैन ग्रन्थों से यह निर्विवाद सिद्ध होता है कि छठी शताब्दी ई० पू० एक बौद्धिक और आध्यात्मिक क्रान्ति का युग था जब कि ब्राह्मण और श्रमण आचार्य और भिक्षु नाना धार्मिक-दार्शनिक मतों की उद्भावना और नाना नवीन मार्गों और सम्प्रदायों का प्रचार कर रहे थे।[111] परि-व्राजकों का तत्कालीन समाज में ऊपर निर्दिष्ट महत्त्व इस व्यापक बौद्धिक आध्यात्मिक जिज्ञासा के कारण ही था। प्रचलित वैदिक परम्परा के अनुसार मनुष्य यज्ञादि के अनुष्ठान से देवताओं के प्रसाद और फलतः सुखी जीवन तथा स्वर्ग की आशा कर सकते हैं। किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि छठी शताब्दी ई० पू० के प्रायः सभी विचारक पुनर्जन्म के सिद्धान्त को स्वीकार करते थे और मृत्यु और क्षय से अवार्यतया ग्रस्त लौकिक और पारलौकिक जीवन को एक दुःखमय विभीषिका मानते थे तथा भोग के स्थान पर मोक्ष चाहते थे। उनमें विचार और मत-भेद इस पर था कि बन्ध और मोक्ष के कारण क्या हैं ?

भौतिकवाद—कुछ विचारक पुनर्जन्म में आस्था नहीं रखते थे और आत्यन्तिक दुःखनिवृत्ति-रूप मुक्ति की खोज ही असंगत मानते थे। विभिन्न दुःखों के लिए विभिन्न दृष्ट उपाय उपलब्ध हैं और दुःख की अत्यन्त-निवृत्ति के लिए मृत्यु की शरण में जाना होगा। किन्तु दुःख के भय से जीवन के नाना सुखों का त्याग नहीं करना चाहिए। मनुष्य चार भौतिक तत्त्वों के संयोग से बना है और चैतन्य उसका आग-न्तुक धर्म है। इन महाभूतों के विसंयोग से मृत्यु हो जाती है जिसके बाद कोई और्ध्व-दैहिक जीवन अथवा परलोकादि शेष नहीं रह जाते। इस प्रकार के भौतिकवाद का संकेत छान्दोग्योपनिषद् के अष्टम प्रपाठक में मिलता है जहाँ असुरों का प्रतिनिधि

१११–तु०—सुकुमार दत्त, अर्ली बुधिस्ट मोनेशिज्म; श्रादेर, ऊबर देन शतान्द देर इन्दिशेन फिलोसोफ़ी त्सुर त्साइत महावीरस उन्द बुद्धस; आरिजिन्स आॅव बुद्धिज्म, पृ० ३२७।

विरोचन देहात्मवाद से सन्तुष्ट हो जाता है। उपनिषत्कार की यहाँ पर उक्ति है—"तस्मादप्यद्येहाददानमश्रद्दधानमयजमानमाहुरासुरो बतेत्यसुराणां ह्येषोपनिषत्प्रेतस्य शरीरं भिक्षया वसनेनालंकारेणेति संस्कुर्वन्त्येतेन ह्यमुं लोकं जेष्यन्तो मन्यन्ते।" (८.८.५)[११२] दान, श्रद्धा और यज्ञ स्पष्ट ही असुर-सम्मत देहात्मवाद के प्रतिकूल थे। मृत शरीर का अलंकरण आदि के साथ परलोक की आशा से गाड़ना पुरानी सभ्यताओं में व्यापक प्रथा थी। गीता के सोलहवें अध्याय में आसुरी निष्ठा का वर्णन स्मरणीय है—"असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम्। अपरस्परसम्भूतं किमन्यत्कामहैतुकम्॥" (१६.८)।[११३] श्वेताश्वतर में ब्रह्मवादियों के मौलिक प्रश्न—"अधिष्ठिताः केन सुखेतरेषु वर्तामहे"—को उत्थापित कर उत्तर में काल, स्वभाव, नियति और यदृच्छा के साथ 'भूतानि' को भी जिज्ञासित कारण के रूप में अभिहित किया गया है। बौद्ध ग्रन्थों में अमकृत् 'उच्छेदवाद' का उल्लेख मिलता है, जो कि मृत्यु का निरशेष विनाश मानता था। सामञ्जफलसुत्त में अजित केशकम्बली नाम के आचार्य का उच्छेदवाद उल्लिखित है। बौद्ध और जैन ग्रन्थों में एक और भौतिकवादी विचारक पायासि-पएसि का उल्लेख आता है जो कि आत्मा की सत्ता को प्रत्यक्ष की कसौटी पर जाँचना चाहता था।[११४] यह स्मरणीय है कि उत्तरकालीन चार्वाक अथवा लोकायत मत के अनुसार प्रत्यक्ष ही एकमात्र प्रमाण है।[११५] पालिग्रन्थों में 'लोकायतिक' शब्द पाया जाता है किन्तु अर्थ भिन्न प्रतीत होता है।[११६] चतुर्थ शताब्दी के कौटिलीय अर्थशास्त्र में लोकायत को आन्वीक्षिकी के अन्तर्गत माना है।[११७] महाभारत में चार्वाक

११२–"इसलिए लोक में दान, यज्ञ एवं श्रद्धा से हीन को कहते हैं—असुर है। यह असुरों का रहस्य है कि वे मृत व्यक्ति के शरीर को अन्न, वस्त्र एवं अलंकार से परिष्कृत कर उसके द्वारा परलोक की प्राप्ति में विश्वास करते हैं।

११३–"वे जगत् को असत्य, निराधार, निरीश्वर, अपरस्पर सम्भूत एवं केवल कामहेतुक कहते हैं।"

११४–द्र०—ऑरिजिन्स ऑव बुद्धिज्म, पृ० ३५१।

११५–द्र०—सर्वदर्शनसंग्रह (आनन्दाश्रम प्रेस, १९२८), पृ० १–५, तु० नैषधीयचरित, १७वाँ सर्ग।

११६–तु०—पालि डिक्शनरी (पालि टेक्स्ट सोसायटी)।

११७–अर्थशास्त्र (त्रिवेंद्रम संस्करण), जि० १, पृ० २७।

का उल्लेख मिलता है। रामायग में जाबालि का मत सदृश है।[११८] पाणिनि आस्तिक, नास्तिक और दैष्टिक मतों की ओर संकेत करते हैं।[११९] इन उल्लेखों से स्पष्ट है कि उपनिषत्काल से प्रारम्भ कर चतुर्थ शताब्दी ई० पू० तक एक निश्चित भौतिकवादी और नास्तिक विचार-धारा का उद्गम और प्रवाह हुआ था। यह विचारधारा प्रत्यक्ष-वादी थी और परलोक अथवा पुनर्जन्म को नहीं मानती थी। यह अनेक नामों से उल्लिखित है और वैदिक यागादि कर्म का उतना ही विरोध करती थी जितना श्रमणों के निवृत्ति मार्ग का। फलतः प्रायः सभी दिशाओं से इसका खण्डन और कालान्तर में लोप हो गया।

'अज्ञानवाद'—यदि उच्छेदवादी अमृतत्व और मुक्ति की आध्यात्मिक आकांक्षा की ओर निराश थे और साधारण लौकिक जीवन का ही एक मात्र सम्भव जीवन मानते थे, 'अज्ञानवादी' अप्रत्यक्ष विषय को निश्चित ज्ञान का अगोचर समझते थे। संजय बेलट्ठिपुत्त का कहना था कि परलोक, औपपातिक जीव, कर्म, मुक्ति के बाद की अवस्था, इन सब विषयों का निश्चित ज्ञान असम्भव है और इनको अस्ति, नास्ति, आदि चारों कोटियों में नहीं रखा जा सकता। ब्रह्मजालसुत्तन्त में इस मत को अमरा-विक्षेपकों का मत कहा गया है। सूयगडंग की व्याख्या में शीलाङ्क का कहना है—'तत्र को वेत्तीत्यस्यार्थो न कस्यचिद्विशिष्टं ज्ञानमस्ति योऽतिन्द्रीयान् जीवादीनवमोत्स्यते। न च तैर्ज्ञातैः किंचित्फलमस्ति। (सूय १.२.१६ पर)।[१२०] यह स्मरणीय है कि संजय के कुछ विषयों की चतुष्कोटिविनिर्मुक्तता का सिद्धान्त बौद्धों और जैनों दोनों के परवर्ती विचारों पर प्रकारान्तर से प्रभाव डाले बिना न रहा।[१२१]

कुछ विचारक संसार को मानते हुए भी उसका अकारण घटना मानते थे। श्वेताश्वतर तथा जैनों का यदृच्छावाद तथा बौद्धों का अधीत्यसमुत्पाद ऐसे ही विचारकों के मत थे। कुछ अन्य विचारक संसार और उसके कारण को मानते हुए भी उस कारण

११८—रामायण (निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, १९३०) २.१०८।

११९—पाणिनि, ४. ४.६०।

१२०—"कौन जानता है", इसका अर्थ है—किसी का भी विशिष्ट ज्ञान नहीं है कि वह अतीन्द्रिय जीव आदि का बोध प्राप्त करे और उनके ज्ञान का कुछ फल भी नहीं है।"

१२१—चार कोटियां इस प्रकार हैं—अस्ति (है), नास्ति (नहीं है), अस्ति च नास्ति च (है और नहीं है), नास्ति न च नास्ति (न है, न नहीं है)।

को स्वतन्त्र और अपरिवर्तनीय मानते थे। इस दृष्टि से मोक्ष भी बन्ध के समान ही नियत और पुरुषार्थनिरपेक्ष है। कालवाद, स्वभाववाद और नियतिवाद, तीनों ही इस दृष्टि के अन्तर्गत होते हैं। काल के विषय में चिन्तन अथर्वसंहिता, शतपथ ब्राह्मण, तैत्तिरीय आरण्यक, श्वेताश्वतरोपनिषद्, मैत्रायणीयोपनिषद् तथा महाभारत में पाया जाता है।[१२२] स्वभाववादियों की प्रसिद्ध उक्ति है—'स्वभावात्संप्रवर्तन्ते निवर्तन्ते स्वभावतः। सर्वे भावास्तथाभावाः पुरुषार्थो न विद्यते'[१२३] नियतिवाद का मुख्य उदाहरण आजीविकों का मत था। 'दैष्टिक' पद से सम्भवतः पाणिनि ने भी उनकी ओर संकेत किया है।

नियतिवाद—सामञ्जफलसुत्तन्त में अजानशत्रु ने मस्करी गोशाल के मत को 'संसार-विशुद्धि' का मत वर्णित किया है। जैसे लिपटे हुए सूत का गोला फेंक देने पर स्वतः एक आभ्यन्तर नियति से निर्वेष्टित होता है, ऐसे ही एक अन्तर्भूत शक्ति से नियत संसार की विशुद्धि की ओर उपगत हो रहा है। इस प्रकार संसरण के द्वारा ही सब जीवों के दुःख का अन्त होगा। प्रत्येक के भोक्तव्य सुख-दुःख की मात्रा नियत है, मानों नपी-तुली हो। संक्लेश और विशुद्धि के पीछे 'नियति-संगति-भाव-परिणाम' का नियमन विद्यमान रहता है। बुद्धघोष नियति, संगति और भाव को पृथक्-पृथक् मानते हैं। उन्होंने संगति की व्याख्या की है—'संगतीति छन्नमभिजाती नं तत्थ-तत्थ गमनं।'[१२४] किन्तु शीलांक की प्रसंगान्तर की व्याख्या में संगति और नियति एक ही हैं—'सांगतिकं सम्यक् स्वपरिणामेन गतिः यस्य यदा यत्सुखदुःखानुभवनं सा संगतिर्नियतिः।' वस्तुतः गोशाल के मत में जन्म-मरण, सुख-दुख, संसार और मोक्ष सब अतीत कर्म के ऊपर निर्भर है। कर्म सर्वथा नियत और परम कारण है। ऐसा प्रतीत होता है कि गोशाल समस्त संचित कर्म को प्रारब्ध कर्म के समान यथाकाल पाकोन्मुख और सर्वथा अपरिहार्य मानते थे। पुरुषार्थ सर्वथा तुच्छ और हेय है। 'तथ्य नत्थि ··अपरिपक्कं वा

१२२–द्र०—ऑरिजिन्स ऑव बुद्धिज्म, पृ० ३३८–३९।

१२३–"सब भाव एवं अभाव स्वभाव से प्रवृत्त एवं निवृत्त होते हैं, पुरुषार्थ की कोई सत्ता नहीं है।"

१२४–आजीविकों पर सामान्यतः द्र०—ऑरिजिन्स ऑव बुद्धिज्म, पृ० ३४२;–४६; बुरुआ, प्रिबुधिस्टिक इण्डियन फिलॉसफी, जे० डी० एल० २; हर्नले, ई० आर० ई० जि० १; बैशम, हिस्टरी एन्ड डॉक्ट्रिन्स ऑव दि आजीविकस। मूल सन्दर्भों के निर्देश के लिए द्र०—बरुआ, जे० डी० एल०, जि० २, पृ० २३।

कम्मं परिपाचैस्सामि, परिपक्कं वा कम्मं फुस्स फुस्स व्यन्तिकरिस्सामि हेवं नत्थि दोण-मिते सुखदुक्खे. . .।' पतञ्जलि ने इसी मत को बुद्धिस्थ कर कहा है—"मा कृत मा कृत कर्माणि शान्तिर्वः श्रेयसी त्याहातो मस्करी परिव्राजकः।" जैन ग्रंथों में भी आजीवक अक्रियावादी कहे गये हैं। इस प्रसंग में वियाहपन्नत्ति का 'पउट्टपरिहारवाद' उल्लेखनीय है, यद्यपि उसकी सही व्याख्या दुष्कर है। ऐसा प्रतीत होता है कि आजीवक सिद्ध एक देह छोड़ने पर दूसरे किसी की मृत देह स्वीकार कर लेते थे। 'पउट्ट' की व्याख्या 'मृत्वा' की गयी है, 'पउट्ट' को 'प्रवृत्त' मानने पर भी कदाचित् अर्थ यही होगा—पहले से, अर्थात् दूसरे की, प्रवृत्त अथवा प्रारब्ध देह। 'परिहार' धारण के अर्थ में गृहीत होना चाहिए। इस प्रकार 'पउट्ट परिहार' का अर्थ होगा पहले से प्रवृत्त अथवा प्रारब्ध देहान्तर का धारण। जैसे तिल-पुष्प की उजड़ी हुई झाड़ी में गोशाल ने फिर से बीज-समुत्पत्ति देखी थी, ऐसे ही "सब्बजीवावि पउट्ट परिहारं परिहरंति।" कदाचित् प्रारब्ध कर्म को निश्शेष करने के लिए इस उपाय का स्वीकार मान्य रहा होगा। यह स्मरणीय है कि योग-सम्प्रदाय में निर्माण-चित्त का ऐसा ही उपयोग उपदिष्ट है।[१२५]

आजीविकों का निगण्ठों से विशिष्ट सम्बन्ध था। गोशाल और महावीर परस्पर परिचित और कुछ समय तक साथ थे। आजीविकों के अनेक सिद्धान्त निगण्ठों में भी स्वीकृत हुए, यथा छ अभिजातियों में विश्वास, जो कि निगण्ठों में 'लेश्याओं' के रूप में पाये जाते हैं। ऐसे ही सत्त्व, प्राण, भूत और जीव, इन चारों पदों का सहप्रयोग, एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय आदि जीवों का वर्गीकरण और सिद्धों की सर्वज्ञता में विश्वास, ये धारणाएँ भी समान हैं, किन्तु जहाँ आजीवक अक्रियावादी थे और जीव को रूपी मानते थे निगण्ठ क्रियावादी थे और जीव को अरूपी मानते थे।

अन्य अक्रियावाद—अक्रियावाद के कुछ और उदाहरण सामञ्जफलसुत्तन्त में उल्लिखित हैं। पूर्ण काश्यप का विश्वास था कि कुछ भी करने से पाप अथवा पुण्य नहीं होता। इस मत को पाप का प्रोत्साहन समझना ठीक न होगा। यह वस्तुतः पुरुष के अकर्तृत्व तथा असंगता का सिद्धान्त है जो कि साङ्ख्य तथा वेदान्त दोनों को ही स्वीकार है। ईशोपनिषद् में, अतएव कहा है "न कर्म लिप्यते नरे।" सूयगडंग में भी एक सदृश अकारकवाद का उल्लेख है जिसे शीलांक ने साङ्ख्य से अभिन्न माना है।[१२६]

१२५—द्र०—योगसूत्र, ४.५ पर वाचस्पति मिश्र के द्वारा उद्धृत पुराणवाक्य।
१२६—सूयगडंग, १.१.१३ पर।

प्रकुध (ककुद ?) कात्यायन का मत था कि सात परम तत्त्व (काय) हैं जो कि शून्य ('विवर') में कूटस्थ हैं। ये सात तत्त्व इस प्रकार हैं—पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु, तथा सुख, दुःख और जीव। इन सातों में किसी प्रकार की पारस्परिक क्रिया अथवा अनित्य सम्बन्ध नहीं है। शीलांक ने एक सम्भव आत्मषष्ठवाद का उल्लेख किया है जो कि कात्यायन के मत के सदृश है, पर जिसमें आकाश की सत्ता स्वीकार की गयी है, और सुख, दुःख को छोड़ दिया गया है।[१२७] यह मत अंशतः वैशेषिक का और अंशतः सांख्य का स्मरण दिलाता है। यह भी स्मरणीय है कि प्रश्नोपनिषद् में एक कबन्धी कात्यायन का उल्लेख आता है, किन्तु पिप्पलाद से उसे जो उपदेश मिला, उसका इस सप्तकायवाद अथवा अक्रियावाद से कुछ भी सम्बन्ध नहीं है।

निगण्ठ—श्रमणों में कदाचित् प्राचीनतम सम्प्रदाय निगण्ठों अथवा जैनों का था।[१२८] अब यह प्रायः सर्व-सम्मत है कि महावीर से पूर्व पार्श्व नाम के तीर्थंकर सचमुच हुए थे। उनके पहले के तीर्थंकरों की तत्तद्रूप में ऐतिहासिकता सन्दिग्ध है, किन्तु जैनों के इस विश्वास को अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि उनकी मुनि-परम्परा अत्यन्त प्राचीन तथा अवैदिक थी। वैदिक साहित्य में उल्लिखित मुनियों के वर्ग में जैन मुनियों का होना नितान्त सम्भव है। ईशोपनिषद् में कर्म करते हुए सौ वर्ष जीवित रहने की इच्छा को सराहा गया है और आत्मघात को घोर पाप बताया गया है। इस सन्दर्भ में कदाचित् जैन मुनियों की निष्ठा का विरोध किया गया है क्योंकि वे प्राण-त्याग पर्यन्त नैष्कर्म्य को आदर्श मानते थे।[१२९] अन्यत्र उपनिषदों में कर्म के अनुसार जीव का संसरण तथा कर्म को बन्धन और जीव के लिए स्वरूप से बहिर्भूत एक आगन्तुक धर्म माना गया है, यथा बृहदारण्यक के चतुर्थ अध्याय के चतुर्थ ब्राह्मण में। यह दृष्टि जैनों को स्वीकृत थी और, जैसा ऊपर कहा गया है, वैदिक

१२७–वही, १.१.१५–१६ पर।

१२८–निगण्ठों पर द्र०—ऑरिजिन्स ऑव बुद्धिज्म, पृ० ३५३--६८; कैम्ब्रिज हिस्टरी जि० १; शार्पन्तियर, उत्तराध्ययनसूत्र, भूमिका; याकोबी, एस० बी० ई० जि० २२ और ४५, भूमिका; जैनी, आउट लाइन्स ऑव जैनिज्म; ग्लाजेनाप, दि डॉक्ट्रिन ऑव कर्म इन जैन फिलासफ़ी। जैनों के मूल साहित्य पर द्र०—ऑरिजिन्स ऑव बुद्धिज्म, पृ० ५६७–७३; विन्टरनित्स, हिस्टरी ऑव इण्डियन लिटरेचर, जि० २, पृ० ४२४ प्र०।

१२९–यह सुझाव मुझे अपने गुरु पं० क्षेत्रेशचन्द्र चट्टोपाध्याय से मिला है।

साहित्य में नवीन थी। किन्तु उपनिषदों में मोक्ष का साधन प्रायः ज्ञान को माना गया है, निर्ग्रन्थों के लिए तपस्या प्रधान थी, और तप का काय-क्लेश लक्षण जो अर्थ उनके सम्प्रदाय में और उत्तरकाल में सामान्यतः रूढ़ था, वह अर्थ उपनिषदों में विरल है। इसके अतिरिक्त उपनिषदों के प्राणभूत ब्रह्मवाद, आत्माद्वैत, ईश्वरवाद आदि सिद्धान्त जैन-निष्ठा के सर्वथा विरुद्ध हैं।

यदि उपनिषद् पढ़ने के बाद तत्काल आयारंग, सूयगडंग आदि प्राचीन जैन ग्रन्थ पढ़े जाते हैं तो बौद्धिक, आध्यात्मिक वातावरण का भेद बलवत् स्पष्ट हो जाता है। जैनों का संसार एक अनादि दुःख प्रवाह है जिसमें कर्म के बन्धन मे विवश, अज्ञान में विचेष्टमान असंख्य जीव बहे जा रहे हैं। जीव-सत्ता सर्वत्र फैली है। महाभूतों में भी संख्यातीत जीव दुःख भोगते हैं। प्रत्येक चेष्टा और परिस्पन्द में जीव-हिंसा इस प्रकार अनिवार्य है। इस हिंसा और दुःख के असीम साम्राज्य में सुदृढ़ संकल्प के द्वारा कर्म-बन्धन को भंग करने के अतिरिक्त और कोई मुक्ति का उपाय नहीं है।

जैनों के मत में जीव अरूपी अर्थात् अभौतिक सत्ता है जो न इद्रियों में उपलब्ध की जा सकती है, न मति और तर्क से। आयारंग का कहना है—"से न दीहे न ह्रस्से. न किण्हे न नीले. अरूपी सत्ता··से न सद्दे न रूवे न गन्धे न रसे न फासे." (१.५.६)[१३०] और "तक्का जत्थ न विज्जई मई तत्थ न गाहिया··" (वही)।[१३१] किन्तु ज्ञान आत्मा का स्वाभाविक धर्म है, "जै आया से विन्नाया जे विन्नाया से आया। जेण विजाणाइ से आया तं पडुच्च पडिसंखाए एस आयावाई।" (आयारंग १.५.५)।[१३२] आत्मा का स्वाभाविक ज्ञान विशुद्धावस्था में अनन्त होता है। इस सर्वज्ञता को केवल ज्ञान की संज्ञा दी जाती है। ज्ञान के साथ ही आत्मा में अनन्त सुख भी स्वाभाविक है। और, कम से कम उत्तर काल में, अनन्त क्रिया-शक्ति का भी आत्मा में स्वीकार किया गया है। "अरूविणो जीवघणा नाणदंसनसंनिया। अडलं सुहं संवण्णा उवमा

१३०—"वह न दीर्घ है, न ह्रस्व···न कृष्ण, न नील···जीव अरूपी है वह न शब्द है, न रूप, न गन्ध, न रस, न स्पर्श"।

१३१—"जहाँ तर्क विद्यमान नहीं है, जहाँ मति का प्रवेश नहीं है।"

१३२—"जो आत्मा है वही विज्ञाता है, जो विज्ञाता है, वही आत्मा है, आत्मा को मानने के कारण वह आत्मवादी कहलाता है।"

जस्स नत्थि उ ॥"[133] यह स्मरणीय है कि शाक्यपुत्रीय भिक्षु निर्ग्रन्थ सिद्धों के सर्वज्ञता के दावे का उपहास करते थे।

जीव असंख्य हैं और नाना अवस्थाओं में उपलब्ध होते हैं। पृथ्वी, जल आदि भौतिक तत्त्वों में भी जीव पाये जाते हैं और प्राचीन जैन सन्दर्भों में इनकी पर्याप्त चर्चा है। जीव स्थावर भी हैं और जंगम भी। कुछ असंज्ञी हैं जो केवल अनुभव कर सकते हैं, किन्तु ज्ञान में असमर्थ हैं। कुछ संज्ञी हैं जो कि अनुभव और ज्ञान दोनों की सामर्थ्य रखते हैं। सिद्ध जीव सर्वज्ञ होते हैं, पर ज्ञानातिरिक्त अनुभव अथवा संवेदन नहीं करते।

जीवों की सांसारिक गति कर्म के अधीन है। कर्म के कारण ही उनके जीवन पृथक्-पृथक् नियन्त्रित है—"अदु थावर य तसत्ताए तस जीवा य थावरत्ताए। अदु सव्वजोणिया सत्ता कम्मुणा कप्पिया पुढो बाले।" (आयारंग १.९,१४)[134]। "कम्मा नानाविहा कट्टु पुढो विस्संमिया पया।" (उत्तर ३.२)[135]। कर्म स्वयं एक द्रव्यात्मक और पौद्गलिक पदार्थ है जिसका आधार अज्ञान और उससे उत्पन्न राग-द्वेषादि कषाय हैं। कर्म से आत्मा का स्वभाव आच्छन्न हो जाता है और वह अपने को अज्ञान, अशक्ति और दुःख में निमग्न पाती है। यह स्मरणीय है कि कर्म और अज्ञान का इतरेतराश्रय संसार के अनादि होने के कारण दोष नहीं है।

बौद्धों का कहना था कि निर्ग्रन्थ शारीरिक कर्म को महत्त्व देते हैं, चैतसिक कर्म को नहीं।[136] वस्तुतः चेष्टाजन्य परिस्पन्दात्मक कर्म और आत्मा को आवृत्त करने वाला उसका परिणाम, इनका निर्ग्रन्थ मत में प्राधान्य है। जीव-सत्ता के सर्वत्र सुलभ होने के कारण प्रत्येक चेष्टा में हिंसा अनिवार्य बन जाती है। अतएव प्राचीनतम निर्ग्रन्थ सन्दर्भों में 'कर्म' और 'दण्ड' प्रायः परस्पर समानार्थक और परिवर्तनीय पद प्रतीत होते हैं। कर्म और उसका फल, दोनों निरन्तर ही दुःखात्मक है—"किच्चं दुक्खं फुस्सं दुक्खं कज्जमानकडं दुक्खं कट्टु-कट्टु पाणा भूया जीवा सत्ता वेयणं

१३३—"अरूपी जीव ज्ञान और दर्शन तथा अनुपम, अतुल सुख से सम्पन्न है।" (उत्तरज्झयण, ३६.६७)।

१३४—"स्थावर जीव त्रस-जीव हो जाते है, त्रसजीव स्थावर। सब योनियों में जीव कर्म से पृथक्-पृथक् कल्पित है।"

१३५—"नाना कर्मों से जीव विनियन्त्रित हैं।"

१३६—जैनधर्मसम्बन्धी मूल बौद्ध सन्दर्भों पर द्र०—ऑरिजिन्स ऑव बुद्धिज्म, पृ० ५७१–७३।

वेयंति ।"[१३७] और इस प्रकार दुःखमय संसार का कारण कर्म के द्वारा पुरुष स्वयं है—"अत्तकडे दुक्खे नो परकडे नो उभयकडे· · ·"[१३८] और अपने ही प्रयत्न के द्वारा दुःख से मोक्ष भी सम्भव है—"पुरिसा तुममेव तुमं मित्ता किं बहिया मित्तमिच्छसि ।" (आयारंग १.३.३)[१३९]। कर्म का सिद्धान्त जैनों में विशेष विकसित हुआ और उत्तर काल में नाना परिभाषाओं और विभाजनों के द्वारा अत्यन्त जटिल हो गया। किन्तु यह सम्भव है कि अष्टविध कर्म की धारणा प्राचीन निर्ग्रन्थों में भी विद्यमान थी।

मृतक की गति के विषय में यह माना जाता था कि जीव के निर्वाण के पाँच मार्ग हैं—पैरों से, ऊरुओं से, वक्ष से, सिर से और सर्वांग से। इन पाँच मार्गों से क्रमशः पाँच प्रकार की गति होती है—निरय, तिर्यक्, मनुष्य, देव और सिद्ध। यह विचारणीय है कि उपनिषदों में भी कुछ ऐसी धारणाएँ मिलती हैं।[१४०]

संसार से मुक्ति के लिए अपूर्व कर्म के आस्रव का निरोध और पूर्व कर्म का अपसारण आवश्यक है। इनमें पहली प्रक्रिया 'संवर' कहलाती है और दूसरी 'निर्जरा'। 'संवर' आध्यात्मिक जीवन का पूर्वांग है, निर्जरा प्रधानांग। 'संवर' में मुख्यतया पाँच महाव्रत संगृहीत थे। सामञ्जफल में निगण्ठों के 'चातुप्यामसंवर' का उल्लेख है। वस्तुतः चातुर्याम अथवा 'चाउज्जाम' पार्श्व के अनुयायियों का संवर था। महावीर ने चतुर्विध संवर को पञ्चविध किया।

निर्जरा से तप अथवा शरीर को क्लेश देने की प्रक्रिया अभिहित होती है। जैनों की तपस्या का अतिशय सर्व-विदित है। स्वयं महावीर की कृच्छ्र-चर्या इस विषय में आदर्श के रूप में प्रतिष्ठित है।[१४१] लाठ, वज्ज और सुम्ह में वे १३ वर्ष से अधिक बिना आवास के घूमते रहे। नहाना, मुँह धोना, खुजलाना आदि उन्होंने छोड़ दिया और मौन, एकान्त, प्रजागर, उपवास, शान्ति, निरन्तर ध्यान आदि का असाधारण अभ्यास किया। उत्तरज्झयण में तप के पाँच आध्यात्मिक और पाँच बाह्य भेद बताये गये हैं।[१४२]

१३७–ठाणंग सूत्र १६६–६७ "कृत्य दुःख है, 'स्पर्श' दुःख है, क्रियमाण-कृत दुःख है, जीव कर्म कर-करके दुःख भोगते हैं।"

१३८–"दुःख आत्मकृत है, न परकृत, न उभयकृत"

१३९–"पुरुषों ! तुम स्वयं अपने मित्र हो, अपने बाहर मित्र क्यों चाहते हो ?"

१४०–कठ, ६–१६, प्रश्न ३–७।

१४१–आयारंग, १.९।

१४२–उत्तरज्झयण, ३०।

अनशन, अवमौदर्य, भिक्षाचर्या, रसपरित्याग, कायक्लेश और सन्तीरणा, ये पाँच भेद बाह्य तप के हैं, और प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, ध्यान और व्यवसर्ग, ये पाँच भेद आतरिक तप के है।

निर्ग्रन्थों के और बहुत-से सिद्धान्त उत्तरकाल में विकसित हुए। स्याद्वाद अथवा सप्तभंगी नय को अपने सुविदित रूप में महावीरकालीन नहीं माना जा सकता, किन्तु इस सिद्धान्त का दार्शनिक बीज अवश्य प्राचीन था। संजय बेलट्ठिपुत्त के अज्ञानवाद और बुद्ध के अव्याकृतवाद में परमार्थ के विषय में सत्, असत् आदि चारों कोटियाँ अनुपयोगी मानी जाती थीं। ऐसा प्रतीत होता है कि इन मतों के विरोध में प्राचीन निर्ग्रन्थ इन कोटियों को अंशतः उपयोगी मान कर उनका विरोध-परिहार करते थे। इस प्रकार का दार्शनिक अनेकान्तवाद पीछे सप्तभङ्गी नय में विकसित हो गया। लेश्याओं का सिद्धान्त आजीवकों से लिया होने के कारण प्राचीन रहा होगा, पर ज्ञान के पाँच भेद, देह के प्रकार, परमाणुवाद तथा तत्त्वों और पदार्थों का निरूपण, ये क्रमशः विकसित हुए और मुख्यतः उत्तरकालीन थे। प्राचीन निर्ग्रन्थों में जीव, कर्म और तपस्या, इन तीन पर ही आग्रह था और इसीलिए आयारंग में निर्ग्रन्थ के लिए कहा है—"से आयावाई लोगावाई कम्मावाई किरिपावाई य।"[१४३] आध्यात्मिक साधन पर उनका अधिक ध्यान था, दार्शनिक पाण्डित्य पर कम।

बुद्ध की जीवनी—यह स्मरणीय है कि गौतम बुद्ध अपने जीवन-काल में महापुरुष और तीर्थंकर माने जाते थे, न कि एक अलौकिक अवतार अथवा तत्त्व, जैसा कि बाद के भक्ति-प्रवण बौद्धों ने उन्हें समझा। इस कारण जहाँ बुद्ध भगवान् के पहले शिष्यों ने उनके उपदेशों का संग्रह ध्यान से किया, उनके जीवन सम्बन्धी वृत्तान्त को उन्होंने उतना महत्त्वशाली नहीं समझा। बाद के भक्तों ने उनकी जीवनी को अपनी श्रद्धा और सिद्धान्तों के अनुरूप कल्पना से मण्डित किया। परिणाम यह है कि बुद्ध के जीवन के विषय में प्राचीन और ऐतिहासिक सामग्री अत्यन्त विरल है। जो जीवनियाँ मिलती हैं वे उत्तरकालीन तथा श्रद्धाप्रधान हैं।

पालि त्रिपिटक में बुद्ध की सर्वांगीण जीवनी कहीं उपलब्ध नहीं होती। मज्झिमनिकाय के चार सुत्तों में उनकी पर्येषणा का वर्णन मिलता है। संबोधि का वर्णन अनेकत्र निकायों मे और महावग्ग में उपलब्ध होता है। महावग्ग में सम्बोधि के बा के कुछ समय का क्रमबद्ध इतिवृत्त भी दिया गया है। ऐसे ही महापरिनिब्बान सुत्तन्त

१४३–"वह आत्मवादी है, लोकवादी है, कमवादी, क्रियावादी है।"

में निर्वाण और उसके कुछ पहले के समय का वर्णन मिलता है। महापधान सुत्त में बुद्ध की जीवनी को एक आदर्श साँचे में कस दिया गया है। 'महापरिनिर्वाण' और 'महावदान' सूत्रों के संस्कृत रूप की न्यूनाधिक मात्रा में मध्य एशिया से प्राप्त हुए हैं (उ० अर्न्स्ट वाल्दश्मिन, दास महापरिनिर्वाणसूत्र, ३ भाग, बर्लिन, १९५१)। निदान-कथा बहुत बाद की है और उससे भी बाद के हैं जिनचरित और मालालंकारवत्थु।

लोकोत्तरवादी विनय के अन्तर्भूत महावस्तु में बुद्ध सम्बन्धी कथाएँ मिलती हैं।[१४४] ललितविस्तर में बुद्ध की जीवनी दी गयी है।[१४५] यद्यपि ललितविस्तर अपने वर्तमान रूप में महायान सूत्र है, तथापि उसमें स्पष्ट ही अनेक स्थलों पर प्राचीन सन्दर्भ अवशिष्ट हैं। तिब्वती परम्परा के बुद्ध की जीवनी से सम्बन्ध रखने वाले कुछ अंश का रॉकहिल ने अंग्रेजी में अनुवाद किया है।[१४६] चीनी अनुवाद में रक्षित 'अभिनिष्क्रमणसूत्र' अधिकांश में महावस्तु से मेल खाता है। अश्वघोष के बुद्धचरित में बुद्ध की जीवनी काव्य के रूप में प्रस्तुत है।[१४७]

मूल-जीवनी और 'विनय'—विभिन्न सम्प्रदायों के उपलब्ध विनयों के तुलनात्मक अध्ययन के आधार पर फ्राउवाल्नर महोदय ने यह मत प्रस्तुत किया है[१४८] कि मूल विनय में बुद्ध के जीवन-चरित का तथा विनय के नियमों का विवरण एक सूत्र में सम्बद्ध था। इस विनय का सम्पादन दूसरी संगीति के युग में हुआ था। पीछे विनय के विभिन्न रूपों में न्यूनाधिक मात्रा में बुद्ध के जीवन सम्बन्धी वृत्तान्त विनय से पृथक् कर अन्य संग्रहों में डाल दिये गये। उदाहरण के लिए, पालि विनय में स्कन्धक के आरम्भ का बुद्ध चरित सम्बन्धी ही कुछ अंश इस समय अपने मूल स्थान में विद्यमान है। प्रारम्भ में महापरिनिर्वाण सम्बन्धी वृत्तान्त स्कन्धक के अन्त में था। पालि त्रिपिटक

१४४—महावस्तु, ई० सेनार (Sehart) द्वारा ३ जिल्दों में सम्पादित (पेरिस, १८८२–९७)।

१४५—ललितविस्तर, राजेन्द्रलाल मित्र द्वारा सम्पादित (कलकत्ता, १८७७), लेफमान द्वारा परिष्कारपूर्वक सम्पादित (हाल, १९०२, १९०८), पी० एच० वैद्य द्वारा सं० (मिथिला, १९५८)।

१४६—डब्ल्यू० डब्ल्यू राकहिल, दि लाइफ ऑव बुद्ध (कैगनपॉल)।

१४७—बुद्धचरित, ई० बी० कॉवेल द्वारा सम्पादित (आक्सफोर्ड, १८९३)।

१४८—ई० फ्राउवाल्नर, दि अर्लियेस्ट विनय एन्ड दि बिगिनिंग्स ऑव बुधिस्ट लिटरेचर (१९५७)।

में उसे वहाँ से निकाल कर दीघनिकाय में डाल दिया गया।[१४९] सम्बोधि तथा उसके पहले का जीवन चरित भी मज्झिम आदि के उपर्युक्त सूत्रों में रख दिया गया है। महासांघिक एवं मूल-सर्वास्तिवादी विनयों मे महापरिनिर्वाण सूत्र को संगीतियों के विवरण के प्रारम्भ मे देखा जा सकता है।[१५०] मूल-सर्वास्तिवादी विनय में संघभेद-वस्तु तथा क्षुद्रकवस्तु मे बुद्ध की जीवनी के अनेक अंश संगृहीत हैं।[१५१] कालान्तर में त्रिपिटक के बुद्धचरित सम्बन्धी अंशों को संगृहीत कर निदानकथा, ललित-विस्तर, महावस्तु आदि की रचना हुई। इन ग्रन्थों में भी बुद्ध की जीवनी असम्पूर्ण रूप में ही पायी जाती है, जैसे कि त्रिपिटक में। चीनी मे उपलब्ध एक बुद्ध की जीवनी के[१५२] अन्त में इस प्रकार लिखा हुआ मिलता है कि इस सूत्र को महासांघिक आचार्य महावस्तु कहते हैं, सर्वास्तिवादी आचार्य महाव्यूह अथवा ललितविस्तर, काश्यपीय आचार्य बुद्धजातकनिदान अथवा अवदान, धर्मगुप्तक आचार्य शाक्यमुनि-बुद्ध-चरित तथा महीशासक आचार्य विनयपिटकमूल। इन सभी में बुद्ध के जन्म से लेकर उनके धर्म-चक्रप्रवर्तन तक का इतिहास संगृहीत है। जैसा कि महीशासक-सम्मत नाम प्रकट करता है, बुद्धचरित का यह प्रारम्भिक अंश कदाचित् विनयपिटक का मूल एवं स्कन्धक का आमुख था।

फ्राउवाल्नर महोदय का यह मत विचारोत्तेजक एवं संभाव्य है। महापदान-सुत्तन्त से यह सिद्ध होता है कि महापरिनिर्वाण के अनन्तर सूत्रपिटक के वर्तमान रूप प्राप्त करने के पहले ही बुद्ध की जीवनी धर्मता से प्रतिनियत एक आदर्श के रूप में कल्पित हो चुकी थी। किन्तु इस प्रकार की कल्पना ऐतिहासिक स्मृति के संरक्षण के लिए अधिक उपयोगी नहीं हो सकती थी। यह भी विचारणीय है कि महाभि-निष्क्रमण के पूर्व बुद्ध-जीवनी त्रिपिटक मे कहीं भी संतोषजनक रूप में उपलब्ध नहीं है। यही कारण है कि बुद्ध भगवान् के परिवार-संबंधी नामादि-विस्तर में परवर्ती विवरण एकमत नहीं हैं। यह भी स्पष्ट है कि ललित-विस्तर, बुद्धचरित आदि परवर्ती ग्रन्थों का आधार त्रिपिटक-गत—फ्राउवाल्नर के अनुसार मूल-विनय-गत—सामग्री

१४९–द्र०—फ्राउवाल्नर, वही, पृ० ४२ प्र०।

१५०–वही, पृ०४४।

१५१–वही, पृ० ४७।

१५२–फु-पेन-शिग-चि-चिग (बुद्ध-पूर्व-चर्या-संग्रह-सूत्र); द्र०—नन्जियो संख्या ६८० स्तम्भ, १६३–६४।

थी। ऐसी स्थिति में त्रिपिटक की सामग्री को ही सामान्यतः ललित-विस्तर आदि की प्रामाणिकता की परिधिमानना चाहिए।[१५३]

प्रारम्भिक जीवन और साधना--जन्म से महाभिनिष्क्रमण तक—गौतम बुद्ध ने लगभग ई० पू० ५६३ में शाक्यों की राजधानी कपिलवस्तु के निकट लुम्बिनी वन में जन्म ग्रहण किया।[१५४] यह स्थान वर्तमान नेपाल राज्य के अन्तर्गत और भारत की सीमा से आजकल ५ मील की दूरी पर स्थित है। यहाँ पर अशोक का एक अभिलेख-युक्त स्तम्भ ई० १८९५ में प्राप्त हुआ जिसमें लिखा मिलता है : "हिद बुधे जाते ति।" त्रिपिटक में शाक्यों को अभिमानी और विशुद्ध जाति के क्षत्रिय बताया गया है।[१५५] यद्यपि उनको ब्राह्मणों का गौतम गोत्र दिया गया है।[१५६] उनमें परस्पर निकट सम्बन्धों में विवाह का उल्लेख उनका आर्येतरीय सम्पर्क भी सूचित करता है। हिमालय की तराई में स्थित शाक्य जनपद कोशलराज के अधीन एक गणराज्य था जो कि विडूडम के आक्रमण तक प्रायः स्वतन्त्र था। गण का शासन-कार्य छोटे-बड़ों की एक सभा के द्वारा होता था जो कि कपिलवस्तु के संस्थागार में एकत्र होती थी। ऐसा प्रतीत होता है कि गण का एक निर्वाचित प्रमुख होता था जिसे राजा कहा जाता था।[१५७]

१५३–बुद्ध की जीवनी पर आधुनिक पुस्तकों में द्र०—ई० जे० टॉमस, दि लाइफ ऑव् बुद्ध; ई० एच० ब्रूस्टर, दि लाइफ ऑव गौतम, दि बुद्ध (पालिपरम्परा); रॉकहिल, पूर्व (तिब्बती परम्परा); एफ० बिगेन्डेट, लाइफ ऑर लेजेन्ड ऑव गौतम दि बुद्ध ऑव दि बर्मीज; एस० बील, रोमेन्टिक लेजेन्ड ऑव शाक्य बुद्ध; ऑरिजिन्स ऑव बुधिज्म, अध्याय १०।

१५४–बुद्ध की तिथि पर विद्वानों में प्रचुर विवाद रहा है—द्र०—विन्टरनित्स, पूर्व० जि० २, पृ० ५९७, टॉमस, दि लाइफ ऑव् बुद्ध, पृ० २७।

१५५–द्र०—दीघ० का अम्बट्ठ सुत्त, जातकरो जि० १, पृ० ८८।

१५६–तु०—"उजु जनपदो राजा हिमवन्तस्स पस्सतो।
धनविरियेन संपन्नो कोसलेसु निकेतिनो॥
आदिच्चा नाम गोत्तेन साकिया नाम जातिया।"
(सुत्तनिपात–३.१.१८–१९)

महापरिनिब्बानसुत्तन्त में कुसिनारा में मल्ल 'वासिष्ठ' कहे गये हैं।

१५७–तु०—टी० डब्ल्यू० राइज़ डेविड्स, बुधिस्ट इण्डिया, पृ० १९–२०।

बुद्ध के स्वजन और सम्बन्धियों के विषय में उत्तरकालीन ग्रन्थ विविध और परस्पर असमंजस सूचनाएँ देते हैं जिनके सत्यासत्य-निर्णय में प्राचीनतर विनय आदि ग्रन्थों मे विशेष सहायता नहीं मिलती। महावग्ग से ज्ञात होता है कि बुद्ध के पिता का नाम शुद्धोदन था।[१५८] एक स्थान पर उनकी माता का नाम माया दिया गया है।[१५९] महाप्रजापति गौतमी का विनय में और निकायों में अनेकत्र उल्लेख पाया जाता है। विनय में उन्हें बुद्ध की मातृष्वसा (मौसी) कहा गया है।[१६०] दण्डपाणि से उनके सम्बन्ध का विवरण निकायों में प्राप्त नहीं होता।[१६१]

बुद्ध के जन्मकालीन 'आश्चर्याद्भुत धर्मों' की कथाओं को प्राचीन नहीं माना जा सकता और न असित की भविष्यवाणी को ही ऐतिहासिक माना जा सकता है।[१६२] बुद्ध के बचपन और शिक्षा के विषय में भी कोई प्रामाणिक प्राचीन सामग्री उपलब्ध नही होती और न उनकी पत्नी अथवा पत्नियों के विषय में। राहुल नाम के भिक्षु का निकायों में एकाधिक स्थान पर उल्लेख मिलता है, किन्तु बुद्ध के पुत्र के रूप में नहीं। पर महावग्ग में राहुलकुमार को उनका पुत्र कहा गया है। राहुलमाता का भी उल्लेख है।[१६३]

अभिनिष्क्रमण—उन्नीस वर्ष की अवस्था में बुद्ध ने घर-बार छोड़कर अनागारता स्वीकार की।[१६४] यह घटना उनका 'अभिनिष्क्रमण' कहलाती है। परवर्ती विश्वास के अनुसार यह परिवर्तन अचानक घटा। बुद्ध को शुद्धोदन की आज्ञा से एक कृत्रिम संसार में रखा गया था। देवदूतों के द्वारा प्रदर्शित जरा, रोग, मृत्यु और भिक्षु के दर्शन से उनके मन में सहसा तीव्र उद्वेग उत्पन्न हुआ और उन्होंने संसार-त्याग कर काषाय

१५८–विनय, ना० महावग्ग, पृ० ८६।

१५९–दीघ० ना० जि० २, पृ० ८।

१६०–विनय, ना० चुल्लवग्ग, पृ० ३७४।

१६१–तु०—मललसेकर, जि० १, पृ० १०५३।

१६२–सुत्तनिपात, नालकसुत्त।

१६३–महावग्ग, ना०, पृ० ८६।

१६४–"स्कूनतिंसो वयसा सुभद्द्यं पब्बजिं कि कुसलानुएसी।
वस्सानि पञ्चाससमाधिकानि यतो अहं पब्बजितो सुभद्द॥"
(दीघ० महापरिनिब्बानसुत्तन्त)

धारण किया।[१६५] आध्यात्मिक संवेग का इस प्रकार अचानक जागरण अन्यत्र अविदित नहीं है, किन्तु जिस प्रकार की कथा बुद्ध भगवान् के सम्बन्ध में कही गयी है वह विश्वास नहीं प्रतीत होती। यह मानना कठिन है कि उन्तीस वर्ष की अवस्था तक वे जरा अथवा रोग से सर्वथा अपरिचित थे। और फिर सूत्र अथवा विनय में अभिनिष्क्रमण के प्रसंग में इस कथा का अनुल्लेख उसकी अप्रामाणिकता में सन्देह बढ़ाता है। प्राचीन सन्दर्भ देखने से प्रतीत होता है कि जरा, मृत्यु, रोग आदि पर चिन्तन से बोधिसत्त्व ने संसार की दुःखमयता हृदयंगम की और अनुत्तरशान्ति का पद खोजने का निश्चय किया। उनके संसार-त्याग के लिए प्रेरक विचारों को इस प्रचलित कथा में एक नाटकीय घटना का रूप दिया हुआ प्रतीत होता है। उत्तर काल में जब गण-राज्य और शाक्यों के साधारण ग्रामीण जीवन की ऐतिहासिक स्मृति खो गयी थी, यह माना गया कि बुद्ध एक प्रतापी राजा के पुत्र थे और असाधारण समृद्धि और विलास मे पले थे। बुद्ध की कोई भी बात साधारण नहीं हो सकती। शुद्धोदन को अपने पुत्र की भावी प्रव्रज्या के विषय में पहले ही चेतावनी मिल गयी थी। अतएव उन्होंने बोधिसत्त्व को यथार्थ से इतना दूर रखा कि केवल देवदूत[१६६] ही उन्हें यथार्थ तक लौटा सकते थे। इस सारे कथानक के निर्माण में अनेक काल्पनिक कारण स्पष्ट हैं।

आर्यपर्येषणा—अनेक पूर्व-जन्मों के अर्जित पुण्य से अभिसंस्कृत बोधिसत्त्व के चित्त में जरा-मृत्यु आदि पर चिन्ता से जीवन की अनित्यता और निस्सारता प्रकट हो गयी तथा तीव्र वैराग्य और जिज्ञासा से प्रेरित होकर उन्होंने 'आर्यपर्येषणा' में चरण धरे। वे कुशल की खोज में, शान्ति की पर्येक्षणा में संलग्न थे (किं कुसलगवेसी अनुत्तरं सन्तिवरपदं परियेसमानो)[१६७] नाना स्थानों में घूमते हुए, प्रसिद्ध आचार्यों

१६५—यथा, ललितविस्तर १४वाँ परिवर्त, बुद्धचरित, सर्ग ३।

१६६—यह उल्लेखनीय है कि निकायों में अनेक स्थलों पर जरा आदि को 'देवदूत' कहा गया है—अंगुत्तर (रो०) जि० १, पृ० १३८, १४२, मज्झिम (रो०) जि० २, पृ० ७५, जि० ३, पृ० १७९।

१६७—परवर्ती निदानकथा के अनुसार अभिनिष्क्रमण के समय आषाढ़ी पूर्णिमा की रात थी और उत्तराषाढा नक्षत्र आकाश में विद्यमान था। प्रातःकाल तक कन्थक पर आरूढ़ बोधिसत्त्व शाक्य, कालिय तथा मल्लों के जनपदों को पार कर अनोमा नदी के तीर पर पहुँच गये। बुद्धचरित के अनुसार बोधिसत्त्व ने पहले ब्राह्मण ऋषियों के आश्रमों में स्वर्गपरायण वानप्रस्थों को देखा और उनके धर्म से असन्तोष अनुभव किया।

से ज्ञान प्राप्त करते हुए, विविध साधन और तपश्चर्या में संलग्न, अन्ततः गया में ध्यान के अभ्यास से बोधिसत्त्व ने सम्बोधि का लाभ किया। इस 'पर्येषणा' में उनके छः वर्ष व्यतीत हुए। जिन आचार्यों से उन्होंने आध्यात्मिक शिक्षा पायी उनमें से कुछ के नाम प्राप्त होते हैं। आलार कालाम और उद्रक रामपुत्र इनमें प्रधान थे। ललित-विस्तर में ब्राह्मणी पद्मा और ब्रह्मर्षि रैवत के आश्रमों में भी बोधिसत्त्व के ठहरने का उल्लेख है।[१६८] अश्वघोष ने बुद्धचरित में आलार कालाम को विन्ध्यकोष्ठ का निवासी कहा है और उनके सिद्धान्तों का विवरण प्रस्तुत किया है, यद्यपि यह ज्ञात नहीं है कि उन्होंने किस प्राचीन आधार का सहारा लिया था।[१६९] इस समय उपलब्ध उससे प्राचीनतर ग्रन्थों में कहीं भी कालाम के सिद्धान्तों का इस प्रकार वर्णन नहीं मिलता। ललितविस्तर में अराडकालाप का स्थान वैशाली में बताया गया है। कालाम के विषय में निकायों में यही सूचना मिलती है कि उन्होंने बोधिसत्त्व को 'आकिञ्चन्यायतन' नाम की 'अरूपसमापत्ति' की शिक्षा दी।[१७०] अश्वघोष के अनुसार कालाम ने जिस सिद्धान्त का उपदेश किया उससे कपिल, जैगीषव्य, जनक और वृद्ध पराशर ने मोक्षलाभ किया था। कालाम के उपदेश का सांख्यदर्शन से सादृश्य स्पष्ट है। दोनों में प्रकृति और विकृति, अव्यक्त और व्यक्त को परिणामी कहा है, तथा क्षेत्रज्ञ को इनसे पृथक् बताया है। और दोनों में अविद्या को छिन्न कर क्षेत्रज्ञ मोक्षलाभ करता है। किन्तु कालाम के उपदेश में अनेक अपूर्व लाक्षणिक शब्दों का उपयोग किया गया है तथा कई स्थानों पर सुविदित सांख्य दर्शन से भेद है। पाँच भूत, अहंकार, बुद्धि और अव्यक्त को प्रकृति कहा गया है। विषय, ज्ञानेन्द्रियाँ, कर्मेन्द्रियाँ और मन विकार कहे गये हैं। इसके विपरीत सांख्य में अव्यक्त ही केवल प्रकृति है, शेष सब प्रकृति-विकृति अथवा विकृति। विप्रलय, सन्देह, अभिसम्प्लव, अविशेष, अनुपाय, संग और अभ्यवपात, इनको पारिभाषिक शब्द माना गया है जो कि—अविशेष और संग को छोड़कर—सांख्य में अप्रसिद्ध हैं। अज्ञान, कर्म और तृष्णा को संसार-हेतु कहा गया है जो कि अनेक-दर्शन-साधारण है। संसार-निवृत्ति का मार्ग आकिञ्चन्यपरका अरूप-ध्यान बताया गया है। इसका सांख्य-दर्शन की विवेक-ख्याति

१६८—ललितविस्तर, (सं० वैद्य) पृ० १७४।

१६९—बुद्धचरित, सर्ग १२।

१७०—द्र०—ऑरिजिन्स ऑव बुद्धिज्म. पृ० ३७७-७८।

से भेद है। बोधिसत्त्व ने इस मत का यह कह कर अस्वीकार किया कि जब तक क्षेत्रज्ञ के रूप में आत्मा शेष है तब तक पुनः संसार की प्रवृत्ति सम्भव है।

राजगृह में बोधिसत्त्व का मगधराज बिम्बिसार से साक्षात्कार हुआ, इसका उल्लेख सुत्तनिपात के पब्बज्ज-सुत्त और ललितविस्तर में है। ललितविस्तर में वही उद्रक रामपुत्र का आश्रम भी बताया गया है।[१७१] रामपुत्र ने नैवसञ्ज्ञानासञ्ज्ञायतन का उपदेश बोधिसत्त्व को दिया जिससे उन्हें सन्तोष नहीं हुआ। यहाँ से पाँच भद्र-वर्गीय भिक्षु उनके साथ हो लिये।

गया में विचरते बोधिसत्त्व को यह सूझा[१७२] कि जैसे गीली अरणियों के मन्थन से अग्नि का उत्पादन नहीं किया जा सकता, ऐसे ही भोगों में आकर्षण और तृष्णा रहते हुए तपश्चर्या के द्वारा आर्य ज्ञान की प्राप्ति नहीं की जा सकती। किन्तु असंग और वैराग्य रहने पर तप से ज्ञान की आशा की जा सकती है। इस दृष्टि से उन्होंने उरु-बिल्व के निकट सेनापति ग्राम में नैरञ्जना नदी के किनारे रमणीय प्रदेश में 'प्रधान' अथवा तपश्चर्या का निश्चय किया। उन्होंने दाँतों से दाँत भींचकर और तालु से जिह्वा सटा कर इतना घोर तप किया कि चिल्ले जाड़े में भी उनके पसीना छूटता था, किन्तु इससे यद्यपि उत्साह और जागरूकता बढ़ती थी, देह अशान्त हो जाती थी विरियं होति असल्लीनं, उपट्ठिता सति असम्मुट्ठा, सारद्धो च पन म कायो होति अप्पटिपस्सद्धो।"[१७३] इसके पश्चात् उन्होंने आश्वास-प्रश्वास रोककर अप्राणक ध्यान का अभ्यास किया ("सो खो अहं···मुखतो च नासतो च अस्सासपस्सासे उपरुन्धिं।")[१७४] किन्तु इस प्राणायाम के अभ्यास से बोधिसत्त्व को तीव्र वेदना और जलन का अनुभव हुआ। बहुतों ने प्रखर तप से निश्चेष्ट पड़े हुए उनको देखकर समझा कि श्रमण गौतम की मृत्यु हो गयी है। इसके अनन्तर उन्होंने आहार छोड़ने का अभ्यास किया। फलतः उनका शरीर अत्यन्त कृश तथा क्षीण हो गया और उनकी स्वाभाविक अवदात छवि काली पड़ गयी। इस स्थिति में उन्हें दुष्कर चर्या की व्यर्थता स्पष्ट दीखने लगी।

१७१–ललितविस्तर, (सं० वैद्य), पृ० १७४।

१७२–ये 'उपमाएँ' एवं दुष्कर चर्या का विवरण मज्झिम के बोधिराजकुमारसुत्त आदि स्थलों में उपलब्ध होता है तथा यह ललितविस्तर के विवरण के अत्यन्त सन्निकट है–द्र०—ऑरिजिन्स ऑव् बुद्धिज्म, पृ० ३७९।

१७३–उदा०—मज्झिम ना०, जि० १, पृ० ३०१।

१७४–तु०—ललितविस्तर, पृ० १७४।

तपस्या छोड़ने के अनन्तर बोधिसत्त्व को बचपन में अनुभूत ध्यान का स्मरण हुआ और उन्होंने उसे ही सम्बोधि का मार्ग निर्धारित किया। "तस्स मय्हमेतदहोसि अभिजानाभि खो पनाहं पितु सक्कस्स कम्मन्ते सीताय जम्बुच्छायाय निसिन्नो विविचेव कामेहि· · ·पठमज्झानं उपसम्पज्ज विहरता, सिया नु खो एसो मग्गो बोधायाति। तस्स मे सतानुसारि विञ्जाणं अहोसि एसो व मग्गो बोधायाति।"[१७५] और साथ ही उन्होंने अपना ध्यान-सुख का भय छोड़ दिया क्योंकि इस सुख का आधार न भोग-लालसा थी, न अपुण्य। "किन्नु अहं तस्स सुखस्स भायामि, यं तं सुखं अञ्जत्रेव कामेहि अञ्जत्र अकुसलेहि धम्मेहि।"[१७६] किन्तु भूख. प्यास और थकान में मन स्वस्थ और एकाग्र नहीं रहता और न "ध्यानयोग" में प्रवृत्त होता है। अतएव बोधिसत्त्व ने अनाहार का त्याग किया। इस प्रकार छः साल के कठोर तप का अन्त हुआ, जिस पर उनके साथ के पाँच भद्रवर्गीय भिक्षुओ ने उन्हें साधन से भ्रष्ट मानकर छोड़ दिया।

उत्तरकालीन बौद्ध परम्परा के अनुसार ध्यान-संलग्न बोधिसत्त्व को मार और उसकी सेना का सामना करना पड़ा। प्राचीन पालि सन्दर्भों में मार का उल्लेख अवश्य मिलता है, किन्तु सम्बोधिप्राप्ति के क्रमबद्ध विवरण में मार-घर्षण का स्पष्ट उल्लेख नहीं प्राप्त होता।[१७७] इस कारण कुछ विद्वानों का मत है कि मार-विजय की यह कथा उत्तरकालीन कल्पना है। अन्य विद्वानों ने इस अश्रद्धा का विरोध किया है। इस प्रसंग में श्री राइसडेविड्स ने यह सुझाव प्रस्तुत किया है कि मार की कथा में एक आध्यात्मिक व्यापार का बाह्य इतिवृत्त के रूप में चित्रण है।[१७८] पालि-साहित्य में मार को कहीं मृत्यु और कहीं काम अथवा सांसारिक प्रलोभन के रूप में समझा गया है। निवृत्ति-मार्ग की दृष्टि से काम और मृत्यु का निबिड़ सम्बन्ध सुबोध है। यह

१७५–मज्झिम (रो०) जि० १, पृ० २४७—"तब मुझे हुआ कि मुझे अपने पिता शाक्य के कर्मान्ति में जामुन की ठंडी छाँह में प्रथम ध्यान की प्राप्ति का स्मरण है, कदाचित् वही बोधि का मार्ग हो। उस समय स्मृति के अनुसार ही मेरा मन हुआ कि यही बोधिमार्ग है।"

१७६–मज्झिम, वही—"मैं उस सुख से क्यों डरूँ जो काम एवं अकुशल धर्मों से सम्बद्ध नहीं है।"

१७७–तु०—ऑरिजिन्स ऑव बुद्धिज्म, पृ० ३८१–८२।

१७८–तु०—टॉमस, पूर्व०, पृ० २३०।

स्मरणीय है कि कठोपनिषद् में यम अथवा मृत्यु नचिकेता के रूप में जिज्ञासु को नाना प्रलोभन देकर ज्ञान से वञ्चन का प्रयत्न करते हैं। इस प्रकार यह सम्भव है कि ज्ञान की प्राप्ति के लिए सांसारिक आकर्षणों के साथ जो आध्यात्मिक अन्तर्द्वन्द्व अनिवार्य है, उसका ही मार-घर्षण की कथा में एक कल्पित नाटकीय रूप प्रस्तुत किया गया है।

यह स्मरणीय है कि एक प्रकार से आलार कालाम और उद्रक रामपुत्र ने भी बुद्ध को ध्यान की शिक्षा दी थी क्योंकि अरूप-समापत्तियों की प्राप्ति के लिए रूप-धातु का अतिक्रमण आवश्यक है और काम-धातु से रूप-धातु में प्रवेश ध्यान के द्वारा ही सम्भव है। इस प्रकार ध्यान के क्रमशः सूक्ष्म होने से, वितर्क, विचार, प्रीति और सुख के निरोध के द्वारा चतुर्थ ध्यान की प्राप्ति और फिर रूप-संज्ञा के अतिक्रमण से आकाशानन्त्यायतनादि अरूप समापत्तियों का लाभ होता है। किन्तु बुद्ध भगवान् ने चतुर्थ ध्यान के अनन्तर सम्बोधि का लाभ किया। यहाँ पर यह जिज्ञासा स्वाभाविक है कि जो ध्यान-योग बोधिसत्त्व ने अरूप समपत्तियों के लिए सीखा और वह ध्यान जिसका पहला अनुभव उन्होंने अपने पिता के उद्यान में जामुन की छाया में किया था और जिसके अभ्यास से गया में न्यग्रोध के नीचे उन्हें सम्बोधि प्राप्त हुई, इन दो ध्यान-योगों में क्या भेद था। वस्तुतः यहाँ पर भेद ध्यान के लक्ष्य में ही मानना चाहिए। शंकराचार्य का कहना है कि समस्त आध्यात्मिक साधन का रहस्य लक्ष्य-चिन्तन में ही है, यद्यपि एक अवस्था के बाद अचिन्तन ही शेष रहता है।[१७९] ध्यान का मर्म यही है—किसी लक्ष्य की ओर चित्त को बार-बार लगाना जब तक कि चित्त स्वयं उसकी ओर निरन्तर प्रवाहित होने लगे।[१८०] किसी विषय पर चित्त के बार-बार लगाने को बौद्धों ने 'वितर्क' की संज्ञा दी है, और उस विषय पर चित्त के निरन्तर प्रवाह को 'विचार' की।[१८१] ऐसे एकाग्रभूमिक चित्त के समाहित होने के प्रसंग में पहले मौन (वाक्संस्कारनिरोध) के साथ-साथ चित्त की जड़ता और चंचलता के तात्कालिक उपशम के कारण सात्त्विक सुख और सुख का आसंग, जिसे बौद्धों ने 'प्रीति' कहा है, उत्पन्न होते हैं। यह प्रथम ध्यान की अवस्था है, पर क्रमशः वितर्क, प्रीति और सुख के निरोध से द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ ध्यान की अवस्थाएँ प्राप्त होती हैं। साथ ही

१७९—गीता, २.५४ तथा ६.२५ पर भाष्य।

१८०—यथा योगसूत्र—'तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्।' दे०—नीचे।

१८१—ध्यान पर द्र०—विसुद्धिमग्गो (बम्बई, १९४०) पृ० ९५-९६; अभिधर्मकोश ८म कोशस्थान।

साथ समाहित होने से चित्त की स्वाभाविक शक्ति का उन्मेष होता है और ध्यान के मूल लक्ष्य के अनुरूप ज्ञान और विभूति का आविर्भाव होता है। ऐसा प्रतीत होता है कि बुद्ध के समकालीन अनेक आचार्यगण ध्यान और समाधि का उपयोग रूप-धातु और अरूप-धातु के नाना-लोकों की प्राप्ति के लिए करते थे। अतएव परवर्ती बौद्ध आचार्यों ने इस प्रकार के ध्यान और समाधि को 'लौकिक' और 'सास्रव' कहा है।[१८२] यह स्मरणीय है कि अश्वघोष के अनुसार अराड कालाम के योग का लक्ष्य किसी देव-लोक की प्राप्ति न था, अपितु आत्मा की देह से मुक्ति था। किन्तु आत्मपरक होने के कारण परवर्ती बौद्ध दृष्टि से ऐसा योग भी 'सास्रव' ही कहलायेगा। साधारण तौर से चतुर्थ ध्यान में स्थित रहने से 'बृहत्फल' नामक देवताओं के लोक की प्राप्ति होती थी तथा इस ध्यान की रूपसंज्ञा का अतिक्रमण करने पर सूक्ष्मतर आकाशानन्त्यायतन की प्राप्ति होती थी। किन्तु अतिशय पुण्यात्मा, त्रैधातुकविरक्त, अनुत्तर शान्ति-पद-गवेषी बोधिसत्त्व चतुर्थ ध्यान में अपने विशुद्ध और निश्चल चित्त के अभिनिर्हार के द्वारा रात्रि के तीन यामों में तीन विद्याएँ प्राप्त कर उषःकाल में सर्वज्ञ सम्बुद्ध हो गये।

सम्बोधि—रात्रि के प्रथम याम में उन्होंने पूर्व जन्मों की स्मृतिरूपी पहली विद्या प्राप्त की। रात्रि के मध्यम याम में उन्होंने दिव्य चक्षु प्राप्त किया और उसके द्वारा समस्त लोक को अपने कर्मों का फल अनुभव करते देखा। रात्रि के तृतीय याम में उन्होंने प्रतीत्यसमुत्पाद का ज्ञान प्राप्त किया जिससे उन्होंने सत्य को आपाततः दो पक्षों में विभक्त देखा—एक ओर अनित्य, परतन्त्र और सापेक्ष संसार, दूसरी ओर चिर-शान्त निर्वाण। एक मत से यह 'त्रैविद्यता' ही बुद्ध की सर्वज्ञता थी। मतान्तर से प्रतीत्यसमुत्पाद के समानान्तर सर्वधर्माभिसमय रूप सर्वाकारक प्रज्ञा अथवा सम्बोधि का उदय हुआ।[१८३] जिस प्रकार पहाड़ की चोटी से कोई नीचे देखे ऐसे ही सम्यक् सम्बुद्ध ने धर्ममय प्रासाद से शोकमग्न संसार को देखा।[१८४] सम्बोधि के बाद बुद्ध के

१८२—यथा, अभिधर्मकोश, ८.६ प्र०।

१८३—द्र०—ऑरिजिन्स ऑव् बुद्धिज्म, पृ० ४५८—६४, ललित, पृ० २५०—५४। अभिधर्मकोश, ६.६७, महाध्यानसूत्रालंकार (सं० लंवि), ९।

१८४—"सेले यथा पब्बतमुद्धनिट्ठितो यथापि पस्से जनतं समन्ततो।
तथूपमं धम्ममयं सुमेध पासादमारुय्ह समन्तचक्खु।
सोकावतिण्णं जनतं अपेतसोको अवेक्खस्सु जातिजराभिभूतं।"
(मज्झिम ना०, १.२।८, संयुत्त ना० १.१३.८) तु० योगभाष्य, सूत्र २.४७ पर।

प्रथम वचन के विषय में बौद्ध परम्परा एक मत नहीं है। महावग्ग और उदान में इस गाथा को बुद्ध का प्रथम उदान बताया गया है—"यदा हवे पातुभवन्ति धम्मा आतापिनो झायतो ब्राह्मणस्स। अथस्स कङ्खा वपयन्ति सब्बा यतो पजानाति सहेतुधम्मं॥" जिसका इस प्रकार अनुवाद किया जा सकता है—

अर्थात् "धर्मों का होता जब प्रादुर्भाव
संशय सारे हो जाते संछिन्न
आतापी ध्यायी ब्राह्मण के, क्योंकि
जाना उसने धर्म हेतु-सभिन्न॥"[१८५]

किन्तु दीघभाणक और बुद्धघोष के अनुसार बुद्ध के प्रथम वचन धम्मपद की इन गाथाओं से रक्षित हैं—

"अनेकजातिसंसारं संघाविस्सं अनिब्बिसं,
गहकारकं गवेसन्तो दुक्खा जाति पुनप्पुनं।
गहकारक दिट्ठोसि पुन गेहं न काहसि,
सब्बा ते फासुका भग्गा गहकूटं विसङ्खितं,
विसंङ्खारगतं चित्तं तण्हाणं खयमज्झगा॥"[१८६]

अर्थात् "बहुत जन्म संसृति में सन्धावित हो अविरत,
गृहकारक को खोजा बार-बार जीवित मृत,
दीख गये, गृहकारक, अब न बना सकते घर,
भग्न हुईं सब कड़ियाँ गिरता टूट गृह-शिखर,
संस्कारों से मुक्त चित्त, तृष्णा अशेष मत।"

ललितविस्तर में पहला उदान इस प्रकार दिया है—"छिन्नवर्त्मोपशान्तरजा:[१८७] शुष्का" आस्त्रवा न पुनः श्रवन्ति। छिन्ने वर्त्मनि वर्तत दुःखस्यैषोऽन्त उच्यते।

अर्थात् "छिन्न हो गया वर्त्म, शान्त रज,
रुद्ध हो गये आस्रव शोषित।
छिन्न हो गया वर्त्म और यह
दुख का अन्त हो गया अभिहित।"

१८५–विनय ना०, महावग्ग, पृ० ३, खुद्दक ना० जि० १, ६३–६५ (उदान)
१८६–धम्मपद—खुद्दक ना० जि० १, पृ० ३२।
१८७–ललित, पृ० २५३।

तिब्बती विनय में एक और उदान दिया हुआ है। इस परम्परागत वैमत्य से स्पष्ट है कि सम्बुद्ध की प्रथमोक्ति का उत्तरकाल में यथावत् स्मरण शेष नहीं रहा है।

विनय के अनुसार सम्बोधि के अनन्तर चार सप्ताह तक बुद्ध विमुक्ति-सुख-प्रतिसंवेदी होकर बद्धासन बने रहे। कुछ परवर्ती ग्रन्थों के अनुसार यह समय सात सप्ताह अथवा एक सप्ताह का था। महावग्ग में इस विमुक्ति-सुख-प्रतिसंवेदन के अनन्तर तपुस्स और भल्लिक नाम के दो व्यापारियों के सर्वप्रथम उपासक बनने का उल्लेख है। इसके अनन्तर ब्रह्मयाचन का वर्णन है।[१८८] किन्तु मज्झिम के सुत्तों में सम्बोधि के समनन्तर ही ब्रह्मयाचन उल्लिखित है, बीच में विमुक्ति-सुख का प्रतिसंवेदन अथवा तपुस्स और भल्लिक का उल्लेख नहीं है।[१८९]

बुद्ध के मन में यह संशय उत्पन्न हुआ कि "अधिगतो खो म्यानं धम्मो गम्भीरो दुद्दसो दुरनुबोधो सन्तो पणीतो अतक्कावचरो निपुणो पण्डितवेदनीयो। आलयरामा खो पनायं पजा आलयरता आलयसम्मुदिता। आलयरामायखो पन पजाय... दुद्दसं इदं ठानं यदिदं इदप्पच्चयता-पटिच्चसमुप्पादो, इदं पि खो ठानं सुदुद्दसं यदिदं... निब्बानं। अहं चैव खो पन धम्मं देसेय्यं, परे च मे न आजानेय्युं, सो ममस्स किलमथो, सा भमस्स विहेसा।[१९०] और उन्हें ये गाथाएँ सूझीं "किच्छेन मे अधिगतं हलंदानि पकासितुं। राजदोसपरेतेहि नायं धम्मो सुसम्बुधो॥ पटिसोतगामि निपुणं गम्भीरं दुद्दसं अणुं। रागरत्ता न दक्खन्ति तमोखन्धेन आवुटा ति"।[१९१] बहुत कष्ट से बुद्ध ने जिस

१८८–विनय, ना० महावग्ग, पृ० ६–१०।

१८९–आ० मज्झिम, ना० जि० १, पृ० २१८–१९, तु० संयुत्त ना०, जि० १, पृ० १३६–३९।

१९०–अर्थात् "मुझे यह गम्भीर, दुरवलोक्य, दुर्बोध, शान्त, उत्तम, अतर्कगोचर, सूक्ष्म एवं पण्डित वेद्य धर्म प्राप्त हुआ है। आलयरत जनता के लिए इदम्प्रत्ययतारूप प्रतीत्यसमुत्पाद अथवा निर्वाण दुर्बोध है। यदि मैं धर्म का उपदेश करूँ और लोग न समझें तो परिश्रम एवं आभासमात्र होगा।" (मज्झिम ना०, जि० १, पृ० २१७)।

१९१–अर्थात् "मुझे कठिनाई से प्राप्त हुआ (धर्म) प्रकाशित करना व्यर्थ है। राग-द्वेष से, अभिभूत (लोगों के लिए) यह धर्म सुबोध नहीं है। प्रतिस्रोतगामी, सूक्ष्म, गंभीर, दुर्बोध, अणु (धर्म) को रागरक्त एवं तमःस्कन्ध से आवृत्त (लोग) नहीं देखेंगे।"

अतर्क्य और सूक्ष्म परमार्थ का बोध प्राप्त किया था उसे राग, द्वेष और मोह से अधि-भूत, संसार के प्रवाह में बहते हुए मनुष्य किस प्रकार समझ पायेंगे और उनमें धर्म-प्रचार का प्रयत्न क्या सर्वथा निष्फल न होगा—इस प्रकार का संशय और धर्म प्रव-र्तन की ओर अनभिरुचि बुद्ध के मन में स्वभावतः उदित हुई। परम्परा के अनुसार बुद्ध के अनौत्सुक्य को देखकर ब्रह्मा उनके सम्मुख प्रकट हुए और उन्होंने कहा—धर्ममय प्रासाद से शोकावतीर्ण जनता को देखिए और धर्म का उपदेश कीजिए, जानने-समझने वाले भी होंगे। ब्रह्मा की याचना से बुद्ध ने जीवों पर करुणा कर बुद्धचक्षु से लोक को देखा और पाया कि जैसे सरसी (तलैया) में कुछ कमल जल से अनुद्गत, कुछ समोदक और कुछ जल से अभ्युद्गत होते हैं, ऐसे ही जीव भी संसार में आध्यात्मिक विकास की नाना अवस्थाओं में हैं।[१९२] कुछ संसारी सुविज्ञाप्य है, कुछ दुर्विज्ञाप्य। यह देखकर बुद्ध ने धर्म-देशना स्वीकार की।

इस 'घटना' की व्याख्या अनेक प्रकार से की गयी है। एक मत यह है कि वस्तुतः बुद्ध को एक देवता ने संसारियों का 'उत्पल-सादृश्य' दिखाया और आध्यात्मिक विकास के धर्म के प्रचार के लिए प्रेरित किया।[१९३] यह मत मूल-सन्दर्भों का सर्वथा तिरस्कार करने से अग्राह्य है। एक अन्य मत यह है कि सर्वज्ञ बुद्ध को संशयापन्न होना ब्रह्मा के द्वारा इस संशय का निराकरण असम्भव है। वस्तुतः बुद्ध ने यह निश्चय किया कि वे अतर्क्य निर्वाण के विषय में मौन धारण करेंगे और केवल मार्ग की देशना करेंगे।[१९४] यह निष्कर्ष भी मूल-सन्दर्भ से पुष्ट नहीं होता।

वस्तुतः ब्रह्मयाचन से और करुणा से संसार को देखकर धर्मदेशना के लिए बुद्ध का स्वीकृति देना महायान का आध्यात्मिक जन्म मानना चाहिए। ज्ञानी के लिए अज्ञा-नियों का उद्धार और गुरु-पद का स्वीकार आवश्यक कर्त्तव्य बन जाते हैं। यदि ऐसा न होता तो संसार में अलौकिक ज्ञान की परम्परा कभी बन ही न पाती। सम्यक्

१९२—ललित, पृ० २९२ में ये तीन प्रकार के कमल तीन प्रकार के जीवों की ओर संकेत करते हैं—मिथ्यात्वनियतराशि, अनियतराशि और सम्यक्त्वनियत०। उपदेश की आवश्यकता केवल अनियतराशि के लिए है।

१९३—श्रीमती रोजडेविड्स, वट वॉज दि ऑरिजिनल गॉस्पेल इन बुद्धिज्म, पृ० १६।

१९४—नलिनाक्षदत्त, अर्लो मॉनेस्टिक बुद्धिज्म, जि० १, पृ० १००।

सम्बुद्ध के चित्त में करुणा का विकास एक अनिवार्य घटना थी। अपनी ही मुक्ति से सन्तुष्ट रहने का प्रलोभन तथा धर्म-प्रवर्त्तन के प्रति निराशा बुद्ध के चित्त में सम्भाव्य न होते हुए भी ब्रह्मयाचन के इस नाटकीय विवरण में तिरस्कार्य पूर्व पक्ष के रूप में कल्पित की गयी थी जिससे प्राकृत जन की बुद्धि और अभिसम्बुद्ध धर्म की दूरी स्पष्ट हो सके और यह भी प्रकट हो जाये कि बुद्ध की करुणा-प्रसूत देशना के अतिरिक्त इस दूरी को पाटने का और कोई साधन नहीं है।[१९५] ललितविस्तर का वर्णन अधिक विस्तृत और स्वयंव्याख्यात है। बुद्ध के मन में कोई वास्तविक विचिकित्सा अथवा संकोच नहीं था, किन्तु उनके मन का वितर्क ब्रह्मा को प्रेरित करने के लिए आहार्य था क्योंकि बुद्ध बिना अध्येषणा के उपदेश नहीं देते।

धर्म-चक्र-प्रवर्तन—बुद्ध ने पहली देशना के युक्ततम पात्र आलार कलाम और उद्रकरामपुत्र को माना, किन्तु उनका देहान्त इससे पूर्व ही हो गया था। उनके बाद उपदेश्यता की दूसरी कोटि में बुद्ध ने पञ्चवर्गीय भिक्षुओं को रखा जो उन्हें छोड़कर चले गये थे। इन भिक्षुओं से मिलने बुद्ध वाराणसी गये और वहाँ ऋषिपतन मृगदाव (सारनाथ) में उन्होंने पहला धर्मोपदेश कर धर्मचक्रप्रवर्त्तन किया। इस प्रथम उपदेश का ठीक जिस रूप में वर्णन इस समय उपलब्ध होता है उसका पूर्णतया प्रामाणिक होना सन्दिग्ध है।[१९६] दो अन्तों का परिवर्जन तथा मध्यमा प्रतिपद् की आश्रयणीयता, इतना ही मूल उपदेश का निश्चित शेष है।[१९७] किन्तु इस मध्यमाप्रतिपद् का अष्टांग मार्ग के साथ तादात्म्य स्थापित करना तथा उसके अनन्तर चार आर्य सत्यों का सविस्तार और रीतिबद्ध वर्णन उत्तरकालीन सन्निवेश प्रतीक होता है, जो कि मूल उपदेश के कुछ अंश को लुप्त कर स्वयं उसका स्थानापन्न हो गया है।

१९५–तु०—प्लेटो का 'कातावासिस' (रिपब्लिक, ५२० सी)।

१९६–द्र०—ऑरिजिन्स ऑव् बुद्धिज्म, पृ० २२७–२८।

१९७–"द्वाविमौ भिक्षवः प्रव्रजितस्यान्तावक्रमौ। यश्च कामेषु कामसुखल्लिकायोगो हीनो ग्राम्यः पार्थजनिको नालमार्योऽनर्थोपसंहितो नायत्यां ब्रह्मचर्याय न निर्विदे न विरागाय न निरोधाय नाभिज्ञाय न सम्बोधये न निर्वाणाय संवर्तते। या चेयममध्यमा प्रतिपदा आत्मकायक्लमथानुयोगो दुःखोऽनर्थोपसंहितो दृष्टधर्मदुःखश्चायत्यां च दुःखविपाकः। एतौ च भिक्षवो द्वावन्तावनुपगम्य मध्यमयैव प्रतिपदा तथागतो धर्मं देशयति।" (ललित, पृ० ३०३)

बुद्ध की देशना से पंचवर्गीय भिक्षुओं ने अर्हत्त्व प्राप्त किया और इस प्रकार लोक में छः अर्हत् हुए। वाराणसी में यश नाम के श्रेष्ठिपुत्र की प्रव्रज्या का भी इसके अनतिचिर सम्पन्न होने का उल्लेख महावग्ग में प्राप्त होता है। इसके पश्चात् यश के सम्बन्धियों और मित्रों ने नये धर्म को स्वीकार किया और वाराणसी में अनेक बौद्ध उपासक और भिक्षु बन गये। इस प्रकार बुद्ध के अतिरिक्त साठ और अर्हत् उस समय थे। इनको बुद्ध ने नाना दिशाओं में धर्म-प्रचार के लिए भेज दिया और स्वयं उरुवेला के सेनानिगम की ओर प्रस्थान किया। मार्ग में उन्होंने तीस भद्रवर्गीय कुमारों को धर्म-देशना दी। उरुवेला में उन्होंने तीन जटिल काश्यपों को और उनके एक सहस्र अनुयायियों को प्रातिहार्य तथा देशना के द्वारा सद्धर्म में प्रवेशित किया। इसके अनन्तर बुद्ध राजगृह गये और वहाँ राजा बिम्बिसार को धर्म का उपदेश दिया। बिम्बिसार ने भिक्षु-संघ को वेणुवन उद्यान का उपहार दिया। राजगृह में संजय नाम के परिव्राजक आचार्य के दो शिष्य थे जो पीछे शारिपुत्र और मौद्गल्यायन के नाम से प्रसिद्ध हुए। अश्वजित् से "ये धम्मा हेतुप्पभवा तेसं हेतुं तथागतो आह। तेसं च यो निरोधो एवंवादी महासमणों॥"[१९८] यह सुनकर शारिपुत्र सद्धर्म में श्रद्धावान् हुए। उनसे यह गाथा मौद्गल्यायन ने सुनी और दोनों ने बुद्ध का शिष्यत्व स्वीकार किया। महावग्ग में सम्बोधि के बाद की घटनाओं का क्रम-बद्ध विवरण यहाँ समाप्त हो जाता है।

बौद्ध परम्परा में उन स्थानों के नाम गिनाये गये हैं जहाँ बुद्ध ने प्रतिवर्ष वर्षावास व्यतीत किये थे। उनकी सूची इस प्रकार है—पहला वर्षावास वाराणसी में, दूसरा चौथा राजगृह में, ५वाँ वैशाली में, ६वाँ मकुंलगिरि में, ७वाँ तावतिंस लोग में, ८वाँ सुँसुमार (शिशुमार) गिरि के निकट मर्ग प्रदेश में, ९वाँ कौशाम्बी में, १०वाँ पारिलेय्यक वन में, ११वाँ नालाग्राम में, १२वाँ वेरञ्ज में, १३वाँ चालियगिरि में, १४वाँ श्रावस्ती में, १५वाँ कपिलवस्तु में, १६वाँ आलकी में, १७वाँ राजगृह में, १८वाँ चालिय गिरि में, १९वाँ राजगृह में। इसके अनन्तर श्रावस्ती में ही बुद्ध ने वर्षावास व्यतीत किये। इस परम्परा में कल्पना ने हाथ बँटाया है, यह तो तावतिंस के उल्लेख से स्पष्ट है। शेष की प्रामाणिकता सम्भव होते हुए भी प्राचीन ग्रन्थों में असमर्थित होने से अनिश्चित ही रहती है।

सम्बोधि-लाभ के पश्चात् ८० वर्ष की आयु तक बुद्ध सद्धर्म का प्रचार करते हुए उत्तर प्रदेश और बिहार के जनपदों में घूमते रहे। सब से अधिक उनका निवास

१९८–अर्थात्, 'जो धर्म हेतुप्रभव हैं उनके हेतु एवं उनके निरोध का तथागत ने उपदेश दिया है।' यह गाथा बौद्धों में अत्यन्त प्रसिद्ध है।

श्रावस्ती में हुआ और उसके बाद राजगृह, वैशाली और कपिलवस्तु में। समाज के नाना वर्गों से उनके अनुयायी बने और उपासकों और उपासिकाओं, भिक्षुओं और भिक्षुणियों में सद्धर्म का प्रभाव बढ़ता गया। सद्धर्म के पहले अनुयायी काशी के पाँच ब्राह्मण तपस्वी थे और उनके बाद काशी का श्रेष्ठि-वर्ग। भिक्षुओं की विशेष संख्या-वृद्धि पहले मगध में हुई जब गया के एक सहस्र जटिल साधु भिक्षु बन गये और जब राजगृह में संजय परिव्राजक के चेलों ने संघ में प्रवेश किया। मगध में राजा बिम्बिसार का बुद्ध में श्रद्धालु होकर संघ को वेणुवन का उपहार देना सद्धर्म की प्रगति का एक नया चरण था। अजातशत्रु बुद्ध की ओर अनुकूल नहीं था, यद्यपि बौद्ध अनुश्रुति के अनुसार बहुत पीछे श्रामण्यफलसूत्र सुन कर उसका मन बदला था। मगध के ब्राह्मणों में बुद्ध को अधिक सफलता प्राप्त नहीं हुई ऐसा प्रतीत होता है। श्रेष्ठियों और गृहपतियों से अनेक उपासक बने। इस प्रसार में बिम्बिसार की अनुकूलता एक प्रधान कारण थी।

कोशल में राजा प्रसेजनजित् बुद्ध के अनुग थे और उनसे अधिक रानी मल्लिका बुद्ध में श्रद्धा रखती थी।[१९९] फलतः राजकुल में और भी सद्धर्म के अनुयायी बने। श्रेष्ठियों में कोटिपति अनाथपिण्डिक और विशाखा का उपासक बनना सद्धर्म की बहुत बड़ी विजय थी। अनाथपिण्डिक ने श्रावस्ती में भिक्षु संघ को जेतवन विहार का दान किया और विशाखा ने पुब्बाराम-मिगारमातुपासाद का। कोशल के अनेक प्रभावशाली और समृद्ध ब्राह्मणों ने भी बौद्ध धर्म स्वीकार किया। कोशल के इन ब्राह्मणों में अग्निक भारद्वाज, पुष्करसादी, धानञ्जनि आदि मुख्य थे। श्रावस्ती आजीवकों का केन्द्र थी, पर वहाँ के परिव्राजकों से भी कुछ ने सद्धर्म का अनुसरण किया।

शाक्यगण पहले बुद्ध के प्रति अनुकूल नहीं थे। पर कहा जाता है कि पीछे प्रातिहार्य-दर्शन से शाक्यों की दृष्टि बदली। राहुल की प्रव्रज्या का उल्लेख विनय में प्राप्त होता है। जैसे श्रावस्ती आजीवकों का केन्द्र थी, वैशाली निर्ग्रन्थों का। लिच्छवियों में महावीर के प्रभाव के कारण बुद्ध का प्रभाव सीमित रहा। बुद्ध स्वयं वैशाली के गण-राज्य के बहुत प्रशंसक थे और यह सम्भव है कि उनके भिक्षु-संघ का संगठन इस गण-राज्य के आदर्श पर प्रतिष्ठित हुआ हो। निर्ग्रन्थ उपासक लिच्छवि सेनापति सिंह को अपना अनुयायी बनाना बुद्ध की बड़ी विजय थी। शिशुमार गिरि के भर्गों से अभय राजकुमार और नकुल के माता-पिता ने सद्धर्म का ग्रहण किया।

१९९–तत्कालीन विशिष्ट व्यक्तियों के चरित पर द्र०—मललसेकर, डिक्शनरी ऑव पालि प्रॉपर नेम्ज, २ जिल्द।

कोलियों में से सुप्पावासा (सुप्रावासा ?) प्रसिद्ध उपासिका थी। मल्लो में दर्व (दब्ब) और चुन्द सुविदित हैं।

भगवान् बुद्ध ने धर्म की देशना कोशल, मगध और उनके पड़ोसी गण-राज्यों में की और समाज के सभी वर्गों और जातियों से उनके अनुयायियों की संख्या बढ़ी। महाप्रजापति गौतमी और आनन्द के कहने से उन्होंने स्त्रियों को भी सघ में स्थान दिया। मुख्यतया भिक्षुओं का धर्म होते हुए भी उनकी देशना और मार्ग में उपासकों का स्थान था। ब्राह्मणों के कर्मकाण्ड, पशु-वध, बाहरी आचार, जातिवाद आदि का उन्होंने विरोध किया और 'ब्राह्मण' की कर्मानुसारी नैतिक परिभाषा प्रस्तुत की। तथापि अनेक जिज्ञासु ब्राह्मणों ने उनका अनुसरण किया, यद्यपि एक कट्टरपन्थी पुरोहित-वर्ग उनके विरोध में बना रहा। पर यह स्मरणीय है कि बुद्ध स्वयं ब्राह्मणों का धन-मान, आदि उनसे छीन कर किसी और जाति अथवा सामाजिक वर्ग को नहीं देना चाहते थे। भिक्षुसंघ चातुर्दिश था और कम से कम बुद्ध के समय में भिक्षु सोना-चाँदी आदि की भिक्षा भी ग्रहण नहीं कर सकते थे। और उनके विनय-विहित जीवन में भोग की सम्भावना प्रयत्नपूर्वक निराकृत की गयी है। समृद्ध श्रेष्ठियों, क्षत्रियों और राजाओं में से सद्धर्म के अनेक उपासक बने। अन्य वर्गों से भी बुद्ध ने अनुयायी पाये जैसा कि पावा के चुन्द कर्मारपुत्र के उदाहरण से पता लगता है। डाकू अंगुलिमार और गणिका आम्रपाली ने भी बुद्ध की शरण पकड़ी। भिक्षु-संघ में किसी भी जाति के लोग, हीनजातीय भी, प्रवेश पा सकते थे। उस काल की अल्प-शेष सामग्री में यदि दरिद्र और साधारण उपासकों अथवा भिक्षुओं के नाम बहुत संख्या में कीर्तित नहीं किये गये हैं तो अचम्भा न होना चाहिए। किन्तु धर्म तथा विनय किसी विशेष सामाजिक वर्ग का पक्षपात नहीं करते, यद्यपि समाज के विशिष्ट समर्थ तथा धनी व्यक्तियों के साहाय्य का स्मरण अवश्य करते हैं। यह स्मरणीय है कि ज्ञान की पुरानी ब्राह्मणपरम्परा में भी जाति-निरपेक्षता थी, यथा "किं ब्राह्मणस्य पितरं किमु पृच्छसि मातरम्। श्रुतं चेदस्मिन् वेद्यं स पिता स पितामहः।" (काठकसंहिता)[२००]

परिनिर्वाण—महापरिनिब्बान सुत्त, जिसमें परवर्ती प्रक्षेप, परिवर्धन और परिवर्तन पर्याप्त है, बुद्ध के परिनिर्वाण की कथा का वर्णन करता है।[२०१] बुद्ध राज-

२००–अर्थात् "ब्राह्मण के पिता या माता को क्या पूछते हो, यदि उसमें श्रुति का ज्ञान है, तो वही पिता है, वही पितामह है।"

२०१–द्र०—ऑरिजिन्स ऑव् बुद्धिज्म, पृ० ९८–१०६, फ्राउवाल्नर, पूर्व।

गृह में थे जब अजातशत्रु वज्जियों पर अभियान करना चाहता था। मगध के महामात्र ब्राह्मण वर्षकार ने बुद्ध से इस विषय पर पूछा। बुद्ध ने वज्जियों के सात 'अपरिहाणीय धर्म' बताये जिनके रहते वे अपराजेय थे। राजगृह से बुद्ध पाटलिग्राम होते गंगा पार कर वैशाली पहुँचे। इस समय परिनिर्वाण के तीन मास शेष थे। वैशाली में आम्रपाली गणिका नें उनको भिक्षु-संघ के साथ भोजन कराया। भगवान् ने वर्षावास समीप के वेलुवग्राम में व्यतीत किया। यहाँ वे अत्यधिक रुग्ण हुए और आनन्द की इस आशंका पर कि कहीं भिक्षु-संघ से बिना कुछ कहे ही भगवान् का परिनिर्वाण न हो जाये, उन्होंने कहा "किं पनानन्द भिक्खुसंघो मयि पच्चासी सति ? देसितो आनन्द मया धम्मो अनन्तरं अबाहिरं करित्वा। नत्थानन्द तथागतस्स धम्मेसु आचरियमुट्ठि। यस्स नून आनन्द स्वमस्स—'अहं भिक्खुसंघं परिहरिस्सामीति वा ममुद्देसिको भिक्खुसंघो ति वा सो नून आनन्द भिक्खुसंघं आरम्भ किञ्चिदेव उदाहरेय्य। तथागतस्स खो आनन्द न एवं होति· · ·अहं रवो· · ·एतरहि जिण्णो बुद्धो· · ·असीतिको में बयो बत्तति। सेप्य थापि आनन्द जज्जरसकटं· · ·तस्मातिहानन्द अत्तदीपा विहरथ अत्तसरणा अनञ्जसरणा, धम्म दीपा धम्मसरणा अनञ्जसरणा।[२०२] इस अत्यन्त मार्मिक भाषण में बुद्ध का व्यक्तित्व अद्भुत् रूप में सजीव हो उठता है।

वैशाली से वे भण्डग्राम और भोगनगर होते हुए पावा पहुँचे जहाँ उन्होंने चुन्द कम्मारपुत्त का आतिथ्य स्वीकार किया और उसके 'सूकरमद्दव' खाने से उन्हें यन्त्रणामय रक्तातिसार उत्पन्न हो गया। ऐसी ही अवस्था में उन्होंने कुशीनगर को प्रस्थान किया और हिरण्यवती नदी पार कर वे शालवन में दो शाल वृक्षों के बीच लेट गये। सुभद्र नाम के परिव्राजक को उन्होंने उपदेश किया और भिक्षुओं से कहा कि उनके बाद धर्म ही शास्ता रहेगा। क्षुद्र शिक्षापदों में परिवर्तन की अनुमति उन्होंने भिक्षुसंघ को दी। छन्न पर ब्रह्मदण्ड का विधान किया। और पालि परम्परा

२०२—अर्थात् "आनन्द, भिक्षुसंघ, मुझसे अब और क्या चाहता है ? मैंने धर्म अनन्तर-अबाह्य कर (निःशेष) उपदेश किया है। तथागत को धर्म में आचार्यमुष्टि नहीं है। जिसके मन में हो 'मैं संघ का नेतृत्व करूँ, संघ मेरी ओर समुदिष्ट हो,' वह संघ के लिए कुछ प्रकाशित करे। तथागत के मन में ऐसा नहीं है· · ·मैं अब जीर्ण वृद्ध हूँ· · ·८० वर्ष की मेरी आयु है· · ·जैसे जर्जर शकट हो· · ·अतएव आनन्द, आत्मदीप बनकर आत्मशरण, अनन्यशरण, धर्मदीप, धर्मशरण, अनन्यशरण बनकर तुम लोग विहरो।"

के अनुसार 'वयधम्मा सखारा अप्पमादेन सम्पादेथा' यह कहकर परिनिर्वाण में प्रवेश किया।

सुमंगलविलासिनी (बुद्ध घोष-कृत दीघनिकाय की अट्ठकठा) में बुद्ध भगवान् की दिनचर्या इस प्रकार दी हुई है—प्रातः वे स्वयं उठकर मुख-प्रक्षालन आदि शरीर परिकर्म कर के भिक्षाचार के समय तक एकान्त आसन में बैठते थे। फिर चीवर पहिन कर कभी अकेले, कभी भिक्षुसंघ के साथ, भिक्षा के लिए ग्राम अथवा नगर में प्रवेश करते थे। श्रद्धालु उनको निमन्त्रित करते तथा भोजन कराते थे जिसके अनन्तर बुद्ध उन्हें उपदेश देते और गन्धकुटी लौटते थे। यहाँ भिक्षु संघ को अप्रमाद के लिए वे प्रेरित करते और उनकी चर्या के अनुरूप उन्हें कर्मस्थान का उपदेश देते। फिर स्वयं गन्धकुटी में प्रवेश कर मुहूर्त भर आराम करते और पीछे दर्शन के लिए आये हुए लोगों को उपदेश देते। शाम को वे स्नान और ध्यान करते और फिर भिक्षुओं की कठिनाइयाँ सुलझाते। इस प्रकार रात्रि का पहला याम बीतना। रात्रि के मध्यम याम में वे देवताओं के प्रश्नों के उत्तर देते और अन्तिम याम में पहले कुछ चंक्रमण करते, फिर कुछ आराम, और फिर उठकर बुद्धचक्षु से लोक का अवलोकन करते थे।

इस वर्णन के उत्तरकालीन होने से इसकी ऐतिहासिकता प्रमाणित करना कठिन है किन्तु यह परम्परामूलक है और सम्भावना के अनुकूल है। बुद्ध की जीवन-चर्या एकान्त ध्यान तथा जनता को उपदेश देने में बीतती थी। उनको बहुधा ध्यायी अथवा ध्यानशील कहा गया है। वे मौन के प्रेमी थे। परिव्राजक उनको 'अल्पशब्द-काम' कहते थे। उनकी परिषदों में कोलाहल बहिष्कृत रहता था। और भिक्षुओं के लिए उन्होंने "अरियो तुण्हीभावो" ("आर्य मौन") का उपदेश किया था। बुद्ध एकान्त भी बहुत पसन्द करते थे। उनके कुछ विरोधी यहाँ तक कहते थे "सुञ्जागारहता समणस्स गोतमस्स पञ्ञा, अपरिसावचरो समणो गोतमो, नालं सल्लापाय, सो अनन्त-मन्तानेव सेवति।"[२०४] बुद्ध की करुणा और अनुकम्पा सुविदित हैं। उनका स्वभाव अत्यन्त स्वतन्त्र था और अन्धश्रद्धा के प्रतिकूल। वे प्रत्येक को आत्मविश्वास की शिक्षा देते थे और स्वयं सत्य का साक्षात्कार करने का उपदेश करते थे।

२०३—"श्रमण गौतम की प्रज्ञा शून्यागारहत है, श्रमण गौतम परिषद् के अयोग्य है, संलाप के अयोग्य है, वह एकान्त वास ही करता है।"

अध्याय २

बौद्ध धर्म का प्रारम्भिक रूप और मूल तत्त्व

ऐतिहासिक दृष्टिकोण

बौद्ध धर्म नाना सम्प्रदायों में विभक्त रहा है, प्राचीन और अर्वाचीन। प्रत्येक सम्प्रदाय अपने को बुद्ध भगवान् की आध्यात्मिक विरासत का सच्चा उत्तराधिकारी मानता है, किन्तु प्रत्येक की निष्ठा औरों से भेद रखती है और प्रतिविशिष्ट है। ऐसी स्थिति में यह मीमांस्य हो जाता है कि भगवान् बुद्ध ने यथार्थ में क्या उपदेश किया, और इस प्रश्न की सूक्ष्मता और जटिलता के कारण उसकी मीमांसा सावधानी से करनी होगी।

एक बहुधा स्वीकृत विकल्प यह है कि इन सम्प्रदायों में जो व्यापक और समान तत्त्व हैं उनको बुद्ध का मूल उपदेश मानना चाहिए। इस दृष्टि से अनात्मवाद को सद्धर्म का प्राण समझा गया है। रोज़ेनबर्ग ने इसका विस्तार से प्रतिपादन करना चाहा है कि एक ही मूल और अखण्डित तत्त्व का नाना सम्प्रदायों में विकास हुआ है।[१] 'धर्म' को ही वे यह तत्त्व मानते हैं। किन्तु इस प्रसंग में पहले यह स्मरणीय है कि किसी तत्त्व का अनेक अथवा सारे सम्प्रदायों के द्वारा समान अभ्युपगम उसकी मौलिकता न सिद्ध कर केवल इतना ही दरसाता है कि उस तत्त्व को संभवतः 'निकाय-भेद' से प्राचीनतर अर्थात् प्रथम बुद्ध शताब्दी का मानना होगा।[२] दूसरे, अनात्मवाद का भी पुद्गलवादी सम्प्रदाय में विरोध देखा जाता है। और फिर चिन्तन के इतिहास में केवल शब्द पकड़ने से कार्य सिद्ध नहीं हो सकता। नाना सम्प्रदायों के वस्तुतः अभीष्ट और प्रधान सिद्धान्तों की परीक्षा से यदि उनमें व्यापक और मार्मिक साम्य प्रतीत हो तथा ऐसे मर्मभूत सिद्धान्तों को मूल-सिद्धान्त मानने से सम्प्रदाय-भेद समझने में आसानी

१–द्र०—ओ० रोजेनबर्ग, दी प्राबलेमे देर बुद्धिस्तिशेन फ़िलोजोफी (१९२४)।

२–'निकायभेद' पर द्र०—नीचे, अध्याय १।

हो तथा ये सिद्धान्त प्राचीनतम उपलब्ध साक्ष्य से समर्थित हों, तो ऐसी परिस्थिति में इन परवर्ती अनुगत सिद्धान्तों से मूल सिद्धान्त के विषय में अनुमान अनुचित न होगा। यह भी स्मरणीय है कि कोई सिद्धान्त जो कि चिर काल से अनुवर्तमान हो अपरिवर्तित नहीं रहता और इतिहास यदि परवर्ती सिद्धान्तों से मूल-सिद्धान्त की अनुगति प्रतीत भी हो तो भी यह उसका मूल रूप न होकर उसकी एक विकसित तथा रूपान्तरित अभिव्यक्ति होगी। सच तो यह है कि परवर्ती सिद्धान्तों के पर्यालोचन से उनका मूल रूप विश्वास्य तौर से नहीं जाना जा सकता। केवल प्राचीन और मूल वाङमय से ही प्राचीन और मूल सिद्धान्तों का प्रामाणिक परिचय सम्भव है, यद्यपि यह सच है कि इन प्राचीन सिद्धान्तों के सम्यक् बोध में इनके परिणत रूप और परवर्ती इतिहास का ज्ञान विशेष सहायता प्रदान कर सकता है। इसलिए मूल सद्धर्म के ज्ञान के लिए उत्तरकालीन व्याख्याएँ तथा शास्त्र सीमित साहाय्य देते हुए भी, मूल ग्रन्थों से असमर्थित होने पर अप्रयोजक ही नहीं, भ्रामक भी हो सकते हैं।

बौद्धों की एक परम्परागत दृष्टि यह है कि समस्त त्रिपिटक बुद्धवचन है और उसमें मूल धर्म संरक्षित है[३]। इसके विपरीत महायानियों की धारणा है कि महायान-सूत्रों को प्रामाणिक मानना चाहिए और यह स्वीकार करना चाहिए कि बुद्ध ने विभिन्न अवसरों पर विभिन्न शिष्यों के आध्यात्मिक स्तर के अनुरूप विभिन्न उपदेश दिये[४]। त्रिपिटक के स्कन्ध, धातु, आयतन आदि सिद्धान्त हीन कोटि के शिष्यों के लिए थे, महायान ग्रन्थों की शून्यता उत्तम कोटि के शिष्यों के लिए। इस प्रकार शिष्यों के अधिकारभेद से मूल सद्धर्म भी अनेकविध था। देशना-भेद की सम्भावना स्वीकार करते हुए भी महायानसूत्रों की प्रामाणिकता उनकी ऐतिहासिक अर्वाचीनता से खण्डित हो जाती है[५]। हीनयानी साहित्य में प्राचीनतम पालि त्रिपिटक है, किन्तु वह समस्त स्पष्ट ही बुद्ध-वचन न होकर अनेक शताब्दियों के विकास की उपज है। इसलिए यदि समस्त त्रिपिटक को एक इकाई मानकर धर्मनिरूपण किया जायगा तो वह बुद्धघोष के प्रतिपादन के सदृश होगा और मूल-धर्म से बहुत दूर। त्रिपिटक प्राचीन और

३–उदा० अट्ठसालिनी (पूना, १९४२), निदानकथा।

४–तु० बोधिचित्तविवरण—"देशना लोकनाथानां सत्त्वाशयवशानुगाः।
भिद्यन्ते बहुधा लोक उपायैर्बहुभिः पुनः॥" (भामती और सर्वदर्शनसंग्रह से उद्धृत)।

५–महायान सूत्रों पर द्र०—नीचे, अध्याय।

उत्तरकालीन परम्पराओं की राशि है जिसमें ऐतिहासिक आलोचन को 'विभज्यवादी' बन कर न केवल स्पष्टतः परवर्ती संदर्भों को पृथक करना होगा अपितु प्राचीन सन्दर्भों में भी उत्तरकालीन संस्करण तथा परिष्कार को दृष्टि में रखना होगा। इस प्रकार पालि त्रिपिटक की सम्यक् ऐतिहासिक आलोचना से उसके अन्तर्गत सन्दर्भों और उनमें व्यक्त सिद्धान्तों का पौर्वापर्यविनिर्णय और उसके द्वारा मूल देशना का आविष्कार करना होगा।

ऐतिहासिक दृष्टि रखने वाले जिज्ञासुओं को गवेषणा का यह मार्ग अनायास ही स्वीकार्य होगा, तथापि इसका सविस्तर उल्लेख इसलिए अपेक्षित है कि सद्धर्म के अनेक सुविदित आधुनिक निरूपण इसकी पूर्णतः अथवा अंशतः अवहेलना करते हैं। श्रीमती राइज़ डेविड्स ने सद्धर्म के निरूपण में ऐतिहासिक आलोचना के उपयोग का प्रबल समर्थन किया है और उत्तरकाल में प्रचलित पालि बौद्ध धर्म को मूल सद्धर्म से बहुत भिन्न तथा अप्रामाणिक बताया है।[६] इस दृष्टि से महायान आदि और भी अर्वाचीन होने से सुतराम् अप्रामाणिक ठहरते हैं। श्रीमती राइज़ डेविड्स के प्रयास की दिशा सही और बौद्ध धर्म सम्बन्धी गवेषणा में युग-प्रवर्तक होते हुए भी अनेक पूर्वाभिनिवेशों में से कण्टकित होने के कारण अन्य विद्वानों को यथेष्ट आकृष्ट न कर सकी। इसको एक आगन्तुक दुर्भाग्य ही माना जा सकता है। क्योंकि मूल ग्रन्थों के ऐतिहासिक विश्लेषण की आवश्यकता निर्विवाद है।

फलतः यह कहना होगा कि मूल सद्धर्म का निर्णय पालि साहित्य के पौर्वापर्य विचार तथा ऐतिहासिक पर्यालोचन के द्वारा करना चाहिए। इस प्रसंग में दो शंकाएँ समाधेय हैं। पहली तो यह कि पालि त्रिपिटक में ओल्डेनबर्ग, टी० डब्ल्यू० राइज़ डेविड्स, अथवा विन्टरनित्स आदि के द्वारा किये स्थूल ऐतिहासिक विभाजन के अतिरिक्त और अधिक सूक्ष्म विभाजन असंभव है[७]। इस प्रश्न की विस्तृत मीमांसा अन्यत्र की

६—द्र०—श्रीमती सी० ए० एफ० राइज़ डेविड्स, 'वट वॉज़ दि ऑरिजिनल गॉस्पेल इन बुद्धिज्म,' 'शाक्य' (१९३१), बुद्धिज्म (होम यूनिवर्सिटी लाइब्रेरी), आदि।

७—द्र०—एच० ओल्देनबर्ग, बुद्ध जाइन लेबन जाइन लेर, जाइन गेमाइन्द (९वाँ संस्करण), टी० डब्ल्यू० राइज़ डेविड्स, हिब्बर्ट लेक्चर्स, अमेरिकन लेक्चर्स; कैंब्रिज हिस्टरी ऑव इण्डिया, जि० १, बुद्धिस्ट इण्डिया; एम० विन्टरनित्स, हिस्टरी ऑव इण्डियन लिटरेचर, जि० २ (कलकत्ता, १९३३), तु०—नलिनाक्षदत्त, अर्ली मौनेस्टिक बुद्धिज्म, जि० १, प्राक्कथन।

गयी है[८]। यहाँ पर इतना कहना अप्रासंगिक न होगा कि सम्भव और असम्भव की विभाजक-रेखा गवेषणा के पश्चात् वह नहीं रहती जो गवेषणा के पूर्व, और इस विषय मे अन्तिम निर्णय भविष्य के विद्वानों के ही हाथों में रहेगा। इसमें कोई सन्देह नहीं कि निकायो के अन्दर सुत्तनिपात के अट्ठकवग्ग और परायण० सदृश प्राचीन अंशों की दीघनिकाय के महापदानसुत्त सदृश अपेक्षया उत्तरकालीन अंशों से विभक्त किये बिना मूल सद्धर्म की उपलब्धि असम्भव है।

ऐतिहासिक दृष्टि के प्रति एक आपत्ति यह है कि गंभीर आध्यात्मिक तत्त्वों के सम्यक् बोध और निरूपमा के लिए निरा ऐतिहासिक आलोचन अपर्याप्त है[९]। उदाहरण के लिए यह कहा जा सकता है कि अपनी लौकिक लीला के संवरण के पश्चात् भी सिद्ध लोग विशिष्ट अधिकारी को आध्यात्मिक प्रेरणा देने में समर्थ हैं, तथा ज्ञान की आध्यात्मिक परम्परा सदैव इतिहासगम्य संसार में प्रत्यक्ष नहीं होती[१०]। इस प्रकार इतिहास में जो आध्यात्मिक घटनाएँ अथवा परम्पराएँ परस्पर असम्बद्ध या विछिन्न प्रतीत होती है वे वस्तुतः एक अखण्ड आध्यात्मिक इकाई में बँधी रह सकती हैं। महायान तथा वज्रयान की प्रामाणिकता के प्रसंग में यह दृष्टि विशेष रूप से सामने आती है क्योंकि परवर्ती बौद्ध परम्परा का यह अभ्युपगम है कि भगवान् बुद्ध ने एक नहीं तीन धर्म-चक्र-प्रवर्तन किये थे। सारनाथ का प्रवर्तन सुविदित है। दूसरा धर्म-चक्र-प्रवर्तन गृध्रकूट पर्वत पर माना जाता है जहाँ का उपदेश प्रज्ञापारमिताशास्त्र में निबद्ध है। एक मत से तीसरा धर्म-चक्र-प्रवर्तन धान्यकटक में हुआ था और यही बौद्ध तन्त्रशास्त्र का उद्गम था। दूसरे और तीसरे प्रवर्तन का सिद्धान्त आध्यात्मिक अर्थवेत्ता और रहस्य से संवलित होते हुए भी ऐतिहासिक प्रमाण से पुष्ट नहीं है। ऐतिहासिक दृष्टि कदाचित् अपर्याप्त है और अनेक आध्यात्मिक तत्त्वों का प्रतिबोध नहीं कर सकती, किन्तु वह सर्व-साधारण से बोध्य युक्ति और तर्क की दृष्टि है। उसको यदि किसी विशिष्ट रहस्यवाद के संमुख त्याग दिया जाये तो अतीत के विषय में धारणाओं को केवल श्रद्धा पर आधारित करना होगा। दूसरी ओर ऐतिहासिक दृष्टि के ग्रहण का यह अर्थ नहीं है कि उसके नाम पर एक अध्यात्मविरोधी जड़वादी दर्शन स्वीकार कर लिया जाय। किसी भी धर्म के सच्चे इतिहास के लिए आध्यात्मिक तत्त्वों को पहचानना

८—ऑरिजिन्स ऑव् बुद्धिज्म, भा० १।

९—उदा०, म० म० गोपीनाथ कविराज का यही मत है।

१०—दे०—नीचे।

तथा उनका निरूपण आवश्यक रहेंगे। इतिहासकार को श्रद्धारहित तथा आध्यात्मिक जगत् की ओर प्रज्ञा-चक्षु होने की आवश्यकता नहीं है, किन्तु उसे उदार श्रद्धा और दृष्टि अपनाने के साथ अन्ध श्रद्धा से बचना है।

त्रिपिटक का विकास--भगवान् बुद्ध ने कोई ग्रन्थ नहीं लिखा और न अपने शिष्यों को अपने उपदेश किसी विशिष्ट, प्रमाणभूत भाषा में स्मरण रखने के लिए कहा। उन्होंने प्रचलित मागधी भाषा में उपदेश किया और भिक्षुओं को अनुमति दी कि वे अपनी-अपनी बोलियों में उनके उपदेशों को स्मरण करें[११]। उनके उपदेशों का पहला संग्रह उनके परिनिर्वाण के अनन्तर राजगृह की संगीति में हुआ। किन्तु उसके बाद के संदर्भ बुद्ध-वचन में जोड़े जाते रहे और पालि-त्रिपिटक सिंहल में राजा वट्टगामणि के शासन काल मे परिनिर्वाण से चार शताब्दी पीछे अपने वर्तमान रूप में लिखा गया। इस प्रकार पालि त्रिपिटक का रचना काल ई० पू० १ ली शताब्दी तक स्थिर होता है[१२]। तीन पिटकों में अभिधर्म पिटक स्पष्ट ही प्राचीन अथवा बुद्ध-वचन नहीं है[१३]। क्योंकि वह साम्प्रदायिक संग्रह प्रतीत होता है। उदाहरण के लिए सर्वास्तिवादियों का अभिधर्म पालि अभिधर्म से भिन्न है। सम्भवतः प्राचीन मातृकाओं अथवा धर्म-सूचियों से साम्प्रदायिक भेद के अनुसार इन विभिन्न अभिधर्मो का विकास हुआ, जिसे वैशाली की संगीति से उत्तरकालीन मानना चाहिए। पालि परम्परा के अनुसार अभिधर्म का अन्तिम ग्रन्थ कथावत्थु अशोक के समय पाटलिपुत्र की संगीति में निबद्ध हुआ। किन्तु वर्तमान कथावत्थु को तृतीय शताब्दी ई० पू० में एक साथ पूरा रचा हुआ नहीं माना जा सकता[१४]। इस प्रकार अभिधर्म का रचनाकाल ई० पू० चतुर्थ शताब्दी से लेकर ई० पू० दूसरी शताब्दी तक मानना चाहिए। फलतः शेष दो पिटकों का रचना-काल इससे पूर्व अर्थात् पाँचवी और चतुर्थ शताब्दी ई० पू० मानना चाहिए। इस ग्रन्थ-राशि में अशोक का अनुल्लेख भी इसी अनुमान को दृढ़ करता है। विनय-पिटक का मूल प्रतिमोक्ष में था और विभिन्न सम्प्रदायों के प्रतिमोक्षों का व्यापक साम्य उनकी प्राचीनता बतलाता

११–विनय, ना० चुल्लवग्ग, पृ० २२८–२९।

१२–त्रिपिटक के विवरण के लिए दे०—नीचे।

१३–द्र०—ऑरिजिन्स ऑव बुद्धिज्म, अध्याय १; तु०—जे० तकाकुसु, जे० पी० टी० एस, १९०५।

१४–द्र०—श्रीमती राइज़ डेविड्स, पॉइन्ट्स ऑव् कान्ट्रोवर्सी, भूमिका।

है।[१५] विभंग और खन्धक के विभिन्न साम्प्रदायिक संस्करणों में भी पर्याप्त साम्य है[१६]। चुल्लवग्ग में पहली दो संगीतियों का उल्लेख है, तीसरी का नहीं। फलतः यह मानना सत्य से दूर न होगा कि विनय के प्राचीन अंश, उदाहरणार्थ, प्रातिमोक्ष पांचवी शताब्दी के हैं तथा अर्वाचीन अंश पांचवीं एवं चौथी शताब्दी के। सूत्रपिटक का पाँचवाँ निकाय वस्तुतः प्रकीर्ण-संग्रह है और इसके अन्तर्गत विभिन्न ग्रन्थों में उदान, इतिवृत्तक, सुत्तनिपात, थेरगाथा एवं थेरी गाथाओं में अनेक प्राचीन और कुछ अर्वाचीन अंश है। पहले चार निकायों की चीनी भाषा में उपलब्ध आगमों से तुलना करने पर ज्ञात होता है कि विभिन्न संप्रदायों के इन चार संग्रहों में सूत्रों का विभाजन सर्व-सम्मत नहीं था[१७]। किन्तु इन निकायों अथवा आगमों को साम्प्रदायिक रचना नहीं माना जाता था। अतएव मुख्यतया इनका रचना-काल वैशाली की संगीति के पूर्व मानना चाहिए। पर बुद्ध के निर्वाण के बाद की पहली शताब्दी में सद्धर्म का पर्याप्त विकास हुआ जिसके कारण इस युग के अन्त में नाना सम्प्रदायों का जन्म हो गया। संघभेद के पूर्व का यह समस्त विकास निकायों में संरक्षित है और बुद्ध के मूल उपदेशों को आच्छादित किये हुए है। यहां पर पूर्वापर-विवेक दुष्कर, किन्तु आवश्यक है[१८]। इस विवेक की एक बड़ी कसौटी यह है कि प्राचीनतर अंशों की शैली और भाव उपनिषदों के निकट हैं जब कि अर्वाचीनतर अंश अभिधर्म की याद दिलाते हैं। बुद्ध को सिद्ध मानव के रूप में न देखकर लोकावतीर्ण भगवान् के रूप में देखने की प्रवृत्ति, तथा रीतिबद्ध, सूचीबद्ध और परिगणित-रूप में धर्म का प्रतिपादन, एवं 'मूर्धाभिषिक्त' और पारिभाषिक पदावली के द्वारा उसके परिष्कृत व्याख्यान की प्रवृत्ति बुद्ध से परवर्ती काल की ओर संकेत करती है। मूल बुद्ध देशना की प्राप्ति के लिए अभिव्यक्ति, भाव और विचार में परिवर्तन की इन प्रवृत्तियों को बुद्धिस्थ कर निकायों में खोजना आवश्यक है[१९]।

१५–द्र०—डब्ल्यू० पा-चाउ, ए कॉम्पेरेटिव स्टडी ऑव् दि प्रतिमोक्ष।

१६–द्र०—फ्राउवाल्नर, दि अर्लियेस्ट विनय एण्ड दि बिगिनिंग्स ऑव बुद्धिस्ट लिटरेचर।

१७–द्र०—अकानुमा, दि कॉम्पैरेटिव कैटेलाग ऑव् चाइनीज आगमज एण्ड पालि निकायज; आनेसाकि, जे० आर० ए० एस०, १९०१, पृ० ८९५।

१८–द्र०—ऑरिजिन्स ऑव् बुद्धिज्म, जहाँ उसका विस्तृत विवेचन है।

१९–श्रीमती राइज डेविड्स ने इस दिशा में प्रयास किया था। वर्तमान लेखक के "ऑरिजिन्स ऑव् बुद्धिज्म" में उसके परिष्कार एवं विस्तार का यत्न देखा जा सकता है।

'मूल देशना'—बुद्धदेशना के उचित अवधारण के लिए तद्विषयक दो प्रचलित 'अन्तों' से बचते हुए मध्यमा प्रतिपद् का सहारा लेना आवश्यक है। एक मतान्त के अनुसार बुद्ध ने एक नवीन दर्शन-शास्त्र (मेंटाफ़िज़िकल सिस्टम) का प्रतिपादन किया, दूसरे के अनुसार बुद्ध ने दार्शनिक तत्त्वों का शास्त्रीय निरूपण न कर, केवल दुःख-निवृत्ति के लिए आचरणीय मार्ग का उपदेश किया। इनमें पहला मत परवर्ती बौद्ध आचार्यों के द्वारा परिष्कृत एवं आविष्कृत तत्त्वों को ही मूल-देशना समझ लेता है। ऊपर कहा जा चुका है कि वैदिक परम्परा के प्रतिकूल बुद्धदेशना में मूल शब्दों पर आग्रह न था और इस कारण यह अनिवार्य था कि बुद्धाब्द की प्रथम शती में ही उसके मूलतः अभिप्रेत अर्थों का यथास्मृत रूप उनके उत्तरकालीन यथामत रूप से असंकीर्ण न रहता। फलतः इस युग के साहित्य में मूल और व्याख्या के मिले-जुले होने के कारण, और व्याख्यागत अंशों के प्रचुरतर तथा विशदतर होने के कारण परवर्ती तत्त्वों को ही मूल तत्त्व समझ लेने की भ्रान्ति अनायास ही उत्पन्न हो जाती है, और उसका समर्थन होता है सद्धर्म के अनेक आधुनिक व्याख्याताओं की प्रवृत्ति से जो कि इतिहास की ओर तटस्थ तथा दर्शन-शास्त्र की ओर प्रवण होने के कारण बुद्धघोष का अनुकूल नेतृत्व अविलम्ब स्वीकार कर लेते हैं और 'विसुद्धिमग्गो' को वह ऐन्द्रजालिक दर्पण मान लेते हैं जो परिनिर्वाण से लगभग एक हजार साल बाद रचित होने पर भी बुद्ध के आशय को यथार्थ प्रतिबिम्बित करने में समर्थ है।

बुद्ध कोरे पण्डितवाद के पक्ष में नहीं थे और अपने समय की अनेक बहु-मीमांसित दार्शनिक समस्याओं पर तार्किक अभियान को अपार्थक मानते थे। लोक शाश्वत है कि अशाश्वत, अन्तवान् है कि अनन्त, जीव और शरीर एक है अथवा भिन्न, तथागत मृत्यु के पश्चात् रहते हैं अथवा नहीं, इन प्रश्नों को बुद्ध ने 'अव्याकृत' स्थापित किया था। मालुक्य पुत्र के संशय निवारण के प्रसंग में कहा गया है कि जैसे विष-दिग्ध शर से विद्ध पुरुष की चिकित्सा के लिए उसे घायल करने वाले धानुष्क और धनु की खोज-खबर या जिरह अप्रासांगिक है वैसे ही जन्म-मरण से पर्याकुल संसारियों की आर्ति के उपशम के लिए ब्रह्मचर्यावास इन दार्शनिक समस्याओं के सुलझाव की अपेक्षा नहीं रखता[२०]। वत्सगोत्र परिव्राजक से बुद्ध कहते हैं कि लोक को शाश्वत अथवा अशाश्वत मानना एवं इतर अव्याकृत प्रश्नों पर अन्यतर पक्ष का समर्थन दृष्टि-संयोजन से बाँधना है। तथागत सब दृष्टियों से मुक्त हैं। "अत्थि पन भो तो गोतमस्स किंचि

२०—मज्झिम ना०, जि० २, पृ० १०७–१३।

दिट्ठिगतं ति ? दिट्ठिगतं ति खो वच्छ अपनीतं तथागतस्स।[21] प्रोष्ठपाद के पूछने पर कि "कस्मा पनेतं भगवता अव्याकतं ति" ? उन्होंने उत्तर दिया "न है' तं पोट्ठपाद अत्थसंहितं, न धम्मसंहितं, न आदिब्रह्मचरियकं, न निब्बिदाय न बिरागाय न निरोधाय न उपसमाय न अभिञ्जाय न संबोधाय न निब्बाणाय संवत्तति। तस्मा तं मया अब्याकतं ति।[22] बुद्ध ऐसे आध्यात्मिक ज्ञान का उपदेश करना चाहते थे जिससे वासना का क्षय हो। केवल बौद्धिक विलास की ओर वे तटस्थ थे। अन्य उदात्त धर्मों के प्रवर्त्तक भी प्रायः ऐसी ही दृष्टि रखते रहे हैं। वे अपने उपदेशों में सार्वभौम आध्यात्मिक सत्य की समर्थ और प्रायः काव्योचित अभिव्यक्ति करते रहे हैं, न कि उनकी विकल्प और वितर्क से परिगत, सूक्ष्म एवं जटिल व्याख्याएँ। वे द्रष्टा रहे हैं, न कि व्याख्याता।

ऊपर आलोचित मत के विपरीत कुछ विद्वान् भगवान् बुद्ध को केवल एक प्रकार के शील अथवा नैतिक आचार का प्रचारक अवधारित करते हैं। इस प्रसंग में पहले यह विचारणीय है कि बुद्ध भगवान् के द्वारा अवतारित शील को उनके समकालीन अन्य सम्प्रदायों में अविदित शील से सारांश में कितनी दूर तक विशेषित किया जा सकता है। तारतम्य और विस्तर में अनिवार्य भेद होते हुए भी त्याग और संयम का अनेकविध प्रयास सभी निवृत्तिपरक ब्रह्मचर्यावासों में लगभग समान था। शील के आगे शमथ-भावना अथवा समाधि के अभ्यास में अधिक भेद दृष्टिगोचर होता है, किन्तु यहाँ भी 'आर्य शमथ-भावना' निष्ठा-विशेष की ही अपेक्षा रखती है। वस्तुतः आध्यात्मिक साधन सिद्धान्त-निरपेक्ष नहीं होता और बुद्धोपदिष्ट मार्ग का वैशिष्ट्य आवश्यक रूप से तत्त्व-ज्ञान के वैशिष्ट्य का आक्षेप करता है। दृष्टियों के प्रति अनास्था प्रकट करते हुए भी बुद्ध का धर्म स्वयं एक 'सम्यक् दृष्टि' का प्रतिपादन करता था। इस प्रकार का विरोधाभास मध्यमा प्रतिपद् में बहुत दूर तक देखा जा सकता है।

२१—वहीं, पृ० १७९, "क्या आप की कोई दृष्टि है ? वत्स, तथागत से दृष्टि अपसारित है।"

२२—"भगवान् ने इसे अव्याकृत क्यों रखा है ? प्रोष्ठपाद, यह न अर्थयुक्त है, न धर्मयुक्त, न ब्रह्मचर्योपयोगी, न निर्वेद के लिए, न विराग के लिए, न निरोध के लिए, न उपशम के लिए, न सम्बोधि के लिए, और न निर्वाण के लिए है। इसलिए मैंने उसे व्याकृत नहीं किया है।"—दीघ० ना०, जि० १, पृ० १५७।

बुद्ध को केवल आचारवादी मानने में यह भी समझाना होगा कि यदि उन्होंने तत्त्व-ज्ञान के उपदेश की उपेक्षा की तो आखिर क्यों ? एक उत्तर यह दिया गया है कि सम्भवतः बुद्ध ने स्वयं पारमार्थिक तत्त्व का निश्चित ज्ञान प्राप्त न किया हो और अनेक आधुनिक विचारकों की भाँति अज्ञान-जन्य संशय की अवस्था में मौन को ही श्रेष्ठ समझा हो[२३]। यह भी कहा गया है कि वास्तविक ज्ञान के अभाव में बुद्ध ने एक प्रकार की 'पृथग्जनोचित' जादूगरी प्रचारित की[२४]। अधिक श्रद्धालु अन्य विद्वानों ने तत्त्व की अज्ञेयता अथवा अनुपयोगिता को ही बुद्ध के 'मौन' का कारण बताया है। तत्त्व की अज्ञेयता का सिद्धान्त सञ्जय बेलट्ठिपुत्त का था और इस मत को बुद्ध के द्वारा ग्राह्य मानना प्रमाण-विरुद्ध है। सम्बोधि और ब्रह्मयाचन के सन्दर्भों से स्पष्ट है कि बुद्ध अपने को तत्त्वाभिज्ञ मानते थे और स्वयं उपलब्ध तत्त्व तक औरों को पहुँचाना चाहते थे। गम्भीर तत्त्व को समझने के लिए अनेक अनधिकारी हैं, इसलिए उनका संकोच था, किन्तु करुणा से प्रेरित होकर एवं बुद्ध-चक्षु से लोक को देखकर उन्हें भरोसा हुआ कि कुछ लोग समझने वाले अवश्य होंगे। और यह मानना स्वाभाविक है कि उन्होंने जिस धर्म का लाभ किया था उसका उपदेश किया। यदि परमार्थ-तत्त्व अज्ञेय है तो बुद्ध अथवा सम्बोधि अर्थहीन हो जाते हैं और साथ ही संजय बेलट्ठिपुत्त के चेलों का उसे छोड़ बुद्ध शासन में प्रविष्ट होना भी। तत्त्व-ज्ञान की अनुपयोगिता का अभ्युपगम तो सर्व-तन्त्र-विरुद्ध है। शुष्क तार्किक ज्ञान की अनुपयोगिता अवश्य ही अनेक साधन मार्गों में स्वीकृत होती है, और बुद्ध का अनेक दार्शनिक समस्याओं को 'अव्याकृत' स्थापित करना ऐसी दृष्टि में उनकी आंशिक सहमति सूचित करता है। किन्तु इससे यह अनुमेय नहीं है कि बुद्ध न परमार्थ का निर्देश न कर केवल एक प्रकार की चर्या का उपदेश किया।

वस्तुतः उन्होंने मार्ग और गन्तव्य दोनों का निरूपण किया, किन्तु यथासम्भव। वे न शुष्क तर्कवादी थे कि परमार्थ को लक्षण-प्रमाणावली में परिच्छिन्न करने का प्रयास, करते, न ज्ञान-रहित व्यवहारवादी कि सुपरिष्कृत समीचीन दृष्टि को समस्त साधना का मूल न मानते। वे जानते थे कि परमार्थ तर्क और अतएव वाणी का अगोचर है। किन्तु इस अगोचरता का अर्थ 'विशेषतः अनवधारणीयता' मानना चाहिए, न कि सर्वथा 'अविषयता।' बुद्धि और वाक् की सर्वथा अविषयता अर्थात् सर्वथा अबोध्यता तथा अनभिधेयता कल्पनातीत और स्वयं अबोध्य तथा अनभिधेय हैं। परमार्थ की अतर्क्यता

२३–द्र०—कीथ, बुद्धिस्ट फ़िलॉसफी।

२४–पूर्से, द्र०—श्चेरबात्स्की, दिकन्सेप्शन ऑव् निर्वाण (लेनिनग्राड, १९२७)।

और अवाच्यता का अभिधान स्वयं एक महत्त्वपूर्ण सूचना देता है। 'गुरोस्तु मौनं व्याख्यानं' की उक्ति बुद्ध के मौन पर चरितार्थ होती है,[२५]। जो कि सीमित जगत् के अन्तर्गत परस्पर विरोधों और व्यावृत्तियों को परम समझनेवाले तर्क और वाक् की अपर्याप्तता और परमार्थ की अनन्तता के निर्देश में पर्यवसित होती है। जिस प्रकार उपनिषदों में अवाङ्मनसगोचर सत्य को जतलाने के लिए अतद्व्यावृत्ति-रूप अपोह और उपमान का सहारा लिया गया है वैसे ही बुद्ध-देशना में पाया जाता है। यों तो प्रत्येक अभिधान में अपोह का व्यापार संनिहित है किन्तु परमार्थ के निर्देश में वस्तुतः 'अपोह का अपोह' होता है और इस प्रकार परमार्थ की भावाभाव-विलक्षणता द्योतित होती है। यही बुद्धोपदिष्ट 'मध्यमा प्रतिपद्' अथवा प्रतीत्यसमुत्पाद का वास्तविक अर्थ है। परिच्छेद-कुण्डलित प्रपञ्च के उपशम के रूप में ही परिच्छेद-रहित परमार्थ की देशना सम्भव है। और प्रपञ्चोपशम ही 'निर्वाण' है। सम्बोधि में अधिगत धर्म को इन्हीं दो शब्दों से सूचित किया गया है—प्रतीत्यसमुत्पाद और निर्वाण। यह धर्म का पारमार्थिक रूप है, पर इसकी प्राप्ति के लिए अनित्य, व्यावहारिक—सांक्लेशिक अथवा वैयवदानिक–धर्मों का विवेकपूर्वक आसंसार हान अथवा उपादान अपेक्षित है और इसलिए इनका भी देशना में स्थान है।

बुद्ध के मौन और उनकी देशना-विधि का यह रहस्य परवर्ती माध्यमिक आचार्यों ने बहुत मार्मिकता से समझाया है। उनका कहना है कि बुद्ध ने दो सत्यों का उपदेश किया था—संवृत्ति सत्य और परमार्थ सत्य। परमार्थ सत्य अनभिलाप्य और उपेय है, संवृति-सत्य उसकी देशना के लिए सहारा और उपाय है। 'अनक्षर धर्म का क्या श्रवण, क्या उपदेश ? समारोप के द्वारा अनक्षर अर्थ का श्रवण और उपदेश होता है।' "दुःख समुदय; और मार्गसत्य संवृत्ति-स्वभाव होने के कारण संवृति के अन्तर्भूत है, निरोधसत्य

२५–तु०—"यां च रात्रिं शान्तमते तथागतोऽनुत्तरां सम्यक्सम्बोधिमभिसम्बुद्धो यां च रात्रिमनुपादाय परिनिर्वास्यति अत्रान्तरे तथागतेनैकमप्यक्षरं नोदाहृतं, न व्याहृतं, नापि प्रव्याहरति, नापि प्रव्याहरिष्यति। अथ च यथाधिमुक्ताः सर्वसत्त्वा नानाधात्वाशयास्तां विविधां तथागतवाचं निश्चरन्तीं संजानन्ति।" चन्द्रकीर्ति के द्वारा प्रसन्नपदा (पूसें द्वारा सम्पादित मध्यमक०, पृ० ३६६) में उद्धृत 'आर्यतथागतगुह्यसूत्र'); "न क्वचित्कस्यचित्कश्चिद्धर्मो बुद्धेन देशितः॥" (नागार्जुन, मध्यमक०)।

परमार्थ सत्य के।[२६] लौकिक व्यवहार का स्वीकार न होने पर परमार्थ की देशना नहीं हो सकती, उपदिष्ट न होने पर परमार्थ पाया नहीं जा सकता, और परमार्थ की प्राप्ति न होने पर निर्वाण की प्राप्ति नहीं हो सकती[२७]। यह सच है कि मूल बुद्ध देशना में संवृति और परमार्थ के विभाग का शब्दशः और लक्षण-परिष्कृत उल्लेख नहीं है। और न सांक्लेशिक और वैयवदानिक धर्मों का विनयानुरूप विभिन्न उपदेश होते हुए भी संवृति-नाम्ना संग्रह अभिप्रेत है। किन्तु निर्वाण की पारमार्थिकता और वैयवदानिक धर्मों की कुल्योपमता में, तथा 'असंस्कृत' और 'संस्कृत' के विभेद में इस प्रकार का आशय अर्थतः आक्षिप्त है, जिसका कि परवर्ती काल में बहुधा परिष्कार हुआ। राजगृह में अश्वजित् के द्वारा शारिपुत्र को सुनाये हुए सुप्रसिद्ध धर्म-संक्षेप में भी ये दोनों पक्ष देखे जा सकते हैं—"तथागत ने हेतु-समुत्पन्न धर्मों के हेतु का उपदेश किया। और उनके निरोध को भी महाश्रमण ने बताया।" कार्य-कारण परम्पराओं में संसार अथवा व्यवहार संग्रथित है, उनका निरोध निर्वाण अथवा परमार्थ है। कार्य-कारण परम्पराओं का एक वर्ग अविद्या से प्रारम्भ होकर दुःख में पर्यवसित होता है, दूसरा सम्यग्दृष्टि से प्रारम्भ होकर निर्वाण को ले जाता है। पहला विभाग सांक्लैशिक धर्मों की आख्या पाता है, दूसरा वैयवदानिक धर्मों की अथवा निरोध मार्ग की।

धर्म का वैदिक प्रयोग प्रायः शीलपरक था। कुछ स्थलों में शील के शाश्वत आधार को धर्म कहा है, यथा, "जहाँ से सूर्य उदित होता है और जहाँ अस्त, उसे देवताओं ने धर्म बताया। वही आज है, वही कल।[२८]" उसने कल्याणरूप धर्म को रचा, धर्म ही शासक का शासक है, अतः धर्म के ऊपर कोई नहीं है, धर्म के द्वारा ही निर्बल बलवान् की बराबरी करता है जैसे राजा के द्वारा, जो धर्म है वही सत्य है. . .[२९]। इन सन्दर्भों में धर्म को वह शाश्वत नियामक माना गया है जिस पर प्रकृति के व्यापार तथा सामाजिक कल्याण एवं न्याय आश्रित हैं। बौद्ध साहित्य में धर्म शब्द का अनेक अर्थों में उल्लेख मिलता है। चन्द्रकीर्ति का कहना है कि 'धर्मशब्दोऽयं प्रवचने त्रिधा व्यवस्थापितः

२६—शान्तिदेव के बोधिचर्यावतार (९.२) पर पंजिका (बिब्लियोथेका इण्डिका में सम्पादित)।

२७—नागार्जुन, मध्यमक० २४.१०।

२८—बृ० उप० १.५.२३।

२९—वही, १.४.१४।

स्वलक्षणधारणार्थेन कुगतिगमनविधारणार्थेन, पाञ्चगतिकसंसारगमनविधारणार्थेन।।[३०] पहले अर्थ में धर्म शब्द 'तत्त्व' अथवा 'पदार्थ' के सदृश है। दूसरे में कल्याण-शील द्योतित करता है, तीसरे में परमार्थ। इनमें दूसरा अर्थ वैदिक अर्थ के सदृश है और सभी सम्प्रदायों में सुलभ होने के कारण सुप्रसिद्ध है। पहला अर्थ बौद्धों में ही प्रसिद्ध है और अन्य दर्शनों में धर्म शब्द की गुण-वाचकता से विवेचनीय है। कुछ विद्वान् धर्म शब्द के इस अर्थ को ही बौद्धों के लिए सबसे महत्त्वशाली और मौलिक अर्थ मानते हैं[३१]। किन्तु यह मत सर्वास्तिवाद और स्थविरवाद के अभिधर्मों पर ही पूरा-पूरा लागू होता है। धर्म शब्द की परमार्थवाचकता निर्वाण एवं 'प्रतीत्यसमुत्पाद' में गृहीत होती है। औपनिषद साहित्य में 'ब्रह्म' शब्द परमार्थवाची था और इस कारण बौद्धों का कुछ स्थलों में धर्म शब्द का प्रयोग औपनिषद ब्रह्म शब्द की याद दिलाता है[३२]।

अत्यन्त प्राचीन बौद्ध साहित्य में 'धर्म' की पदार्थवाचकता या तत्त्व० केवल सामान्यत: अभिप्रेत है, उसमें धर्म का कोई लक्षणविशष या परिभाषा बुद्धिस्थ नहीं है। "सब्बे धम्मा ना लं अभिनिवेसाय" 'धम्मानं उप्पादो वयो', इत्यादि प्रयोगों में इस प्रकार का सामान्य अपरिभाषित अर्थ ही समझना चाहिए[३३]। बहुधा ऐसे स्थलों में 'धम्म' का स्थान 'संखार' ले लेता है, जिससे सूचित होता है कि धर्म प्राय: संस्कृत-वस्तु का पर्यायवाची है। दूसरी और जब सम्बोधि में अधिगत धम्म को 'अतक्कावच' कहा गया है, अथवा जब पटिच्चसमुप्पाद और धम्म का तादात्म्य स्थापित किया गया है, या जब 'धम्माभिसमय' और 'धम्मनियामता' की चर्चा है, तब निश्चय ही 'धम्म' परमार्थवाची है। वस्तुत: प्रारम्भ में धर्म के दो अर्थ ही मुख्य थे जिन्हें 'निरोध-प्रतियोगिक' और 'प्रपञ्च-प्रतियोगिक' कहा जा सकता है। तीसरे 'अधर्मप्रतियोगिक' अर्थ का इन्हीं में अन्तर्भाव हो जाता है क्योंकि बौद्ध दृष्टि में धर्म और अधर्म दोनों ही अन्तत: चित्त की अवस्थाएँ हैं। 'धर्म' के इस अर्थ-विश्लेषण से पूर्व-प्रतिपादित मत समर्थित होता है कि बुद्ध-देशित

३०—"प्रवचन में धर्म शब्द का अर्थ त्रिविध निश्चित किया गया है—स्वलक्षणधारण, कुगति-गमन-विधारण, पाञ्चगतिक-संसार-गमन-विधारण।" (प्रसन्नपदा, मध्यमक०, पृ० ३०४)।

३१—द्र०—रोजेनबर्ग, पूर्व; श्चेबत्स्की, दि सेन्ट्रल कन्सेप्शन ऑव् बुद्धिज्म।

३२—डब्ल्यू० गाइगे, 'धम्म उन्द ब्रह्म।

३३—'सब धर्म अभिनिवेश के अयोग्य हैं', 'धर्मों का उत्पाद और व्यय', (द्र०—ऑरिजिन्स ऑव् बुद्धिज्म, प० ४७०)।

धर्म में सत्य का द्विधा विभाजन विदित था। सद्धर्म न कोरी दार्शनिक मीमांसा थी, न कोरी साधन-चर्या, अपितु यथाकथंचित् व्यवहार के सहारे परमार्थ की ओर संकेत था।

आर्य-सत्य—बुद्ध स्वयं संसार से विरक्त होकर शान्ति की खोज में घर से निकले थे और सम्बोधि के अनन्तर शोकावतीर्ण जनता के अवलोकन से करुणार्द्र होकर उन्होंने सम्बोधि में अधिगत धर्म की देशना का भार अपनाया था। संसार के तट से निर्वाण के तट तक ले जाने वाला उनका धर्म करुणा का एक सेतु था। जीवन के अपरिहार्य दुःख के दर्शन से उनके धर्म का प्रारम्भ होता है। दुःख की प्रवृत्ति समझ कर उसकी निवृत्ति के लिए प्रयत्न ही धर्म-चर्या है, जो कि सम्बोधि में चरमता को प्राप्त होती है, और अनुत्तर शान्ति-पद की परमार्थ है। इस प्रकार दुःख, समुदाय, निरोध, और निरोध-गामिनी प्रतिपद्, इन चार विभागों में बुद्ध-देशना का विचार अनायास हो सकता है। बौद्धों में यह सर्वसम्मत है कि इन चार आर्य-सत्यों का शास्ता ने उपदेश किया। आधुनिक लेखक भी इस मत को प्रायः स्वीकार करते हैं। किन्तु यह संदेह के व्यतीत नहीं है कि तथागत ने ठीक इसी रूप में धर्म को विभाजित और परिगणित कर आर्य-सत्य की आख्या दी हो।

इस प्रसंग में यह स्मरणीय है कि चार आर्य-सत्यों का आर्यत्व अथवा सद्धर्म-सम्बन्ध दुःखादि पद-चतुष्टय के प्रयोग से नहीं, किन्तु उनमें अभीष्ट अर्थविशेष की अवतारणा से सिद्ध होता है। सत्य-चतुष्टमी का निर्देश-मात्र धर्म की देशना अथवा विचार में केवल शीर्षक-सूची अथवा प्रतीक-पाठ मात्र है। न्यायवार्तिककार का कहना है—'ये चार अर्थ-पद सब अध्यात्मविद्याओं में सब आचार्यों से वर्णित होते हैं'[३४]। योगभाष्य-कार की सदृश उक्ति है—"जैसे चिकित्सा-शास्त्र चतुर्व्यूह है, रोग, रोग-हेतु, आरोग्य और भैषज्य, ऐसे ही यह शास्त्र भी चतुर्व्यूह है, यथा—संसार, संसार-हेतु, मोक्ष और मोक्षोपाय।"[३५] सांख्य-प्रवचन-भाष्य में भी चतुर्व्यूह चिकित्साशास्त्र से मोक्ष-शास्त्र की समानता बतायी गयी है—रोग, आरोग्य, रोगनिदान, और भैषज्य के समान ही मोक्ष-शास्त्र के चार व्यह हैं—हेय, हान, हेय-हेतु, और हानोपाय[३६]। अभिधर्मकोशव्याख्या में एक 'व्याधि-सूत्र' उद्धृत किया गया है जिसमें तथागत की भिषक् से तुलना की गयी

३४—न्यायवार्तिक, पृ० १२, (चौखम्बा, १९१५)।

३५—योगभाष्य, पृ० १८५ (चौखम्बा, १९३४)।

३६—सांख्यप्रवचनभाष्य, पृ० ६ (चौखम्बा, १९२८)।

है और आर्य-सत्यों की वैद्यक के चार अंगों से[३७]। अयन्त्र भी तथागत को वैद्यराज, भिषक् एवं 'अनुत्तर भिषक्' कहा गया है। 'धातु और 'निदान' शब्दों का प्रयोग विशेषतः उल्लेखनीय है। इस प्रकार यह संभव है कि चिकित्सा-शास्त्र के चतुर्व्यूहों का मोक्ष-शास्त्र में अनुकरण किया गया। मोक्ष-शास्त्रों में इस चतुष्टयी का रूपान्तरित उपयोग सबसे पहले सद्धर्म में देखा जाता है। अतएव यह सम्भव है कि तथागत ने ही अध्यात्म-विद्या में इस परम्परा का प्रवर्तन किया और उनकी देखादेखी अन्य आध्यात्मिक प्रस्थानों में भी वह अपनायी गयी। किन्तु यह स्मरणीय है कि कहीं भी इन 'चार सत्यों' को वह महत्त्व नहीं प्राप्त हुआ जो कि प्राचीन सद्धर्म्र में।

आर्य-सत्यों मे कौन-से-धर्म अन्तर्भूत हैं, इसपर परवर्ती काल में अभिधर्म के आचार्यों ने अनेक धारधारणाएँ और व्याख्याएँ प्रस्तुत कीं। विभाषा के अनुसार दार्ष्टान्तिक सम्प्रदाय में दुःखसत्य के अन्तर्गत नामरूप, समुदयसत्य के कर्म और क्लेश, निरोधसत्य के अन्तर्गत इनका क्षय एवं मार्गसत्य के अन्तर्गत शमथ और विपश्यना परिगणित होती है। विभज्यवादी पहले सत्य से दुःख के आठ लक्षणों से युक्त सास्रव धर्मों को छोड़कर शेष को दुःख मानते थे न कि दुःखसत्य। पौनर्भविकी तृष्णा को वे समुदय मानते थे, शेष अन्य तृष्णाओं को केवल सास्रव हेतु। तृष्णा के क्षय को वे निरोधसत्य मानते थे, अन्य क्षयों को केवल निरोध, एवं अष्टांग मार्ग को ही मार्ग सत्य, अन्य शैक्ष धर्मों को और सब अशैक्ष धर्मो को केवल मार्ग। 'अभिधर्माचार्य' प्रथम सत्य में उपादान स्कन्ध, दूसरे में सास्रव हेतु, तीसरे में प्रतिसंख्या-निरोध, और चौथे में अर्हत्व-प्रापक समस्त शैक्ष और अशैक्ष धर्म गिनते थे[३८]।

दुःख सत्य—विनय और निकायों में पहले सत्य के अन्दर दुःख को व्यापक अर्थ में ग्रहण किया गया है, दूसरे सत्य में प्रतीत्यसमुत्पाद अथवा निदानों का उल्लेख किया गया है, तीसरे सत्य में निर्वाण अथवा निरोध का और चौथे में नाना बोधिपाक्षिक धर्मों का, विशेषतः अष्टांगमार्ग का। ऐसा प्रतीत होता है कि मूल देशना में आर्यसत्यों के अन्दर धर्मों के चतुर्धा व्यवस्थापन की कोई सूक्ष्म परिभाषा अभिप्रेत न थी। कभी-कभी उपदेशसौकर्य के लिए इस विभाजन का सामान्यतः उपयोग किया जाता था। यह बात दूसरी है कि दुःख आदि सत्य नाना स्थलों पर विविध रूप से अर्थतः आक्षिप्त हैं।

दुःख की सत्ता सर्वविदित है और उसका अपलाप नहीं किया जा सकता, किन्तु

३७–तु०—जे० आर० ए० एस० १९०३, पृ० ५७८–८०।

३८–द्र०—ऑरिजिन्स ऑव् बुद्धिज्म, पृ० ३९९–४००।

लौकिक दृष्टि से दुःख भी जीवन के अनेक तत्वों में एक है। साधारण जीवन दुःख को आगन्तुक मानकर ही चलता है। नाना दृष्ट उपायों से हम दुःख को परिहरणीय मानते हैं। रोग सामने आता है तो चिकित्सक खोजते हैं, इष्ट वस्तु से वियोग होता है तो मन को समझाते हैं। यदि जरा-मरण आदि अपरिहार्य रूप से घटते हैं तो तितिक्षा का सहारा लेते हैं और विस्मरण का यथाशक्य प्रयास उचित मानते हैं। मृत्यु जीवन का अपरिहार्य अन्त है और जरा उसका स्वाभाविक और अनिवार्य उपसर्पण। किन्तु भोग जीवन इनकी ओर गज-निमीलिका बरतता है। इस प्रकार लौकिक दृष्टि से आगन्तुक दुःख दृष्ट उपायों से परिहार्य है एवं जरा-मरण आदि अपरिहार्य दुःख असमीक्ष्य हैं। पृथग्जन और लौकिक पंडित सभी दुःख को जीवन में एक सीमित तत्त्व मानकर प्रवृत्त होते हैं। पुरानी ग्रीक सभ्यता में जीवन के अपरिहार्य दुःख के समक्ष मनुष्य सर्वथा असहाय माना जाता था और धैर्य का उपदेश दिया जाता था। यही समस्त बुद्धिवाद (रैशनलिज्म) की चरम परिणति है। मनुष्य केवल इतना ही कर सकता है कि आगन्तुक दुःख को प्रयत्नपूर्वक हटाये और लभ्य सुखों को अपनी खोज का लक्ष्य बनाये। आधुनिक जीवन में भी एक ओर सुख की खोज का आदर्श है, दूसरी ओर दृष्ट उपायों से रोग, दारिद्रय, असुरक्षा आदि आगन्तुक दुःख की निवृत्ति का। इस दृष्टि से दुःख सत्य होते हुए भी संसार को हेय नहीं सिद्ध करता।

पर यह लोक-दृष्टि दुःख के केवल वामन रूप को देखती है, उसका वास्तविक विराट् रूप आर्य-चक्षु के लिए ही प्रकट होता है। गयाशीश पर उपदिष्ट सुप्रसिद्ध आदीप्त-पर्याय के शब्दों में, 'सभी जल रहा है—जरा से, मरण से, शोक, विलाप, दुःख दौर्मनस्य और उपायास से सब कुछ जल रहा है।' आदीप्त-पर्याय अपने वर्तमान रूप में मूल बुद्धवचन न होते हुए भी, इस प्रकार का आशय नाना रूपों में बौद्ध साहित्य में प्रकट होता है। राग और भोग का समस्त लौकिक जीवन अस्थिर और अनाश्वास्य है एवं सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर दुःख का अनादि प्रवाह मात्र है।

दुःख को इस प्रकार जीवनव्यापी और अपरिहार्य मानकर मुक्ति और शांति की खोज प्रायः सभी निवृत्तिपरक आध्यात्मिक प्रस्थानों में रही है। सांख्य और योग, निर्ग्रन्थ और बौद्ध सभी इसमें एकमत हैं। प्राचीन बौद्ध साहित्य में प्रतिकूल—संवेदन रूप दुःख के मुख्य अर्थ के ग्रहण के साथ दुःख-बहुल संसार को भी दुःख माना गया है, किन्तु वहाँ दुःख के इस व्यापक महत्त्व-स्वीकार के अनेक उदाहरण होते हुए भी उसका अधिक सूक्ष्म विवेचन तथा विस्तृत निरूपण नहीं प्राप्त होता। उत्तरकाल में दुःख की परिभाषा पर प्रभूत विमर्श किया गया। पहले तो यह स्वीकार किया गया कि 'सर्व

दु:खं' उस उक्ति में दु:ख और दु:ख-संवेदन में स्पष्टत: भेद है क्योंकि संवेदन को द्विविध–दु:खात्मक अथवा सुखात्मक—या, अदु:खा–सुखात्मक संवेदन को जोड़कर, त्रिविध मानना अनिवार्य है। स्पष्ट ही दु:ख-संवेदन वेदना-स्कन्ध के अन्दर तृतीयांश मात्र है जबकि पाँचों उपादान-स्कन्ध दु:खात्मक हैं। विभज्यवादियों के अनुसार दु:ख के इस विराट् रूप का वह अंश जो कि पुनर्जन्म तथा उसके निरोध से सम्बद्ध है दु:खसत्य मानना चाहिए, शेष केवल दु:ख[३९]। दु:ख की विभुता अन्य दर्शनों में भी स्वीकार की गयी है। न्यायवार्तिक में दु:ख को 'एकविंशतिप्रभेदभिन्न' बताया गया है[४०]। न्याय-मंजरी में कहा गया है कि केवल बाधना-स्वभाव मुख्य दु:ख का ही परामर्श नहीं किया जाता, किन्तु उसका साधन और उससे अनुषक्त सब कुछ का[४१]। पर यह शंका हो हो सकती है कि सुख-दु:ख से असंबद्ध नाना चित्तविप्रयुक्त पदार्थों के होते हुए सब कुछ को कैसे दु:खात्मक कहा जा सकता है। इसके उत्तर में परवर्ती आचार्यों ने न केवल पीड़ा-संवेदन रूप दु:ख को दु:ख के अन्तर्गत रखा है, किन्तु परिणाम और संस्कार को भी दु:ख माना है[४२]। सुख अस्थिर है और अन्त में असुख बन जाता है। इस कारण उसे भी दु:ख में गिनना चाहिए। समस्त वस्तुएँ अनित्य और परिवर्तनशील हैं एवं एक प्रकार के निरन्तर अव्युपशम में पड़ी हुई हैं। इस कारण सभी कुछ दु:ख में गिना जाना चाहिए। इस व्यापक दृष्टि से समस्त अनित्य जगत् दु:खात्मक है। यह कहा जा सकता है कि यह मत प्रत्यक्ष-विरुद्ध है क्योंकि हम लोग निरन्तर अनित्य अनुभव-प्रवाह में रहते हुए भी उसे निरन्तर दु:ख-प्रवाह नहीं देख पाते। इसका उत्तर अक्षिपात्र-न्याय से दिया जाता है। जिस प्रकार आँख में पड़ा हुआ सूक्ष्म से सूक्ष्म रज-कण भी विकलता उत्पन्न करता है, अन्यत्र देह में नहीं, वैसे ही सूक्ष्मवेदी आर्यों को समस्त अनुभव में दु:ख बोध होता है, स्थूलग्राही पृथग्जनों को नहीं[४३]। दु:खका सर्व-विदित स्थूल रूप है प्रतिकल-संवेदन, पर उसका आर्य-विदित, सूक्ष्म और सर्व-गत रूप है अव्युपशम।

प्रतीत्यसमुत्पाद—ऊपर कहा जा चुका है कि ई० पू० छठी शताब्दी में संसार के दु:ख से मुक्ति की खोज ने बहुतों को घर से बाहर खींच परिव्राजक बना दिया था

३९—दे०—नीचे।

४०—न्यायवार्तिक, पृ० २।

४१—न्यायमंजरी, पृ० ५०७ (विजयनगरम्)।

४२—अभिधर्मकोश (पूसें द्वारा फ्रेंच में अनूदित), तु०—योगसूत्र, २.१५, जि० ४, पृ० १२५।

४३—तु०—योगभाष्य, पृ० १८१–८२।

और नाना परिव्राजक-सम्प्रदायों में दुःखमय संसार की समस्या नाना प्रकार से सुलझाने का प्रयत्न किया गया था। बुद्ध-देशना में 'प्रतीत्यसमुत्पाद' के द्वारा दुःख-समुदाय के प्रश्न का समाधान हुआ है, यह प्रायः सभी स्वीकार कर लेंगे, यद्यपि प्रतीत्य-समुत्पाद की अनेकानेक व्याख्याएँ की गयी हैं। आदेर और फ्रांके ने उसे मूल-देशना में उत्तरकालीन प्रक्षेप ठहराया है[४४]। श्रीमती राज डेविड्स ने तो कार्य-कारण सिद्धान्त के मूल उपदेशक का नाम भी खोज निकाला है। उनका कहना है कि तथागत नहीं, कप्पिन इसके आविष्कारक थे[४५]। पर यह निस्सन्देह है कि यदि नाम से अथवा विस्तार से नहीं, तो कम-से-कम बीजरूप में प्रतीत्यसमुत्पाद अवश्य ही मूल-देशना का अग था। प्रतीत्यसमुत्पाद को सम्बोधि में अधिगत धर्म बताया गया है और यह कहा गया है कि "जो प्रतीत्यसमुत्पाद को देखता है वह धर्म को देखता है।" सभी सम्प्रदाय इसकी प्रामाणिकता स्वीकार करते हैं और इसे सर्वथा छोड़ देने पर सद्धर्म की रीढ़ ही टूट जाती है। यह अवश्य है कि इसका प्राचीनतम निर्देश कदाचित् "मध्यम धर्म" अथवा "मध्यमा प्रतिपद्" के नाम से हुआ था। यह निश्चित है कि मूल-देशना में इसका प्रतिपादन अपारिभाषिक और विविध था। किन्तु इन विविध उपदेशों के संग्रह, वर्गीकरण, और परिष्कार के द्वारा परिनिर्वाण की प्रथम शती में ही प्रतीत्यसमुत्पाद ने अपना विकसित और सुविदित रूप धारण कर लिया जिसमें संसार अविद्या से प्रारम्भ होकर दुःख में अन्त होने वाली एक कार्य-कारण शृंखला है। इस शृंखला की बारह प्रधान कड़ियाँ हैं जिन्हें "द्वादश निदान" कहा जाता है। अभिधर्म में प्रतीत्यसमुत्पाद के इस रूप की विस्तृत और सूक्ष्म व्याख्या की गयी। किन्तु माध्यमिक दर्शन में फिर से प्रतीत्यसमु-त्पाद के वास्तविक, गंभीर और व्यापक रूप का प्रतिपादन किया गया जो कि मुख्य अभिप्राय में मूल-देशना के निकट होते हुए भी परवर्ती काल के दार्शनिक परिष्कार से अलंकृत था।

और सांख्यदर्शन—अनेक विद्वानों ने प्रतीत्यसमुत्पाद को सांख्य-दर्शन के प्रसिद्ध तत्त्व-परिणाम से निकला हुआ माना है[४६]। इसके प्रतिकूल यह निर्विवाद है कि सांख्य का परिणामवाद वस्तुतः शाश्वतवाद है जिसका प्रतीत्य-समुत्पाद निराकरण करता है।

४४–द्र०—ऑरिजिन्स ऑव् बुद्धिज्म, पृ० ४०६।

४५–द्र०—शाक्य, पृ० १३८–४८।

४६–द्र०–याकोबी, जेड० डी० एम० जी०, जि० ५२, पृ० १ प्र०, कीथ, बुद्धिस्ट फ़िलॉसोफ़ी, पृ० १०६ प्र०।

और न निदानों को "तत्वों" के सदृश माना जा सकता है। यह सच है कि सांख्य-योग में दुःख की उत्पत्ति का कारण अविद्या, क्लेश और कर्म को माना जाता है, किन्तु इस प्रकार की धारणा प्रायः समस्त निवृत्तिपरक सम्प्रदायों में समान थी। उपनिषदों में भी इसकी अभिव्यक्ति पायी जाती है[४७]। यदि प्रतीत्यसमुत्पाद केवल इतना ही था तो उसके स्वीकार से सद्धर्म में अन्य सम्प्रदायों से पृथक् मौलिकता नहीं आती। जिस प्रकार से चार आर्य-सत्य सभी अध्यात्म-शास्त्रों में अनुगत थे, उसी प्रकार दुःख का अज्ञान, काम और कर्म से सम्बन्ध भी सर्व-सम्मत था। वस्तुतः जैसे आर्यसत्यों में सद्धर्म का वैशिष्ट्य प्रत्येक सत्य के विशिष्ट प्रतिपादन के द्वारा व्यक्त होता है ऐसे ही दुःख-समुदाय के इस प्रचलित गुर के विषय में भी समझना चाहिए। दुःख के कारण अज्ञान, इच्छा और कर्म हैं, इसको सभी जानते और मानते थे, किन्तु इनकी कारणता का क्या स्वरूप है एवं इनका स्वयं क्या स्वरूप है, इस विषय में एक विलक्षण दृष्टिकोण प्रतीत्यसमुत्पाद मे अन्तर्भूत है।

प्रतीत्यसमुत्पाद और कार्य-कारणभाव—प्रतीत्यसमुत्पाद का मुख्य अभिप्राय दुःख की उत्पत्ति समझाना था, अथवा कार्यकारण-नियम का सामान्यतः प्रतिपादन था, इसपर भी मतभेद है। यह अक्सर माना गया है कि चिन्तन के इतिहास में प्रतीत्यसमुत्पाद कार्य-कारण-भाव का व्यापक रूप में सर्वप्रथम प्रतिपादन है और इसका महत्त्व इसी पर अवलंबित है[४८]। किन्तु यह मानना कठिन प्रतीत होता है कि कार्य-कारण-सम्बन्ध का बुद्ध के समय में अथवा उससे पहले प्रतिपादन नहीं हुआ था। यदि यह सच है कि चिकित्सा-शास्त्र के चतुर्व्यूह का अध्यात्म-विद्या में अनुकरण किया गया तो स्पष्ट ही कार्य-कारण-सम्बन्ध का नियम चिकित्सा-शास्त्र में सुविदित मानना होगा। इसके अतिरिक्त यह सुबोध नहीं है कि कार्यकारण-नियम का ज्ञान आध्यात्मिक जगत् में किस प्रकार परम आविष्कार माना जा सकता है। यह सच है कि शारीरिक और मानसिक व्यापार कार्यकारण के नियम से जकड़े हुए हैं, किन्तु केवल इतने मात्र के अभ्युपगम से अध्यात्म-विद्या का कार्य सम्पन्न नहीं होता क्योंकि इतना स्वीकार तो आधुनिक जीव-विज्ञान और मनोविज्ञान में भी किया जाता है। आध्यात्मिक सत्य होने के लिए

४७—बृ० उप० ४.४.५—"स यथाकामो भवति तत्क्रतुर्भवति, यत्क्रतुर्भवति तत्कर्म कुरुते, यत्कर्म कुरुते तदभिसम्पद्यते।"

४८—राइज़ डेविड्स, डाइलॉग्स ऑव् दि बुद्ध, जि० २, पृ० ४२ प्र०, अमेरिकन लेक्चर्स, पृ० ८५ प्र० (प्र० सुशील गुप्त)।

कार्य-कारण-नियम को किसी अन्य बृहत्तर सत्य की भूमिका मानना होगा। यह कहा गया है कि कारण-नियत व्यवहारिक जगत्, के ज्ञान का नैतिक और धार्मिक प्रगति में उपयोग किया जा सकता है, और ऐसे ही प्रतीत्यसमुत्पाद में भी दुःख के कारण बताकर उनसे मुक्ति का उपाय सुझाया गया है[४९]। वस्तुतः यद्यपि समस्त कर्म-जगत् कार्य-कारण-नियम के परतन्त्र है और उसमें सत्कर्म से सुख और असत्कर्म मे दुःख प्राप्त होता है, तथापि कार्य-कारण-नियम के आश्रित कर्म-पात्र से, चाहे सत्कर्म हो, परमार्थलाभ नहीं हो सकता। यही अध्यात्म के क्षेत्र में वैज्ञानिक दृष्टिकोण की सीमा है।

यह भी कहा गया है कि कारण-परतन्त्र व्यावहारिक जगत् को ही यथावत् समझ लेने से हम अपने को उससे विलक्षण एवं स्वतन्त्र समझ पाते हैं और इस प्रकार कार्य-कारण-नियम की व्यापकता का बोध अनात्म-तत्त्व का साक्षात्, और आत्म-तत्त्व का परम्परया, बोध प्रदान करने में समर्थ है[५०]। अतएव प्रतीत्यसमुत्पाद केवल कार्य-कारण-नियम की सर्वत्र व्याप्ति का उपदेश है। किन्तु यदि इस उपदेश का प्रयोजन सत्कर्म में साहाय्य अथवा नैरात्म्य का बोध कराना था तो यह समझ में नहीं आता कि सुविदित कार्य-कारण-नियम की आवृत्तिमात्र पर इतना ध्यान क्यों दिया गया और उसके द्वारा यथार्थ में प्रतिपादनीय अभीष्ट अर्थ पर इतना कम क्यों। अच्छे कर्म का अच्छा फल होता है, बुरे कर्म का बुरा; इच्छा से कर्म होता है, कर्म से पुनर्जन्म। यह उपनिषदों में कहा गया है। इतना समझाने के लिए कार्य-कारण-नियम का व्यापक और पारिभाषिक अभिधान अनावश्यक है, और यह नहीं कहा जा सकता कि तथागत अनपेक्षित चर्चा करते थे।

प्रतीत्यसमुत्पाद के दो पक्ष—वस्तुतः दुःख के अर्थ में द्वैत है। एक ओर दुःख का अर्थ है दुःखात्मक अनुभव, दूसरी ओर उसका हेतुभूत अनित्य जगत्। दुःख के इन दोनों मुख्य और गौण अर्थों के अनुरूप ही प्रतीत्यसमुत्पाद के भी दो रूप हैं—एक व्यापक रूप, जिसमें कि दुःख की परमकारणता उभर आती है, और एक दूसरा सीमित रूप जो कि पुनर्जन्म और दुःख-संवेदन के आसन्न-कारणों का निर्देश करते हुए पहले का एक विशिष्ट उपयोग है। एक ओर प्रतीत्यसमुत्पाद दुःखमय संसार को परमार्थ की भूमि से निरूपित करता है, दूसरी ओर व्यवहार की अन्तर्गत कार्यप्रणाली की ओर इंगित।

दुःख का मूल आधार अविद्या है और प्रतीत्यसमुत्पाद वस्तुतः अविद्या का स्वरूप प्रकट करता हुआ परमार्थ की ओर संकेत करता है। अविद्यावष्टम्भ जगत् के अन्दर ही

४९–द्र०—श्रीमती राइज डेविड्स, शाक्य, पृ० १४८–६२।
५०–द्र०—कुमारस्वामी, हिन्दुइज्म एंड बुद्धिज्म, पृ० ८०।

कार्य-कारण-नियम का व्यापार रहता है और प्रतीत्यसमुत्पाद का गौण रूप अविद्या-कुंडलित जीवन के अन्दर दुःख का चक्राकार विकास प्रदर्शित करता है। यह स्मरणीय है कि प्रतीत्यसमुत्पाद के प्रचलित बोध में एक बड़ी भ्रांति यह है कि वह अविद्या को भी ठीक उसी प्रकार कारण मानता है जैसे कि अन्य निदानों को, और इस प्रकार कार्य-कारण-नियम को अविद्या-परिगत मानने के स्थान पर स्वयं अविद्या को तृष्णा आदि के साथ कार्य-कारण-नियम से परिगत मानता है अर्थात् कार्य-कारण-नियम अविद्यापरतन्त्र, और व्यावहारिक होने के स्थान पर स्वयं पारमार्थिक बन जाता है।

मूल 'धर्म संकेत'—सम्बोधि और ब्रह्मयाचन के संदर्भों में यह कहा गया है कि बुद्ध ने निर्वाण और प्रतीत्यसमुत्पाद रूप गम्भीर, दुर्दर्श, दुरनुबोध, शान्त, प्रणीत और अतर्कावचर धर्म की प्राप्ति की[५१]। यह स्मरणीय है कि ललित-विस्तर में पालि संदर्भ का सादृश्य होते हुए भी प्रतीत्यसमुत्पाद के स्थान पर निर्वाण का ही उल्लेख किया गया है, किन्तु साथ ही निर्वाण का एक और अधिक विशेषण "शून्यतानुपलम्भ' दिया गया है[५२]। अर्थतः यहां पर महायान के मतानुसार प्रतीत्यसमुत्पाद और निर्वाण को भिन्न नहीं माना गया है और प्रतीत्यसमुत्पाद को तत्त्वशून्यता में संगृहीत किया गया है। पालि संदर्भ में भी स्पष्ट द्वैत विवक्षित नहीं है। हमें ऐसा लगता है कि निर्वाण और प्रतीत्यसमुत्पाद का सम्बन्ध कुछ ऐसा था जैसे कि शांकर दर्शन में ब्रह्म और माया का। परवर्ती काल में महीशासक और पूर्वशैलीय प्रतीत्यसमुत्पाद को असंस्कृत मानते थे[५३], जबकि स्थविरवादी और सर्वास्तिवादी प्रतीत्यसमुत्पाद को संस्कृत धर्मों से अभिन्न मानते थे[५४]। माध्यमिक आचार्य प्रतीत्यसमुत्पाद को सम्वृत्ति की सांवृतता और परमार्थ, दोनों का ही संकेत स्वीकार करते थे[५५]। इस विविध विकास से मूल सिद्धान्त की जटिलता और सूक्ष्मता उन्नेय है।

उपर्युक्त संदर्भों में प्रतीत्यसमुत्पाद के विशेषणभूत 'अतर्कावचर' पद के प्रयोग से यह स्पष्ट है कि प्रतीत्यसमुत्पाद का वास्तविक रहस्य तर्कगम्य न होकर समाधिप्रज्ञा

५१—मज्झिम, सुत्त, २६, ८५, संयुत्त (रो०) जि० १, पृ० १३६; दीघ (ना०) जि० २, पृ० ३०, इत्यादि।

५२—ललित, पृ० २८६।

५३—कथावत्थु, ६.२।

५४—तु०—अभिधर्मकोश, जि० २, पृ० ७७, पादटि० १।

५५—दे०—नीचे।

के द्वारा साक्षात्करणीय है। इससे पता चलता है कि यह वास्तविक अर्थ केवल कार्य-कारण-नियम नहीं हो सकता क्योंकि कार्य-कारण-नियम में तर्क की अगोचरता नहीं है। अतर्क्य होने के कारण प्रतीत्यसमुत्पाद का सही प्रतिपादन अतद्व्यावृत्ति के द्वारा ही सम्भव है। दूसरी ओर प्रतीत्यसमुत्पाद का प्रसिद्ध धर्मसंकेत एक नियम का निरूपण करता है कि "इसके होने पर यह होता है, इसके उत्पाद से यह उत्पन्न होता है, इसके न होने पर यह नहीं होता, इसके निरोध से यह निरुद्ध होता है"[५६]। इस धर्मसंकेत का वास्तविक तात्पर्य अपोहात्मक समझना चाहिए और वह प्रत्येक सांसारिक वस्तु की परतन्त्रता और सापेक्षता द्योतित करने में है। साधारण बुद्धि संसार की सब परिच्छिन्न वस्तुओं को अखंडित स्वभाव और सत्ता से युक्त मानती है, किन्तु वस्तुतः परिच्छिन्न स्वभाव और सत्ता पदार्थान्तर के स्वभाव और सत्ता की अपेक्षा रखती है[५७]। कार्य-कारण-नियम से केवल पदार्थों की सत्ता के प्रारम्भ अथवा अभिव्यक्ति की परतन्त्रता सूचित होती है, पदार्थों के पृथक्-पृथक् स्वभावों की अकल्पनीयता नहीं। किन्तु प्रतीत्य-समुत्पाद में पूर्ण पारतन्त्र्य अभीप्सित है। न पदार्थों का अपना अस्तित्व है, न अपना स्वरूप। सर्वत्र परापेक्षा है। इसीलिए उपर्युक्त धर्मसंकेत में भी द्विविध निर्देश किया गया है। एक वस्तु के होने पर दूसरी वस्तु होती है अर्थात् यदि एक का स्वरूप निर्धारित है तो दूसरे को निर्धारित किया जा सकता है। एक वस्तु के उत्पन्न होने पर दूसरी वस्तु उत्पन्न होती है अर्थात् एक वस्तु सत्तावान् है तो दूसरी सत्तावान् हो सकती है। स्वभाव-पारतंत्र्य का पक्ष माध्यमिकों की शून्यता का बीज है। सत्तापारतन्त्र्य का पक्ष परवर्ती बौद्धाचार्यों के द्वारा कार्य-कारण-सम्बन्ध और क्षणिकत्व की विशिष्ट और विविध विश्लेपणा का विषय बना। वस्तुतः प्रतीत्यसमुत्पाद से सूचित सत्तापारतन्त्र्य के सिद्धान्त को प्रचलित अर्थ में कार्य-कारण-नियम मानना उतना उचित नहीं है जितना कि उसे कारित्रपारतन्त्र्य का नियम मानना[५८]। बौद्धाचार्य सत्ता को कारित्र से व्यतिरिक्त धर्म नहीं स्वीकार करते।

५६–"इमस्मिं सति इदं होति, इमस्स उप्पादा इदं उप्पज्जति, इमस्मिं असति इदं न होति, इमस्स निरोधा इदं निरुज्झति"—मूल सन्दर्भ अनेक हैं, द्र०—ऑरिजिन्स ऑव् बुद्धिज्म, पृ० ४१६।

५७–दे०—ऊपर।

५८–द्र०—ऑरिजिन्स ऑव् बुद्धिज्म, पृ० ४१७–१८, तु०—श्चेरबात्स्की, बुद्धिस्ट लॉजिक, जि० १, पृ० ११९–२४।

'मध्यमा प्रतिपद्'—प्रतीत्यसमुत्पाद का सुस्पष्ट अतद्व्यावृत्त्या निरूपण 'मध्यम-धर्म' के रूप में प्राप्त होता है और संयुत्त-निकाय के कुछ सूत्रों में प्रतीत्यसमुत्पाद का मध्यम धर्म (मज्झेन धम्मो) के रूप में अतिप्राचीन वर्णन है। संयुत्त २.१.१५ में बुद्ध ने कात्यायन से कहा है कि मध्यमा प्रतिपद् अस्तिता और नास्तिता के दोनों छोरों (अन्तों) से बचती है, जिनमें कि लोक आसक्त है। इसके अनन्तर मध्यमा प्रतिपद को उत्तरकाल में प्रचलित गुर के अनुसार निरूपित किया गया है, जो प्रक्षिप्त प्रतीत होता है। नागार्जुन ने इस कात्यायनाववाद का उल्लेख किया है और इसको शून्यता के सिद्धान्त का प्राचीन आकर माना है। चन्द्रकीर्ति का कहना है कि यह सूत्र सब सम्प्रदायों में पढ़ा जाता है। "दोनों अन्तों का मध्य है, अरुच्य, अनिदर्शन, अप्रतिष्ठ, अनायास, अनिकेतन, और अविज्ञप्तिक। इसीको, काश्यप, मध्यमा प्रतिपदा कहा जाता है"[५९]। संयुक्त २.१.१७ में बुद्ध नागा (अचेल) काश्यप को बताते हैं कि दुःख न स्वयंकृत न परकृत है, न अधीत्यसमुत्पन्न; किन्तु शाश्वत और उच्छेद के अन्तों से बचने के लिए मध्यमा प्रतिपद् का सहारा लेना चाहिए और वही प्रतीत्यसमुत्पाद है। अगले सूत्र में इसी प्रकार का अर्थ विवक्षित है। तिंबरुक परिव्राजक से कहा गया है कि सुख और दुःख के संवे-दन न तो संवेदक से भिन्न हैं न अभिन्न, क्योंकि भिन्न होने पर वे परकृत (अर्थात् आगन्तुक और नैतिक उत्तरदायित्वहीन) हो जाते हैं एवं अभिन्न होने पर स्वयंकृत (अथवा अनि-वार्य); प्रतीत्यसमुत्पाद में संवेदन को न स्वतन्त्र माना जाता है न परतन्त्र। वहीं ३५ वें सूत्र में कहा गया है कि कि बुद्ध का धर्म जीव और शरीर के भेद और अभेद के विषय में अन्तपरिवर्जन करता है। ३७ वें सूत्र में कहा गया है कि "न यह शरीर तुम्हारा है न औरों का"। ४६ वें सूत्र में कर्म के कर्त्ता को उसके फल के अनुभविता से न भिन्न, न अभिन्न कहा गया है। ४७ वें सूत्र में 'सब है', 'सब नहीं है' इन दोनों की मध्यमा प्रति-पदा का उपदेश किया गया है। ४८ वें सूत्र में एकत्व और बहुत्व के मध्य का उपदेश है।

कुछ विद्वान् मध्यमा प्रतिपद् को अनित्यता और परिवर्तन का वैसा उपदेश मानते हैं जिस प्रकार हेगेल ने अस्ति और नास्ति का 'भवन' (होना) अथवा परिणाम में में समन्वय माना था[६०]। उनके अनुसार तथागत ने भी शाश्वत और उच्छेद के अन्तों

५९—प्रसन्नपदा, मध्यमक०, पृ० २६९।

६०—श्रीमती राइज डेविड्स, बुद्धिज्म, (होम यूनीवर्सिटी लाइब्रेरी), पृ० ९४ प्र० राधाकृष्णन्, इण्डियन फिलॉसोफी, जि० १, पृ० ३६८—६९, तु०—हेगेल लॉजिक (वॉलेस का अनुवाद), पृ० १५८—६८।

से बचकर जीवन की सतत परिणामिता और प्रवाहशीलता का उपदेश किया था। किन्तु यह मत ग्राह्य नहीं प्रतीत होता। तथागत का यह कहना नहीं है कि संसार के प्रवाह में पदार्थ हैं भी और नहीं भी हैं। उनका कहना है कि इस प्रवाह को न सत् कहा जा सकता है न असत्। मध्यमा प्रतिपद् अस्ति और नास्ति का समन्वय नहीं, अतिक्रम करती है। वस्तुतः परिणामवाद तो सांख्यों का सिद्धान्त है।

उपनिषदों में असद्वाद का निराकरण और सद्वाद का प्रतिपादन मिलता है और इस तरह से उत्तरकालीन विवर्तवाद का बीज भी उपनिषदों में देखा जा सकता है[६१]। एक स्थल में कहा कहा गया है 'न सत् है, न असत् है, केवल शिव है'[६२]। यही दृष्टि प्रतीत्यसमुत्पाद अथवा मध्यमा प्रतिपदा में विकसित पायी जाती है। यह वर्तमान में अनित्यता और परिणाम स्वीकार करती हुई भी उसे पारमार्थिक नहीं मानती। व्यावहारिक जगत के परतन्त्र और सापेक्ष होने के कारण उसे न सत् कहा जा सकता है न असत्। व्यावहारिक जीवन परिच्छेद अथवा सीमा से बनता है और अतएव दुःखात्मक और अतिक्रमणीय है। उपनिषदों में कहा जा चुका है कि केवल भूमा ही परमार्थ है[६३]। अनित्य और सान्त वस्तुओं का जगत् परमार्थतः सत्य नहीं हो सकता, किन्तु व्यवहारतः अवश्य सत्य है। व्यवहार में कार्य-कारण-नियम का निरपवाद व्यापार है।

संस्कृत जगत् के विषय में प्रतीत्यसमुत्पाद से वस्तुओं का अहेतुत्व एवं एकहेतुत्व, विषमहेतुत्व, अथवा स्वपरोभयकृतत्व का निराकरण होता है। इस दृष्टि से प्रतीत्यसमुत्पाद संस्कृत धर्मो से अभिन्न है। संस्कृत धर्म के तीन लक्षण कहे गये हैं—उत्पत्ति, व्यय और स्थित्यन्यथात्व। समस्त संस्कृत धर्म हेतुप्रत्यय-सापेक्ष अनादि प्रवाह में पड़ हुए हैं। प्रतीत्यसमुत्पाद का व्यावहारिक पक्ष इसी की ओर संकेत करता है। वैदिक साहित्य के पुरुषकारणवाद का इससे निराकरण हो जाता है और साथ ही सांख्य आदि सम्मत किसी तत्त्व का स्थायी उपादानकारण के रूप में स्वीकार भी खण्डित हो जाता है। प्रतीत्यसमुत्पाद में न कार्य को कारण का परिणाम माना जाता है, न असत् से उत्पन्न। कारण न कार्य का उपादान है न आरम्भक, किन्तु कारण की सत्ता और कार्य की सत्ता में सापेक्षता है। यही परिणामवाद, आरम्भवाद आदि से विलक्षण बौद्ध हेतुवाद का सिद्धान्त है।

६१—छा० उप० ६.२.१.२; वही ६.१.४; बृ० उप० ४.५.१५; कठ, २.४.१०—११।

६२—श्वेताश्वतर, ४.१८।

६३—छा० उप० ७.२४.१।

फलितार्थ यह है कि प्रतीत्यसमुत्पाद का एक पारमार्थिक पक्ष है जो परमार्थ को सत् और असत् से परे बताता है और एक व्यावहारिक पक्ष है जो संसार में कार्य-कारण-नियम का विशिष्ट प्रतिपादन करता है। इससे एक ओर यह विदित होता है कि दुःख का मूल कारण संसार को सत् अथवा असत् समझ लेना है। यही अविद्या है। दूसरी ओर अविद्याग्रस्त चित्त के लिए दुःखात्मक संसारचक्र निरन्तर कर्म, तृष्णा आदि का सहारा लेकर चलता रहता है।

दुःखसमुदय—प्राचीन पालि संदर्भों में दुःख के समुदय पर विविध छोटी-बड़ी सूचियों मे कारण निर्देश किये गये हैं[64]। प्राचीनतम निर्देश अल्पाकार हैं और उनमें तृष्णा, कर्म, अहंकार दृष्टि अथवा उपादान को दुःख का कारण बताया गया है।[65] इन निर्देशों में पारिभाषिक एकरसता नहीं है। ऐसा प्रतीत होता है कि विभिन्न उपदेशों में उल्लिखित कुछ सदृश और कुछ विसदृश कारणोंका उत्तरकाल में संग्रह और परिष्कार तथा उनके नामों में समानरूपता का आपादन किया गया और इस प्रकार दुःख के नाना निदानों से एक बारह निदानों की परिष्कृत शृंखला का विकास हुआ।

कर्म—बुद्ध के समय में दुःख की उत्पत्ति का प्रधान कारण कम माना जाता था और यह निर्विवाद है कि संसार-मीमांसा में कर्म की प्रमुखता पीछे भी सर्वसम्मत रही। निकायों की बार-बार दुहरायी गयी एक पंक्ति में कहा गया है[66] कि 'कर्म ही जीवों का अपना है, कर्म ही उनकी विरासत है, कर्म उनका प्रभव है, कर्म उनका बन्धु और कम ही उनका सहारा है'।···'कर्म ही जीवों को बाँटता है, उन्हें हीन और उत्तम बनाता है।"

"मैं चेतनापूर्वक किये हुए और संचित कर्मों के फल का प्रतिसंवेदन किये बिना उनके और दुःख का अन्त नही बताता हूँ। प्रत्येक के लिए दुःख का अन्त बोधपूर्वक किये गये कर्मों के क्षीण होने पर ही सम्भव है।"

इस प्रकार प्राचीन बौद्धों में भी कर्म ही संसार का आसन्न कारण स्पष्टतः स्वीकार किया गया था, यद्यपि कुछ स्थलों में कर्म के अतिरिक्त दुःख के सात और कारणों का भी निर्देश मिलता है, यथा पित्त, श्लेष्म, वात, सन्निपात, ऋतु, विषम-उपक्रम और

६४—तु०—"तेऽविद्यादयः···क्वचित् संक्षिप्ता निर्दिष्टाः क्वचित् प्रपञ्चिताः" (ब्र० सू० २.२.१९ पर शंकराचार्य), तु०—विसुद्धिमग्गो, पृ० ३६६—६७।

६५—द्र०—ऑरिजिन्स ऑव् बुद्धिज्म, पृ० ४३४—३५।

६६—द्र०—ऑरिजिन्स ऑव् बुद्धिज्म, पृ० ४२८—२९।

कर्मविपाक[६७]। कुछ स्थलों में कर्म के चार विभाग किये गये हैं—कृष्ण, शुक्ल, कृष्ण-शुक्ल और अकृष्ण-अशुक्ल। यह स्मरणीय है कि अभिधर्म में प्रायः तीन प्रकार के कर्मों का उल्लेख है—कुशल, अकुशल एवं अव्याकृत। योग-सूत्रों में भी कर्म का यह चतुर्धा विभाजन पाया जाता है। आजीवक और जैन कर्म की अनेक अभिजातियाँ अथवा लेश्याएँ स्वीकार करते थे। सम्भवतः प्रारम्भ में केवल दो ही प्रकार के कर्मों की चर्चा थी—कृष्ण और शुक्ल। पीछे अधिक वर्गीकरण किया गया।

बुद्ध भगवान् कर्म का सार मानसिक संकल्प अथवा कर्म करने का मानसिक निर्णय मानते थे जिसे "चेतना" कहा जाता था। "भिक्षुओ, मैंने चेतना को कर्म कहा है, चेतना-पूर्वक कर्म किया जाता है, शरीर से, वाणी से, मन से)[६८]। अभिधर्म कोश में भी कर्म की परिभाषा 'चेतना' और 'चेतयित्वाकरण' दी गयी है[६९]। नागार्जुन ने भी कहा है—

"चेतना चेतयित्वा च कर्मोक्तं परमर्षिणा ।
तस्यानेकविधो भेदः कर्मणः परिकीर्तितः ॥
तत्र यच्चेतनेत्युक्तं कर्म तन्मानसं स्मृतम् ।
चेतयित्वा च यत्तूक्तं तत्तु कायिकवाचिकम् ॥"

(मध्यमक० १७.२–३)

इस प्रसग में चेतना का अर्थ संकल्प अथवा कर्म का मानसिक निर्णय लेना चाहिए। स्पष्ट ही कर्म के विषय में तथागत का मत निर्ग्रन्थ मत से नितान्त भिन्न था क्योंकि निर्ग्रन्थ कर्म को पौद्गलिक मानते थे।"

न केवल निर्ग्रन्थ मत से, किन्तु वेदानुसारी मत से भी इस विषय में बौद्धों का भेद है। वैदिक मत मे कर्म को जीवरूपी कर्त्ता का व्यापार और उससे उत्पन्न अदृष्ट शक्ति माना जाता है, किन्तु प्राचीन बौद्धसंदर्भों में कर्म को किसी अनुवर्तमान कर्त्ता का धर्म नहीं माना गया है। संयुत्त० के ये वाक्य इस प्रसंग में स्मरणीय हैं—'कर्म अनात्मकृत हैं'। 'न यह शरीर तुम्हारा है, न औरों का है। केवल पुराना कर्म है।' 'जीव और शरीर को एक मानने से ब्रह्मचर्यवास नहीं होता, न भिन्न मानने से'। 'न यह आत्मकृत

६७–अंगुत्तर (रो०) जि० ३, पृ० १८६, संयुत्त (रो०) जि० ४, पृ० १३२–३३, २३०–३१।

६८–संयुत्त (रो०) जि० २, पृ० ३९, ४०, अंगुत्तर (रो०) जि० २, पृ० १५७–५८।

६९–अभिधर्मकोश, ४.१।

है, न परकृत। हेतु के सहारे उत्पन्न हुआ है, हेतु न रहने पर निरुद्ध हो जायेगा[७०]। यह स्पष्ट है कि बुद्ध भगवान् के अनुसार कर्म और कर्मफल की एक अनादि और अविच्छिन्न परम्परा है जिसमें कर्म का करना और उसके फल का भोग, दोनों समान प्रवाह में पतित घटनामात्र हैं। इस मत में किसी अनुगत और स्थायी कर्त्ता और भोक्ता का स्वीकार नहीं है।

कर्म का मूल है तृष्णा, और तृष्णा एक ओर अविद्या पर आश्रित है, दूसरी ओर सुख के अनुभव पर। एक प्रसिद्ध संदर्भ में कहा गया है 'भिक्षुओ, संसार अनादि है। अविद्या से आच्छन्न और तृष्णा से बँधे हुए एक जन्म-से दूसरे जन्म को दौड़ते हुए जीवों की पूर्व कोटि पता नहीं चलती'[७१]। नागार्जुन ने इसी की ओर उल्लेख किया है—

"पूर्वा प्रज्ञायते कोटिर्नेत्युवाच महामुनिः।
संसारोऽनवराग्रो हि नास्यादिर्नापि पश्चिमम्॥"

(मध्यमक० ११.१)

चन्द्रकीर्ति ने भी इस सूत्र का उद्धरण दिया है। अभिधर्मकोश में स्पष्ट कहा गया है कि 'अविद्यायुक्त स्पर्श से वेदना उत्पन्न होती है, अविद्यायुक्त वेदना से तृष्णा उत्पन्न होती है'[७२]। इस परवर्ती परिष्कृत निरूपण का प्राचीनतम बीज सुत्तनिपात के अट्ठक-वग्ग में प्राप्त होता है। यहाँ दुःख के कारण को इच्छा, शात (सुख), काम, तृष्णा, ममकार, छन्द (संकल्प), स्पर्श और संज्ञा कहा गया है। यह प्रतीत्यसमुत्पाद के विकास की पहली अवस्था है। दूसरी अवस्था में विभिन्न दुःख के निदानों को जोड़कर कारण श्रृंखलाएँ प्रस्तुत की गयी ह। निदानसंयुत्त के अनेक सूत्रों में यह अवस्था देखी जा सकती है। परवर्ती बौद्धाचार्यों ने भी प्रतीत्यसमुत्पाद के ये अधूरे (वस्तुतः, अविकसित पूर्वरूप) देखे थे। अभिधर्म कोश में कहा गया है कि सूत्रों मे कहीं बारह निदानों का वर्णन है, कहीं ग्यारह का, कहीं दस का, कहीं नव का और कही आठ का[७३]। संघभद्र ने इस आधार पर यह स्थापना की थी कि प्रतीत्यसमुत्पाद केवल द्वादशांग नहीं है। बुद्धघोष ने कहा है कि प्रतीत्यसमुत्पाद का भगवान् बुद्ध ने कहीं संक्षिप्त वर्णन किया है,

७०—द्र०—ऑरिजिन्स ऑव् बुद्धिज़्म, पृ० ४३१, पादटिप्पणी, १५३।
७१—अनमतग्ग, संयुत्त, संयुत्त (रो०) जि० २, पृ० १७८-९३।
७२—अभिधर्मकोश, जि० २, पृ० ७१-७२।
७३—वही, पृ० ६०-६१।

कहीं विस्तृत। इसी मत का अनुवाद शंकराचार्य ने शारीरकभाष्य में किया है[७४]। प्रतीत्यसमुत्पाद की इसी अवस्था का महाभारत में भी कदाचित् उल्लेख है—'कुछ लोग पुनर्जन्म का कारण अविद्या, कर्म और चेष्टा मानते हैं और उनके साथ लोभ, मोह और दोषों के सेवन को। अविद्या को क्षेत्र मानते हैं, कर्म को बीज और तृष्णा को उसका पोषक 'खाद-पानी'। यही उनका पुनर्जन्म है[७५]। प्रतीत्यसमुत्पाद की तीसरी अवस्था उसके द्वादश निदानों की शृंखला के रूप में परिनिष्ठित होने पर सम्पन्न हुई।

'द्वादश निदान'—प्रतीत्यसमुत्पाद के अन्तर्गत द्वादश निदान इस प्रकार हैं—अविद्या, संस्कार, विज्ञान, नामरूप, षडायतन, स्पर्श, वेदना, तृष्णा, उपादान, भव, जाति और जरा-मरण-शोक-परिदेव-दुःख-दौर्मनस्य-उपायास। अविद्या को एक प्राचीन सन्दर्भ में मोह और तमःस्कन्ध कहा गया है[७६]। अविद्या का अर्थ प्रायः चार आर्य सत्यों का अज्ञान बताया गया है। वस्तुतः अविद्या बुद्धि का भ्रान्त विकल्प अथवा मिथ्या अध्यवसाय मात्र नहीं है, प्रत्युत् अयथाभूत दर्शन का अनादि अभ्यास है। अनित्य, दुःखात्मक और अनात्मभूत चेतसिक और भौतिक जगत् में अहंकार-ममकार-पूर्वक सुख की खोज में विवश लगे रहने के हमारे अभिनिवेश के मूल में एक आवरण है जो कि चित्त की स्वाभाविक प्रभास्वरता को ढके रहता है। यही अविद्या है और इसकी निवृत्ति प्रतीत्यसमुत्पाद के साक्षात्कार के बिना नहीं हो सकती। परवर्ती आचार्य भदन्त श्रीलाभ का मत यहाँ पर उल्लेखनीय है कि 'अविद्या सब क्लेशों की सामान्य-संज्ञा है; रागादि क्लेशों से व्यतिरिक्त कोई अविद्या नहीं है[७७]। 'संस्कार' का अनेक अर्थों में प्रयोग मिलता है, पर प्रतीत्यसमुत्पाद के प्रसंग में 'संस्कार' से चैतसिक सकल्प अथवा छन्द ही अभिप्रेत लगता है और इस अर्थ में संस्कार कर्म का ही सूक्ष्म मानसिक रूप है। नागार्जुन की उक्ति से इसका समर्थन होता है...

"पुनर्भवाय संस्कारानविद्या निवृतस्तथा।
अभिसंस्कुरुते यांस्तैर्गति गच्छति कर्मभिः॥"

(मध्यमक० २६।१)

७४–द्र०—ऊपर।

७५–महाभारत (चित्रशाला प्रेस, पूना), शान्तिपर्व, २।८, ३२–३४।

७६–तु०—अभिधर्मकोश, जि० २, पृ० ७१०, चन्द्रकीर्ति, मध्यमक ०१७, २८ पर।

७७–तु०—मिनयेफ, रिशर्श सूर ल बुद्धीज्म, पृ० २२६।

अनेक संदर्भों में प्रतीत्यसमुत्पाद का निरूपण विज्ञान और नामरूप को अन्योन्याश्रित एवं आदिम निदान मान कर हुआ है। कुछ स्थलों में ऐसा प्रतीत होता है मानो विज्ञान संसारी हो, यद्यपि इसका प्रतिषेध भी किया गया है।[७८] नामरूप से प्रायः "पाँच स्कन्ध" लिये गये हैं। यह उल्लेखनीय है कि महानिदान सुत्त में षडायतन का उल्लेख नहीं है एवं स्पर्श को नामरूप पर आश्रित कहा गया है। 'स्पर्श' का साधारण अर्थ इन्द्रिय अथवा मन का अपने विषय के साथ 'संनिकर्ष' है। वेदना उसमे उत्पन्न होने वाला सुख-दुःख का अनुभव है। कहीं वेदना द्विविध कही गयी है, कहीं त्रिविध। अनेक प्रकार से वेदनाओं का विभाजन और वर्गीकरण पाया जाता है। तृष्णा को 'पौनर्भविकी, नन्दिराग-सहगता,तथा तत्राभिनन्दिनी' कहा गया है और उसके तीन प्रकार अक्सर बताये गये हैं,--कामतृष्णा, भवतृष्णा एवं विभवतृष्णा। तृष्णा मूलतः सुख की खोज और उसमें आसक्ति है। उसका जन्म प्रियरूप अथवा शातरूप में बताया गया है। तृष्णा में बंधे होने के कारण मनुष्य संसार के पार नहीं जा पाता। इस प्रसंग में बृहदारण्यक के वाक्य स्मरणीय हैं--'इसीलिए कहा गया है कि मनुष्य काममय ही है, तो जैसी कामना होती है, जैसा संकल्प होता है वैसा ही कर्म करता है, जैसा कर्म करता है वैसा ही बनता है।[७९] बुद्धघोष का कहना है कि अविद्या अथवा तृष्णा को मूल मानकर बुद्ध भगवान् संसार की उत्पत्ति बताते हैं[८०]। दोनों ही अनादि हैं, यद्यपि दोनों ही कारण परतन्त्र हैं। अविद्या और तृष्णा की सहकारिता से ही दुःख की उत्पत्ति होती है। तृष्णा के साथ छन्द का सम्बन्ध भी विचारणीय है। तृष्णा केवल इच्छा नहीं है। छन्द का अर्थ व्यापक है और उसमें समस्त संकल्प और एषणाएँ संगृहीत हैं, धर्मच्छन्द भी और कामच्छन्द भी। तृष्णा वस्तुतः केवल कामच्छन्द को कहना चाहिए। पूर्वशैलीय सम्प्रदाय मे यह माना जाता था कि धर्मतृष्णा अव्याकृत है और दुःख का कारण नहीं है[८१]। मज्झिमनिकाय में भी धर्मराग एवं धर्मनन्दी का उल्लेख मिलता है[८२]। नागार्जुन ने धर्मच्छन्द का भी निषेध किया है। प्राय. प्राचीन संदर्भों में तृष्णा को राग, छन्द, प्रेम, पिपासा और परिदाह के साथ समानार्थक माना है।

७८–दीघ० सुत्त १५; संयुत्त; निदानसंयुत्त, सुत्त, ३८, ६४, तु०--ऑरिजिन्स ऑव् बुद्धिज़्म, पृ० ४३८।

७९–बृ० उप० ४.४.५–६।

८०–विसुद्धिमग्गो, पृ० ३६८।

८१–कथावत्थु, १३.९–१०।

८२–मज्झिम (रो०) जि० १, पृ० ३५२।

उपादान तृष्णा के विषय का अभिनिवेशपूर्वक ग्रहण और समासक्ति है। भव को प्राय: तीन वर्गों में बाँटा गया है—कामभव, रूपभव एवं अरूपभव। भव से संसरण एवं लोक दोनों के अर्थ सूचित होते हैं।

फलितार्थ यह है कि द्वादशनिदानात्मक प्रतीत्यसमुत्पाद के क्रमिक निष्पादन में अनेक कारणशृंखलाओं का संयोग हुआ है। प्राचीन सन्दर्भों में कहा गया था कि दुःख का कारण अविद्या है, अथवा संस्कार है, अथवा नामरूप को ही दुःख का कारण बना दिया गया था। सुखसंवेदन, तृष्णा अथवा उपादान अलग-अलग भी दुःख के कारण कहे गये एवं इनमें से कुछ को जोड़ कर भी दुःखसमुदाय समझाया गया था। इस प्रकार दुःखसमुदाय से सम्बन्ध रखनेवाले संदर्भों में प्रतिपादित नाना निदानों के संग्रह और परिष्कार के द्वारा द्वादशार प्रतीत्यसमुत्पाद चक्र का निर्माण हुआ।

उत्तरकालीन व्याख्याएँ—उत्तरकाल में प्रतीत्यसमुत्पाद की विभिन्न व्याख्याएँ प्रस्तुत की गयीं। स्थविरवादी अभिधर्म में प्रतीत्यसमुत्पाद के अन्तर्गत कारणतासम्बन्ध के विमर्श के द्वारा एक नवीन और सूक्ष्मतर हेतुप्रत्ययवाद का प्रतिपादन हुआ। प्रतीत्य-समुत्पाद के विभिन्न निदानों के परस्पर प्रत्यय-सम्बन्ध समान नहीं हैं। उदाहरणार्थ, विज्ञान का नामरूप से अन्योन्यसम्बन्ध है जबकि जाति का जरामरण से पूर्वजात और उपनिश्रय संबंध है। परवर्ती अभिधम्मत्थ संग्रह (पृ० १४०) के शब्दों में 'प्रतीत्यसमुत्पाद-नय तद्भाव-भावि-भावाकार-मात्रोपलक्षित है। जबकि प्रस्थाननय प्रत्यस्थिति को दृष्टि में रखकर प्रवृत्त होता है। प्रतीत्यसमुत्पाद के विषय में यह निर्धारित किया गया कि अविद्या, तृष्णा, उपादान संस्कार और कर्म कर्मभव के अन्तर्गत हैं जबकि विज्ञान, नामरूप, षडायतन, स्पर्श और वेदना उपपत्तिभव के अन्तर्गत है। प्रतीत्यसमुत्पाद का तात्पर्य यही है कि एक जन्म का कर्मभव दूसरे जन्म के उपपत्तिभाव को व्यवस्थित करता है। पूर्वजन्म के कर्मभव के केवल दो अंग बारह निदानों में कहे गये हैं। वर्तमान जन्म के कर्मभव के पाँचों अंग कहे गये हैं। अगले जन्म के उपपत्तिभव की सूचना केवल जाति और जरामरण के उल्लेख से मिलती है। अविद्या को सम्यग्दृष्टि का आवरण बताया गया। संस्कार को 'चेतना' अथवा सकल्प, विज्ञान को इन्द्रियों से और मन से उत्पन्न तत्तद्विषय का ज्ञान एवं नामरूप को शेष चार स्कन्ध। भव को द्विविध कहा गया-कर्मभव और उपपत्तिभव (द्र० विसुद्धिमग्गो)।

सर्वास्तिवादी अभिधर्म में अविद्या को पूर्वक्लेश-दशा समझाया गया है और संस्कार को पूर्वकर्म। उस प्रकार पूर्व जन्म के क्लेश और कर्म के कारण उत्पन्न नयी चेतना विज्ञान कही गयी है। अगले ७ अंग गर्भ से प्रारम्भ करके व्यक्ति के पूर्ण विकास तक

सृजित करते हैं। तृष्णा यौवन-प्राप्ति की अवस्था को इंगित करती है; अन्तिम दो अंग अगले जीवन के हैं। बारहों अंग बराबर उपस्थित रहते हैं, केवल विभिन्न अवस्थाओं में उनमें प्राधान्य भेद होता है (द्र०-अभिधर्मकोश)।

सर्वास्तिवाद के अभिधर्म में भी प्रतीत्यसमुत्पाद का विलेवेचन हेतु प्रत्यय-विवेचन से पृथक् किया गया है। प्रतीत्यसमुत्पाद के चार प्रकार बताये गये हैं—क्षणिक, प्राकर्षिक, साम्बन्धिक और आवस्थिक। पहले प्रकार में यह निर्देश है कि प्रत्येक क्लिष्ट कर्म में ये समस्त अंग निष्पन्न होते हैं—मोह (अविद्या), चेतना (संस्कार), विज्ञान, उसके साथ संयुक्त अन्य स्कन्ध, इन्द्रियाँ, उनका विषयसम्पर्क, संवेदन, राग (तृष्णा), पर्यवस्थान (यथा अह्री आदि, अर्थात् उपादान), कर्म (भव), इन सब धर्मों का जन्म (जाति), उनका परिपाक (जरा), और उनका भंग (मरण)। इस व्याख्या के द्वारा समस्त क्लेशजीवन में प्रतीत्यसमुत्पाद की व्याप्ति सूचित होती है। प्रतीत्यसमुत्पाद को प्रबन्धयुक्त होने के कारण प्राकर्षिक कहा जाता है और हेतुफल-सम्बन्धयुक्त होने के कारण साम्बंधिक। पाँच स्कन्धों की अवस्थाओं की परम्परा होने के कारण उसे आवस्थिक कहा जाता है। संघभद्र के अनुसार अभिधर्म के आचार्यों का मत था कि बुद्ध भगवान् ने प्रतीत्यसमुत्पाद का इस अन्तिम रूप में ही उपदेश किया था।

महायान में प्रतीत्यसमुत्पाद का विकास दूसरी दिशा में हुआ। हीनयान अभिधर्म में प्रतीत्यसमुत्पाद के व्यावहारिक पक्ष का विश्लेषण हुआ और एक नवीन हेतु—प्रत्ययवाद ने क्रमशः उसको स्थानच्युत कर दिया। महायान में प्रतीत्यसमुत्पाद के पारमार्थिक पक्ष को प्राधान्य दिया गया। शालिस्तम्ब सूत्र में इस द्वादशनिदानात्मक प्रतीत्यसमुत्पाद की विस्तृत आलोचना की गयी है, किन्तु साथ ही महायान की दृष्टि का समावेश है। इस विवेचन को प्रतीत्यसमुत्पाद के महायानिक विकास का पूर्वरूप मानना चाहिए। नागार्जुन के मध्यमक-शास्त्र में इस विकास का पूर्ण रूप देखने में आता है जहाँ कि प्रतीत्यसमुत्पाद का शून्यता के साथ तादात्म्य स्थापित किया गया है। आर्यशालिस्तम्ब सूत्र में प्रतीत्यसमुत्पाद को धर्म और अनुत्तर धर्म-शरीर बुद्ध से अभिन्न माना है और प्रतीत्यसमुत्पाद को 'सतत-समित, निर्जीव, अजात, अमृत, अकृत, असंस्कृत, अप्रतिघ अनालम्बन, शिव, अभय, अनाहार्य, अव्यय एवं अव्युपशम-स्वभाव' कहा गया है। प्रतीत्यसमुत्पाद को द्विविध बताया गया है—बाह्य और आध्यात्मिक। एक अन्य विभाग भी प्रस्तुत किया गया है—हेतूपनिबन्ध और प्रत्ययोपनिबन्ध। हेतूपनिबन्ध बाह्य प्रतीत्यसमुत्पाद इस प्रकार है—'जैसे बीज से अंकुर, अंकुर से पत्र, पत्र से काण्ड, काण्ड से नाल, नाल से गंड, गंड से गर्भ, गर्भ से शूक, शूक से पुष्प पुष्प से फल। बीज

न होने पर अंकुर नहीं होता, यहाँ तक कि फूल न होने पर फल नहीं होता। बीज के होने पर अंकुर की अभिनिवृत्ति होती है—ऐसे ही फूल के रहने पर फल की। बीज यह नहीं सोचता कि मैं अंकुर को उत्पन्न करता हूं, अंकुर भी यह नहीं सोचता कि मैं बीज से उत्पन्न हुआ हूँ, किन्तु बीज के होने पर अंकुर का प्रादुर्भाव होता है, फूल के रहने पर फल का।' प्रत्ययोपनिबन्ध प्रतीत्यसमुत्पाद छः धातुओं के समवाय से सिद्ध होता है। ये छः धातुएँ हैं—पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश और ऋतु। "पृथ्वी-धातु बीज का संधारणकृत्य करती है, जल-धातु बीज को गीला करती है। तेजो धातु बीज को पचाती है, वायु बीज को बाहर निकालती है, आकाश बीज को अनावरण करता है, ऋतु भी बीज को परिपक्व करती है। इन प्रत्ययों के न रहने पर बीज से अंकुर उत्पन्न नही होता।" जब ये सब धातुएँ अविकल होती हैं तो उनके समवाय से बीज के निरुद्ध होते हुए अंकुर की उत्पत्ति होती है। पृथ्वी धातु को भी नहीं होता कि मैं बीज को संधारण करती हूँ, न अंकुर को कि मैं इन प्रत्ययों से जनित हूँ, किन्तु इन प्रत्ययों के रहते हुए बीज के निरुद्ध होते अंकुर की उत्पत्ति होती है। यह अंकुर न स्वयंकृत है, हैं न परकृत, न उभयकृत, न ईश्वर-निर्मित, न कालपरिणामित, न प्रकृतिसंभूत, न एककारणाधीन, और न अहेतु-समुत्पन्न। इस बाह्य प्रतीत्यसमुत्पाद को पांच कारणों से देखना चाहिए, अंकुर अन्य है, बीज अन्य है, अतएव यह शाश्वत नही है। बीज के विरुद्ध हो चुकने पर अंकुर की उत्पत्ति होती ही, ऐसा भी नहीं है। अतएव उच्छेद भी अनवकाश है। वस्तुतः जिस समय बीज निरुद्ध होता है उसी समय अंकुर उत्पन्न होता है। जिस प्रकार तराज के पलड़ों में एक का झुकना और दूसरे का उठना समकालीन हैं। संक्रान्ति भी नहीं समझनी चाहिए क्योंकि बीज से अंकुर विसदृश है। थोड़ा बीज बोया जाता है और विपुल फल उत्पन्न होते हैं, इसको अल्पहेतु से विपुल फल की उत्पत्ति मानना चाहिए। जैसा बीज बोया जाता है वैसा फल उत्पन्न होता है, यह तत्सदृशानुप्रबन्ध है।

हेतुपनिबन्ध आध्यात्मिक प्रतीत्यसमुत्पाद अविद्यादि जरामरणान्त द्वादश-निदान-परम्परा है। यहाँ पर भी कोई कोई निदान दूसरे को बोधपूर्वक उत्पन्न नहीं करता, किन्तु एक-दूसरे की उत्पत्ति का कारण मात्र सिद्ध होता है। प्रत्ययोपनिबन्ध आध्यात्मिक प्रतीत्यसमुत्पाद पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश और विज्ञान—इन छः धातुओं के समवाय से सिद्ध होता है। जो शरीर के कठिन भाव को उत्पन्न करती है वह पृथ्वी है, जो शरीर के अनुपरिग्रहकृत्य का संसाधन करती है वह जलधातु है, जो खाये-पीये को पचाती है वह तेजोधातु है, आश्वास-प्रश्वास का कृत्य वायुधातु से होता है। शरीर के अन्दर की सुषिरता आकाश से उत्पन्न होती है। जो पाँच विज्ञानों से संयुक्त सास्रव

मनोविज्ञान और नामरूप को उत्पन्न करती है वह विज्ञान -धातु कहलाती है। इन प्रत्ययों के न रहने पर शरीर की उत्पत्ति नहीं होती किन्तु इनके अविकल समवाय से होती है। पृथ्वीधातु न आत्मा है, न सत्व, न जीव, न जन्तु, न मनुज, न मानव, न स्त्री, न पुरुष, न नपुँसक, न मैं, न मेरा, न और किसी का। ऐसे ही शेष धातुओं में भी छः धातुओं की ऐक्य संज्ञा, पिडसंज्ञा, नित्यसंज्ञा, ध्रुवसंज्ञा, शाश्वतसंज्ञा, सुखसंज्ञा, आत्मसंज्ञा, सत्वसंज्ञा, जीव०, पुद्गलसंज्ञा, मनुजसंज्ञा, मानवसंज्ञा, अहंकारसंज्ञा, ममकारसंज्ञा तथा ऐसा ही विविध अज्ञान अविद्या कहलाता है। इस प्रकार अविद्या के रहने पर विषयों में राग, द्वेष, मोह प्रवृत्त होते हैं। यही संसार कहलाता है। वस्तु-प्रतिविज्ञप्ति विज्ञान कहलाता है। विज्ञान के साथ उत्पन्न होनेवाले चार अरूपी स्कन्ध नाम कहलाते हैं। चार महाभूत रूप हैं और उनका सहारा लेकर उत्पन्न होनेवाले रूप भी रूप है। दोनों मिलकर नामरूप कहलाते हैं। नामरूप में संनिश्रित इन्द्रियाँ षडायतन हैं। तीनों धर्मों का सन्निपात स्पर्श है। स्पर्श का अनुभव वेदना, वेदना का अध्यवसान तृष्णा, तृष्णा का वैपुल्य उपादान है। उपादान से उत्पन्न पुनर्जन्म का उत्पादक कर्म-भव है, भवहेतुक स्कन्धों का प्रादुर्भाव जाति है। उत्पन्न का स्कन्ध-परिपाक जरा, जीर्ण-स्कन्धों का विनाश मरण है, म्रियमाण सम्मूढ़ का अन्तर्दाह शोक है, शोक से उत्पन्न विलाप परिदेवन है। पाँच विज्ञान-कार्यों से संयुक्त असुख का अनुभव दुःख है। मानस दुःख दौर्मनस्य है। शेष उपक्लेश उपायास हैं। अथवा, तत्त्वों की अप्रतिपत्ति या मिथ्या प्रतिपत्ति अज्ञान या अविद्या है। अविद्या के रहने पर पुण्य, अपुण्य और आनेञ्ज्य गामी त्रिविध संस्कार उत्पन्न होते हैं। इनके अनुकूल विज्ञान होता है। नाम और रूप पाँच स्कन्ध हैं। नामरूप के बढ़ने से छः आयतनद्वारों मे नाना क्रियाएँ प्रवृत्त होती हैं ओर जानी जाती हैं। यही षडायतन है। इन आयतनों से छः स्पर्शवर्ग उत्पन्न होते हैं। जैसा स्पर्श होना है वैसी ही वेदना उत्पन्न होती है। वेदना का विशेषरूप से आस्वादन, अभिनन्दन, अध्यवसान तृष्णा है। सुख से वियोग न हो, वे बने रहें यह प्रार्थना उपादान है। प्रिय वस्तु की प्राप्ति के लिए कर्मभाव है और उससे स्कन्धों की उत्पत्ति होती है, उत्पन्न स्कन्धों का अन्ततः विनाश जरामरण है।

इस प्रकार यह द्वादशांग प्रतीत्यसमुत्पाद अन्योन्यहेतुक, अन्योन्यप्रत्यय, न अनित्य, न नित्य, न संस्कृत, न असंस्कृत, न अहेतुक, न अप्रत्यय, न वेदयिता, न अवेदयिना, न प्रतीत्य-समुत्पन्न, न अप्रतीत्यसमुत्पन्न, न क्षयधर्म, न अक्षयधर्म, न विनाशधर्म, न अविनाशधर्म, न निरुद्धधर्म, न अनिरुद्धधर्म, अनादि काल से प्रवृत्त नदी की धारा के समान चलता जाता है। यद्यपि यह नदी की धारा के समान अविच्छिन्न है तथापि इसमे चार अग

विशेष रूप से हेतु बनते है। वे चार ये हैं—अविद्या, तृष्णा, कर्म और विज्ञान। विज्ञान बीजस्वभाव से हेतु होता है, कर्म क्षेत्र-स्वभाव से, अविद्या और तृष्णा क्लेश-स्वभाव से। कर्म और क्लेश विज्ञान के बीज को उत्पन्न करते हैं। कर्म विज्ञान के बीज के लिए क्षेत्र का कार्य करता है, तृष्णा विज्ञान के बीज को गीला करती है, अविद्या विज्ञान के बीज का अविकिरण करती है। इस प्रकार विज्ञानबीज कर्मक्षेत्र में प्रतिष्ठित, तृष्णास्नेह से अभिष्यंदित, एवं अविद्या से अवकीर्ण होकर बढ़ता है। विभिन्न उपपत्त्यायतन-प्रतिसंधि में मातृगर्भ में विज्ञान-बीज से नामरूप का अंकुर उत्पन्न होता है। यह नामरूपांकुर न स्वयंकृत है, न परकृत, न उभयकृत, न ईश्वरकृत, न कालपरिणामित, न एक कारणाधीन और न अहेतुसमुत्पन्न, प्रत्युत माता-पिता के संयोग से, ऋतु-समवाय से, अन्य प्रत्ययों के समवाय से, आस्वादानुविद्ध विज्ञानबीज मातृगर्भ में·····अस्वामिक, अपरिग्रह, अमम, आकाशसम मायिक धर्मों में हेतुप्रत्ययों के अवैकल्य के कारण नामरूपांकुर को उत्पन्न करता है।

पाँच कारणों से चक्षुर्विज्ञान उत्पन्न होता है। चक्षु, रूप, आलोक, आकाश एवं तज्जन्य मनोविकार। इन पाँच प्रत्ययों में चक्षु आश्रयकृत्य करती है, रूप आलम्बन, आलोक अवभास, आकाश अनावरण और तज्जन्य मनोविकार समन्वाहरण। ऐसे ही अन्य इंद्रियों के लिए भी विचारणीय है। कोई धर्म इस लोक से परलोक को संक्रमण नहीं करता, केवल हेतुप्रत्ययों के अवैकल्य के कारण कर्म फल की प्रतिविज्ञप्ति होती है—जैसे सुपरिशुद्ध दर्पण में मुख का प्रतिबिम्ब देखते हैं, किन्तु मुख उसमें संक्रमण नहीं करता, केवल हेतुप्रत्ययों के अवैकल्य के कारण मुख की प्रतिविज्ञप्ति होती है। ऐसे ही इस लोक में मरा कहीं और उत्पन्न नहीं होता, केवल कर्मफल का भोग होता है। जैसे बहुत दूर से चन्द्रमा का बिम्ब अल्प-उदक पात्र में प्रतिबिम्बित होता है, ऊपर से नीचे गिरता नहीं है, ऐसे ही।

आध्यात्मिक प्रतीत्यसमुत्पाद में भी अशाश्वत, अनुच्छेद, असंक्रांति, अल्पहेतु से विपुल फल की उत्पत्ति और तत्सदृशअनुप्रबन्ध देखना चाहिए। इस प्रकार जो प्रतीत्यसमुत्पाद को समझता है वह पूर्वान्त और अपरान्त का अन्वेषण नहीं करता और लोकप्रचलित समस्त आत्मवाद-प्रतिसंयुक्त जीववाद-प्रतिसंयुक्त, कौतुक-मंगल-प्रतिसंयुक्त समस्त दृष्टियाँ उसकी क्षीण हो जाती हैं[८३]।

८३—शालिस्तम्बसूत्र से विपुल उद्धरण, चन्द्रकीर्ति की प्रसन्नपदा तथा शान्तिदेव के शिक्षासमुच्चय में उपलब्ध होते हैं।

नागार्जुन ने प्रतीत्यसमुत्पाद को शून्यता के साथ अभिन्न बताया। 'जो प्रतीत्यसमुत्पाद है उसे ही हम शून्यता कहते हैं, वही उपाय है, वही प्रज्ञप्ति है, वही मध्यमा प्रतिपद् है।'[८४] शून्यता स्वभावानुत्पत्ति-लक्षण है। गौडपाद ने इसी सिद्धान्त को इस प्रकार समझाया है 'जैसे मायिक बीज से मायिक अंकुर उत्पन्न होता है, जो न नित्य है, न उच्छेद-धर्मा, ऐसे ही सब धर्मों को समझना चाहिए। सब धर्मों के अज होने पर उनके शाश्वत अथवा अशाश्वत होने की बात नहीं कही जा सकती। जहाँ शब्दों की प्रवृत्ति नही है, वहाँ विभेद नहीं किया जा सकता[८५]।

निर्वाण

प्रतीत्यसमुत्पाद और निर्वाण—भगवान् बुद्ध ने अनुत्तर-शान्ति-पद की खोज में घर-बार छोड़ा और उनकी खोज तब पूरी हुई जब उन्होंने सम्बोधि में गम्भीर, शान्त, उत्तम और अतर्कावचर धर्म प्राप्त किया। इस धर्म को द्विविध वर्णित किया गया है—प्रतीत्यसमुत्पाद और निर्वाण[८६]। प्रतीत्यसमुत्पाद, इदम्प्रत्ययता अथवा मध्यमा प्रतिपद् अनित्य संस्कारो के प्रवाहरूप संसार को परतन्त्र और सापेक्ष सूचित करती है तथा परमार्थ को अन्त-विवर्जित एवं अनिर्वचनीय। निर्वाण अर्थात् 'बुझ जाने' से ससार का निरोध एवं सत्य की प्राप्ति सूचित होती है। प्रतीत्यसमुत्पाद 'धर्म' को नियम और सीमा के रूप में संकेतित करता है, निर्वाण विमुक्ति और भूमा के रूप में। प्रतीत्य-समुत्पाद में संसार का गंभीरतम 'लक्षण' (और परमार्थ की 'अलक्षणता') प्रकाशित होती है, निर्वाण में आध्यात्मिक जीवन का लक्ष्य।

निर्वाण–अतर्क्य और नित्यसत्य—सम्बोधि के सन्दर्भ में निर्वाण को अतर्क्य धर्म कहा गया है और उसका वर्णन किया गया है—"सर्व-संस्कार-शमथ, सर्वोपधि-प्रति-निस्सर्ग, तृष्णा-क्षय, विराग, निरोध।" संसार जात, भूत, समुत्पन्न, कृत, संस्कृत और अध्रुव है।" उसका "निस्सरण है शान्त, अतर्कावचर, ध्रुव, अजात, असमुत्पन्न, अशोक, विरज पद।"[८७]। ये विशेषण उपनिषदों के आत्म-वर्णन की प्रतिध्वनि सुनाते हैं, यथा

८४–तु०—वैद्य, बौद्धागमार्थ संग्रह, पृ० १९४ प्र० मध्यमक० २४.१८।

८५–गौडपाद, माण्डूक्यकारिका, ४.५९–६०।

८६–उदा०, संयुत्त (रो०) जि० २, पृ० १०५–६।

८७–इतिवुत्तक, सुत्त ४३।

'विरजः पर आकाशादज आत्मा महान् ध्रुवः'[८८] अथवा, 'नैषा तर्केण मतिरापनेया'[८९]। संसार अनित्य होने के कारण मिथ्या है, निर्वाण नित्य और सत्य है। "तंहि मुसा यं मोसधम्मं तं सच्चं यं अमोसधम्मं निब्बानं।'[९०] इसी वचन को नागार्जुन और चन्द्रकीर्ति ने उद्धृत किया है—'तन्मृषा मोषधर्म यद्भगवानित्यभाषत। सर्वे च मोषधर्माणः संस्कारास्तेन ते मृषा'[९१]। 'एतद्धि खलु भिक्षवः परमं सत्यं यदिदममोषधर्म निर्वाणं सर्वसंस्काराश्च मृषा मोषधर्माण इति'[९२]। यह स्मरणीय है कि शांकरवेदान्त में भी निर्विकारता सत्य का लक्षण है[९३]। निर्वाण परम-सत्य है, अनन्यथाभावि, अच्युत, अमृत, अत्यन्त, अप्रमाण, अचिन्त्य। अनन्त और अचिन्त्य अमृत पद उपनिषदों में सुपरिचित है। यो वैभूमा तदमृतं यदल्पं तन्मर्त्यम्[९४]।

निर्वाण–प्रपञ्चोपशम—अनेक प्राचीन सन्दर्भों में निर्वाण को अप्रपञ्च, निष्प्रपञ्च, प्रपञ्चनिरोध, अथवा प्रपञ्चव्युपशम कहा गया है[९५]। प्रपञ्च शब्द उपनिषदों मे मिलता है, किन्तु विरल है[९६]। इसके अर्थ प्रायः नाम-रूप के सदृश थे। निर्वाण में समस्त प्रपञ्च का अतिक्रमण हो जाता है। 'यत्थ आपो च पठवी तेजो वायो न गाधति॥ न तत्थ सुक्का जोतन्ति आदिच्चो न प्पकासति॥ न तत्थ चन्दिमा भाति तमो तत्थ न विज्जति॥ यदा च अत्तना वेदि मुनि सो तेन ब्राह्मणो॥ अथ रूपा अरूपा च सुख-दुःक्खा

८८–बृ० उप० ७.२.२३—आत्मा निर्मल, आकाश से परे, अज, महान्, ध्रुव है।"

८९–कठ० १.२.९—"यह ज्ञान तर्क-सुलभ नहीं है।"

९०–मज्झिम (रो०) जि० ३, पृ० २४५—"जो नश्वर है वह मिथ्या है, अनश्वर निर्वाण ही सत्य है।"

९१–मध्यमक० १३.१—"भगवान् ने कहा है कि जो विनश्वर है वह मिथ्या है, संस्कार एक विनश्वर है, अतः वे मिथ्या हैं।"

९२–"भिक्षुओं, यह अविनाशी निर्वाण ही परम सत्य है, सब संस्कार विनाशी मिथ्या है।" (चन्द्रकीर्ति का उद्धरण)।

९३–द्र०—शांकरभाष्य, ब्र० सू० २.१.११ पर तथा गीता, २.१६ पर।

९४–छा० उप० ७.२४।

९५–द्र०—ऑरिजिन्स ऑव् बुद्धिज़्म, पृ० ४७४, पाद टि० १६०।

९६–श्वेताश्वतर, ६.६, माण्डूक्य ७.१२।

पमुच्चति' ।।[९७] यह समस्त लोक से निराली 'अपने से जानने' की अवस्था उपनिषदों में वर्णित आत्मज्ञान अथवा 'अपने को जानने' से तुलनीय है। 'न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्र-तारकं, नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्नि.[९८]। यह अवस्था अनिर्वचनीय है—

'यत्थ आपो च पठवी तेजो वायो न गाधति ।
अतो सरा निवत्तन्ति एत्थ वट्टं न वट्टति ।

एत्थ नामं च रूपं च असेसमुपरुज्झति ।[९९] इससे तुलनीय है तै० उप० (२ ९) की उक्ति—'यतो वाचो निवर्तन्ते'—अर्थात् जहाँ से वाणी निवृत्त हो जाती है'।

निर्वाण—परम निःश्रेयस—निर्वाण अशेष साधना का लक्ष्य है। 'अमतोगाधा सब्बेधम्मा', 'निब्बानोगाधं ब्रह्मचरियं।' निर्वाण को 'प्राप्तव्य', साक्षात्कर्त्तव्य कहा गया है। वह अनुत्तर, उत्तम, परम है। वस्तुतः वही एषणीय है, वही वास्तविक प्रयोजन है। इसीलिए निर्वाण को अर्थ, निपुणार्थ, परमार्थ, उत्तमार्थ कहा गया है। यह स्मरणीय है कि उपनिषदों में भी निःश्रेयस के लिए अर्थ शब्द का प्रयोग मिलता है, यथा 'हीयतेऽर्थाद्य उ प्रेयो वृणीते' (कठ०) 'कृतार्थो भवते वीतशोकः' (श्वेत०)। निर्वाण को अनुत्तर योग-क्षेम भी कहा गया है (मज्झिम (रो०) १.१६३ इत्यादि)। उपनिषदों मे उस 'पार' की उपमा अनेक बार आयी है—'शोकस्य पारं—' (छा० ७.१३), तमसः पारं—', 'अभयस्य पारं—', 'अभयं तितीर्षतां पारं—'(मुण्डक०२. २.६)। निर्वाण को भी बहुधा संसार का 'वह पार' कहा गया है, यथा संयुक्त० (रो०) ४.१७५ इत्यादि।

निर्वाण—परम-सुख—निर्वाण में निश्शेष संस्कारों का उपशम हो जाना है और इस कारण उसे शान्त अथवा शान्ति-पद कहा गया है। यही नहीं, इस उपशम को

९७—उदान, सुत्त १०, "जहाँ जल, पृथ्वी, तेज, वायु की पहुँच नहीं है, वहाँ तारकादि द्योतित नहीं होते, न आदित्य प्रकाशित होता है, न वहाँ चन्द्रमा चमकता है, वहाँ अन्धेरा नहीं है, जब मुनि स्वयं अपने से जानता है, वह रूप और अरूप, सुख और दुःख से मुक्त हो जाता है।"

९८—कठ० २.५.१५—"न वहाँ सूर्य चमकता है, न चाँद-तारे, ये बिजलियाँ नहीं चमकतीं, यह अग्नि कहाँ से (चमकेगी) ?"

९९—संयुत्त (रो०) जि० १, पृ० १५—"जहाँ पृथ्वी, जल, तेज, वायु की पहुँच नहीं है, वहाँ से शब्द निवृत्त हो जाते हैं, वहाँ 'गति' नहीं है, वहाँ अशेष नाम-रूप निरुद्ध हो जाते हैं।"

सुख कहा गया है। निर्वाण को साक्षात् भी परम अथवा अचल सुख कहा गया है।[१००]। 'एतं खो परमं ञाणं एतं सुखमनुत्तमंम्—'[१०१]। विभाषा में सूत्र उद्धृत किया गया है—"मार्ग-सुख से निर्वाण सुख प्राप्त होता है।"[१०२]। महायानी आचार्यों ने भी निर्वाण को सुख-रूप माना है—'अनपायसुखैकरसं शिवम्'[१०३]। किन्तु इस सुख को सुख-संवेदन न समझना चाहिए।' भगवान् ने केवल सुख वेदना को ही सुख में नहीं बताया है, अपितु जहाँ-जहाँ सुख उपलब्ध होता है सबको सुख में बताया है[१०४]। इस विलक्षण सुख की चर्चा उपनिषदों में भी है, यथा 'तदेतदिति मन्यन्तेऽनिर्देश्य परमं सुखं—' (कठ० २.५. १४)। पूसें महोदय ने कहा है कि यह निराला सुख जो कि संवेदन-व्यतीत है, कम-से-कम पाश्चात्य जिज्ञासुओं के लिए नितान्त दुर्बोध है! किन्तु पश्चिम में भी "बोधातीत शान्ति" की बात सुविदित रही है।

निर्वाण-मुक्ति—प्रज्ञा के द्वारा चेतोविमुक्ति का लाभ होता है। 'चित्त विमुक्त होता है, विमुक्त होने पर 'विमुक्त हुआ' यह बोध होता है, "जन्म क्षीण हो गया, ब्रह्म-चर्य पूरा हो गया, कर्तव्य कर लिया अब और संसार शेष नहीं है," यह समझ लेता है[१०५]। ज्ञान के द्वारा आस्रवों के क्षीण होने पर अकुप्पा, अनुत्तरा विमुक्ति प्राप्त होती है। यही अर्हत्व का लाभ है। आस्रवों का पहला वर्गीकरण कदाचित् त्रिविध था—कामास्रव, भवास्रव और अविद्यास्रव। शीघ्र ही इनके अतिरिक्त एक चौथा दृष्ट्यास्रव भी जोड़ा गया। विमुक्ति की अवस्था राग, द्वेष और मोह के क्षय की है और इसे अमृतत्व कहा गया है[१०६]। यहाँ सब गाँठें खुल जाती है, एषणाओं का क्षय हो जाता है, बन्धन टूट जाते हैं। इस विराग और विसंयोग, निरोध और विमुक्ति की दशा को निर्वाण-स्थानीय माना गया है। विमुक्ति को विद्या का प्रतिभाग कहा गया है, और निर्वाण को विमुक्ति

१००—मज्झिम (रो०) जि० १,५०८, दीघ (रो०) जि० २, पृ० ९४?
१०१—अंगुत्तर (रो०) जि० ३, पृ० ३५४—("यहाँ परमज्ञान है, यही अनुत्तम सुख है।
१०२—अभिधर्मकोश, जि० ४, पृ० १२७, पाद टि० ३।
१०३—चन्द्रकीर्ति, मेम० एशियाटिक सोसायटी, ३.४७६।
१०४—मज्झिम (रो०) जि० १, पृ० ४००।
१०५—द्र०—ऑरिजिन्स ऑव् बुद्धिज़म, पृ० ४५९–६०।
१०६—संयुत्त० (रो०) जि० ५, पृ० ८।

का प्रतिसरण[107]। अन्यत्र विमुक्ति को स्मृति का प्रतिसरण कहा गया है और निर्वाण को विमुक्ति का[108]। ऊपर निर्दिष्ट वर्णन उपनिषदों के मोक्षपरक वाक्यों का स्मरण दिलाता है—

'सर्वगुहाग्रन्थिभ्यो विमुक्तोऽमृतो भवति'[109]। 'यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते। कामा येऽस्य हृदि स्थिता। अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते ॥'[110]। 'विद्यया तदारोहन्ति यत्र कामाः परागताः'[111]।

निर्वाण में आस्रव, एषणाएं, राग-द्वेष-मोह, संयोजन, तृष्णा, कर्म, भव, नाम-रूप, संस्कार, उपधि, आदि अशेष का निरोध हो जाता है। समासतः जन्म-मरण की परम्परा अविद्या, क्लेश और कर्म पर आश्रित है। विद्या से क्लेश क्षीण हो जाता है। इस प्रकार संसार-चक्र का निरोध हो जाता है। साधारणतः इसे ही निर्वाण कहा गया है। चन्द्रकीर्ति के शब्दों में "तथागत का शासन और उसके धर्मानुधर्म की प्रतिपत्तिपूर्वक जिन पुरुषों ने ब्रह्मचर्यवास किया है उनको भगवान् ने दो प्रकार का निर्वाण बताया है, सोपधिशेष और निरुपधिशेष। निरवशे . अविद्या, राग आदि क्लेश-गण के प्रहाण से सोपधिशेष निर्वाण होता है।—उपधिश [illegible] आत्म-प्रज्ञप्ति के निमित्त पाँच उपादान-स्कन्ध कहे जाते हैं। जिस निर्वाण में स्कन्ध मात्र भी शेष नहीं रहते वह निरुपधिशेष निर्वाण है"[112]।

निर्वाण और निरोध—प्रश्नोपनिषद् में (१.१०) निरोध अपुनरावृत्ति के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। छान्दोग्य में (८.६) कहा गया है कि अज्ञानियों के लिए जो निरोध है वही ज्ञानी के लिए प्रपदन है। वस्तुतः निरोध अथवा निर्वाण केवल विनाश को सूचित नहीं करता। प्राचीन संदर्भ में आग का बुझना आग का नाश नहीं, किन्तु उसका अपने मूल-प्रभव में फिर से लय माना जाता था। श्वेताश्वतर में (१.१३) कहा गया है कि "जैसे अपने जन्मस्थान में लीन वह्नि का मूर्तरूप नहीं देखा जाता,

१०७–मज्झिम (रो०) १.३०४।
१०८–संयुत्त० (रो०) ५.२१८।
१०९–मुण्डक० ३.२.९—"सब बुद्धि की गाँठों से मुक्त, अमर हो जाता है।"
११०–कठ० ६.१४—"जब मर्त्य की हृदयस्थित सब कामनाएँ छूट जाती हैं तो वह अमर हो जाता है, यहाँ ब्रह्मप्राप्ति करता है।"
१११–शतपथ० जि० २, ११११, (अच्युतग्रन्थमाला)।
११२–प्रसन्नपदा, मध्यमक०, पृ० ५१९।

किन्तु साथ ही उसके सूक्ष्मरूप का नाश नहीं होता—इत्यादि।" मैत्रायणीय आरण्यक (६.३४.१) में कहा गया है कि "जैसे ईंधन के अभाव में अग्नि अपनी योनि में उपशान्त हो जाती है, ऐसे ही वृत्तियों के क्षय से चित्त अपनी योनि में उपशान्त हो जाता है।" कठोपनिषद् में (२.५.९) कहा गया है जैसे एक ही अग्नि विश्व में प्रविष्ट नाना रूपों में प्रकट होती है ऐसे ही एक ही अन्तरात्मा सब जीवों में विभिन्न रूप से प्रकट होती है। इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि उपनिषदों में यह माना जाता था कि अग्नि का एक सूक्ष्म, व्यापक रूप है जो अदृश्य है और एक जाज्वल्यमान प्रकट रूप है, जो बुझने पर संहृत हो जाता है और अग्नि फिर से अपने मूल में लीन हो जाती है। आत्मा और चैतन्य के विषय में भी ऐसी ही धारणा थी कि इनकी संसार में नाना अभिव्यक्ति होती है। जब इस नानात्व और बाह्य अभिव्यक्ति के कारणभूत अज्ञान एवं काम और कर्म समाप्त हो जाते हैं तो आत्मा अथवा चैतन्य की ज्योति भी अपना संसार में प्रकट रूप छोड़कर मूल परमरूप धारण कर लेती है। इस प्रसंग में निरोध अथवा निर्वाण नाश का सूचक नहीं है, किन्तु व्यक्तरूप छोड़कर मूलरूप धारण करना द्योतित करता है। वस्तुतः आग के बुझने का दृष्टान्त इस प्रसंग में आधुनिक दृष्टिभेद के कारण प्रायः ठीक नहीं समझा गया है। वत्सगोत्र नाम के परिव्राजक ने भगवान् बुद्ध से पूछा था—"गौतम, विमुक्त-चित्त भिक्षु कहाँ जन्म ग्रहण करते हैं?" "वत्स, जन्म ग्रहण करते हैं यह नहीं कहा जा सकता।" "तो क्या गौतम, जन्म नहीं ग्रहण करते।" "जन्म नहीं ग्रहण करते, वत्स, यह भी नहीं कहा जा सकता।"[११३] इस संलाप से वत्सगोत्र के चित्त में व्यामोह उत्पन्न हुआ और उसका निवारण करते हुए तथागत ने कहा, "जो यह हमारे सामने आग बुझती है यह आग यहाँ से किस दिशा को गयी···। ऐसे ही जिस रूप से तथागत को संकेतिक किया जा सके, वह रूप तथागत का प्रहीण हो गया और उनके विषय में यह नहीं कहा जा सकता कि उनका जन्म होगा अथवा नहीं।" उपसीवमाणवपृच्छा में यह कहा गया है "जैसे आग की लपट वायुवेग से बिखरने पर अस्तंगत हो जाती है और उसका पता नहीं चलता ऐसे ही नामकाय से (=नाम-रूप में) विमुक्त होने पर मुनि भी अस्तंगत हो जाता है और उसका पता नहीं चलता।" "अस्तंगत होने पर वह रहता है या नहीं रहता यह ठीक समझाइये", यह पूछे जाने पर तथागत ने कहा, "अस्तंगत का कोई प्रमाण (नाम, सीमा) नहीं है। जिससे उसके बारे में कहा जाय, वह नहीं है। सब धर्मों के निराकृत

११३—मज्झिम ना०, हि० २, पृ०, १८०।

होने पर समस्त वचनपथ भी निराकृत हो जाते हैं।[११४] इन संदर्भो से स्पष्ट है कि अग्नि के बुझने की प्राचीन बौद्ध धारणा उपनिषदों के समान थी[११५] और अतएव यह मानना उचित होगा कि निरोध अथवा निर्वाण का निरन्वय विनाश के अर्थ में तथागत ने प्रयोग नहीं किया था अपितु संसार के अवसान और एक मूल अनिर्वचनीय पद की प्राप्ति की सूचना के लिए किया था। इस प्रसंग में बुद्ध के द्वारा उच्छेदवाद का प्रसिद्ध निराकरण स्मरणीय है। यदि निर्वाण की प्राप्ति में औपनिषद शाश्वतवाद नही देखना चाहिए तो साथ ही उसमें प्रचलित उच्छेदवाद भी नहीं देखना चाहिए। निर्वाण की प्राप्ति के बाद शाश्वत बना रहना इसलिए नही कहा जाता क्योंकि बने रहने का जागतिक अर्थ नामरूप से सीमित है। नामरूप संसार के साथ निवृत्त हो जाता है, अतएव जैसी सत्ता को हम संसार में प्रचलित मानते हैं वैसी सविशेष सत्ता निर्वाण में नहीं रहती। दूसरी ओर परिनिर्वृत्त तथागत का उच्छेद सर्वथा निराकृत है। शाश्वत और उच्छेद, सत् और असत् में न समाता हुआ निर्वाण अनिर्वचनीय पद है जिसे समझने के लिए अन्य अन्तग्राहिणी दृष्टियों को छोड़ मध्यमा प्रतिपद का स्वीकार आवश्यक है। श्री रामकृष्ण परमहंस ने इस विषय पर कहा था कि बुद्ध भगवान् स्वरूप-बोध की अवस्था में पहुँचे थे जहाँ सत् और असत् शब्दों का प्रयोग नहीं किया जा सकता, क्योंकि अस्तित्व और नास्तित्व प्रकृति के गुण हैं और स्वरूपबोध प्रकृति के परे।[११६] इस प्रसंग में महाभारत के शान्तिपर्व में भरद्वाज और भृगु में आग बुझने पर विवाद स्मरणीय है। उच्छेदवादी दृष्टि से भारद्वाज की उक्ति थी कि अनिन्धन, शान्त अग्नि को मैं नष्ट हुआ ही मानता हूँ क्योंकि उसकी गति, प्रमाण अथवा संस्थान कहीं नहीं उपलब्ध होते," किन्तु भृगु उन्हें समझाते हैं कि अग्नि बनी रहती है यद्यपि उसका रूप अप्रत्यक्ष और सूक्ष्म हो जाता है।[११७]

वस्तुतः निर्वाण को केवल विनाश अथवा अभाव मानने का दुराग्रह इस विश्वास पर आधारित है कि बुद्ध भगवान् ने आत्मा का सर्वथा निराकरण किया एवं अनित्य

११४–खुद्द ना०, सुत्त निपात, जि० १, पृ० ४३०।

११५–तुलनीय—"यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय।
तथा विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्॥"
(मुण्डक, ३.२.८)

११६–रामकृष्णकथामृत, ३.२८०।

११७–महाभारत, शान्तिपर्व, १८७.३–६।

संस्कार-प्रवाह के अतिरिक्त जीवन में और कोई स्थिर सत्य स्वीकार नहीं किया। यदि ऐसा है तो अवश्य ही संसार के प्रवाह का निरोध सर्वथा उच्छेद से अविभाज्य है और यह मानना होगा कि समस्त अनुभव और जगत् केवल एक दुःख-प्रवाह है जो कि निर्वाण में बन्द हो जाता है। किन्तु यदि यही अशेष सत्य है तो शाश्वत के साथ-ही-साथ उच्छेद का निराकरण क्यों किया गया, और निर्वाण में, जैसा कि ऊपर दिखलाया गया है, नित्य, अनन्त और अनिर्वचनीय शान्ति एवं सुख क्यों कहा गया? सच यह है कि निर्वाण में प्रपंच का उपशम हो जाता है और उसके साथ वाणी की शक्ति का। किन्तु यह नहीं समझना चाहिए कि समस्त आध्यात्मिक साधना उच्छेद में समाप्त हो जाती है। निर्वाण का स्वरूप तर्कगम्य न होते हुए भी उसकी परमार्थता निर्विवाद है। निर्वाण में दुःख का अन्त हो जाता है, किन्तु सब कुछ का अन्त नहीं होता। उपनिषदों के ब्रह्मवाद से यहाँ एक मुख्य भेद यह है कि ब्रह्म को उपनिषदों में प्रायः सद्रूप कहा है। दूसरी ओर निर्वाण अभावरूप न होते हुए भी भावरूप नहीं कहा जाना चाहिए। किन्तु यह भेद वस्तुतः प्रतिपादन की शैली का भेद है, क्योंकि उपनिषदों में भी ब्रह्म अथवा आत्मा की सत्ता निर्विशेष है एवं नामरूप से मुक्त है और इस कारण द्वैत-विदित साधारण सत्ता से नितान्त भिन्न है। इससे अधिक महत्त्वशाली भेद यह है कि उपनिषदों में ब्रह्म को जगत् का कारण बताया गया है। निर्वाण को केवल साधना के लक्ष्य के रूप में ही संकेतित किया गया है, किन्तु यहाँ पर भी यह स्मरणीय है कि पिछले शांकर वेदान्त में ब्रह्म का जगत्-कारणत्व केवल तटस्थ लक्षण रह गया है और इस प्रकार वेदान्त एवं सद्धर्म में विभाजक-रेखा प्रतनु हो गयी है। गौडपाद के आगम-शास्त्र में देखने से इन दोनों का सादृश्य अनिवार्य रूप से प्रकट हो जाता है। किन्तु प्राचीन उपनिषदों एवं बौद्ध संदर्भों में जगत् का मिथ्यात्व बीजरूप से सूचित होने पर भी स्पष्ट प्रतिपादित नहीं है, और इसलिए उपनिषदों के ब्रह्म का जगत्-कारणत्व उसे केवल प्रपंचोपशम-रूप निर्वाण से विभाजित करता है।

आत्मा—निर्वाण का विचार आत्मा, पुरुष अथवा पुद्गल के विचार के बिना पूरा नहीं हो सकता। आपाततः नाना पुरुष संसरण करते हुए दुःख अनुभव कर रहे हैं एवं निर्वाण की खोज करते हैं। इन संसारियों का स्वरूप क्या है, एवं कौन निर्वाण को प्राप्त करता है और निर्वाण की प्राप्ति के पश्चात् उसका क्या होता है, इन प्रश्नों का उत्तर देना आवश्यक है। अनेक विद्वानों ने यह कहा है कि भगवान् बुद्ध ने अपने समय में प्रचलित आत्मवाद का खंडन किया एवं संसारी को संसरण प्रवाह में निमग्न कर

दिया।[११८] इसके प्रतिकूल कुछ विद्वानों ने यह कहा है कि इस प्रकार का नैरात्म्य-वाद परवर्ती भिक्षुओं और आचार्यों की बुद्धि की उपज है। तथागत ने केवल अनात्मभूत तत्त्वों में आत्मा के न देखने का उपदेश दिया था; आत्मा का सर्वथा तिरस्कार नहीं।[११९] नागार्जुन का कहना है कि विशेष अभिप्राय से तथागत ने आत्म-वाद अथवा अनात्मवाद दोनों का उपदेश किया, किन्तु उनका वास्तविक अभिप्रेत यह था कि न आत्मवाद तात्त्विक है, न अनात्मवाद। दोनों ही कोटियों के परे अनिर्वचनीय रूप से सत्य प्रतिष्ठित है।[१२०]

प्राचीन पालि साहित्य में अज्झत्त, पच्चत्त, अत्तभाव, पहितत्त, भावितत्त आदि शब्दों में अत्ता का विशिष्ट उपयोग मिलता है। "अज्झत्त" परवर्ती काल में 'बाह्य' का प्रतियोगी मात्र रह गया था, किन्तु प्राचीनतर कुछ स्थलों में अज्झत्त के साथ उपा-देयता और कल्याण की भावना सम्बद्ध थी। अज्झत्त-चिन्ती, अज्झत्तरतो, अज्झ-त्तचित्त, इन प्रयोगों में स्पष्ट ही बाह्य जगत् से एक ऊँचे स्तर को आध्यात्मिक कहा गया है। "अज्झत्त सुखं अनुयुञ्जेय्य"[१२१] अथवा "अज्झत्तं जलयामि जोतिं"।[१२२] इन प्रयोगों में भी आध्यात्मिकता केवल आन्तरिकता नहीं है। ऐसे ही "पच्चत्तमेव ञाण", "पच्चत्तवेदनीय" आदि प्रयोगों से साधारण लौकिक चित्त के द्वारा बाह्य वस्तुओं के ज्ञान से परे का ज्ञान विवक्षित है। यह सच है कि 'पहितत्त' और 'भावि-तत्त' में अत्ता चित्त के अर्थ में प्रयुक्त हुआ माना जा सकता है। एवं 'अत्तभाव' का प्रयोग व्यक्तिविशेष के रूप में उपपत्तिलाभ सूचित करता है। 'अत्तभाव' पिछले कर्म का फल था और व्यक्तित्व का भौतिक रूप उसमें संगृहीत था। 'अत्तभाव' स्पष्ट ही आत्मा नहीं है, प्रत्युत आत्मा का योनि-विशेष में देहपरिग्रह है।[१२३] इसके विप-रीत संयुक्त-निकाय के कोसल-संयुत्त में अत्ता को प्रियतम कहा गया है और यह

११८–उदा०, राइज़डेविड्स, अमेरिकन लेक्चर्स, पृ० ३६–४१, श्चेरबात्स्की, सेंट्रल कन्सेप्शन ऑव् बुद्धिज्म, पृ० ७३, इत्यादि।

११९–श्रीमती राइज़डेविड्स, "शाक्य", "बुद्धिज्म", "व्हाट वॉज दि आरिजिनल गॉस्पेल" इत्यादि।

१२०–मध्यमक०, १८.६।

१२१–मज्झिम (रो०) ३,२३०।

१२२–संयुत्त (रो०) १.१६९।

१२३–'अत्तभाव' पर द्र०—ऑरिजिन्स ऑव् बुद्धिज्म, पृ० ४८६–८७।

कहा है कि 'अत्तकाम' हिंसा नहीं करता। आत्मा की श्रेष्ठता और आत्मकामता की श्रेष्ठता का रानी मल्लिका के द्वारा अभिधान और तथागत के द्वारा उसका समर्थन बृहदारण्यक के याज्ञवल्क्य-मैत्रेयी-संवाद की याद दिलाता है, जहाँ यह कहा गया है 'आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति।" याज्ञवल्क्य का इससे निष्कर्ष यह था, "आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः"। तथागत ने भी विनय में भद्रवर्गीय तरुणों का उपदेश दिया "अत्तानं गवेसेप्याथ।"[१२४] ऐसे ही 'धम्मपद' में कहा गया है कि 'अन्धकारेण ओनद्धा प्रदीप न गवेस्सथ।"[१२५] एवं अनेक स्थलों पर 'अत्तदीपाविहरथ', यह उपदेश पाया जाता है। इसके साथ बृहदारण्यक का वाक्य तुलनीय है—"आत्मैवास्य ज्योतिर्भवतीत्यात्मनैवायं ज्योतिषास्ते पल्ययते कर्म कुरुते विपल्येतीति।"[१२६] ऐसे ही "ब्रह्मभूतेन अत्तना" एवं "पहाय वो गमिस्सामी कतम्मे-सरणमत्तनो",[१२७] इन वाक्यों में भी आत्मा का औपनिषद्-अर्थ देखा जा सकता है। इस प्रसंग में महाभारत (शान्तिपर्व, १९९.२३) का यह श्लोक भी तुलनीय है—

> **"अमृताच्चामृतं प्राप्तः शान्तीभूतो निरात्मवान्।**
> **ब्रह्मभूतः स निर्द्वन्द्वः सुखी शान्तो निरामयः॥"**

यह श्लोक मानों बौद्ध सन्दर्भ से उद्धृत हो। यहाँ "निरात्मवान्" आत्मा का नहीं, अहंकार का निषेध करता है। कुछ स्थलों पर आत्मा को विवेक-बुद्धि के अर्थ में भी प्रयुक्त किया गया है। धम्मपद में अत्ता शब्द जीव की संसार दशा को घोषित करता है। परवर्ती बौद्ध आचार्यों ने इन प्रयोगों में अत्ता को अहंकारयुक्त चित्त का वाचक माना, किन्तु कुछ अन्य स्थलों में स्पष्ट ही अत्ता शब्द अर्थान्तर का द्योतक है, जैसे उदान की ऊपर निर्दिष्ट, "यदा च अत्तना वेदि मुनि मोनेन ब्राह्मणों", इस उक्ति में। ऐसे ही सुत्तनिपात के द्वैतानुपस्सन सुत्त में नामरूप को अनात्मा कहा गया है और अर्थतः निर्वाण में ही पारमार्थिक स्वरूपबोध उपदिष्ट है—

१२४–विनय, ना० महावग्ग, पृ० २५।

१२५–धम्मपद,—"अन्धकार से अवनद्ध (तुम) प्रदीप क्यों नहीं खोजते?"

१२६–"आत्मा ही उसकी ज्योति होती है, आत्मा की ज्योति से वह आता-जाता एवं कर्म करता है"—(बृ० उप० ४.३.६)।

१२७–दीघ, "तुम्हें छोड़कर चला जाऊँगा, मैंने आत्मा की शरण ले ली है," "अमृत से अमृत को प्राप्त वह शान्तिभूत, निरात्मवान्, ब्रह्मभूत, सुखी, निरामय है।"

"अनत्तनि अत्तमानं पस्स लोकं सदेवकं ।
निविट्ठं नामरूपस्मि इदं सच्चं ति मञ्ञति ।
तं हि तस्स मुसा होति मोसधम्मं हि इत्तरं ॥
अमोसधम्मं निब्बानं तदरिया सच्चतोविदू ।
ते वे सच्चाभिसमया निच्छाता परिनिब्बुता ति ॥"[१२८]

उपनिषदों के समान ही एक स्थान पर हृदय को ज्योतिस्थान और अत्ता को पुरुष की ज्योति कहा है।[१२९] हृदय की अनुप्राप्ति को लक्ष्य भी बताया गया है, किन्तु यह सच है कि जहाँ उपनिषदों में पुरुष शब्द का प्रचुर प्रयोग प्राप्त होता है पालि ग्रन्थों में उसके स्थान पर पुरुष-पुद्गल अथवा पुद्गल शब्द प्रायः प्रयुक्त होते हैं।

इन उद्धरणों से यह निर्विवाद रूप से सिद्ध होता है कि प्राचीनतम बौद्ध-संदर्भों और उपनिषदों में एक अविच्छिन्न अर्थपरम्परा विद्यमान है, यद्यपि शीघ्र ही सद्धर्म के परवर्ती विकास ने इस परम्परा को नवीन शब्दों के प्रयोग से और नवीन सिद्धान्तों से खंडित कर दिया। किन्तु यह स्पष्ट है कि त्रिपिटक में बाहुल्य से प्राप्त सैद्धान्तिक वातावरण को बुद्धकालीन वातावरण नहीं माना जा सकता। प्रत्युत जो अपवाद रूप विरल स्थल ऊपर निर्दिष्ट किये गये हैं उनका ही इस प्रसंग में अधिक महत्त्व समझना चाहिए। यह सच है कि इन संदर्भों के आधार पर श्रीमती राइज़डेविड्स और श्री कुमारस्वामी का यह मत स्वीकार्य नहीं प्रतीत होता कि तथागत आत्मवादी थे। उनसे इतना ही ज्ञात होता है कि आत्मा का तथागत ने सर्वथा निराकरण नहीं किया। यह निश्चित है कि उनके समय में आत्म-सम्बन्धी नाना धारणाएँ प्रचलित थीं जिनका उपनिषदों में आत्म-सम्बन्धी नाना धारणाएँ प्रचलित थीं जिनका उपनिषदों से, ब्रह्मजाल; सामञ्ञफल आदि बौद्धसूत्रों से, एवं प्राचीन जैनसूत्रों से ज्ञान होता है। इन विभिन्न मतों का विस्तार देहात्मवाद से लेकर ब्रह्मात्मवाद तक था। प्रायः इनमें आत्मा भौतिक अथवा चैतसिक सत्ता मानी जाती थी। मज्झिम निकाय में कहा गया है कि आत्मा वक्ता, संवेदक, पुण्यापुण्य कर्मों का भोक्ता, नित्य, ध्रुव,

१२८–"अनात्मा में आत्मदर्शी देवताओं तक के लोक को देखो। नामरूप में निर्दिष्ट वह समझता है "यही सत्य है"। किन्तु उसका वह नश्वर और गत्वर सत्य मिथ्या होता है। निर्वाण अविनाशी है। आर्य उसको सत्य मानते हैं। वे सत्य के साक्षात्कार से परिनिर्वृत होते हैं।

१२९–संयुत्त० (रो०) जि० १, पृ० १२५, १६९।

शाश्वत, अविपरिणामी और कूटस्थ है।[130] अन्यत्र आत्मा के तीन प्रकार कहे गये हैं—औदारिक, अथवा स्थूल जो कि रूपी और भौतिक है, मनोमय, जो कि रूपी, मनोमय, सर्वांगप्रत्यंगी एवं अहीनेंद्रिय है, और तीसरे अरूप जो कि अरूपी, और संज्ञामय है।[131] अन्य स्थलों में आत्मवादियों को किसी-न-किसी स्कन्ध के साथ, विशेषतः विज्ञान-स्कन्ध के साथ, आत्मा का तादात्म्य स्थापित करते बताया गया है। इन सभी आत्मवादों को शाश्वतवाद एवं उच्छेदवाद के अन्दर रख दिया गया है और इन सभी का तथागत द्वारा खंडन मिलता है, किन्तु यह स्मरणीय है कि इनमें कहीं भी उपनिषदों में मूर्धन्यभूत अनिर्वचनीय ब्रह्मात्मवाद का उल्लेख अथवा खंडन नहीं पाया जाता।

प्रत्युत उपनिषदों के नेति-नेति एवं सांख्यों के 'नास्मि न मे नाहं' की प्रतिध्वनि "नेतं मम नेसोहमस्मि नमेसो अत्ताति", इस बौद्ध उपदेश में पायी जाती है।[132] समस्त दैहिक और चैतसिक संस्कृत तत्त्वों में आत्मा का प्रतिषेध त्रिपिटक में बार-बार उपलब्ध होता है। समस्त स्कन्ध, धातु और आयतन, समासतः सभी भूत और भौतिक, चित्त और चैत्त धर्मो में अनित्यता, दुःखात्मता और परतन्त्रता व्यापक है। इन सभी में अनित्य, दुःख और अनात्म के लक्षण देखने चाहिए। ऐसे स्थलों में यह मान लिया गया है कि किसी वस्तु के आत्मा होने के लिए उसे नित्य, सुखात्मक और स्वतन्त्र होना चाहिए। ये ही आत्मा के वास्तविक लक्षण हैं, किन्तु इनके विपरीत लक्षण व्यावहारिक जगत् में उपलब्ध होते हैं। अतएव उसको सर्वथा अनात्मभूत मानना चाहिए। इस प्रकार का नैरात्म्य का उपदेश आत्मा का सर्वथा निषेध नही है, केवल अनात्म वस्तुओं को अनात्मता का उपदेश है। वस्तुतः आत्मा की सत्ता का सामान्यतः निषेध अकल्पनीय है, केवल उसके स्वरूप के विशेष-निरूपण में ही विवाद होता है। विज्ञानभिक्षु के शब्दों में, 'पुरुष की सत्ता के लिए साधन अपेक्षित नहीं हैं। चैतन्य अथवा पुरुष के अपलाप करने पर जगदान्ध्य प्रसक्त हो जायेगा। अतएव भोक्ता अहम् पदार्थ में सामान्य रूप से बौद्धों का भी विवाद नहीं है'।[133] पौट्ठपाद सुत्त में आत्मा का प्रत्याख्यान करने के स्थान पर तथागत पूछते हैं—"लेकिन पोट्ठ-

१३०—मज्झिम० (ना०), जि० १, पृ० १३।

१३१—उदा०, दीघ० पोट्ठपाद सुत्त।

१३२—तु०—श्रादेर, जे० पी० टी० एस०, १९०४।

१३३—सांख्यसूत्र, १.१३८ पर।

पाद तुम आत्मा को क्या समझते हो ?" और आत्मा के रूपी, मनोमय, और अरूपी भेदों को वे विशिष्ट 'अत्त-पटिलाभ' बताते हैं जो कि केवल व्यावहारिक दृष्टि से सत्य हैं। इसी प्रकार महानिदान सुत्त में यह कहा गया है कि जो आत्मा का व्याख्यान करते हैं वे उसे रूपी या अरूपी बताते हैं, और आत्मा का वेदनाओं के साथ तादात्म्य स्थापित करते हैं, अथवा आत्मा को अप्रतिसंवेदन कहते हैं, अथवा आत्मा को वेदयिता एवं वेदन-धर्म कहते हैं। किन्तु वेदनाएँ विविध और अनित्य होने से आत्मा नहीं हो सकतीं। ऐसे ही यदि आत्मा अप्रतिसंवेदन है तो यह भी नहीं कहा जा सकता कि "मैं हूँ", और यदि आत्मा वेदनधर्मा है तो वेदनाओं के निरोध होने पर आत्मा का भी निरोध हो जायगा। इस विमर्श से यह स्पष्ट है कि आत्मा का सर्वथा निषेध अभिप्रेत नहीं था, केवल शरीर और चित्तप्रवाह के साथ आत्मा के भ्रान्त तादात्म्य का निराकरण अभीप्सित था। संयुत्त-निकाय में यह पूछा जाने पर कि आत्मा है अथवा नहीं, तथागत ने दोनों ही विकल्पों को अस्वीकार किया।[134] यही अन्तपरिवर्जन निर्वाण के अनन्तर तथागत की सत्ता के विषय में भी किया गया। सुत्तनिपात के अट्ठकवग्ग में अनेक स्थलों पर यह कहा गया है कि दृष्टियाँ छोड़ देने पर एवं उपशान्त होने पर आत्मा एवं नैरात्म्य दोनों ही नहीं रह जाते। नैरात्म्य-परिपृच्छा में भी यही कहा गया है और इसको मध्यमा प्रतिपद् बताया है। काश्यप-परिवर्त में आता है: "काश्यप, आत्मा एक छोर है, नैरात्म्य दूसरा। आत्मा और नैरात्म्य का मध्य अरूप्य एवं अनिदर्शन है।" इस प्रकार के अन्तवर्जन का कारण यह था कि जबतक सविशेष एवं तर्कगम्य बोध रहता है तभी तक "एवं" अथवा 'अनेवं' इस प्रकार से लक्षण और विभाजन सम्भव है। इसीलिए सुत्तनिपात के अट्ठकवग्ग में संज्ञा और दिट्ठि को हेय कहा गया है। यह स्मरणीय है कि संज्ञा का उपनिषदों में भी सविशेष ज्ञान के लिए प्रयोग हुआ है। ऐसे ही परमट्ठक सुत्त में संज्ञा को परिकल्पित कहा गया है। चूलव्यूह सुत्त में कहा गया है 'संज्ञा के छोड़ देने पर नाना सत्य नहीं रहते। लोक में, दृष्टियों में तर्क को परिकल्पित करके 'सत्य और मिथ्या', इस प्रकार का पदार्थों में द्वैत स्थापित किया जाता है। किन्तु वास्तविक ज्ञान एवं निर्वाण में 'अणुमात्र भी संज्ञा नहीं रहती,' प्रपंच छिन्न हो जाता है, एवं शब्द के गोचर का अतिक्रम हो जाता है। इस अवस्था में 'मुनि केवल मौन आत्मा से बोध करते हैं।' इस 'मौन आत्मा' की तुलना शंकराचार्य के द्वारा उद्धृत 'उपशान्तोय-

१३४—संयुत्त रो० जि० ४. पृ० ४००।

मात्मा' से की जानी चाहिए।[१३५] तथागत ने आर्यमौन से वही उपदेश दिया जो कि बाध्व ने बाष्कलि को अपने तूष्णीम्भाव से।

सुविख्यात दार्शनिक देकार्त ने कहा है कि ज्ञान ही आत्मा की सत्ता प्रमाणित करता है।[१३६] वस्तुतः ज्ञान की सत्ता का अपलाप नहीं किया जा सकता क्योंकि यह अपलाप स्वयं ज्ञान के अन्तर्गत होगा। आत्मा की सामान्यतः प्रतीति प्रत्येक ज्ञान में होती है। उपनिषदों में बहुत खोज के बाद यही निश्चित किया गया कि आत्मा विज्ञानरूप ही है। अतएव आत्मा की सत्ता अनपोह्य है, किन्तु ज्ञान अपनी सत्ता को सामान्यतः प्रत्येक अनुभव में अनिवार्यतः स्थापित करते हुए भी प्रकाश के समान अपने स्थान पर अपने विषयों को प्रदर्शित करता है। परिणाम यह है कि आत्मा अनिवार्य होते हुए भी अनिर्देश्य एवं अग्राह्य है।[१३७] समस्त विषयों के ग्रहण में आत्मा की सत्ता पूर्ववर्ती, किन्तु अविषय है। इसी कारण आत्मा का निर्देश अतद्व्यावृत्ति अथवा नेति-नेति के द्वारा ही सम्भव है। संसारदशा में आत्मा विषय-ज्ञान में खोयी रहती है, किन्तु मुक्ति की अवस्था में वह अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाती है। यह अवस्था अनिर्वचनीय है क्योंकि न तो द्वैतमिश्रित ज्ञान यहाँ रह सकता है और न स्वरूपभूत ज्ञान का लोप अथवा उच्छेद सम्भव है। ज्ञानस्वरूप आत्मा की अनिवार्यता एवं अनिर्वचनीयता याज्ञवल्क्य के मैत्रेयी के साथ संवाद में सुस्पष्ट प्रतिपादित है। ऐसा प्रतीत होता है कि इस प्रकार का मत तथागत को अग्राह्य न था।

विषयों के आवरण के द्वारा ज्ञान के अपने को प्रकाशित करने के कारण ज्ञान की खोज प्रायः उसके विषयवर्ग की ओर दिङ्मूढ़ हो जाती है। इस व्यामोह की दो प्रधान दिशाएँ हैं : विषयों में चैतन्य को खोजते हुए किसी विषय को चैतन्य समझ लेना, अथवा विषयों में चैतन्य को न पाकर इस अनुपलब्धि से उसकी असत्ता घोषित करना। पहली भ्रान्ति नाना प्रकार के विषयात्मवादों में प्रकट होती है, दूसरी बौद्धों के परवर्ती अनात्मवाद में। तथागत ने इन दोनों भ्रान्तियों का विवर्जन किया था। 'आत्मा है' कहने पर किसी-न-किसी दैहिक अथवा चैतसिक अनात्म-विषय का आत्मा में अध्यास समर्थित होता है, क्योंकि ये विषय ही लोक में अस्तित्वेन प्रतीत हैं। 'आत्मा नहीं है' कहने पर उच्छेदवाद का समर्थन होता है जोकि समस्त आध्यात्मिक

१३५—ब्र० सू० ३.२.१७ पर।

१३६—तु०—धर्मकीर्ति, "अप्रत्यक्षोपलम्भस्य नार्थदृष्टिः प्रसिध्यति।"

१३७—तु०—बृ० उप० में (३.४) याज्ञवल्क्य का उषस्त चाक्रायण में संवाद।

जीवन का विरोधी है। इसलिए तथागत ने आत्मा को न अस्ति कहा है न नास्ति। मध्यमा प्रतिपद् का यह स्वीकार एवं आर्य मौन वस्तुतः अद्वैतसम्मत आत्मा की निर्वचनीयता से विभक्त नहीं कहा जा सकता। यही कारण है कि परवर्ती माध्यमिक दर्शन और शांकर दर्शन अत्यन्त समीप हैं। यहाँ तक कि शंकराचार्य के कुछ आलोचकों ने उन्हें प्रच्छन्न बौद्ध कह डाला।

तथागत ने अनेक प्रकार के प्रचलित आत्मवाद का खंडन किया जोकि वस्तुतः विषयात्मकवाद अथवा मूल अविद्या या अध्यास का निराकरण है। इसी प्रयोजन से उन्होंने देह और मन एवं उनके समस्त प्रपंच को बार-बार अनात्मभूत और हेय कहा, किन्तु साथ ही उन्होंने उच्छेदवाद का खण्डन किया। उनके मत से समस्त दुःखात्मक जगत् के प्रहाण के लिए ब्रह्मचर्यावास निरन्वय उच्छेद का निरर्थक, आत्मघाती आयास नहीं है। तथागत की देशना सूक्ष्म और गम्भीर एवं उपाय-कौशल के कारण विविध थी। उनके समय में भी उनका दुर्बोध मत अन्य तीर्थिकों में और उनके कुछ शिष्यों में भी सम्मोह और भ्रान्ति उत्पन्न कर देता था। अतएव यह स्वाभाविक था कि उनके परिनिर्वाण के पश्चात् शीघ्र ही उनका 'मतोपेक्षी' वास्तविक अभिप्राय नाना मतवादों के अभ्युदय में खो जाय। इसका परिणाम यह हुआ कि निकायों में ही विज्ञानवाद और पुद्गलवाद के बीज मिलते हैं और नैरात्म्यवाद का प्रचुर विकास। क्यों बौद्ध आचार्यों ने नैरात्म्यवाद के पक्ष का इतना पोषण और पल्लवन किया, यह समझना कठिन नहीं है। मनुष्यमात्र अनादि सम्मोह के कारण स्वरसतः मिथ्या आत्मवाद में ग्रस्त है। साधारण लोकबुद्धि के अनुसार प्रमातृत्व, कर्त्तृत्व, भोक्तृत्व आदि धर्मों से विशिष्ट अहम्प्रत्यय का गोचर एक चेतन शरीरी समस्त अनुभव और कर्म का अधिष्ठान है। स्थूल बुद्धि से यह प्रतीति समञ्जस है और इस चेतन देही को ही संसारी, जीव, आत्मा अथवा पुरुष माना जाता है। यह धारणा व्यवहार का आधार होते हुए भी साक्षात् अविद्या, दुःख का कारण, एवं मुक्ति की परिपन्थी है। शंकराचार्य ने कहा है कि जीवकल्पना ही समस्त कल्पना का मूल है।[१३८] जीवकल्पना का लक्षण है जीव में कर्तृत्व और भोक्तृत्व का आरोप कर उसे हेतु फलात्मक मानना। यही बौद्धों की आत्म-कल्पना अथवा सत्काय-दृष्टि है। भोज्य-पदार्थों एवं उनके भोक्ता आत्मा में स्थिरत्व की कल्पना कर अहंकार, ममकार, तृष्णा और कर्म विवृद्ध होते हैं। यह ठीक है कि इस प्रसंग में 'आत्मा' से बौद्ध वस्तुतः

१३८—गौडपादीय आगमशास्त्र, २.१७ पर।

उस तत्त्व का संकेत करते हैं जिसे सांख्य एवं वेदान्त में 'अहंकार' कहा गया है, किन्तु इस प्रकार का मिथ्या आत्मवाद हम सबके पास स्वारसिक प्रवृत्ति से ही उपस्थित हो जाता है और उसका नाना दर्शनों से और लोक-वृद्धि से पोषण होता है। इसीलिए निवृत्तिपरक बौद्ध आचार्यों ने उसके विरोध में नैरात्म्यवाद का समर्थन किया। बिना 'अहम्' और 'मम', 'भोक्ष्ये' एवं 'करिष्ये' से छुटकारा पाये विराग दृढ़भूमि नहीं होता।

पञ्चस्कन्ध-वाद—नैरात्म्यवाद का निकायों में पंचस्कन्धवाद के रूप में विकास हुआ। विज्ञान, संज्ञा, वेदना, संस्कार और रूप, ये पाँच स्कन्ध हैं। रूप स्कन्ध देह-वाची है और अपने व्यापक अर्थ में समस्त भूत और भौतिक पदार्थों को अपने अन्दर संगृहीत कर लेता है। बाकी चार अरूपी अथवा अभौतिक स्कन्ध समष्टि रूप से चित्त कहे जाते हैं। इसमें वेदना सुख, दुःख आदि की उपलब्धि की आख्या थी। 'संज्ञा' शब्द विशिष्ट अवधारण के लिए प्रयुक्त होता था। विज्ञान सामान्यतः चैतन्य-वाची था। संस्कार के अन्तर्गत इच्छा, संकल्प आदि थे। पीछे अभिधर्म में संस्कार का प्रयोग व्यापक हो गया और संस्कार केवल चैतसिक नहीं रहा। साथ ही विज्ञान का अर्थ संकुचित हो गया। निकायों में अक्सर इस पंचस्कन्धों को ही एकमात्र सत्ता कहा गया और आत्मा को इनमें प्रतीत एक भ्रान्ति। जैसे दर्पण में मुख का प्रतिबिम्ब देखते हैं, किन्तु वस्तुतः वहाँ कुछ नहीं रहता, ऐसे ही स्कन्धों के सहारे अहंकार की उपलब्धि होती है।[१३९] स्कन्धों के न रहने पर यह उपलब्धि नष्ट हो जाती है। आत्मा की सत्ता स्कन्धवाद की दृष्टि से एक अनादि भ्रम है जो कि चित्तप्रवाह में आसंसार बना रहता है।

स्कन्धवाद की कठिनाइयाँ प्रारम्भ से ही स्पष्ट थीं। यदि चित्त-प्रवाह में कोई स्थिर आत्मा नहीं है तो जन्मान्तर किसका होता है? कर्म के फल का भोग कौन करता है? एवं मोक्ष ही किसका होता है? और फिर, आत्मा की अनादिभ्रान्ति उत्पन्न ही कैसे हो जाती है? मुख होने पर ही उसका प्रतिबिम्ब दर्पण में पड़ता है। बिम्ब के अभाव में आत्म-प्रतीति को प्रतिबिम्बवत् कैसे माना जाय? यह स्मरणीय है कि सांख्यदर्शन में भी चित्त में पुरुष का प्रतिबिम्ब माना जाता है और इस प्रतिबिम्ब को भ्रान्ति ही समझते हैं, किन्तु इस भ्रान्ति के लिए किसी मूल की आवश्यकता है। स्कन्धवादी इनमें से कुछ प्रश्नों का उत्तर प्रतीत्यसमुत्पाद एवं मध्यमा प्रतिपद् के द्वारा दे देते थे, किन्तु इस उत्तर से सबकी शंकाओं का समाधान होना कठिन है।

१३९–तु०—प्रसन्नपदा, मध्यमक०, पृ० ३४५।

'विज्ञानवाद'—अतएव बुद्ध के समय में भी यह शंका प्रस्तुत हुई कि क्यों न चित्त, मन अथवा विज्ञान को ही आत्मा मान लिया जाय। उपनिषदों मे आत्मा को प्रायः ही विज्ञान-स्वभाव कहा गया है और औपनिषद् प्रभाव के कारण एक प्रकार का मूल विज्ञानवाद प्राचीन बौद्ध सन्दर्भों मे देखा जा सकता है। विज्ञान का निकायों मे विविध प्रयोग मिलता है।[140] पहले विज्ञान अथवा चित्त को रूपी-देह का प्रतियोगी अरूपी धर्म-विशेष माना जाता था जो कि व्यक्तिविशेष की देह के साथ सम्बद्ध रहता था। इस अवस्था में मनुष्य को देह एवं चित्त अथवा विज्ञान की समष्टि समझा जाता था। कहीं-कहीं पुरुष को छः धातुओं से निर्मित भी कहा गया है। इन स्थलों में विज्ञान छठी धातु है। विज्ञान की दो अवस्थाएँ है—एक प्रतीत्यसमुत्पन्न, प्रतिष्ठित, निष्ठित एवं सोपादान। यह विज्ञान की संसारावस्था है, किन्तु इसके साथ ही विज्ञान की एक अप्रतिष्ठित, प्रभास्वर, अक्लिष्ट एवं विमुक्त या अप्रमाण अवस्था का भी उल्लेख मिलता है। चित्त अथवा विज्ञान का ही संसरण होता है, इस धारणा का भी संकेत मिलता है एवं इसका तथागत ने सर्वथा प्रत्याख्यान नहीं किया। उन्होंने केवल इतना ही कहा कि यह संसार-गत चित्त निरन्तर परिणामी है, नित्य और अनन्य नही। चित्त का प्रवाह ही जन्मान्तर मे चलता रहता है। इस जन्म में भी चित्त एकरस और ध्रुव नहीं है, जन्मान्तर में क्या होगा। किन्तु चित्त का एक प्रवाह-गत अविच्छेद अवश्य रहता है। परवर्ती व्याख्याओं के अनुसार सद्धर्म-सम्मत चित्त-सन्तति का सांख्यादि-सम्मत वृत्ति-प्रवाह से भेद करने पर भी नाना प्रतिविशिष्ट चित्त-प्रवाह स्वीकार करने होंगे जिन्हें कर्म के सेतु परस्पर विभक्त रखते हैं। कर्म की उत्पत्ति मूलतः चित्त के व्यापार से ही होती है एवं एक चित्त का कर्म जिस चित्तान्तर की विरासत बन कर उसके सुख-दुःखादि अथवा उसकी नामरूप में प्रतिष्ठा का निर्धारण करता है, उस चित्त को पहले से सर्वथा अन्य कहना तार्किक दाँव-पेंच से सम्भव होते हुए भी वस्तुतः शब्दों का खेल ही होगा। इस प्रकार कम से कम अर्थतः तथागत की देशना में निरन्तर परिणामी चित्त ही संसारी है। इस मत में संसारी एक अनन्य ध्रुव पदार्थ न होकर अनुभव की चपल धारा है जिसका व्यक्तित्व कर्मभेद पर आश्रित है। इस प्रसंग में बृहदारण्यकोपनिषद् में उल्लिखित याज्ञवल्क्य का यह मत स्मरणीय है कि मृत्यु के पश्चात् केवल कर्म शेष रहता है एवं कर्म ही वह मूल है जिससे पुरुष का पुनर्जन्म होता है।

१४०–द्र०—ऑरिजिन्स ऑव् बुद्धिज्म, पृ० ४९३–९७।

क्लेशों के आगन्तुक मल से छूटने पर चित्त प्रभास्वर हो जाता है एवं उसमें सम्बोधि-रूप प्रातिभ ज्ञान की स्फूर्ति होती है। इस सम्बुद्ध और 'विसंस्कारगत' चित्त में ही निर्वाण की प्राप्ति होती है। कर्म के सर्वथा अन्त एवं देह-त्याग होने पर चित्त की स्थिति अनिर्वचनीय है। यह प्रसंग वैसा ही है जैसा कि बृहदारण्यक के याज्ञवल्क्य-मैत्रेयी-संवाद में 'प्रज्ञानघन' आत्मा का जहाँ द्वैत-लोप के कारण यह कहा गया है कि 'न प्रेत्य संज्ञास्तीति' किन्तु जहाँ उच्छेदवाद वस्तुतः अभिप्रेत नहीं है। इस प्रकार की अद्वैत एवं अनिर्वचनीय विज्ञानावस्था का स्पष्ट व्याख्यान शान्तिपर्व की इन पंक्तियों में उपलब्ध होता है—

'यथार्णवगता नद्यो व्यक्तीर्जहति नाम च। नदाश्च तानि यच्छन्ति तादृशः सत्वसंक्षयः॥ एवं सति कुतः संज्ञा प्रेत्यभावे पुनर्भवेत्। जीवे च प्रतिसंयुक्ते गृह्यमाणे च सर्वतः॥'[१४१] इससे तुलनीय है—'वि ञ्ञाणमनिदस्सनं अनन्त सब्बतोपभम्', 'पमस्सरमिदं चित्तं तं च आगन्तुकेहि उपक्किलेसेहि उपक्किलिट्ठं', 'अत्थङ्गतो सो न पमाणमेति, अमोहयि मच्चुराजंति ब्रूमि', 'बिसङ्खारगतं चित्तं तण्हानं खयमज्झगा'।[१४२] विज्ञान की इस विशुद्ध एवं असीम अवस्था को ही पीछे विज्ञप्तिमात्रता का पद दिया गया। विज्ञप्तिमात्रता का वर्णन इस प्रसंग में स्मरणीय है—'अचितोऽनुपलम्भोऽसौ ज्ञानं लोकोत्तरं च तत्। आश्रयस्य परावृत्तिर्द्धेधा दौष्ठुल्यहानितः॥ स एवानास्रवो धातुरचिन्त्यः कुशलो ध्रुवः। सुखो विमुक्तिकायोऽसौ धर्माख्योऽयं महामुनेः।'[१४३] ग्राह्य-ग्राहक-भेद न रहने के कारण 'अचित्त' और 'अनुपलम्भ' कहा गया है।

पुद्गलवाद—पुद्गलवाद का बीज संयुत्त-निकाय के प्रसिद्ध भारहारसूत्र मे पाया जाता है। इस सूत्र में स्कन्धों को पुद्गल के लिए भारवत् आगन्तुक और पृथक् सूचित किया गया है। परवर्ती पुद्गलवादियों ने मध्यम मार्ग का अनुसरण

१४१–"जिस प्रकार नदियाँ समुद्र से मिलने पर नाम और पार्थक्य छोड़ देती हैं, ऐसा ही सत्वसंक्षय है। जीव के फिर से जुड़ जाने पर तथा सर्वत्र व्याप्त होने पर मृत्यु के अनन्तर 'संज्ञा' कैसे होगी ?"

१४२–"विज्ञान अदृश्य, अनन्त, ज्योतिर्मय है," "यह चित्त प्रभास्वर है, आगन्तुक उपक्लेशों से उपक्लिष्ट है", "वह अस्तंगत होकर परिच्छिन्न नहीं होता, मृत्यु को उसने वंचित कर दिया ?" "विसंस्कार चित्त तृष्णाक्षय को प्राप्त हुआ' (द्र०—ऑरिजिन्स ऑव बुद्धिज्म, पृ० ४९४–९५)।

१४३–द्र०—नीचे।

कर पुद्गल को स्कन्धों से न भिन्न और न अभिन्न कहा एवं स्कन्धों के साथ पुद्गल का सम्बन्ध 'अवक्तव्य' बताया। उनके मत से अनात्मव्यापक देशना का तात्पर्य अनात्म तत्त्वों में आत्मा का निषेध है, आत्मा का सर्वथा निषेध नहीं। पुद्गल की सत्ता स्वीकार न करने से पुनर्जन्म, स्मृति, सर्वज्ञता आदि सभी निरर्थक हो जाते हैं। यदि तथागत को जीव की सत्ता मान्य नहीं थी तो वे स्पष्ट उसका प्रत्याख्यान कर सकते थे जबकि इसके विपरीत उन्होंने आत्मा के नास्तित्ववाद को दृष्टि-स्थान कहा है। इस प्रकार सूत्र और तर्क दोनों के ही आधार पर पुद्गलवाद का विकास हुआ।[१४४]

तथागत के अनुसार अज्ञान के कारण हम अपने को देह और चित्त से अभिन्न समझते है और संसार के दुःख में पड़े रहते हैं। देह और चित्त अनित्य और प्रतीत्य-समुत्पन्न हैं। उनमें अहंकार छोड़कर अपने को खोजना चाहिए एवं प्रत्यग्ज्ञान प्राप्त करना चाहिए। किन्तु जहाँ संसारावस्था का देह-चित्त-संघात के रूप में वर्णन सुकर है, पारमार्थिक बोध अनिर्वचनीय है एवं आत्मा और अनात्मा, अस्ति और नास्ति के प्रापंचिक भेदों का अतिक्रम करता है। परमार्थ की अग्राह्यता एवं निश्शेष-दृष्टि-प्रहाण का यह सिद्धान्त अत्यन्त गंभीर और दुर्बोध है। इसी देशना के विविध अन्तराल ने तर्क-सुलभ एकांगिता के द्वारा नाना मतों का आविर्भाव हुआ। व्यवहार के अनात्म-भूत धर्मों के विश्लेषण से स्कन्धवाद एवं 'अभिधर्म' का जन्म हुआ। शाश्वत और उच्छेद के मध्य को पकड़ने से पुद्गलवाद का विकास हुआ। 'विज्ञान' अथवा 'चित्त' के अनिवार्य महत्त्व के आविष्कार से एवं औपनिषद् प्रभाव से 'विज्ञानवाद' की अवतारणा हुई। प्रतीत्यसमुत्पाद के मध्यम धर्म के रूप में व्यापक बोध ने शून्यवाद को जन्म दिया।

परवर्ती व्याख्याएँ—परवर्ती काल में निर्वाण की अनेक व्याख्याएँ प्रस्तुत की गयीं। स्थविरवादियों ने असंस्कृत धातु को अव्याकृत, अप्रमाण, अहेतु, अप्रतिघ, अदृश्य, अरूप, लोकोत्तर, विचार और बुद्धि से परे, सुख-दुःख आदि के अतीत, एवं अनुत्तर कहा है।[१४५] कथावस्तु में निर्वाण को ध्रुव, शाश्वत, अविपरिणामधर्म, अनालम्बन एवं चित्तविप्रयुक्त कहा गया है।[१४६] मिलिन्दपञ्हो में निर्वाण को भावरूप,

१४४—दे०—नीचे।

१४५—द्र०—ऑरिजिन्स ऑव् बुद्धिज्म, पृ० ४४४।

१४६—कथावस्तु, १.६; वहीं, ९.५; वही, १४.६।

अकालिक, शाश्वत एवं अनुत्तम बताया गया है।[१४७] अनुभवगोचर होते हुए भी निर्वाण अवर्णनीय है। बुद्धघोष ने निर्वाण को शान्तिलक्षण, एवं अच्युतिरस अथवा आश्वासकरणरस, तथा अनिमित्त-प्रत्युपस्थान एवं निष्प्रपंच-प्रत्युपस्थान कहा है। निर्वाण की अभावरूपता, असत्ता अथवा उच्छेदरूपता का उन्होंने खंडन किया है एवं उन्होंने यह भी स्वीकार किया है कि निर्वाण का स्वरूप अनुभवगोचर होते हुए भी वर्णनातीत है।[१४८] उसका सोपाधिशेष और अनुपाधिशेष में विभाजन वस्तुत. उपादाय प्रज्ञप्ति अथवा औपाधिक भेद पर आश्रित है। इस प्रकार स्थविरवाद में निर्वाण को असंस्कृत, शान्त, अनुभवगोचर, अवर्णनीय, अनुत्तम एवं भावरूप स्वीकार किया है।

वैभाषिकों के अनुसार तीन प्रकार के निरोध हैं, प्रतिसंख्यानिरोध, अप्रतिसंख्यानिरोध एवं अनित्यतानिरोध। इनमें पहले दोनों असंस्कृत हैं, तीसरा संस्कृत। प्रतिसंख्यानिरोध को ही निर्वाण कहा गया है। निर्वाण असाधारण एवं असभाग, कुशल एवं नित्य है। वह न स्कन्धमात्र है, न स्कन्धाभावमात्र, किन्तु केवल सास्रव स्कन्धों की अपेक्षा उसका स्वभाव प्रतिष्ठित होता है। निर्वाण परम, प्रतिवेध, पंडित-प्रेमणीय, प्रणीत और निस्सरण है। उसको उपलब्ध करनेवाली प्रतिसंख्या अथवा प्रज्ञा अतीरणस्वभाव और साक्षात्कारात्मक है। निरुपाधि निर्वाण में केवल धर्मता शेष रहती है। इस मत में निर्वाण शाश्वत और वास्तविक है।[१४९]

सौत्रांतिक मत के अनुसार निर्वाण निरोध मात्र है यद्यपि कुछ सौत्रांतिक भी निर्वाण में एक सूक्ष्म, किन्तु सर्वथा उपशान्त चेतना की अनुवृत्ति स्वीकार करते थे।[१५०] विज्ञानवादियों के अनुसार बोधिसत्त्व परावृत्ति के द्वारा महापरिनिर्वाण की प्राप्ति करता है। निर्वाण स्वभावतः विशुद्ध है, किन्तु अविद्यामल से उसका अनावरण मार्ग

१४७–मिलिन्दपञ्हो, (बम्बई, १९४०), पृ० २६५, ३१६–१७।

१४८–विसुद्धिमग्गो, पृ० ३५५–५६।

१४९–द्र०—बुलैते दलेकोल फांसेज देक्सत्रेम ओरियाँ, १९३०, पृ० १ प्र०, अभिधर्मकोश, जि० १, पृ० ८–१०।

१५०–ओबेरमिलर, आई० एच० क्यू०, जि० १०, पृ० २३५, काश्मीरक वैभाषिक तथा आगमानुसारी सौत्रान्तिक निर्वाण को अभावमात्र मानते थे। कोशानुसारी वैभाषिक तथा न्यायानुसारी सौत्रान्तिक निर्वाण में लोकोत्तर चैतन्य मानते थे। द्र०—बुदोन, जि० २, पृ० ६७ पर ओबरमिलर की पाद-टिप्पणी।

के द्वारा ही सम्भव है। **विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि** में चार प्रकार के निर्वाण कहे गये हैं।[१५१] अनादिकालिक-प्रकृतिवुद्ध-निर्वाण, सोपधिशेष-निर्वाण, निरुपधिशेष-निर्वाण, अप्रतिष्ठित-निर्वाण। इनमें पहला निर्वाण प्रकृतिशान्त तथता ही है। शेष तीन आध्यात्मिक विकास में तथता के क्रमिक प्रकाश हैं। निर्वाण परमार्थ और परिनिष्पन्न-लक्षण है, वही सुविशुद्ध धर्मधातु है। निर्वाण और संसार में कोई आत्यंतिक भेद नहीं है। वही अविद्याके द्वारा अध्यारोपित परतन्त्र-लक्षण संसार है एवं प्रज्ञा के द्वारा उन्मीलित उपशान्त-लक्षण निर्वाण है। संसार से निर्वाण में गति परावृत्ति द्वारा सिद्ध होती है एवं वही धर्मसत्ता पारतन्त्र्य से विमुक्त होकर धर्मकाय में परिणत हो जाती है। वह चतुष्कोटि-निर्मुक्त, सर्वधर्म-परमात्मभूत, प्रपंचोपशम है। माध्यमिकों में भी निर्वाण और संसार में भेद नहीं माना जाता। निर्वाण को वे भावाभाव-निर्मुक्त शून्य-स्वरूप कहते हैं।[१५२] समस्त परिच्छिन्न धर्म वस्तुतः पृथक्-पृथक् स्वभावों से शून्य है। यह स्वभाव-शून्यता अथवा पारमार्थिक अद्वैत ही निर्वाण है।

यह स्पष्ट है कि सभी परवर्ती व्याख्याओं में निर्वाण को नित्य और शान्त माना गया है। निर्वाण कार्य-करण-परिधि के बाहर है एवं निर्विशेष होने के कारण वाणी का अगोचर है। उसका केवल साक्षात्कार सम्भव है। इस प्रकार अवर्णनीय होते हुए भी निर्वाण जीवन का परम लक्ष्य है। निर्वाण का साक्षात्कार सम्बोधि में होता है और उसकी प्राप्ति के साथ ही क्लेश, कर्म और दुःख से मुक्ति हो जाती है। अहंकार नष्ट हो जाता है और मृत्यु उतनी ही निरर्थक जितना जन्म। निर्वाण में संसारी का परम अनन्त सत्ता में वैसे ही उपशम हो जाता है जैसे अग्निशिखा का अपने मूल में।

परिच्छिन्न लौकिक चेतना के परिचित शब्दों में निर्वाण का वर्णन नहीं किया जा सकता। उसकी अनन्तता का सर्वोत्तम संकेत मौन के द्वारा हो सकता है। श्री अरविन्द ने ऐसी अवस्था का वर्णन करते हुए कहा है: "एक असंग परमार्थ ने समस्त का निषेध कर दिया, सम्मूढ जगत् को अपने अद्वैत से मिटा दिया, और आत्मा को अपनी शाश्वत शान्ति में डुबा दिया।"[१५३]

मार्ग—तथागत ने दुःख का कारण अविद्या में पाया जिसकी शक्ति से हम अपने लिए नाना स्थिर पदार्थों के आश्वास्य जगत् की भ्रान्त कल्पना कर लेते हैं और उसमें

१५१–सिद्धि, जि० २, पृ० ६७० प्र०।
१५२–दे०—नीचे।
१५३–द्र०—सावित्री, २.७.६।

भोगतृष्णा से व्याकुल होकर विचरते हैं। हमारे आयासजनित कर्म ही बरबस हमें एक जन्म से दूसरे जन्म तक ले जाने का सेतु बन जाते हैं। इस दुःख की शृंखला से छुटकारा कर्म, तृष्णा एवं अविद्या के छूटने पर ही सम्भव है और वह प्रज्ञा अथवा सम्बोधि से ही हो सकता है। इस प्रकार वस्तुतः निरोधगामिनी प्रतिपद् सम्बोधिगामिनी प्रतिपद् है। नियम के रूप में जो धर्म संसार में व्यापक है एवं अविद्यादिक्रम से दुःख का कारण बनता है, वही विलोमक्रम से दुःख-निरोध की ओर ले जाता है। इस प्रकार मार्गरूपी धर्म एक निवृत्ति का क्रम है जोकि संसार के स्वाभाविक क्रम अथवा प्रवृत्ति को उलट देता है। छान्दोग्य उपनिषद् (६.१४) में अध्यात्म की खोज की तुलना मार्ग की खोज से की गयी है—"जैसे किसी पुरुष को आँखें बाँधकर गन्धार से ले जायें और वहाँ से उसे दूर छोड़ दिया जाय—। उसके बन्धन को खोलकर कहा जाय, इस ओर गन्धार है, इस ओर जा। वह पंडित और मेधावी गाँव-गाँव पूछते हुए गन्धार पहुँच जाय। ऐसे ही यहाँ आचार्यवान् पुरुष ज्ञान प्राप्त करता है। इस संदर्भ के साथ मज्झिम और संयुत्त के वे प्राचीन संदर्भ तुलनीय हैं जहाँ तथागत ने अपने को केवल मार्गदर्शक बताया है और धर्म को निर्वाण तक पहुँचाने वाला पुराना राजमार्ग[१५४] 'जैसे कोई अरण्य यात्री महावन में चिर-अनुपात पुराना मार्ग देखे और उसके अनुसरण से पुरानी राजधानी तक पहुँचे। ऐसे ही मैंने पूर्व-बुद्धों के द्वारा अनुगत प्राचीन मार्ग प्रत्यक्ष किया है।' (संपुत्त रो० २. १०५-६) "यह राजगृह का मार्ग है, इसका अनुसरण करने पर एक गाँव मिलेगा, आगे एक निगम दीखेगा, और आगे रमणीय आराम, उद्यान, सरसी आदि से शोभित राजगृह। उस प्रकार उपदिष्ट होने पर भी यात्री पथभ्रष्ट हो सकता है—ऐसे ही, ब्राह्मण, निर्वाण है, निर्वाणगामी मार्ग है, मैं उसका उपदेशक हूँ।" उपनिषदों में यद्यपि ज्ञान को मुक्ति का प्रधान साधन माना गया है तथापि शील और कर्म की परिशुद्धि तथा सांसारिक एषणाओं और कामनाओं की हेयता का भी प्रतिपादन किया गया है। उपनिषदों में ही याज्ञिक कर्म के स्थान पर नैतिक सत्कर्म को प्रतिष्ठित कर दिया गया था, किन्तु ब्राह्मण-धर्म में उस समय उपनिषदों के द्वारा प्रतिपादित शील और ज्ञान का मार्ग अल्पसंख्यक विचारकों का मत था। साधारण तौर से वैदिक धर्म में द्रव्य-साध्य यज्ञादि के अनुष्ठान एवं नाना गृह्य-कर्मों का प्राधान्य था। यह प्रचलित वैदिक धर्म प्रवृत्ति-मार्गी था। सद्धर्म में इसके प्रतिकूल, किन्तु उपनिषदों की परम्परा के अनुकूल निवृत्तिमार्ग का प्रतिपादन

१५४—मज्झिम० रो० जि० ३, पृ० ४—६, संयुत्त० रो०, ४.३५९, वही, ३.१०८।

मिलता है। उपनिषदों से इसका भेद अंगतारतम्य एवं विस्तार में है। सद्धर्म में शील पर बहुत जोर दिया गया है और उसकी विस्तरशः व्याख्या की गयी है, किन्तु इस भेद का कारण तत्त्वभेद नहीं था। उपनिषदों में सर्वजनश्राव्य अभिभाषण नहीं हैं, प्रत्युत विशिष्ट अधिकारियों के लिए सूक्ष्म संकेत हैं। पालि त्रिपिटक में प्रचुर विस्तार से सबको समझाने के लिए बराबर शील के विस्तर का व्याख्यान किया गया है। तथापि यह स्मरणीय है कि अहिंसा, करुणा, अपरिग्रह, शान्ति और वैराग्य का जैसा महत्त्व सद्धर्म में है वैसा उपनिषदों में नहीं है। ध्यान और समाधि का भी प्राचीन बौद्ध संदर्भों में अधिक परिष्कृत और विस्तृत वर्णन मिलता है जिसका उपनिषदों में संकेत-मात्र उपलब्ध होता है। कदाचित् सबसे महत्त्वपूर्ण भेद ज्ञान के स्वरूप के विषय में है। उपनिषदों में ज्ञान श्रुति या शब्द के द्वारा ही प्रधान रूप से प्राप्त होता है यद्यपि मनन और निदिध्यासन का भी उपदेश किया गया है, किन्तु यह उपदेश दूसरी श्रेणी के अधिकारियों के लिए है। सद्धर्म में शब्दों के द्वारा केवल मार्ग ही प्रतिपाद्य है। चित्त के परिष्कार से ज्ञान स्वतः उद्भूत होता है।

तीन अवस्थाएँ—निर्वाण का मार्ग स्वभावतः त्रिधा विभक्त हो जाता है। पहली अवस्था में असत्कर्म का न करना एवं सत्कर्म का आचरण, दूसरी अवस्था में ध्यान, एवं तीसरी अवस्था में साक्षात्कारात्मक ज्ञान, ये ही मार्ग के प्रधान अंग अपने अनिवार्य क्रम में हैं। संसार के बंधन की उत्पत्ति मन के सूक्ष्म और आन्तरालिक स्तर से होकर क्रमशः स्थूल देह के द्वारा बाह्य लोक में व्यक्त होती है। निवृत्ति का क्रम इसका प्रतिलोम है एवं पहले स्थूल देह और उसके कर्मों के संयमन के अनन्तर क्रमशः चित्त के परिष्कार के द्वारा उसकी अन्तर्निहित अविद्या के क्षय की ओर बढ़ता है। प्राचीन **श्रामण्यफल**-सूत्र में भिक्षु की आध्यात्मिक प्रगति का क्रमिक वर्णन किया गया है तथा उसमें शील, समाधि और प्रज्ञा का त्रिविध भेद प्रकट होता है। और भी अनेक स्थलों पर यह भेद उल्लिखित है। कभी-कभी विमुक्ति अथवा विमुक्तिज्ञान-दर्शन के जोड़ने से त्रिविध मार्ग चतुर्विध अथवा पंचविध कर दिया गया है। विसुद्धिमग्गो एवं सर्वास्तिवाद के ग्रन्थों में त्रिधा विभाजन ही प्रधान है। पर यह स्मरणीय है कि तथागत ने धर्म को अवसर के अनुकूल विविध रूपों में उपदिष्ट किया था और उपमा आदि के सहारे उसका प्रतिपादन किया था, किसी गणितोपयोगी गुर का व्याख्यान नहीं। और सच बात यह है कि आध्यात्मिक मार्ग में प्रतिव्यक्ति कुछ-न-कुछ भेद रहता ही है। विसुद्धिमग्गो में बुद्धघोष का कहना है कि शील से काम-सुख में आसक्ति वर्जित होती है एवं दुर्गति के अतिक्रम का उपाय प्रकट होता है। जहाँ प्रज्ञा से दृष्टि-संक्लेश का विशोधन

होता है, और समाधि से तृष्णा-संक्लेश का, वहाँ शील से दुश्चरित संक्लेश का विशोधन होता है। पटिसम्भिदामग्ग के अनुसार, 'शील क्या है ? शील चेतना है, शील चैतसिक है, शील संवर है, शील अव्यतिक्रम है।' इस उक्ति में शील के दो पक्ष निर्दिष्ट हैं—आभ्यन्तर और बाह्य। शील का सार है चित्त का कुशल धर्मों की ओर झुकाव और उसकी अभिव्यक्ति होती है कायिक और वाचिक संयम में। उपासक और उपासिकाओं के लिए नित्य-शील के रूप में पंचशील उपदिष्ट हैं। अनुपसम्पन्न श्रामणेरों के लिए दश-शील का विधान है। उपसम्पन्न भिक्षु के लिए नाना शिक्षापदों में प्राति-मोक्ष-संवर, इन्द्रिय-संवर, आजीव-परिशुद्धि, प्रत्ययसंनिश्रित शील आदि प्रज्ञप्त हैं।

उपासकधर्म—तथागत की धर्म-देशना प्रधानतया घर-बार छोड़कर संसार से निवृत्ति के लिए कमर कसे हुए भिक्षुओं के लिए थी, किन्तु अधिकांश जनता सहसा इतने त्याग के लिए सन्नद्ध नहीं थी। अतएव तथागत ने उन्हें उपासक के रूप में ग्रहण किया एवं उनके लिए धर्म का गृहस्थोपयोगी संस्करण प्रचारित किया जिसमें निष्कामता और नैष्कर्म्य के स्थान पर संयम, सन्तोष, एवं शुभ-कर्मों पर जोर था। इस मार्ग के अनुसरण से प्रत्यक्ष जीवन में सुख और सौभाग्य एवं और्ध्वदैहिक जीवन में सद्गति का लाभ होता है। दीघनिकाय में सिंगाल-सुत्त में उपासक-धर्म का विशेष निरूपण किया गया है। आर्य श्रावक को चार कर्म-क्लेशों को छोड़ना चाहिए, चार स्थानों से पाप न करना चाहिए एवं भोगों के ६ अपायमुखों का सेवन न करना चाहिए। इस प्रकार चौदह पापों से मुक्त होकर एवं छः दिशाओं का वास्तविक सत्कार कर ऐहिक और आमुष्मिक कल्याण का लाभ होता है। चार कर्म-क्लेश हैं—प्राणातिपात, अदत्तादान, काम-मिथ्याचार, मृषावाद। छन्द, दोष, भय और मोह, चार स्थान है, पाप-कर्म के लिए। भोगों के छः अपायमुख हैं—मद्यपान, विकालचर्या, समज्याभिचरण, द्यूत, पापमित्रता, एवं आलस्य। वस्तुतः सत्करणीय छः दिशाएँ हैं—माता-पिता, आचार्य, पुत्र-दार, मित्रामात्य, दास-कर्मकर, एवं श्रामण-ब्राह्मण। इनके लिए सम्यक् प्रतिपत्ति आवश्यक है। माता-पिता के लिए भरण, कृत्य-सम्पादन, कुल-वंश-स्थापन, दायाद्य-प्रतिपत्ति, एवं उनके देहान्त पर दक्षिणा-दान अपेक्षित हैं। आचार्य की सेवा के लिए उत्थान, उपस्थान, शुश्रूषा, परिचर्या एवं शिल्प-ग्रहण आवश्यक हैं। भार्या के लिए सम्मानन, अनवमानन, अनतिचर्या, ऐश्वर्यव्युत्सर्ग एवं अलंकारानुप्रदान कर्तव्य हैं। मित्रों के लिए दान, प्रियवाद, अर्थचर्या, समानात्मता एवं अविसंवादनता अपेक्षित हैं। दास-कर्मकरों के लिए यथाबल कर्मान्तसंविधान, भक्तवेतनानुप्रदान, ग्लानोपस्थान,

स्वसंविभाग, एवं समय में व्युत्सर्ग आवश्यक है। श्रामण-ब्राह्मणों के लिए मनसा, वाचा, कर्मणा मैत्री, विवृतद्वारता एवं आमिषानुप्रदान अपेक्षित है।

द्रव्यमय यज्ञों का एवं नाना देवताओं की पूजा का भगवान् बुद्ध ने विरोध किया। वास्तविक योग और पूजा को उन्होंने आध्यात्मिक एवं शील के आचरण से अभिन्न बनाया है। ऐसे ही, कठोर तपश्चर्या का भी उन्होंने विरोध किया। यह प्रसिद्ध है कि उन्होंने अपने पहले ही उपदेश में सुखानुसंधान एवं कठोर तप के मध्यवर्ती मार्ग को सराहा था। ध्यान का समर्थन उन्होंने देव-लोकों की प्राप्ति के लिए नहीं, प्रत्युत चित्त के परिष्कार के लिए एवं ज्ञान तथा वैराग्य की प्राप्ति के लिए किया[१५५]।

बोधिपाक्षिकधर्म—महापरिनिर्वाण-सूत्र में यह कहा गया है कि तथागत ने अपने अन्तिम समय में ३७ बोधिपाक्षिक धर्मों को ही अपने शिष्यों के लिए विरासत की तरह छोड़ा था, किन्तु यह स्मरणीय है कि इस सूची में इन बोधिपाक्षिक धर्मों को संख्यावृद्धि के क्रम से निर्दिष्ट किया गया है। पहले चतुष्क, फिर पंचक, फिर सप्तक और फिर अष्टक। किन्तु संयुत्त निकाय में इन्हीं वर्गों का इतना क्रमिक संकेत नहीं है, यहाँ तक कि अष्टांग मार्ग का स्थान अन्तिम न होकर पहला है। इससे सूचित होता है कि कदाचित् महापरिनिर्वाण-सूत्र में बोधिपाक्षिक धर्मों का उल्लेख अपेक्षया परवर्ती है जबकि उनका क्रम अधिक युक्तियुक्त हो गया था एवं जब अष्टांग मार्ग का महत्त्व कुछ घट गया था।

प्रायः यह माना जाता है कि अष्टांग-मार्ग तथागत की मूल देशना का अंग था। इस मत का श्रीमती राइजडेविड्स ने सबल विरोध किया है[१५६]। मार्ग की उपमा अवश्य ही मूल देशना में थी, किन्तु अंगुत्तर-निकाय के अष्टक-निपात से एवं दीघ-निकाय के संगीत-सूत्र से अष्टांग-मार्ग का तन्नामांकित अष्टक के रूप में अनुल्लेख अभी भी सन्तोष-जनक रूप से समझाया नहीं जा सका है। यह भी स्मरणीय है कि अनेक स्थलों में मार्ग का उल्लेख बिना अष्टांगों के उल्लेख के हुआ है। वस्तुतः बोधिपाक्षिक धर्म की अन्तर्गत सूचियाँ विभिन्न दृष्टियों से मार्ग के अंगों का उल्लेख करती हैं। अष्टांग-मार्ग में ऐसी विशेषता नहीं है कि उसको शेष सूचियों से वैशिष्ट्य दिया जाय। कहीं-कहीं ब्रह्मचर्य की ७ अवस्थाएँ कही गयी हैं, कहीं दशांग मार्ग का उल्लेख है[१५७]।

१५५–तु०—**श्रीमती राइजडेविड्स**, शाक्य, पृ० १८०।

१५६–शाक्य, पृ० ८९ इत्यादि।

१५७–मज्झिम०, सुत्त, २४,१०७, अंगुत्तर० १०.१३–१६।

अष्टांग मार्ग के अन्तर्गत सम्यग्-दृष्टि का अर्थ उसके प्रायिक अर्थ से भिन्न है। बौद्ध साहित्य में दृष्टि शब्द का उपयोग अक्सर मिथ्या धारणाओं के लिए किया जाता है। सम्यग्-दृष्टि को प्रायः चार आर्यसत्यों का ज्ञान बताया गया है। सम्यक्-संकल्प, सम्यग्वाक्, एवं सम्यक्कर्मान्त—ये उपनिषदों में विदित मन, वाणी और शरीर के कर्म हैं। सम्यक्-संकल्प को निष्काम-संकल्प, अव्यापाद-संकल्प एवं अविहिंसा-संकल्प कहा गया है। अर्थतः रागद्वेष-वर्जित संकल्प ही सम्यक्-संकल्प है। मृषावाद, पैशुन्य, परुषता, सम्प्रलाप—इनसे विरति सम्यग्वाक् है। प्राणातिपात, अदत्तादान, एवं कामगतमिथ्याचार से विरति सम्यक्कर्मान्त है। सम्यग्-आजीव का ब्रह्मजाल-सूत्र में विस्तृत वर्णन किया गया है। सम्यग्-व्यायाम, सम्यक्-स्मृति एवं सम्यक्-समाधि प्रकारान्तर से सम्बोध्यगों, इन्द्रियों एवं बलों में भी गिने गये हैं।

व्यायाम, वीर्य, पराक्रम एवं उत्थान—इनका प्राचीन सद्धर्म में बहुत महत्त्व था। इस दिशा में सद्धर्म निर्ग्रन्थों के मत के सदृश था। एक ओर, आजीवकों ने पुरुषार्थ को निष्फल घोषित किया था। उनका कहना था कि पुरुष-पराक्रम अथवा आत्म-स्वातन्त्र्य नाम की कोई शक्ति नहीं है। सब कुछ पूर्व-कर्म से व्यवस्थित है। दूसरी ओर, उस युग मे ईश्वरवाद के साथ-साथ अनुग्रहवाद की अवतारणा हुई थी। इस मत में भी व्यक्ति के पराक्रम का आध्यात्मिक आकिंचन्य निश्चित था। इन दोनों प्रकारों के नियतिवाद का जैनों में और बौद्धों में तिरस्कार मिलता है। इनमें परस्पर भेद पहले तो इस पर आश्रित था कि जैनों के लिए क्रिया अथवा पुरुषार्थ कठोर तपोरूप होना चाहिए जबकि बुद्ध भगवान् ने मध्यमा प्रतिपद का उपदेश किया था, और दूसरे इस पर कि बौद्धों में ज्ञान के लिए क्रिया परिकर्म एवं पूर्वांग मात्र है। इस प्रसंग में यह स्मरणीय है कि सम्यक्प्रधान से भी वहाँ प्रायः वही अभिप्राय है जो सम्यग्व्यायाम से।

सम्यक्–प्रधान में अकुशल-धर्मों से संवर और उनका प्रहाण एवं कुशल धर्मो की भावना और उनका अनुरक्षण उपदिष्ट है। यह कहा गया है कि प्रधान शील पर आश्रित है, संयोजनों को नष्ट करता है और निर्वाण तक ले जाता है।

पाँच इन्द्रियाँ और पाँच बल दोनों एक ही हैं। वस्तुतः इन्द्रिय शब्द का भी मूल अर्थ बल ही है। ये पाँच हैं—श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि एवं प्रज्ञा। कुछ स्थलों में इन पाँच के स्थान पर केवल चार अथवा तीन का ही उल्लेख है[१५८]। कुछ अन्य स्थलों पर पाँच

१५८–अंगुत्तर० रो० जि० ४, पृ० ३६३; संयुत्त रो० जि० ५, पृ० २२४।

बलों की सूची प्रकारान्तर से दी हुई है, यथा स्मृति, ह्री, अपत्राप्य, वीर्य और प्रज्ञा[१५९]। स्थानान्तर में इन पाँच के साथ श्रद्धा और समाधि जोड़कर सात बल हो गये हैं[१६०]। इन्द्रिय शब्द का निकायों में नाना अर्थों में प्रयोग किया गया है। बल और इन्द्रियाँ उपशम और सम्बोधि की ओर ले जाती हैं तथा अनुशय और संयोजनों का क्षय करती हैं। योगदर्शन में भी इन पाँच का सम्प्रज्ञात-समाधि के प्रसंग में उल्लेख है[१६१]।

तथागत ने अपने धर्म को प्रत्यात्मवेदनीय बताया था एवं उन सब मतों का निराकरण किया था जो कि केवल श्रद्धा, रुचि, अनुश्रव, आकार, परिवितर्क एवं दृष्टि-निध्यानक्षान्ति पर आश्रित हैं[१६२]। उन्होंने ब्राह्मणों और निर्ग्रन्थों की अन्ध-श्रद्धा तथा परम्परावादिता का खण्डन किया और अपने धर्म को "संदिट्ठिको, अकालिको, एहि-पस्सिको, ओपनयिको, पच्चत्तं, वेदितब्बो, विञ्ञूहि घोषित किया[१६३]। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि सद्धर्म में जिस श्रद्धा का महत्त्व और शक्ति ख्यापित की गयी है वह श्रद्धा अन्ध-श्रद्धा न होकर दर्शन-मूलिका श्रद्धा है। ऐसी श्रद्धा ही मनुष्य का सनातन सहारा है। यह स्मरणीय है कि योगसूत्र (१.२०) के व्यास-भाष्य में श्रद्धा की परिभाषा की गयी है चित्त का सम्प्रसाद। इस सम्प्रसाद को वाचस्पति मिश्र ने अभिरुचि तथा अतीच्छा कहा है एवं वार्तिककार का कहना है सम्प्रसाद का अर्थ है, 'प्रीति, यह इच्छा कि 'मेरा योग सफल हो'। ऐसे ही अर्थ को बुद्धिस्थ रखकर उदान में कहा है—'श्रद्धा-करके मैं घर से बेघर हुआ हूँ'। इस प्रकार श्रद्धा का अर्थ आध्यात्मिक उपायों में भरोसा और उत्साह है, न कि मत-विशेष में सुनने मात्र से युक्ति-निरपेक्ष आग्रह अथवा अभिनिवेश। श्रद्धा होने पर वीर्य अथवा साधन में अथक पुरुषार्थ सम्भव होता है। श्रुति में कहा है 'नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः···'। साधन का निरन्तर और दीर्घकालीन अभ्यास बिना परिश्रम और पराक्रम के सम्भव नहीं है। आलस्य, अवसाद, मन्दता, आदि से वीर्य ही बचा सकता है। योगशास्त्र में कहा है 'तीव्र संवेगानामासन्नः'। समाधि की प्राप्ति अभीप्सा और प्रयत्न की तीव्रता पर निभर है।

१५९–अंगुत्तर० रो० जि० ३, पृ० १०।

१६०–अंगुत्तर० रो०, जि० ४, पृ० ३।

१६१–योगसूत्र, "श्रद्धावीर्यस्मृतिसमाधि-प्रज्ञापूर्वक इतरेषाम्।" (१.२०)।

१६२–मज्झिम० रो०, जि० २, पृ० २१८, २३४ इत्यादि।

१६३–उदा०, दीघ० रो० २.२२२ इत्यादि।

स्मृति—स्मृति का महत्त्व इससे स्पष्ट है कि बोधिपाक्षिक-धर्मों की सात सूचियों में से पाँच में उसका उल्लेख है और एक केवल उसी का विस्तार है। स्मृति शब्द अपने प्रचलित अर्थ में चित्त के सुविदित धर्म-विशेष का संकेत करता है। चित्त का यह स्वभाव है कि वह अनुभव के व्यतीत होने पर भी उसकी निशानी या संस्कार का संरक्षण करता है एवं अनुभूत अर्थ का संस्कार के द्वारा फिर से ज्ञान स्मरण कहलाता है। आध्यात्मिक साधन के प्रसंग में ध्येय विषय का निरन्तर स्मरण ही स्मृति शब्द से सूचित होता है। योगदर्शन के "श्रद्धावीर्य-स्मृति-समाधिप्रज्ञापूर्वक इतरेषाम्" इस सूत्र की व्याख्या में भाष्यकार ने कहा है कि स्मृत्युपस्थान सिद्ध होने पर चित्त समाहित हो जाता है। तत्ववैशारदी, पातंजलरहस्य एवं योगवार्तिक में स्मृति शब्द का अर्थ यहाँ ध्यान किया है क्योंकि वही समाधि का साक्षात् द्वार है। 'कायगता स्मृति' अथवा 'आनापान-स्मृति' के पर्यालोचन से स्पष्ट है कि यही अर्थ बौद्धों का भी अभिप्रेत है। चतुर्थ-ध्यान के वर्णन में स्मृतिपरिशुद्धि की उपलब्धि कही गयी है। निरन्तर स्मृति का महत्व उपनिषदों में विदित है। छान्दोग्य (७.२६.२) में कहा गया है 'आहारशुद्धौ सत्वशुद्धिः सत्वशुद्धा ध्रुवा स्मृतिः स्मृतिलम्भे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षः[१६४]। अप्रमाद का उपदेश भी इस प्रसंग में स्मरणीय है, यथा 'नायमात्मा बलहीनेन लभ्यो न च प्रमादात्—[१६५] 'अप्रमत्तेन वेद्धव्यं—'[१६६]। सद्धर्म में अप्रमाद पर बार-बार जोर दिया गया है। तथागत के अन्तिम शब्द यही कहे गये हैं—"अप्रमाद से सम्पन्न करना—'। सामान्यतः चित्त मोह एवं विक्षेप में पड़ा रहता है। उसे समाहित करने के लिए यह आवश्यक है कि उसे प्रयत्नपूर्वक स्मृतिसाधन के द्वारा प्रत्यग्-जागरूक एवं एकाग्रभूमिक बनाया जाय। स्मृति की अनिवार्यता द्योतित करने के लिए उसे "एकायन मार्ग' कहा गया है। स्मृति का अभ्यास निरन्तर आध्यात्मिक जागरूकता का अभ्यास है। स्मृति चित्त को असत्सम्पर्क और असत्प्रचार से बचाती है। अतएव उसे चित्त का 'आरक्षक' अथवा 'दौवारिक' कहा गया है।

१६४—"आहार शुद्ध होने पर चित्त शुद्ध होता है, चित्त शुद्ध होने पर निरन्तर स्मृति होती है, स्मृति प्राप्त होने पर सब ग्रन्थियाँ खुल जाती हैं।"

१६५—मुण्डक० ३.२.४ "यह आत्मा बलहीन से लभ्य नहीं है, और न प्रमाद से (लभ्य है)।"

१६६—मुण्डक० २. २.४, "अप्रमत्त होकर वेध करना चाहिए।"

निकायों में स्मृति-साधन के अनेक प्रकार निर्दिष्ट हैं[१६७]। उनमें कायगता स्मृति, आनापान स्मृति, एवं चार स्मृति-प्रस्थान मुख्य हैं। कायगता स्मृति शरीर के ध्यान का ही नाम है। शरीर के अंग-प्रत्यंगों के रंग, आकार, स्थिति आदि का एक निश्चित क्रम में निरन्तर चिन्तन करने से काय-स्मृति उपस्थित होती है। इस स्मृति के सिद्ध होने से अपने एवं औरों के शरीर निरे हाड़-मास के पुतले प्रतीत होते हैं तथा कायिक जीवन की ओर वितृष्णा उत्पन्न होती है। आनापान-स्मृति में साँस पर ध्यान दिया जाता है। जितना महत्त्व योग में प्राणायाम का है उतना ही बौद्ध साधन में आनापान-स्मृति का। वस्तुतः यह स्मृति एक प्रकार का बौद्ध प्राणायाम ही है। जहाँ प्राणायाम में साँस का प्रयत्नपूर्वक नियमन और निरोध किया जाता है, आनापान स्मृति में केवल साँस की गति को निरन्तर लक्ष्य किया जाता है। किन्तु इस प्रकार साँस की ओर ध्यान देने से उसकी गति सूक्ष्म और सूक्ष्मतर होते हुए प्रकर्ष में निरुद्धवत् हो जाती है। यह अवस्था केवल-कुम्भक की अवस्था से तुलनीय है। आनापान-स्मृति की प्रक्रिया अजपा-जाप की विधि से भी सादृश्य रखती है, किन्तु उसमें किसी प्रकार के मन्त्र अथवा नाद के अनुसन्धान का कहीं उल्लेख प्राप्त नहीं होता।

चार स्मृति-प्रस्थानों में पहला कायानुपश्यना है, दूसरा वेदनानुपश्यना, तीसरा चित्तानुपश्यना और चौथा धर्मानुपश्यना। कायानुपश्यना में कायिक धर्मों का यथास्थित अनुसन्धान विहित है। वेदनानुपश्यना में सुख-दुःख आदि वेदनाओं का यथार्थ बोध किया जाता है। चित्तानुपश्यना समस्त-चित्त-विषयक जागरूकता है। धर्मानुपश्यना नीवरण, स्कन्ध, आयतन, संयोजन, बोध्यंग एवं चार आर्यसत्यों के बोध और स्मरण से सम्पन्न होती है। संक्षेप में स्मृति का साधन 'तन, मन, पवन' की गतिस्थिति के अनुसन्धान के द्वारा किया जाता है।

बोध्यंगों को सम्बोधि के उपयोगी तत्त्व माना जाता है और प्रायः वे सात गिनाये गये हैं—स्मृति, धर्म-विचय, वीर्य, प्रीति, प्रश्रब्धि, समाधि एव उपेक्षा। नीवरणों के प्रतिकार के लिए बोध्यंगों का विशेष रूप से उपदेश मिलता है। कामच्छन्द, अभिध्या-व्यापाद, स्त्यान-मृद्ध, औद्धत्य-कौकृत्य, एवं विचिकित्सा, ये पाँच नीवरण हैं[१६८]। चित्त को अभिभूत कर ये नीवरण उसे समाधि के अनुपयोगी न बना दें, इसलिए बोध्यंगों की

१६७—मज्झिम०—सतिपट्ठानसुत्त; दीघ० महासतिपट्ठान०; संयुत्त० सतिपट्ठानसंयुत्त० प्रभृति स्थलों पर।

१६८—अर्थात् राग, द्वेष, आलस्य, उद्धतता, एवं संशय।

यथावसर भावना करनी चाहिए। स्मृति-प्रस्थानों से बोध्यंग समर्पित होते हैं एवं स्वय विद्या-विमुक्ति को समर्पित करते हैं[१६९]।

ऋद्धिपादों को ऋद्धि के अनुकूल साधन समझा जा सकता है। ऋद्धिपाद चार बताये गये हैं[१७०]।—छन्दसमाधिप्रधानसंस्कार-समन्वागत-ऋद्धिपाद, वीर्य, चित्त०, एवं मीमांसा०। इनका स्पष्ट वर्णन प्राप्त नहीं होता। इस प्रसंग में स्मरणीय है कि तथागत ने चमत्कार अथवा प्रातिहार्य के तीन प्रकार बताये थे—ऋद्धि-प्रातिहार्य, आदेशना-प्रातिहार्य, एवं अनुशासन-प्रातिहार्य। ये सभी मनुष्योत्तर धर्म हैं, किन्तु इनमें पहले दो गान्धारी विद्या अथवा मणिका विद्या से भी प्राप्त हो सकते हैं। ऐसे जादू के चमत्कार को भगवान् बुद्ध ने हेय बताया। उनके मत में धर्माचरण से लब्ध आध्यात्मिक विशुद्धि और प्रगति ही वास्तविक चमत्कार है[१७१]।

बोधिपाक्षिक धर्मों पर विचार करने से ज्ञात होता है कि बुद्धोपदिष्ट मार्ग में संयम, पुरुषार्थ, जागरूकता एवं एकाग्रता का अत्यधिक महत्त्व था। तथागत ने शील-व्रत-परामर्श का खंडन किया। वे कोरे बाहरी आचार के नियमों को महत्त्व नहीं देते थे। जिन शीलों का उन्होंने उपदेश किया वे आपाततः वर्जनात्मक होते हुए भी वस्तुतः भावनात्मक हैं। संसारी एवं साधक-गण स्वभावतः अतिमात्रता की ओर प्रवण होते हैं। अतएव बुद्ध ने सुख-भोग और घोर-तप, दोनों के मध्यवर्ती मार्ग का उपदेश किया।

प्रश्नोपनिषद् (१.१५-१६) में कहा है—'तेषामेवैष ब्रह्मलोको येषां तपो ब्रह्मचर्यं येषु सत्यं प्रतिष्ठितम्॥ तेषामसौ विरजो ब्रह्मलोको न येषु जिह्ममनृतं न माया चेति'[१७२]। मुण्डक के अनुसार 'सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम्'[१७३]। छान्दोग्य में कहा गया है—'ब्रह्मचर्येण ह्येवेष्टात्मानमनुविन्दते'[१७४]। ज्ञान के लिए सत्य और ब्रह्मचर्य की आवश्यकता बौद्धों में पूरी स्वीकृत है। अन्यत्र देवताओं, मनुष्यों

१६९—संयुत्त० रो०, ५.३२९ इत्यादि।

१७०—द्र०—दीघ० जनवसभसुत्तन्त; संयुत्त० रो० जि० ५, पृ० २६८ प्र०।

१७१—तु०—विसुद्धमग्गो, पृ० २६२ प्र०।

१७२—"उन्हीं का यह निर्मल ब्रह्मलोक है जो तपस्वी, ब्रह्मचारी एवं सत्यनिष्ठ हैं। वह ब्रह्मलोक उनका नहीं है जिनमें कुटिलता, झूठ या वंचना है।"

१७३—"यह आत्मा सत्य से लभ्य है, तप से, सम्यग्ज्ञान से, नित्य ब्रह्मचर्य से" (मुण्डक ३.१.५)।

१७४—"ब्रह्मचर्य से ही अभीष्ट आत्मा को प्राप्त करता है।" (छा० ८.५.१)।

एवं असुरों को क्रमशः दम, दान एवं दया का उपदेश दिया गया है[१७५]। सद्धर्म में दम अथवा संयम सबके लिए आवश्यक है, दान उपासकों के लिए महत्त्वपूर्ण है एवं दया- "धर्म का मूल है"। वैदिक धर्म एवं सद्धर्म के शील-विधान में अनिवार्य सादृश्य होते हुए भी अंगतारतम्य का भेद है।

अहिंसा—अहिंसा, मैत्री, करुणा, सहानुभूति एवं सहिष्णुता का बौद्ध शील में मूर्धन्य स्थान है। शतपथ ब्राह्मण में ब्राह्मण को सबका मित्र तथा अहिंसक कहा गया है[१७६]। दीक्षित को अक्रोध बताया गया है, एवं उत्तर-वैदिक-साहित्य में याज्ञिक हिंसा के प्रति कहीं-कहीं आपत्ति प्रकट होती है। इस प्रवृत्ति का बौद्ध साहित्य में प्रचुर विकास देखा जा सकता है और इस विकास का कारण संसारवाद एवं कर्मवाद का प्रचार माना जाना चाहिए। यह मानने पर कि एक ही जीव-सत्ता कर्म-भेद से नाना योनियों में जन्म पाती है, समस्त ब्रह्माण्ड के प्राणियों का आध्यात्मिक सम्बन्ध सिद्ध हो जाता है। लोक-जीवन हिंसा के विकट और जटिल जाल में फँसा है। बिना उस जाल को काटे निवृत्ति-मार्ग में गति सम्भव नहीं है। योगभाष्यकार ने कहा है कि शेष सब नियम अहिंसा को विशुद्ध करने के लिए ही स्वीकार किये जाते हैं। उन्होंने इस प्रसंग में एक प्राचीन उद्धरण दिया है जो उल्लेखनीय है—'स खल्वयं ब्राह्मणो यथा-यथा व्रतानि वहूनि समादित्सते तथा-तथा प्रमाद-कृतेभ्यो हिंसानिदानेभ्यस्तामेवावदातरूपामहिंसां करोति[१७७]। वार्तिककार ने मोक्षधर्म से प्रासंगिक उद्धरण दिया है—

"यथा नागपदेऽन्यानि पदानि पदगामिनाम् ।
सर्वाण्येवापिधीयन्ते पदजातानि कौञ्जरे ॥
एवं सर्वमहिंसायां धर्मार्थमपिधीयते[१७८] ॥"

इसी कारण निर्ग्रन्थ मत में हिंसा का सर्वथा वर्जन उपदिष्ट है। सद्धर्म में कर्म को मूलतः मानसिक माना है और अतएव निर्ग्रन्थों से भेद है। बौद्ध अहिंसा न केवल पशु-

१७५—बृ० उप०, ५.२।

१७६—शतपथ० जि० १, पृ० २७९।

१७७—**"जैसे-जैसे ब्राह्मण बहुत-से व्रतों को स्वीकार करना चाहता है, वैसे-वैसे वह प्रमादकृत हिंसामूलक (दोषों) से अहिंसा को ही विशुद्ध करता है।" (पृ० २७८)।**

१७८—**"जैसे हस्तिपद में अन्य जन्तुओं के पद विलीन हो जाते हैं, ऐसे ही अहिंसा में सब धर्म लीन हो जाते हैं।"**

हिंसा अथवा पर-पीडन की वर्जना है, अपितु शान्ति, मैत्री एवं सहानुभूति की भावना है। दूसरे से घोर क्लेश पाने पर भी अप्रतिकार और सहिष्णुता के आदर्श की मज्झिम-निकाय के 'ककचूपमोवाद' में प्रसिद्ध अभिव्यक्ति उपलब्ध होती है। मैत्री की भावना का अनेक सूत्रों में गुणगान प्राप्त होता है। इस प्रसंग में चार ब्रह्म-विहारों का साधन विशेष रूप से उल्लेखनीय है[१७९]। यह कहा गया है कि ब्रह्म-विहारों का अभ्यास बौद्धेतर सम्प्रदायों में पहले से विदित था और उन्हीं से बौद्धों ने उसे सीखा। यह सम्भव है। कम-से-कम परवर्ती काल में योगसूत्रों में ब्रह्म-विहारों का चित्तप्रसादन के लिए उपदेश पाया जाता है। मैत्रीभावना पहला ब्रह्मविहार था। अन्य व्यक्तियों की आत्मोपमता का स्मरण करने से मैत्री का भाव उत्पन्न होता है और 'वे सुखी रहें, दुःख न पायें, उनका कल्याण हो', इस प्रकार की इच्छा में साकार होता है। अधिकाधिक व्यक्तियों एवं वर्गों की ओर इस भावना को प्रसारित करना चाहिए। पर-दुःख के स्मरण से करुणा का भाव उत्पन्न होता है, पर-सुख के स्मरण से मुदिता का, एवं सर्वत्र कार्यकारण-नियम के अव्याहत व्यापार के स्मरण से उपेक्षा के भाव का जन्म होता है। पहले तीनों भाव सहानुभूति के विभिन्न रूप हैं और ध्यान के द्वारा उनकी वृद्धि ही पहले तीन ब्रह्म-विहार हैं। चौथे ब्रह्म-विहार में दार्शनिक उदासीनता अथवा मध्यस्थता का अभ्यास किया जाता है। योगशास्त्र में उपेक्षा का विषय दूसरों के अपुण्य बताये गये हैं और इस कारण इस ब्रह्म-विहार का कुछ भिन्न प्रकार से प्रतिपादन किया गया है। ब्रह्म-विहार चित्त-शुद्धि के उत्तम उपाय हैं और साथ ही वे आदर्श सामाजिक भावनाओं को प्रस्तुत करते हैं। मैत्री आदि चित्त की उत्कृष्ट अवस्थाएँ हैं। जहाँ ये एक ओर आध्यात्मिक प्रसाद समर्पित करती हैं दूसरी ओर सामाजिक हित-सुख का भी इनसे साधन होता है। मैत्री का राग से विवेक करना चाहिए। दोनों ही अपने विषयों में गुण-दर्शी होते हैं, किन्तु मैत्री में परार्थता का प्राधान्य होता है, राग में स्वार्थ का। करुणा को शोक से बचाना आवश्यक है। करुणा दूसरे के दुःख को हटाती है, शोक अपने को भी दुःख में निमग्न करता है। मुदिता लौकिक सौमनस्य से भिन्न है और ईर्ष्या का निरोध करती है। उपेक्षा सुख-दुःख की अनिवार्यता एवं समस्त लौकिक अनुभवों की परतन्त्रता दिखाती हुई धीरता और निर्विकारता में पर्यवसित होती है।

ध्यान—तथागत की देशना में ध्यान ही मार्ग का प्रधान अंग था। ध्यान के द्वारा ही बोधि सत्त्व ने सम्बोधि का लाभ किया था। बचपन से ही वे ध्यानप्रवण थे और

१७९–तु०—जे० आर० ए० एस०, १९२८, २७१ प्र०।

उनको बराबर ध्यायी, ध्यानशीली, प्रतिसंल्ययन-परायण, एवं ध्यानोपदेशी बनाया गया है। यहाँ तक कि बौद्धों का ध्यानरत होना एक उपहास का विषय बन जाता था। एक स्थल पर मार के द्वारा समत्सर कहा पाया जाता है—'जैसे नदी के किनारे सियार मछलियों को खोजता हुआ ध्यान करता है, प्रध्यान करता है, निध्यान करता है, अपध्यान करता है, ऐसे ही मुंडक, श्रमण, इम्य, कृष्ण, बन्धुपादापत्य यह कहते हुए कि "हम ध्यायी है" कन्धे झुकाये, मुँह नीचा किये, जैसे नशे में हों, ध्यान करते है, प्रध्यान करते हैं, निध्यान करते हैं, अपध्यान करते हैं[१८०]।" एक निर्ग्रन्थ सन्दर्भ में भी कहा गया है कि "कुछ ऐसा ध्यान करते हैं जैसे सारस मछलियों के लिए[१८१]।" यहाँ पर कदाचित् शाक्यपुत्रीयों की ओर निर्देश है। एक स्थान पर देवेन्द्र शक्र के द्वारा पंचशिख से कहा गया है 'तात पंचशिख, मुझ जैसे के लिए ध्यायी, ध्यानरत, प्रतिसंलीन तथागत दुरुपसंक्रम है[१८२]।' अनेक सूत्रों के अन्त में यह प्ररोचना पायी जाती है कि भिक्षुओ, ये वृक्ष-मूल हैं, ये शून्यागार हैं, ध्यान करो, प्रमाद मत करो, पीछे पश्चात्ताप न करना। यही हमारा अनुशासन है[१८३]। ध्यान का बलों, इन्द्रियों और सम्बोध्यंगों में प्रमुख स्थान है। तथागत के अनेक शिष्यों की ध्यानकुशलता की प्रशंसा की गयी है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि बुद्ध भगवान् और उनके अनुयायी ध्यान को ही सम्बोधि का प्रधान उपाय मानते थे और उसका अभ्यास करते थे। अन्यत्र अविदित न होते हुए भी ध्यान का बौद्धों में अपेक्षाकृत प्रचार अत्यधिक था।

उपनिषदों में ध्यान का उल्लेख पाया जाता है। छान्दोग्य (७.६.१) में पृथिवी, अन्तरिक्ष, आकाश, जल, पर्वत, देव, मनुष्य, सब को ध्यान करते हुए-से बताया गया है। बृहदारण्यक (२.४.५) में कहा गया है कि आत्मा द्रष्टव्य, श्रोतव्य, मन्तव्य एवं निदिध्यासितव्य है। कठोपनिषद् (२.४.१) में कहा गया है कि अन्तरात्मा के दर्शन के लिए इन्द्रियों का प्रत्याहार आवश्यक है। सूक्ष्म और एकाग्र बुद्धि से निगूढ़ आत्मा का ज्ञान होता है। वाणी का मन में, मन का ज्ञानात्मा में, ज्ञानात्मा का महान्-आत्मा में एवं महान्-आत्मा का शान्त आत्मा में लय करना चाहिए[१८४]। इस प्रकार उस परम,

१८०—मज्झिम० रो० जि० १, पृ० ३३४।

१८१—सूयगडंग, १,११,२७।

१८२—दीघ० ना० जि० २, पृ० १९८।

१८३—यथा, संयुत्त० रो० ४.३५९ प्र०।

१८४—कठ० १.३.१२—१३।

अदृश्य पुरुष-तत्त्व का दर्शन सम्भव है। "जब पाँचों इन्द्रियों के ज्ञान मन के साथ अवस्थित हो जाते हैं और बुद्धि विचेष्टाहीन हो जाती है, उसको परम गति कहते हैं। उस स्थिर इन्द्रिय धारण को योग कहते हैं। उस समय प्रमाद हट जाता है[१८५]। मुण्डकोपनिषद् (२. २.) में कहा गया है कि पुरुष बुद्धि अथवा गुहा में निहित है। उसके ज्ञान के लिए भावगत चित्त से प्रणवरूप धनु को खींचकर उपासना के द्वारा निशित आत्म-रूप शर का ब्रह्मरूप लक्ष्य में अप्रमत्त सन्धान करना चाहिए। अन्यत्र कहा गया है कि आत्मा को प्रणवरूप ध्यान करना चाहिए और इस प्रकार उसके ज्ञान से हृदय-ग्रंथि छिन्न हो जाती है एवं कर्म क्षीण हो जाते हैं। आत्मा अन्तस्थित ज्योति है जिसका दर्शन सत्त्व-शुद्धि होने पर ज्ञान के प्रसाद से एवं निष्कल ध्यान से होता है। श्वेताश्वतर (१. ३, २. ८-१५) में ध्यान योग का अधिक विस्तृत वर्णन है। यहाँ कहा गया है कि ध्यानयोग के अनुगत होकर अपने गुणों से निगूढ़ देवात्म-शक्ति का ब्रह्मवादियों ने दर्शन किया। क्षर और अक्षर के नियन्ता एकमात्र देव के अभिध्यान से, योग से, तादात्म्य से माया-निवृत्ति होती है। अपने शरीर को अरणि समझकर एवं प्रणव को उत्तरारणि समझकर ध्यान के निर्मथन के अभ्यास के द्वारा निगूढ़वत् देव का दर्शन करे। इसी उपनिषद् में अन्यत्र कहा गया है कि शरीर को सम एवं त्रिघा उन्नत स्थापित करके एवं हृदय, मन तथा इन्द्रियों का निरोध करके, प्राणायाम के अभ्यास से आत्मतत्त्व को जानना चाहिए। योग में प्रकट होनेवाली ज्योतिःप्रवृत्ति का उल्लेख यहाँ किया गया है। यह भी कहा गया है कि पंचतत्त्वात्मक योगगुणा के प्रवृत्त होने पर एवं योगाग्निमय शरीर के प्राप्त होने पर न रोग होता है, न जरा, न मृत्यु।

इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि कुछ उपनिषदों में ध्यान एवं योग का पर्याप्त परिचय उपलब्ध है। बाह्य विषयों से मन को हटाकर ज्योतिर्मय प्रत्यगात्मतत्व का ध्यान ही उपनिषदों में अभिप्रेत ध्यान है। अक्सर प्रणव को सहायक प्रतीक के रूप में लिया गया है एवं हृदयप्रदेश में प्राण और मन की निश्चल धारणा का उपदेश किया गया है। सद्धर्म में उपदिष्ट ध्यान को आत्मध्यान नहीं कहा जा सकता और न प्रणव का उसमें कोई स्थान है। वस्तुतः किसी भी प्रकार के मन्त्र का इस ध्यान की प्रक्रिया में उपदेश नहीं प्राप्त होता। प्राण-सम्बन्धी साधन का स्मृति-साधन के अन्तर्गत उपदेश होते हुए भी मन्त्र के साथ उसका साक्षात् सम्बन्ध स्थापित नहीं किया गया है।

१८५—वही, २.६.१०—११।

तथागत ने सब प्रकार के ध्यानों की प्रशंसा नहीं की थी। विशेषत: नीवरणयुक्त चित्त को उन्होंने ध्यान का अनधिकारी बताया है। प्राय: ध्यान-चतुष्टय को सराहा गया है[१८६]। ध्यान समाधि का पूर्वपंग है। समाधि को शमथ-निमित्त, अव्यग्र-निमित्त कहा गया है। सब धर्मों में समाधि प्रमुख है। बुद्धघोष ने समाधि को कुशलचित्त की एकाग्रता कहा है[१८७]। इस प्रसंग में प्रणिधान शब्द भी विचारणीय है। एक परवर्ती ब्राह्मण व्याख्याकार[१८८] ने कहा है कि ध्यान दो प्रकार का है—भावना एवं प्रणिधान। इनमें पहला सिद्ध अथवा कल्पित विषय को अधिकृत करके प्रवृत्त होता है, वस्तुतत्त्व की आवश्यक रूप से अपेक्षा नहीं करता। प्रणिधान में वास्तविक विषय की अपेक्षा रहती है। इस प्रकार का भेद निकायों में प्राप्त नहीं होता, किन्तु प्रणिधान एवं भावना दोनों ही शब्दों का प्रयोग मिलता है। समाधि की भावना अनेक प्रयोजनों के लिए की जा सकती है : दृष्टधर्म सुख-विहार के लिए, ज्ञान-दर्शन—प्रतिलाभ के लिए, स्मृति-संप्रजन्य के लिए, एवं आस्रवक्षय के लिए। अन्य सम्प्रदायों में इनके अतिरिक्त ध्यान का देव-लोक प्राप्ति के लिए अथवा सिद्धियों के लिए भी उपयोग विदित था। ऊपर कहा जा चुका है कि उपनिषदों में प्रत्यग्ज्ञान ही ध्यान का मुख्य प्रयोजन था। तथागत ने स्वयं ध्यान के द्वारा तीन विद्याओं एवं सम्बोधि का लाभ किया। यह स्पष्ट है कि ध्यान लौकिक अथवा लोकोत्तर विषयों और प्रयोजनों से प्रवृत्त हो सकता है। तीन भूमियों में कुशल चित्त की एकाग्रता लौकिक समाधि है। आर्य-मार्ग से संप्रयुक्त एकाग्रता लोकोत्तर समाधि है। प्रज्ञा के भावित होने से लोकोत्तर समाधि भावित होती है। तथागत ने जिस ध्यान का उपदेश किया वह लोकोत्तर समाधि का ही द्वार था। इस ध्यान का प्रयोजन नित्य शान्ति का लाभ एवं इसका प्रारम्भ अनित्यादि लक्षणों के विचार तथा भावना में है।

चित्त का स्वभाव विशुद्ध एवं भास्वर है, किन्तु वह आगन्तुक मल से आवृत है। इन आगन्तुक मलों को उपक्लेश एवं नीवरण कहा गया है। उपक्लेशों एवं नीवरणों के हटाने से चित्त मृदु, कर्मण्य और प्रभास्वर हो उठता है और आस्रवक्षय के योग्य हो जाता है। ध्यान की क्रिया एक प्रकार से चित्त का परिष्कार अथवा परिशोधन है।

१८६–द्र० ऑरिजिन्स ऑव बुद्धिज्म, पृ० ५३३ प्र०।
१८७–विसुद्धिमग्गो, पृ० ५७।
१८८–शान्तिपर्व, १९५.१५ पर नीलकण्ठ।

इस प्रसंग में स्वर्ण के विशोधन का उदाहरण दिया गया है। आस्रव चित्त के आन्तरालिक-दोष है जो कि अविद्या के साथ निवृत्त होते हैं।

ध्यान की चार अवस्थाओं का सुव्यवस्थित और रीतिबद्ध वर्णन अनेक स्थलों पर मिलता है[१८९]। पहले ध्यान में काम एवं अकुशल धर्मों से विविक्त होकर चित्त वितर्क, विचार, एवं विवेकजन्य प्रीति-सुख से युक्त अनुभव में निमग्न रहता है। बुद्धघोष ने वितर्क को विचार का प्रारम्भ एवं विचार को वितर्क का अनुप्रबन्ध बताया है। प्रीति के उन्होंने पाँच प्रकार निर्दिष्ट किये है। दूसरे ध्यान में वितर्क और विचार उपशान्त हो जाते हैं। चित्त अपने अन्दर ही सम्प्रसाद एवं एकाग्रता के साथ समाधि-जन्य प्रीति-सुख का अनुभव करता है। यह निभालनीय है कि पहले ध्यान में सुख विवेकजन्य है, दूसरे ध्यान में समाधिजन्य। तीसरे ध्यान में प्रीति भी छूट जाती है, एवं स्मृति और संप्रजन्य से युक्त शरीर से सुख का प्रतिसम्वेदन होता है। तीसरे ध्यान में पहुँच कर ध्यायी उपेक्षक, स्मृतिमान् एवं सुख-विहारी कहा जाता है। चौथे ध्यान में सुख भी छूट जाता है। इस प्रकार सुख और दुःख, सौमनस्य एवं दौर्मनस्य के अस्त हो जाने से सुख-दुःख-विवर्जित उपेक्षामयी स्मृति-परिशुद्धि का चतुर्थ ध्यान में लाभ होता है। इस स्थिति में साधक परिशुद्ध, पर्यवदात, अनंगण, विगतोपक्लेश, मृदुभूत, कर्मण्य, आनेञ्ज्य-प्राप्त हो जाता है। चतुर्थ ध्यान में चित्त के आनेञ्ज्य अथवा निश्चलता का बहुत्र वर्णन है।

इन चार ध्यानों का शान्तिपर्व (अध्याय १९५) में भी उल्लेख मिलता है। वहां यह कहा गया है कि इस चतुर्विध ध्यानयोग से योगी निर्वाण प्राप्त करता है। योगसूत्रों (१. १७) में भी सम्प्रज्ञात-समाधि का एक सदृश चतुर्धा विभाजन देखा जाता है जो कि स्पष्टतर है। इससे प्रतीत होता है कि वितर्क और विचार की व्याख्या कदाचित् बुद्धघोष ने ठीक नहीं की है और प्रीति-सुख करण-गत सात्त्विक सुख है। ऐसे ही परवर्ती जैन ग्रन्थों में भी ध्यान के भेद वर्णित हैं। अभिधर्म के ग्रन्थों में चार ध्यानों को पाँच ध्यान कर दिया गया है।

यह स्पष्ट है कि ध्यान कल्पना-प्रवण स्वप्निल अवस्था नहीं है, अपितु ध्यान में चित्त सर्वथा निस्तन्द्र एवं जागरूक रहता है। दूसरी ओर ध्यान विचार अथवा चिन्तन भी नहीं है। वस्तुतः चिन्तन एवं संवेदन का निरोध ध्यान का मर्म है। ध्यान में चित्त निश्चल एवं उज्ज्वल हो उठता है। जैसे विशुद्ध दर्पण में अथवा स्थिर एवं विमल जल में

१८९–विशद् और प्रामाणिक विवरण के लिए द्र०—विसुद्धिमग्गो, पृ० ९५ प्र०।

पदार्थ यथाभत प्रतिबिम्बित होते हैं, ऐसे ही ध्यान के द्वारा समाहित चित्त में परमार्थ का बोध स्वतः उत्पन्न होता है। समाहित चित्त में धर्म प्रादुर्भूत होता है[१९०]। स्थिर शुद्ध चित्त में ज्ञान का उदय अनेक प्राचीन दर्शनों में विशेषतः योगदर्शन में अभ्युपेत है।

अनेक स्थलों में ध्यान-चतुष्टय को रूपलोक में ही सीमित माना गया है। उनके पहले कामलोक मानव चेतना की औसत अवस्था है एवं उनके अनन्तर अरूपलोक-विषयक अनेक अरूप-ध्यान। इस क्रम में ध्यान-चतुष्टय निर्वाण का मार्ग नहीं रह जाता, क्योंकि निर्वाण रूप और अरूप दोनों के परे है। ऐसा प्रतीत होता है कि पहले ध्यान-चतुष्टय सम्बोधि का उपयोगी समझा जाता था, किन्तु पीछे उसकी एक भिन्न व्याख्या भी प्रस्तुत हुई। कुछ स्थलों में निर्वाण और निरोध-समापत्ति को प्रायः एक समझा गया है। इस दृष्टि के अनुसार संज्ञा-वेदितनिरोध की अवस्था ही ध्यान का चरम विकास समझा जाना चाहिए। निरोध-समापत्ति योगदर्शन की असम्प्रज्ञात-समाधि के समान प्रतीत होती है। ध्यान और समाधि के रूप एवं अरूप धातु से संबद्ध होने के कारण यह मत भी विकसित हुआ कि शमथ भावना का प्रयोग केवल आनुपूर्वी में संस्कार निरोध ही है। विपश्यना अथवा ज्ञान-मार्ग सम्बोधि एवं निर्वाण के लिए आवश्यक है।

आध्यात्मिक प्रगति—आध्यात्मिक साधना के मार्ग में प्रगति की विभिन्न अवस्थाओं के लिए आख्याभेद प्राचीनतम संदर्भों में स्पष्टतः उपलब्ध नहीं होता। प्रारम्भ में कदाचित् पृथग्जन, आर्य एवं अर्हत् की ही चर्चा थी। त्रिपिटक में अनागामी शब्द के अपारिभाषिक प्रयोग की उपलब्धि इसे प्रमाणित करती है कि मार्ग-चतुष्टय का सिद्धान्त सर्वथा प्राचीन नहीं है। श्रामण्यफल-सूत्र में भी मार्गों एवं मार्गफलों के चतुष्टय की चर्चा प्राप्त नहीं होती। किन्तु पृथग्जन एवं आर्य का भेद अत्यन्त प्राचीन प्रतीत होता है। मज्झिमनिकाय में पृथग्जन उस पुरुष को कहा गया है जोकि अहंकार तथा ममकार के मोह में फँसा हो। इस मोह के कारण वह अनात्म पदार्थों में आत्मग्राही रहता है एवं काम, भव और अविद्या के आस्रवों से प्रेरित होकर कर्म करता है[१९१]।

१९०—तु०—"यदा हवे पातुभवन्तिधम्मा आतापिनो झायतो ब्राह्मणस्स।"—दे०—ऊपर।

१९१—पुग्गल-पञ्जत्ति में तीन संयोजनों को पृथग्जन का लक्षण माना है। तीन संयोजन हैं—सत्कायदृष्टि, विचिकित्सा एवं शीलव्रत-परामर्श। अन्यत्र संयोजन दस गिनाये गये हैं। इनके अन्तर्गत तीन संयोजनों के अतिरिक्त सात प्रायः ये माने जाते हैं—कामच्छन्द, व्यापाद, रूपराग, अरूपराग, मान, औद्धत्य एवं अविद्या।

अंगुत्तर-निकाय एवं पुग्गल-पञ्ञत्ति में पृथग्जन के अनन्तर गोत्रभू की अवस्था भी कही गयी है। इन ग्रन्थों में गोत्रभू को आर्य नहीं माना है। कुछ अन्य परवर्ती ग्रन्थों में, जैसे कि पटिसंभिदामग्ग और अभिधम्मत्थसंगह में, गोत्रभू को आर्य माना गया है। बुद्धघोष ने भी मार्ग-ज्ञान के बाद ही गोत्रभू-ज्ञान माना है[१९२]।

आर्यत्व अथवा स्रोतआपत्ति का अर्थ है कि पुरुष निवृत्ति की ऐसी आध्यात्मिक धारा में पहुँच गया है जो उसे अनिवार्य रूप से सम्बोधि तक ले जायेगी। इसीलिए स्रोतआपन्न को अविनिपात-धर्म, नियत-सम्बोधिपरायण कहा गया है।

जैसे पृथग्जन संसार की बाढ़ में मृत्यु से मृत्यु की ओर बहते रहते हैं, ऐसे ही उनके विपरीत आर्य-गण विद्या के द्वारा विमुक्ति की ओर नियत प्रवाहित होते हैं। स्रोत-आपन्न के लिए सात से अधिक जन्म शेष नहीं रहते।[१९३] जब केवल एक ही जन्म शेष रहता

१९२—आर्यत्व की प्राप्ति स्रोतआपत्ति से होती है, किन्तु गोत्रभू और स्रोतआपन्न के मध्य में श्रद्धानुसारी एवं धर्मानुसारी पुरुष माने जाते हैं। पुग्गलपञ्ञत्ति के अनुसार जिनमें श्रद्धेन्द्रिय का प्राधान्य है वे श्रद्धानुसारी हैं एवं जिनमें प्रज्ञे-न्द्रिय का प्राधान्य है वे धर्मानुसारी हैं। स्रोतआपत्ति होने पर श्रद्धानुसारी श्रद्धाविमुक्त कहलाता है एवं धर्मानुसारी दृष्टिप्राप्त। इनमें से पहले के कुछ आस्रवों का क्षय होता है, दूसरे के अधिक।

निर्वाण की ओर जाने के लिए दो धुरियाँ हैं—श्रद्धा और प्रज्ञा, तथा दो अभिनिवेश हैं—शमथ और विपश्यना, एवं दो शीर्ष हैं—उभतोभाग-विमुक्त और प्रज्ञा-विमुक्त। इनमें प्रज्ञाधुर और शमथाभिनिवेश के अनु-यायी स्रोतआपत्ति के मार्ग में धर्मानुसारी कहलाते हैं, अगली छः अवस्थाओं में काय-साक्षी, एवं अर्हत्व में उभतोभाग-विमुक्त। प्रज्ञाधुर एवं विपश्यना-भिनिवेश के अनुयायी स्रोतआपत्ति-मार्ग में धर्मानुसारी कहलाते हैं, अगली छः अवस्थाओं में दृष्टि-प्राप्त एवं अर्हत्व की अवस्था में प्रज्ञाविमुक्त। श्रद्धाधुर और शमथाभिनिवेश के अनयायी स्रोतआपत्ति-मार्ग में श्रद्धानुसारी कहलाते हैं, अगले छः में श्रद्धा-विमुक्त एवं अर्हत्व में उभतोभाग विमुक्त। श्रद्धाधुर और विपश्यनाभिनिवेश के पथिक स्रोतआपत्तिमार्ग में श्रद्धानुसारी, अगली छः अवस्थाओं में श्रद्धाविमुक्त एवं अर्हत्व में प्रज्ञा-विमुक्त कहलाते हैं।

१९३—बौद्ध धर्म और संघ में दृढ़ श्रद्धा, अवेत्यप्रसाद, एवं शीलवत्व स्रोतआपत्ति के अंग हैं। स्रोतआपत्ति के अंगों से युक्त होने पर हिंसा, अदत्तादान, काम-

है तब वह सहृदागामी कहलाता है। स्रोतआपन्न एवं सहृदागामी शील की परिपूर्ति करते हैं। जब इस लोक में पुनरागमन शेष नहीं रहता तब वह अनागामी की अवस्था कहलाती है। अनागामी समाधि की परिपूर्ति करता है। प्रज्ञा के द्वारा सर्वथा आस्रव-क्षय होने पर अर्हत्व की प्राप्ति होती है। प्रारम्भ में अर्हत् और बुद्ध का भेद स्पष्ट नहीं था, पर पीछे न केवल यह भेद विशद हुआ अपितु कुछ सम्प्रदायों में अर्हत् का पर्याप्त अपकर्ष घोषित किया गया।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि मुक्ति मार्ग में प्रवेश और प्रगति की अवस्थाओं का विवेचन क्रमशः सूक्ष्म और विस्तृत हुआ। पृथग्जन और आर्य का भेद प्राचीनतम था। पीछे इन दो के अन्तराल में 'गोत्रभू' की स्थिति कल्पित की गयी तथा आर्यत्व के विकास में स्रोतआपत्ति से अर्हत्व तक चार मार्ग एवं उनके अनुरूप चार फल माने गये। उनमें भावना एवं विपश्यना के तारतम्य से अवान्तरभेद भी स्वीकार किये गये। महायान में आध्यात्मिक विकास की अवस्थाओं का और भी सूक्ष्म और विस्तृत चिन्तन हुआ।

मिथ्याचार, मृषावाद एवं मद्यपान से मुक्ति होती है। स्रोतआपत्ति के अंगों की प्राप्ति के पश्चात् प्रीति, प्रामोद्य, प्रश्रब्धि और समाधि की वृद्धि होनी चाहिए तथा छः विद्याभागीय धर्मों की भावना करनी चाहिए। ये छः धर्म इस प्रकार हैं—अनित्यानुपश्यना, दुःख, अनात्म, प्रहाण, विराग, एवं निरोध। चार आर्यसत्यों के ज्ञान से स्रोतआपत्ति पूर्ण निष्पन्न होती है।

अध्याय ३

संघ का प्रारम्भिक रूप और विकास

आर्य-संघ 'अविलष्ट समाज'—ऊपर कहा जा चुका है कि तथागत के समय में नाना ब्राह्मण और श्रमण परिव्राजकगण विदित थे जिनमें अनेक अध्यात्मगवेषी कुल-पुत्र घरबार से प्रव्रजित होकर किसी शास्त्र अथवा आचार्य के अनुशासन में ब्रह्मचर्य-वास करते थे। परिव्राजकों के ये नेता 'संघी, गणी, गणाचार्य' कहे गये हैं और इनमें से कुछ के नाम तथा मत का उल्लेख प्राप्त होता है। इन गणों के आकार की पुष्कलता इससे प्रकट है कि राजगृह के संजय परिव्राजक के २५० चेले बताये गये हैं और गया में जटिलों की संख्या १००० कही गयी है। परिव्राजकों मे कुछ व्यापक नियम और प्रथाएँ समान थीं। विशुद्धि के प्रयास में सभी संसार-त्याग पूर्वक ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह का पालन करते थे और प्रायः सभी के संगठन मे उपोसथ, वर्षावास आदि की प्रथाएँ विदित थीं। किन्तु उनमें आहार-विहार, वेश-भूषा आदि के नियमन का विस्तर अलग-अलग गणों में अलग-अलग था। इनमें केवल आजीवकों एव निर्ग्रन्थों के गणों में प्रचलित नियमों का कुछ विवरण मिलता है और पहले प्रस्तुत किया जा चुका है। वैदिक धर्म के अन्तर्गत ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ एवं संन्यास की जीवन-विधा भी अनुशासन-नियत थी। धर्म सूत्रों में ऐसे नियमों का संग्रह है, किन्तु उपलब्ध धर्मसूत्र तथागत से पूर्वकालीन नही कहे जा सकते। इनके पहले वैखानस-शास्त्र एवं भिक्षु-सूत्र अवश्य रचे गये थे, किन्तु उनका अब ठीक पता नहीं चलता। यह स्पष्ट है कि भगवान् बुद्ध के समय में यह धारणा अविदित न थी कि संसार छोड़ने पर भी परिव्राजकों को एक संगठित समाज का अंग बन कर अपनी चर्या सम्पादित करनी चाहिए। वस्तुतः इन परिव्राजकों की स्थिति 'विविदिषा-संन्यास' के समान थी और उसमें ब्रह्मचर्य और संन्यास, दोनों के ही लक्षण दृष्टिगोचर होते हैं। ब्रह्मचर्य शिष्यत्वपूर्वक और संयम-प्रधान है, सन्न्यास अपरिग्रहात्मक। सन्न्यास अथवा प्रव्रज्या में कुटुम्ब और सम्पत्ति के सुप्रकट ममत्वमूलक सम्बन्ध का विच्छेद हो जाता है और प्रव्रजित क्लिष्ट सामाजिकता के दायरे से बाहर हो जाता है। सन्न्यास समस्त उपाधि-त्याग का और अतएव

नैष्कर्म्य का द्योतक है। ब्रह्मचर्य में गुरु-शिष्य के विद्यामूलक विशुद्ध आध्यात्मिक सम्बन्ध का जन्म होता है और एक संयम तथा साधन की अवस्था का। परिव्राजक अविद्याश्रित अशुद्ध समाज से निकल कर विद्या के विशुद्ध समाज में प्रवेश करता है। इस अक्लिष्ट सामाजिकता का विकास एवं उसका तात्त्विक बोध सर्वाधिक मात्रा में तथागत के द्वारा स्थापित भिक्षु-संघ में निष्पन्न हुआ।

उत्पत्ति और वृद्धि—विनय के महावग्ग से ज्ञात होता है कि सारनाथ में तथागत की धर्मदेशना सुनकर सबसे पहले कौण्डिन्य नाम के पंचवर्गीय भिक्षु ने विमल 'धर्म-चक्षु' प्राप्त कर उनके निकट प्रव्रज्या ली। कौण्डिन्य का नाम 'आज्ञात' कौण्डिन्य पड़ा। इसके अनन्तर वप्र (वप्प), भद्रिक (भद्दिय), महानाम और अश्वजित् नाम के अन्य पंचवर्गीय भिक्षुओं ने भी 'धर्मचक्षु' और प्रव्रज्या का लाभ किया तथा इस प्रकार आर्य-भिक्षु संघ की नींव पड़ी। वाराणसेय श्रेष्ठिपुत्र यश और उसके मित्र विमल, सुबाहु, पूर्णजित् और गवाम्पति तथा अन्य पचास मित्रों के प्रव्रज्या-ग्रहण करने पर संघ में तथागत के अतिरिक्त साठ भिक्षु हो गये जो कि सब अर्हत् थे। इनको भगवान् बुद्ध ने नाना दिशाओं में जाकर प्रव्रज्या और उपसम्पदा देने की अनुमति प्रदान की। यह स्मरणीय है कि धर्म-प्रचार की ओर जितनी प्रवणता आर्य संघ में रही उतनी किसी अन्य भारत के धर्म-शासन में नहीं। वाराणसी से गया जाते हुए तथागत ने तीस भद्रवर्गीय मित्रों को शासन में प्रतिष्ठित किया और गया में १००० जटिलों को संघ में आकृष्ट किया। राजगृह में मगधराज बिम्बिसार ने उनकी शरण ली और वेणुवन उद्यान भिक्षु संघ को दिया। यह स्मरणीय है कि पहला उपासक यश का पिता वाराणसेय श्रेष्ठी था। राजगृह में ही सञ्जय परिव्राजक के २५० शिष्यों ने संघ में प्रवेश किया और इनमें कोलित और उपतिष्य भी थे जो कि मौद्गल्यायन और शारिपुत्र नाम से प्रसिद्ध हुए। इस विवरण से स्पष्ट है कि संघ की बहुत शीघ्र ही आश्चर्यजनक वृद्धि और प्रचार हुआ। जहाँ एक ओर विभिन्न वर्णों और वर्गों से अनेक कुलपुत्रों ने प्रव्रज्या-ग्रहण कर संघ में प्रवेश किया, दूसरी ओर प्रभावशाली और समृद्ध राजकुलों और श्रेष्ठियों की सहायता ने संघ की सम्पत्ति को बढ़ाया। अपने परिनिर्वाण तक बुद्ध भगवान् ने ४८ वर्ष उत्तर प्रदेश और बिहार में धर्म का उपदेश किया और सहस्रों भिक्षु और भिक्षुणी, उपासक और उपासिका उनके शिष्य बने तथा शाक्यपुत्रीय कहलाये।

शास्ता और गुरुवाद—तथागत के समय के अन्य परिव्राजक-गणों में संचालक गुरु अथवा शास्ता अपने अनन्तर गण के नेतृत्व के लिए किसी उत्तराधिकारी को नियुक्त कर देते थे। इस प्रकार एक तरह का गुरुवाद अथवा महन्ताई उस समय के साधुओं

अध्याय ३

संघ का प्रारम्भिक रूप और विकास

आर्य-संघ 'अविलष्ट समाज'—ऊपर कहा जा चुका है कि तथागत के समय में नाना ब्राह्मण और श्रमण परिव्राजकगण विदित थे जिनमें अनेक अध्यात्मगवेषी कुल-पुत्र घरबार से प्रव्रजित होकर किसी शास्त्र अथवा आचार्य के अनुशासन में ब्रह्मचर्य-वास करते थे। परिव्राजकों के ये नेता 'संघी, गणी, गणाचार्य' कहे गये हैं और इनमें से कुछ के नाम तथा मत का उल्लेख प्राप्त होता है। इन गणों के आकार की पुष्कलता इससे प्रकट है कि राजगृह के संजय परिव्राजक के २५० चेले बताये गये हैं और गया में जटिलों की संख्या १००० कही गयी है। परिव्राजकों में कुछ व्यापक नियम और प्रथाएँ समान थीं। विशुद्धि के प्रयास में सभी संसार-त्याग पूर्वक ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह का पालन करते थे और प्रायः सभी के संगठन में उपोसथ, वर्षावास आदि की प्रथाएँ विदित थीं। किन्तु उनमें आहार-विहार, वेश-भूषा आदि के नियमन का विस्तर अलग-अलग गणों में अलग-अलग था। इनमें केवल आजीवकों एवं निर्ग्रन्थों के गणों में प्रचलित नियमों का कुछ विवरण मिलता है और पहले प्रस्तुत किया जा चुका है। वैदिक धर्म के अन्तर्गत ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ एवं संन्यास की जीवन-विधा भी अनुशासन-नियत थी। धर्म सूत्रों में ऐसे नियमों का संग्रह है, किन्तु उपलब्ध धर्मसूत्र तथागत से पूर्वकालीन नहीं कहे जा सकते। इनके पहले वैखानस-शास्त्र एवं भिक्षु-सूत्र अवश्य रचे गये थे, किन्तु उनका अब ठीक पता नहीं चलता। यह स्पष्ट है कि भगवान् बुद्ध के समय में यह धारणा अविदित न थी कि संसार छोड़ने पर भी परिव्राजकों को एक संगठित समाज का अंग बन कर अपनी चर्या सम्पादित करनी चाहिए। वस्तुतः इन परिव्राजकों की स्थिति 'विविदिषा-संन्यास' के समान थी और उसमें ब्रह्मचर्य और संन्यास, दोनों के ही लक्षण दृष्टिगोचर होते हैं। ब्रह्मचर्य शिष्यत्वपूर्वक और संयम-प्रधान है, सन्न्यास अपरिग्रहात्मक। सन्न्यास अथवा प्रव्रज्या में कुटुम्ब और सम्पत्ति के सुप्रकट ममत्वमूलक सम्बन्ध का विच्छेद हो जाता है और प्रव्रजित क्लिष्ट सामाजिकता के दायरे से बाहर हो जाता है। सन्न्यास समस्त उपाधि-त्याग का और अतएव

नैष्कर्म्य का द्योतक है। ब्रह्मचर्य में गुरु-शिष्य के विद्यामूलक विशुद्ध आध्यात्मिक सम्बन्ध का जन्म होता है और एक संयम तथा साधन की अवस्था का। परिव्राजक अविद्याश्रित अशुद्ध समाज से निकल कर विद्या के विशुद्ध समाज में प्रवेश करता है। इस अक्लिष्ट सामाजिकता का विकास एवं उसका तात्त्विक बोध सर्वाधिक मात्रा में तथागत के द्वारा स्थापित भिक्षु-संघ में निष्पन्न हुआ।

उत्पत्ति और वृद्धि—विनय के महावग्ग से ज्ञात होता है कि सारनाथ में तथागत की धर्मदेशना सुनकर सबसे पहले कौण्डिन्य नाम के पंचवर्गीय भिक्षु ने विमल 'धर्म-चक्षु' प्राप्त कर उनके निकट प्रव्रज्या ली। कौण्डिन्य का नाम 'आज्ञात' कौण्डिन्य पड़ा। इसके अनन्तर वप्र (वप्प), भद्रिक (भद्दिय), महानाम और अश्वजित् नाम के अन्य पंचवर्गीय भिक्षुओं ने भी 'धर्मचक्षु' और प्रव्रज्या का लाभ किया तथा इस प्रकार आर्य-भिक्षु संघ की नींव पड़ी। वाराणसेय श्रेष्ठिपुत्र यश और उसके मित्र विमल, सुबाहु, पूर्णजित् और गवाम्पति तथा अन्य पचास मित्रों के प्रव्रज्या-ग्रहण करने पर संघ में तथागत के अतिरिक्त साठ भिक्षु हो गये जो कि सब अर्हत् थे। इनको भगवान् बुद्ध ने नाना दिशाओं में जाकर प्रव्रज्या और उपसम्पदा देने की अनुमति प्रदान की। यह स्मरणीय है कि धर्म-प्रचार की ओर जितनी प्रवणता आर्य संघ में रही उतनी किसी अन्य भारत के धर्म-शासन में नहीं। वाराणसी से गया जाते हुए तथागत ने तीस भद्रवर्गीय मित्रों को शासन में प्रतिष्ठित किया और गया में १००० जटिलों को संघ में आकृष्ट किया। राजगृह में मगधराज बिम्बिसार ने उनकी शरण ली और वेणुवन उद्यान भिक्षु संघ को दिया। यह स्मरणीय है कि पहला उपासक यश का पिता वाराणसेय श्रेष्ठी था। राजगृह में ही सञ्जय परिव्राजक के २५० शिष्यों ने संघ में प्रवेश किया और इनमें कोलित और उपतिष्य भी थे जो कि मौद्गल्यायन और शारिपुत्र नाम से प्रसिद्ध हुए। इस विवरण से स्पष्ट है कि संघ की बहुत शीघ्र ही आश्चर्यजनक वृद्धि और प्रचार हुआ। जहाँ एक ओर विभिन्न वर्णों और वर्गों से अनेक कुलपुत्रों ने प्रव्रज्या-ग्रहण कर संघ में प्रवेश किया, दूसरी ओर प्रभावशाली और समृद्ध राजकुलों और श्रेष्ठियों की सहायता ने संघ की सम्पत्ति को बढ़ाया। अपने परिनिर्वाण तक बुद्ध भगवान् ने ४८ वर्ष उत्तर प्रदेश और बिहार में धर्म का उपदेश किया और सहस्रों भिक्षु और भिक्षुणी, उपासक और उपासिका उनके शिष्य बने तथा शाक्यपुत्रीय कहलाये।

शास्ता और गुरुवाद—तथागत के समय के अन्य परिव्राजक-गणों में संचालक गुरु अथवा शास्ता अपने अनन्तर गण के नेतृत्व के लिए किसी उत्तराधिकारी को नियुक्त कर देते थे। इस प्रकार एक तरह का गुरुवाद अथवा महन्ताई उस समय के साधुओं

की जमात में सुविदित थी, किन्तु बुद्ध भगवान् ने अपना उत्तराधिकारी किसी व्यक्ति-विशेष को न बनाकर धर्मानुशासन को ही भिक्षुओं के दिग्दर्शक के रूप में छोड़ा[१]। परिनिर्वाण के पहले वेलुवग्राम में वर्षावास करते हुए तथागत बहुत बीमार पड़े थे। उस समय उन्होंने आनन्द से कहा 'भिक्षुसंघ मुझसे क्या चाहता है ? मैंने धर्म का निश्शेष उपदेश कर दिया है, कुछ अपने पास छिपाकर नहीं रखा है। मैं यह नहीं सोचता कि मैं भिक्षु संघ का नेतृत्व करूँ, भिक्षु संघ मेरे पीछे-पीछे चले। ···इसलिए तुम लोग आत्मदीप बनकर रहो, आत्मशरण, अनन्यशरण, धर्मदीप, धर्मशरण, अनन्य-शरण···।[२] परिनिर्वाण के पश्चात् राजगृह में गोपक मौद्गल्यायन के स्थान पर मगध महामात्र वर्षकार ने आनन्द से पूछा कि शास्ता के बाद संघ का प्रतिशरण कौन है। आनन्द ने इसके उत्तर में धर्म को ही प्रतिशरण बताया[३]। यह स्पष्ट है कि प्रच-लित प्रथा के विरुद्ध शाक्यमुनि ने अपने शिष्यों का संगठन शास्तृमूलक न कर शासन-मूलक किया था।

उपनिषदों में आचार्य अथवा गुरु का अध्यात्मविद्या की अधिगति के लिए विशेष महत्त्व प्रतिपादित किया गया है और गुरु के वचन सुनने को ही ज्ञान का प्रधान द्वार माना गया है। वस्तुतः इस मत में शब्द अथवा श्रुति ही गुरुस्थानीय है और वेद की अपौरुषेयता ही वेदान्त–सम्मत सिद्धान्त है। श्रुति के द्वारा प्रवृत्तिधर्म में कर्म-विधान होने पर भी ज्ञान को कर्मसाध्य नहीं माना गया है। परम्परया कर्म का उपयोग होते हुए भी नित्यसिद्ध ज्ञान के अनावरण के लिए श्रवण ही साक्षात् मार्ग हैं। इस प्रकार वैदिक गुरु-शिष्य परम्परा श्रुति और तत्प्रकाश्य ज्ञान के संक्रमण की परम्परा है। उप-निषदों में गुरु के निकट उपनयन, ब्रह्मचर्यवास, कर्म, धन आदि से गुरु की सेवा, परिप्रश्न, उपदेश एवं गुरु (अथवा ईश्वर) की कृपा का विवरण प्राप्त होता है। इस उपनयन-रूप दीक्षा में प्रचलित उपचार के अतिरिक्त और किसी आध्यात्मिक रहस्य की सत्ता

१–विनय-साहित्य पर अर्वाचीन ग्रन्थों में फ्राउवाल्नर, अर्लियस्ट विनय एन्ड दि बिगिनिंग्स ऑव् बुधिस्ट लिटरेचर विशेष रूप से द्रष्टव्य है। वैनयिक अनु-शासन पर आधुनिक ग्रन्थ-हार्डी, ईस्टर्न मोनेशिज्म; सुकुमार दत्त, अर्ली बुधिस्ट मोनेशिज्म, फाइव हन्ड्रेड ईयर्स ऑव् बुद्धिज्म; नलिनाक्ष दत्त, अर्ली मोनैस्टिक बुद्धिज्म जि० १; ई० आर० ई० यथाप्रसंग।

२–दीघ०, सुत्तन्त १६।

३–मज्झिम०, गोपकमोग्गलान सु०।

अस्पष्ट है। परा विद्या के निमित्त गुरु-शिष्य सम्बन्ध और ब्रह्मचर्यवास अपरा विद्या के निमित्त प्रथम आश्रम के सदृश ही कल्पित किया गया है। ऐसी ही कल्पना तथागत-कालीन परिव्राजकगणों में भी उपलब्ध होती है, यद्यपि उनमें संसार से मुक्ति बहुधा कर्म अथवा क्रिया के द्वारा मानी गयी है। ऐसी स्थिति में गुरु क्रिया-कौशल का उपदेशक बन जाता है। भागवत धर्म अथवा ईसाई धर्म-जैसे प्रपत्ति मार्गों में अवतार के रूप में ईश्वर ही वास्तविक गुरु है और उसकी कृपा ही अध्यात्म-मार्ग का एक मात्र सम्बल है। प्रकारान्तर से यह कहा जा सकता है कि इन प्रस्थानों में गुरु के उपदेश से अधिक गुरु का महत्त्व है क्योंकि वस्तुतः गुरु स्वयं ही मार्ग है। तान्त्रिक अथवा सिद्धों के मार्ग में गुरु की कृपा अथवा शक्तिपात से ही दीक्षा सम्पन्न होती है। दीक्षा से आध्यात्मिक साधन की योग्यता प्राप्त होती है। योग-मार्ग में साधक के वैयक्तिक स्वभाव और पूर्व संस्कारों के अनुकूल क्रिया के उपदेश के लिए एवं कर्म-जन्य अन्तरायों से बचाने के लिए सिद्ध गुरु की अपेक्षा है। यह स्पष्ट है कि प्रत्येक आध्यात्मिक मार्ग में गुरु का स्थान अनिवार्य है, किन्तु कार्य-भेद से उसके महत्त्व में भेद है।

बुद्ध-शासन में गुरु का रूप है कल्याणमित्र का और कार्य है मार्ग-प्रदर्शन। शाक्य मुनि के शिष्यों को अपने बल पर चलना और निर्भर रहना था[४]। इसीलिए उन्हें आत्मदीप अथवा आत्मशरण होने का उपदेश किया गया। इस यात्रा में धर्म ही उनका सहायक और नियामक है। संसार की घटनाएँ जिस कार्यकारण भाव से नियत हैं उसका एक पक्ष विद्या के द्वारा विमुक्ति की ओर ले जाता है। ठीक दिशा में पग रखने से वस्तु-तत्त्व का अनुरोध ही आध्यात्मिक लक्ष्य की ओर बढ़ाता है। इसीलिए धर्म को यान अथवा मार्ग कहा गया है। धर्म ही बुद्ध की वास्तविक काय है। धर्म को देखना बुद्ध को देखना है। उनके शिष्य को 'भगवतो पुत्तो ओरसो धम्मजो' धम्मनिम्मितो धम्मदायादो' कहा गया है। यह स्पष्ट है कि बुद्ध अपने अनुयायियों का ध्यान अपने पार्थिव व्यक्तित्व से परे अपनी शिक्षा में सूचित अमृत पद और उस तक ले जाने वाले आध्यात्मिक नियमों और स्वभावगत प्रेरणा की ओर दिलाना चाहते थे और सच्चे शिक्षक की भाँति उनका अभीप्ट था कि उनके शिष्य अपने पैरों पर खड़े हों। इसीलिए उन्होंने संघ के संयोजक सूत्र को एक गुरु-परम्परा का रूप न देकर धर्म-विनय का रूप दिया। त्रिरत्न में शरण लेने की प्रथा होते हुए भी इस प्रथा से अन्य सम्प्रदायों में विदित शरणागति के मार्ग का अनुमान न करना चाहिए। अपने उपदेशों में भी भगवान् बुद्ध ने शब्द को

४—द्र०—मज्झिम० (रो०), जि० ३, पृ० ४—६।

कम महत्त्व दिया, अर्थ को अधिक। उनकी वाणी को वेदवत् समझने एवं स्मरण करने की अभिलाषा उनके कुछ शिष्यों ने प्रकट की थी, पर उन्होंने उसका प्रत्याख्यान किया और कहा कि सबको अपनी-अपनी बोली में उनकी शिक्षा का स्मरण करना चाहिए[५]। वैदिक परम्परा के प्रतिकूल उन्होंने शब्द के स्थान पर अर्थ को ही प्रतिशरण बताया और कहा कि यह अर्थ अन्ततोगत्वा प्रत्यात्मवेदनीय है। इस प्रकार प्राचीन सद्धर्म में शब्द-प्रमाण अथवा श्रुति, कृपा एवं भक्ति, तथा मन्त्र या शक्तिपातात्मक दीक्षा आदि का स्थान न होने से प्रचलित अर्थ में गुरुवाद का भी महत्त्व न था। उसमें शास्ता के द्वारा आध्यात्मिक जीवन में सहायता को एक गंभीर रहस्यमय प्रभाव न मानकर धर्म-विनय में संगृहीत सिद्धान्त और साधन का प्रकट उपदेश ही माना जाता था। यह बात दूसरी है कि उस समय के सद्धर्म की यह प्रचलित धारणा, जिसका तथागत ने समर्थन किया प्रतीत होता है, वस्तुत भ्रान्त हो। ऐसी दशा में यह भी सम्भव है कि तथागत के द्वारा इस 'भ्रान्ति' का समर्थन केवल उपायकौशलजन्य अथवा साभिप्राय हो। बौद्ध परम्परा के अनुसार भगवान् बुद्ध के उपदेश सुनने मात्र से अनेक उच्च अधिकारियों के चित्त आस्रव-विमुक्त हो गये एवं कुछ शिष्यों की उन्होंने अपनी अलौकिक शक्ति से सहायता की। यह निर्विवाद है कि शिष्यों को स्वावलम्बन का उपदेश देते हुए एवं अपने को केवल मार्गप्रदर्शक बताते हुए भी भगवान् बुद्ध के अलौकिक अनुभाव को कृपा अथवा शक्ति-पात से अन्य नहीं समझा जा सकता और न स्वयं उन्हें परमसिद्ध सद्गुरु से अन्य माना जा सकता है। इस दृष्टि से यह मानना होगा कि परिनिर्वाण के बाद भी शाक्यमुनि स्वयं अलौकिक रूप से शास्तृपद में आसीन हैं और उनकी अथवा धर्म की शरण लेना केवल उपचार, श्रद्धा-प्रकाशन अथवा सिद्धान्त-स्मरण न होकर एक जीवन्त आध्यात्मिक शक्ति की शरण लेना है। पर यह भी स्वीकार करना होगा कि इस प्रकार के सिद्धान्त का प्राचीनतम बौद्ध साहित्य में असन्दिग्ध प्रतिपादन नहीं मिलता यद्यपि परवर्ती बौद्ध साहित्य में यह अधिकाधिक महत्त्वशाली हुआ।

संघ और गण—कुछ विद्वानों का कहना है कि गण-तन्त्र के प्रशंसक होन के कारण शाक्यमुनि ने अपने पश्चात् संघ का नेतृत्व किसी व्यक्तिविशेष को न सौंप कर उसमें 'धर्म-राज्य' एवं 'गण-राज्य' स्थापित किया। यह सम्भावना भी प्रकट की गयी है कि कदाचित् विनय में उल्लिखित अनेक गणतन्त्रीय प्रक्रियाएँ एवं पारिभाषिक शब्द बौद्ध संघ ने तत्कालीन गणराज्यों के प्रचलित व्यवहार से लिये हों और इस प्रसंग में

५—द्र०—चुल्लवग्ग, ऊपर उद्धृत।

ईसाई-संघ के विकास में रोमन साम्राज्य के प्रभाव का दृष्टान्त दिया गया[६]। ये सम्भावनाएँ उपपन्न होते हुए भी निश्चित नहीं हैं। मगध के महामात्र वर्षकार से तथागत ने परिनिर्वाण से कुछ पहले राजगृह में कहा था[७] कि उन्होंने वज्जियों को वैशाली के सारन्दद चैत्य में सात अपरिहाणीय धर्मों का उपदेश दिया था। जब तक वज्जी इन धर्मों का पालन करेंगे उनकी वृद्धि ही होगी, परिहाणि नहीं। वर्षकार ने भी इसका अनुमोदन किया और कहा कि ऐसी स्थिति में 'उपलायन' और 'मिथोभेद' को छोड़ कर राजा अजातशत्रु वज्जियों पर विजय प्राप्त न कर सकेंगे। यहाँ उपदिष्ट वे सात अपरिहाणीय धर्म इस प्रकार हैं—अक्सर सम्मिलित होना, और समग्र सम्मिलित होकर गण-कार्य को निबाहना, यथाप्रज्ञप्त पुराने वज्जि-धर्म को वरतना, बड़े-बूढ़ों का सम्मान और अनुसरण करना, कुल-स्त्रियों और कुलकुमारियों का अनपहरण, चैत्यों की पूजा और यथापूर्व बलिहरण एवं अर्हतों की रक्षावरणगुप्ति का सुसंविधान। इन प्रथाओं में एक एक परम्परावादी गणतन्त्रीय (कन्सर्वेटिव डेमोक्रेटिक) आदर्श झलकता है जिससे बर्क (Burke) का चित्त प्रसन्न हो जाता। दीघनिकाय के अग्गञ्ज सुत्तन्त में राज्य की उत्पत्ति पर प्रकाश डाला गया है, यद्यपि यह सन्दर्भ दीघनिकाय के प्राचीनतम स्तर का नहीं कहा जा सकता। इसके अनुसार राजकीय अनुशासन अथवा दण्ड की आवश्यकता आदर्श-च्युत समाज में ही होती है। अर्थ और काम ही समाज की इस च्युति के कारण हैं। परिग्रह और लिप्सा से विवाद और कलह जन्म लेते हैं और इनके निवारण और नियमन के लिए राज्य की आवश्यकता होती है। इस दृष्टि से राज्य की सत्ता मनुष्य के स्वभाव पर आश्रित न होकर उसके दोषों पर आश्रित है। पहले राजा को 'महासम्मत' कहा गया है क्योंकि वह सारी प्रजा से चुना गया था। यहाँ पर भी राज्य का जनतान्त्रिक आदर्श स्वीकार किया गया है।

तथागत के लिए भिक्षुसंघ का संगठन गण-राज्यों के संविधान से सर्वथा असम्बद्ध न था, यह इससे स्पष्ट है कि महापरिनिर्वाण सूत्र में वज्जियों के सात अपरिहेय धर्मों का उल्लेख कर वे भिक्षु संघ को वैसे ही सात अपरिहेय धर्मों का उपदेश करते पाये जाते हैं जिनसे संघ की निरन्तर वृद्धि हो और हानि की सम्भावना न रहे। पहले चार धर्म सर्वथा अनुरूप हैं—संघ की सन्निपात-बहुलता, समग्रता, यथाप्रज्ञप्त शिक्षापदों का

६—द्र०—जायसवाल, हिन्दू पॉलिटी; मजुमदार, कॉरपोरेट लाइफ इन एन्शेन्ट इण्डिया, गोकुलदास डे, डेमॉक्रेसी इन दि बुधिस्ट संघ।

७—दीघ० सुत्त १६।

असमुच्छेद, और स्थविर भिक्षुओं का सत्कार। शेष तीन धर्म हैं—तृष्णा के वश में न होना, आरण्यक शयनासन में सापेक्ष होना और प्रत्यात्म-स्मृति को उपस्थापित करना। वर्तमान महापरिनिर्वाण सूत्र में इन सात के अतिरिक्त अन्य अनेक अपरिहेय-धर्म-सप्तकों की सूचियाँ दी गयी हैं, किन्तु उनकी प्राचीनता अथवा प्रसंगानुकूलता सन्दिग्ध है। पहले कहे हुए सात-धर्मों में भिक्षु संघ को स्पष्ट ही गण-राज्य के अनुरूप माना गया है, और इस प्रकार के संगठन की सफलता का सूत्र यह बताया गया है कि सब लोग मिल-जुल कर और आपस में बातचीत कर निर्णय लें, परम्परा के अनुसार चलें और बड़े-बूढ़ों का नेतृत्व स्वीकार करें।

'आवासिकता' की वृद्धि—इन 'अपरिहानिय धम्मों' में आरण्यक शयनासन का उल्लेख महत्त्वपूर्ण है क्योंकि इससे इनकी प्राचीनता सिद्ध होती है। तथागत के जीवन-काल में भिक्षुओं की चर्या में एक बड़ा परिवर्तन स्पष्ट हो गया था। भिक्षु संघ में पहले एकान्तशीलता का प्राधान्य था, पीछे क्रमशः संवासशीलता का हुआ। अनेक प्राचीन स्थलों में भिक्षु के लिए खड्गविषाण (गैंडे) के समान एकाकी जीवन की प्रशंसा की गयी है[८], साथ ही यह निर्विवाद है कि पीछे इस एकाकिता का स्थान आवासिकता ने अधिकाधिक ले लिया। देवदत्त ने भिक्षुओं के लिए कठोर चर्या के विधान का अनुरोध किया था[९]। और उसकी बात का तिरस्कार इसका द्योतक है कि भिक्षुओं के लिए आरण्यक चर्या विरल हो चली थी। इस परिवर्तन के स्पष्ट ही अनेक कारण थे। तथागत के साहचर्य का औत्सुक्य और भिक्षुओं की संख्या-वृद्धि उनकी एकान्त चर्या के पक्ष में न थी। पौषध में भिक्षुओं के लिए नियत रूप से सम्मिलित होना आवश्यक था और वर्षावास में उनके लिए चारिका का निषेध था। समृद्ध उपासकों ने संघ की सुविधा के लिए विहार बनवाये और दान दिये। 'अपरिहानिय धम्मों' में परिगणित गणतंत्रता का आग्रह था कि भिक्षु अक्सर समग्र रूप से सम्मिलित होकर संघ-कार्य सम्पन्न करें। इन सबका यह स्वाभाविक परिणाम था कि भिक्षुओं में एक संगठित आवासिक जीवन का विकास हुआ।

भिक्षुओं की संख्या एवं उनके विहारों की समृद्धि के साथ भिक्षुसंघ के संगठन में परिवर्तन होता गया। तथागत ने विभिन्न अवसरों पर भिक्षुओं के अनुशासन के लिए नाना नियमों की स्थापना की थी। उनके ये नियम-वाक्य शिक्षापद कहलाते थे और

८—उदा० सुत्तनिपात, खग्गविसाण सुत्त।
९—विनय, ना० चुल्लवग्ग, पृ० २९८–९९।

उनका संग्रह धर्म-विनय अथवा विनय। विनय के अर्थ अनुशासनार्थ शिक्षा होते हैं। यद्यपि विभिन्न सम्प्रदायों में उपलभ्य प्रस्तुत विनयों में शिक्षापदों का एवं तत्सम्बन्धी ऐतिह्य और कथाओं का संग्रह और सम्पादन प्रधानतया प्रथम बुद्ध-शताब्दी का कार्य[10] तथापि उनके कुछ अंश अत्यन्त प्राचीन हैं और उनसे बौद्ध संघ के मूल-रूप की कल्पना की जा सकती है।

संघ और गण—जहाँ एक ओर अपने संगठन की जनतन्त्रात्मकता के कारण बौद्ध भिक्षुसंघ समकालीन राजकीय गणों की याद दिलाता है, दूसरी ओर उसमें वर्णभेद का तिरस्कार भी इन गणों से उसके सम्बन्ध का समर्थन करता माना गया है। किन्तु, यद्यपि इन गणों में ब्राह्मणों का आपेक्षिक निरादर और क्षत्रियों का विशेष सम्मान होता था[11], यह नहीं कहा जा सकता कि इनमें वर्ण-भेद-निरपेक्ष समाज की 'आदिम-जन-गत' (प्रिमिटिव ट्राइबल) थाती अक्षुण्ण थी अथवा नवीन सुधारवादी कल्पना का विशेष स्थान था[12]। वस्तुतः भिक्षुसंघ का मूल मुनियों की परम्परा में ही खोजना चाहिये। यह परम्परा अवैदिक थी और इसमें वर्ण-धर्म का प्रवेश सर्वथा दुर्बोध होता। तत्त्वतः भी वर्ण-भेद प्रवृत्तिमय जीवन की अपेक्षा रखता है और वर्ण-धर्म प्रवृत्ति-धर्म का अंग है। लौकिक एषणाओं से निवृत्ति के प्रयास में उसकी सार्थकता नहीं रहती। अतएव न केवल बौद्ध भिक्षुओं में वर्ण एवं जाति के भेद की उपेक्षा थी, ब्राह्मण संन्यासियों में भी इस प्रकार का भेद स्वीकार नहीं होता था। यह अवश्य है कि जहाँ ब्राह्मणों के अनुसार संन्यास की व्यवस्था सब वर्णों के लिए नहीं है[13], बौद्धों में ऐसा कोई प्रतिबन्ध नहीं माना जाता था। वस्तुतः भगवान् बुद्ध ने वर्ण-भेद की न केवल संघ के अन्दर अथवा उसमें प्रवेश की दृष्टि से उपेक्षा की अपितु उन्होंने वर्ण-व्यवस्था के सिद्धान्त का ही खण्डन किया[14]। उन्होंने बताया कि तत्त्व-दृष्टि से चार वर्णों में जाति-भेद न दीखकर केवल कर्म-भेद ही दीख सकता है। जन्म के स्थान पर कर्म के आधार को रख कर समाज के वर्ग-भेद को समझने का यह प्रयास प्राचीन ब्राह्मण साहित्य में भी यत्र तत्र देखा जा सकता है, विशेषतया महाभारत में। यह दृष्टि स्पष्ट ही तर्कमूलक और सुधारवादी है।

१०–द्र०—फ्राउवाल्नर, पूर्व०।

११–उदा० दीघ० अम्बट्ठसुत्त।

१२–तु० जे० बी० आर० एस०, १९५७, पृ० ३९८।

१३–द्र०—काणे, पूर्व, जि० २ भा० २, पृ० ९४२–४४।

१४–द्र०—मज्झिम, अस्सलायनसुत्त, वासेट्ठ०; सुत्तनिपात, वासेट्ठसुत्त।

प्रव्रज्या—अपने पहले शिष्यों को भगवान् बुद्ध ने स्वयं ही प्रव्रज्या दी थी। पंचवर्गीय भिक्षुओं ने संघ में प्रवेश यह कह कर मांगा था कि 'हम लोग भगवान् के निकट प्रव्रज्या पाएँ, उपसंपदा पाएँ और शास्ता ने यह कह कर उनको दीक्षित किया था कि 'आओ, धर्म स्वाख्यात है, अच्छी तरह दुःख के नाश के लिए ब्रह्मचर्य का पालन करो'[१५]। जटिलों ने और राजगृह में संजय के चेलों ने भी इसी प्रकार प्रव्रज्या प्राप्त की। जब से भगवान् बुद्ध ने भिक्षुओं को धर्म के प्रचार के लिए नाना दिशाओं में भेजा उन्हें प्रव्रज्या एवं उपसंपदा देने की अनुमति प्रदान की। कपिलवस्तु में राहुल-कुमार की प्रव्रज्या इस प्रकार शारिपुत्र के द्वारा सम्पन्न हुई। प्रव्रज्या के प्रार्थी को सिर और डाढी मुँड़वा कर, काषाय-वस्त्र पहन, उत्तरासंग एक कन्धे में कर, बैठ कर और हाथ जोड़-कर तीन बार यह कहना पड़ता था—'बुद्ध की शरण जाता हूँ, धर्म की शरण जाता हूँ, संघ की शरण जाता हूँ'[१६]।

पन्द्रह वर्ष की अवस्था से कम के व्यक्ति को प्रव्रज्या नहीं दी जा सकती थी। शुद्धो-दन शाक्य के अनुरोध से तथागत ने यह भी स्वीकार किया कि माता-पिता की अनुमति बिना पुत्र को प्रव्रज्या न दी जाए। कुष्ठ, गण्ड (फोड़ा), किलास (एक प्रकार का चर्म रोग), शोष (क्षय), एवं अपस्मार (मृगी) इन पाँच रोगों से पीड़ित व्यक्तियों को प्रव्रज्या के अयोग्य माना जाता था। अंगहीन अथवा विकृत अंग वालों को प्रव्रज्या नहीं दी जा सकती थी और न हिजड़ों, उभयलिंगियों अथवा मनुष्यदेही पशुओं को। ऐसे ही राज-सैनिक, ध्वज बन्ध चोर (डाकू), काराभेदक चोर (जेल तोड़ने वाला), लिखितक चोर (नामदर्ज, 'जहाँ देखा जाय, वहीं मारा जाय'), कषाघात से दण्डनीय, लक्षणाहृत (दागा हुआ), ऋणी, एवं दास को भी प्रव्रज्या का अनधिकारी समझा जाता था[१७]। इन निषेधों का तात्पर्य स्पष्ट है। संघ में ऐसा कोई व्यक्ति प्रविष्ट न होना चाहिए जो पहले से ही कानून के शिकंजे में जकड़ा हो और जिसके कारण समस्त संघ राजकोप अथवा अपकीर्ति का भागी हो। उपर्युक्त रोगियों, अपराधियों और असमर्थों के अतिरिक्त मातृघातक, पितृघातक, अर्हघातक एवं भिक्षुणीदूषक, इन घोर पापियों को भी प्रव्रज्या का निषेध था। तथागत के रुधिरोत्पादक, संघभेदक, एवं चोरी से संघ में प्रविष्ट व्यक्ति भी प्रव्रज्या के अयोग्य थे।

१५—उदा० विनय ना०, महावग्ग, पृ० १६।
१६—वही, पृ० २४।
१७—वही, पृ० ७३–८२।

जो पहले से किसी बौद्धेतर परिव्राजकगण के अनुगत थे उनके लिए आवश्यक था कि वे संघ में प्रवेश के अनन्तर चार महीने तक परिवास ('प्रोबेशन') व्यतीत करें और इस समय में उनके आचरण को परखा जाता था। केवल जटिलों और शाक्यों के लिए अपवाद था क्योंकि जटिल अथवा तृतीयाश्रमी कर्मवादी एवं क्रियावादी थे तथा शाक्य लोग तथागत के सजाति थे[१८]। इन नियमों के अनुसार संघ में प्रवेश सभी जातियों, वर्गों एवं देशवासियों के लिए सम्भव था। जहाँ वैदिक धर्म एक विशिष्ट जाति और समाज के लिए ही अपने को वैध मानता था, बौद्ध धर्म और संघ परवर्ती ईसाई संघ के समान सार्वभौम था।

प्रारम्भ में बौद्धों की संन्यासदीक्षा तथागत की शरण लेने से ही सम्पन्न हो जाती थी जैसा कि पंचवर्गीय भिक्षु आदि के उदाहरण से स्पष्ट है। क्रमशः तथागत के किसी योग्य शिष्य को अपना उपाध्याय बनाकर और उसके निकट त्रि-शरण गमन के द्वारा संन्यासदीक्षा सम्पन्न होने लगी। ऐसा प्रतीत होता है कि अनेक अल्पवय एवं अपरिपक्व भिक्षुओं के संघ में प्रवेश के कारण और तथागत की व्यक्तिगत जानकारी के क्षेत्र में उनके कम आ सकने के कारण प्रव्रज्या और उपसम्पदा का भेद स्थापित हुआ और साथ ही उपसम्पदा के नियम में परिवर्तन हो गया[१९]। उपाध्याय के अतिरिक्त आचार्य का भी विधान हुआ। संघ में प्रवेशार्थियों की संख्या बढ़ने से और उनकी तथागत के अतिरिक्त अन्य भिक्षुओं के द्वारा दीक्षा सम्पन्न होने से इन परिवर्तनों का विधान युक्तियुक्त प्रतीत होता है और इनकी आवश्यकता सम्भवतः तथागत के जीवन-काल में ही अनुभव गोचर हुई होगी।

उपाध्याय और आचार्य—प्रस्तुत विनय के अनुसार प्रव्रज्या प्राप्त करने पर पहले भिक्षु श्रामणेर कहलाता था और उसे एक उपाध्याय और एक आचार्य चुनकर उनके 'निश्रय' में रहना पड़ता था। उपाध्याय में शिष्य अथवा सार्धविहारी को पिता-बुद्धि और सार्ध-विहारी में उपाध्याय को पुत्र-बुद्धि रखनी होती थी। श्रामणेर के लिए उपाध्याय की विविध सेवा विहित थी। वस्तुतः उपाध्याय और श्रामणेर का संबंध बहुत कुछ वैसा ही था जैसा कि वैदिक परम्परा में गुरु और शिष्य का। आचार्य और उपाध्याय के कर्तव्यों में भेद करना कठिन है। कदाचित् आचार्य अन्तेवासिक को ध्यान के लिए उपयुक्त कर्मस्थान का उपदेश देता था और उपाध्याय की अनुपस्थिति में

१८—वही, पृ० ७३—७६।

१९—वही, पृ० ५३—५४।

उसका स्थान ग्रहण करता था[२०]। उपाध्याय एवं आचार्य होने के लिए कम-से-कम दस वर्ष वाला भिक्षु होना आवश्यक था। श्रामणेर को दस शिक्षापदों के अनुसार शील का पालन करना चाहिये। कम-से-कम बीस वर्षों की अवस्था होने पर और उचित योग्यता प्राप्त करने पर श्रामणेर उपसम्पदा का अधिकारी होता था। पहले त्रि-शरण-गमन से और पीछे ज्ञप्तिचतुर्थ कर्म के द्वारा उपसम्पदा दी जाती थी।

शिक्षापद—श्रामणेरों के लिए विहित दस शिक्षापदों का आशय उनके लिए प्रायः उस प्रकार के संयम के जीवन का विधान था जैसा कि वैदिक परम्परा में ब्रह्मचारियों के लिए सुविदित है। दस शिक्षापदों में दस विरतियाँ अथवा वर्जनाएँ संगृहीत हैं—प्राण-हिंसा से विरति; चोरी से; अ—ब्रह्मचर्य से; झूठ बोलने से; शराब और नशीली चीजों से; दोपहर के बाद भोजन करने से; नाच, गाना-बजाना, और तमाशा देखने से; माला, गन्ध, विलेपन और अलंकरण से; ऊँची शय्या और बहुमूल्य शय्या से; सोना-चाँदी ग्रहण करने से। इन दस निषेधों से श्रामणेरों का शील परिभाषित होता था।

चार निश्रय—उपर्युक्त शील के अतिरिक्त श्रामणेरों को 'चार निश्रय' बताये जाते थे। इन 'निश्रयों' का विनय में एक परिवर्धित रूप दीख पड़ता है जो कि प्रत्येक निश्रय के साथ अतिरेक लाभों के संयोजन से निष्पन्न हुआ है। विनय के कुछ स्थलों में 'पांच भिक्षुओं के पिण्डपात, चीवर, शयनासन, एवं ग्लानप्रत्ययभैषज्य के विषय में प्रश्न और तथागत के द्वारा उनके संक्षिप्त उत्तर दिये गये हैं जिनमें वस्तुतः अतिरिक्त-लाभ-वर्जित निश्रय संगृहीत हैं[२१]। यह सुझाव प्रस्तुत किया गया है कि ये 'पाँच भिक्षु' कौण्डिन्य आदि पंचवर्गीय भिक्षु ही थे और उनके लिए इस मूल-निश्रय-चतुष्टय का विधान कदाचित् तथागत का सबसे पहला वैनयिक अनुशासन था जो कि उस समय से एकान्त-चर्या-प्रधान एवं आरण्यक-प्राप्त भिक्षु-जीवन के आदर्श का निरूपण करता है। इस अनु-शासन में अतिरेक लाभों का समावेश परवर्ती संघारामो और विहारों के संवासप्रधान भिक्षुजीवन की सूचना देता है। किन्तु यह परिवर्तन तथागत के जीवन-काल में ही स्पष्टतः प्रारम्भ हो गया था।

विनय में चार निश्रयों का विवरण इस प्रकार मिलता है—भिक्षा में मिला हुआ भोजन प्रव्रज्या का पहला निश्रय है, पड़े चिथड़ों का बनाया हुआ चीवर दूसरा निश्रय है, वृक्ष के नीचे निवास तीसरा निश्रय है, एवं गोमूत्र की भेषज चौथा निश्रय है।

२०—तु० दत्त, अर्ली मौनेस्टिक बुद्धिज्म, जि० १, पृ० २८४।

२१—तु० फ्राउवाल्नर, पूर्व० पृ० १३३–३५।

पहले निश्चय के साथ अतिरेक–लाभ के रूप में संघभोज, निमन्त्रण, उपोसथ के दिन का भोज एवं प्रतिपद् के दिन का भोज भी अनुमत थे। पंमुकूल-चीवर (पांशु-कूल) के अतिरिक्त क्षौम, कार्पास, कौशेय, कम्बल, सन, एवं भांग की छाल के वस्त्र भी अनुज्ञात थे। वृक्ष-फूल-वास के अतिरिक्त विहार, अड्ढ़योग (आढ्ययोग, अर्ध योग ?), प्रासाद, हर्म्य और गुहा भी विहित हैं। औषध में अतिरेक-लाभ के रूप में घी, मक्खन, तेल, मधु और खांड का प्रयोग भी किया जा सकता था। तीसरे निश्चय में अनुमत अतिरेक-लाभ विशेष रूप से संघ की वृद्धि और समृद्धि सूचित करता है। यह भी स्मरणीय है कि बौद्धों के विरोधी उन्हें अक्सर आरामपसन्द और अतपस्वी कहते थे। स्वयं भिक्षु-संघ के अन्दर देवदत्त ने यही बात कही और चाहा कि भगवान् बुद्ध अनुशासन को कड़ा बनाएँ तथा भिक्षुओं को आदेश दें कि वे यावज्जीवन आरण्यक पिण्डपातिक, पांशुकूलिक, एवं वृक्षमूलिक रहें और मत्स्य-मांस का कभी भक्षण न करें। तथागत इससे सहमत नहीं हुए। कालान्तर में संघ के अन्दर कठोर तपस्वियों के वर्गों का विकास हुआ जो कि विभिन्न 'धुतंगो' का आचरण करते थे।

उपोसथ—परिनिर्वाण के अनन्तर वर्षकार को समझाते हुए आनन्द ने कहा[२२] कि एक ग्राम-क्षेत्र में जितने भिक्षु रहते हैं सब उपोसथ के दिन एकत्र सम्मिलित होते हैं और तथागत के द्वारा उद्दिष्ट प्रातिमोक्ष का पाठ करते हैं तथा जिस भिक्षु को आपत्ति अथवा व्यतिक्रम होता है उसे यथाधर्म अनुशासित करते हैं। इसी प्रकार धर्म के द्वारा संघ का संचालन होता है। इस सुनन्त से स्पष्ट है कि प्रातिमोक्ष और उपोसथ भिक्षुसंघ के अत्यन्त प्राचीन काल से लक्षण रहे है। वैदिक धर्म में दर्श और पूर्णमास की पाक्षिक दृष्टियों का बहुत महत्त्व था। इनके लिए यज्ञ के पूर्व यजमान को दीक्षित होकर उपवास आदि विशेष नियमों से रहना पड़ता था और इस व्रत काल को उपवसथ कहा जाता था[२३]। ब्राह्मणों के परवर्ती ग्रन्थों में संन्यासियों के लिए आरण्यकों अथवा उपनिषदों के आवर्तन का विधान पाया जाता है। विनय के अनुसार अन्य पारिव्राजकगण चतुर्दशी, पूर्णमासी, और पक्ष की अष्टमी को एकत्र होकर धर्मोपदेश करते थे और उनके पास लोग धर्म सुनने के लिए जाया करते थे। मगधराज बिम्बिसार ने तथागत से प्रार्थना की कि वे भी बौद्धों में इस प्रकार के उपोसथ का विधान करें जिसे कि तथागत ने स्वीकार किया[२४]।

२२—मज्झिम० ना० जि० ३, पृ० ७१।

२३—यथा, शतपथ (अच्युत ग्रन्थमाला), जि० १, पृ० २।

२४—विनय, ना० महावग्ग, पृ० १०५।

इससे स्पष्ट है कि परिव्राजकों के प्रचलित व्यवहार को देखकर बौद्ध संघ में पक्ष की विशिष्ट तिथियों में एकत्र होकर धर्मोपदेश की प्रथा का प्रारम्भ हुआ। महापदान सुतन्त के अनुसार विपश्यी बुद्ध ने अपन शिष्यों को प्रति ६ वर्ष में एक बार प्रातिमोक्ष पाठ के उद्देश्य से एकत्र होने का उपदेश दिया।' विपश्यी बुद्ध ने प्रातिमोक्ष का इस प्रकार उपदेश किया था, जिसे भिक्षु संघ दुहराता था--

"खन्ती परमं तपो तितिक्खा
निब्बानं परमं वदन्ति बुद्धा।
नहि पब्बजितो परूपघाती
समणो होति परं विहेठयन्तो॥

सब्बपापस्स अकरणं कुसलस्स उपसम्पदा।
सचित्तपरियोदपनं एतं बुद्धान सासनं॥
अनूपवादो अनूपघातो पातिमोक्खे च संवरो।
मत्तञ्ञुता चभत्तस्मिं पन्तञ्च सयनासनं॥
अधिचित्ते च आयोगो एतं बुद्धान सासनं॥"

(दीघ० ना० २, पृ० ३९)

अर्थात् 'शान्ति और तितिक्षा परम तप है, निर्वाण को बुद्धों ने परमार्थ कहा है, प्रव्रजित श्रमण दूसरों को दुख और हानि नहीं पहुँचाते। कोई पाप न करना, पुण्य सम्पादित करना और अपने चित्त को निर्मल रखना, यही बुद्धों का शासन है। दूसरों की न निन्दा करना, न हिंसा, प्रातिमोक्ष में संयमपालन करना, भोजन में मात्रा जानना, विविक्त शयनासन का सेवन करना और ध्यान मे मन लगाना, यही बुद्धों का शासन है।' इस उल्लेख से कदाचित् यह सूचित होता है कि प्रारम्भ में उपोसथ के अवसर पर तथागत की प्रमुख शिक्षाएँ संक्षेप में दुहरायी जाती थीं और यही धर्मोपदेश का रूप था। इस अवसर पर प्रत्येक भिक्षु के लिए आवश्यक था कि वह परिशुद्ध-शील हो। अशुद्ध होने पर अपने अपराध की प्रतिदेशना अथवा स्वीकार किये बिना वह उपोसथ में सम्मिलित नही हो सकता था। क्रमशः उपोसथ का यही प्रधान कार्य हो गया। समग्र संघ की उपस्थिति में अपराधों की एक सूची पढ़ी जाती थी जिसे प्रातिमोक्ष की आवृत्ति कहा जाता था और दोषी भिक्षुओं को अपने अपराधों की प्रतिदेशना करनी होती थी। क्षुद्र अपराध आदेशना और चेतावनी से क्षालित हो जाते थे। गुरुतर अपराध के लिए दिनान्तर में कुछ भिक्षुओं की परिषद् बुलायी जाती थी।

उपोसथ के लिए आवास में एक विशिष्ट अगार निश्चित होता था और समय से पूर्व उसे झाड़-बुहार कर वहाँ आसन, दीप तथा जल का प्रबन्ध करना आवश्यक था। इसे उपोसथ का पूर्व-करण कहा जाता था। सभी भिक्षुओं को स्वयं अथवा प्रतिनिधि के द्वारा उपस्थित होना पड़ता था। रोगी भिक्षु अपना छन्द (मत) एवं परिशुद्धि दूसरे के द्वारा सूचित करता था। ऋतु के अनुसार उपोसथ की एवं उपस्थित भिक्षुओं की गणना आवश्यक थी। इन कार्यों को उपोसथ का पूर्वकृत्य कहा गया है। पहले, अववाद अथवा भिक्षुणियों को उपदेश भी इस पूर्व-कृत्य का अंग माना जाता था।

आनन्द के द्वारा वर्षकार को दिये हुए उत्तर में यह कहा गया है कि प्रातिमोक्ष पढ़ने वाले भिक्षु को संघस्थविर, संघपिता अथवा संघपरिणायक माना जाता था। उसके लिए आवश्यक था कि वह स्वयं प्रातिमोक्ष-संवर में निष्णात, धर्मविद्, सन्तोषी, ध्यान-कुशल एवं अभिज्ञाएँ प्राप्त किये हो।

उपोसथ में संघ का समग्र रूप से सम्मिलित होना अभीप्सित था, अतएव संघ की सीमा-निर्धारण के लिए नियम बनाये गये। यहाँ पर यह स्मरणीय है कि संघ शब्द कभी चातुर्दिश संघ के लिए प्रयुक्त होता है, कभी स्थानीय संघाराम अथवा आवास के लिए। स्थानीय संघ की ही सीमा बाँधी जाती थी और उसी के अन्दर समग्रता अपेक्षित थी। आनन्द के उत्तर म ग्रामक्षेत्र का उल्लेख स्थानीय सीमा का प्रायिक विस्तार बताता है। साधारण तौर से प्रातिमोक्ष-परिषद् में भिक्षुओं के लिए तीन चीवर धारण कर आना विहित था। यदि सीमा के अन्दर कुछ आगन्तुक भिक्षु हों तो आवासिकों के साथ उपोसथ में उनकी उपस्थिति भी आवश्यक थी। चार से कम भिक्षु होने पर प्राति-मोक्ष की सभा नहीं की जा सकती थी।

प्रातिमोक्ष—पालि का पाटिमोक्ख अथवा पातिमोक्ख संस्कृत ग्रन्थों में प्रातिमोक्ष के रूप में प्राप्त होता है। वस्तुतः पातिमोक्ख शब्द की व्युत्पत्ति प्रतिपूर्वक मुच् धातु से माननी चाहिए। और उसकी शुद्ध संस्कृत छाया प्रतिमोक्ष्य होनी चाहिए न कि प्रातिमोक्ष। प्रतिमोक्ष्य का अर्थ है 'जो (धर्मसंवर) प्रतिमुक्त अथवा आबद्ध किया जाय। कवच, कुण्डल आदि 'प्रतिमुक्त' किये जाते हैं। धर्म के नियम भी एक प्रकार का कवच अथवा आभरण हैं जो भिक्षु से आबद्ध होने चाहिए। विनय में पातिमोक्ख का व्युत्पत्तिमूलक अर्थ कुशल धर्मो में प्रमुख होना बताया गया है। यहाँ पातिमोक्ख को संस्कृत 'प्रातिमुख्य' का रूपान्तर माना गया है। एक प्राचीन टीका में कहा गया है "यो तं पाति रक्खति तं मोक्खेति मोचेति···तस्मा पाटिमोक्खं ति वुच्चति···।" यहाँ पर मूल शब्द मुच् से व्युत्पादित किया गया है। चीनी एवं तिब्बती अनुवादों में प्राति-

मोक्ष के अर्थ प्रायः प्रतिविशिष्ट मोक्ष लिये गये हैं, किन्तु यह स्पष्ट है कि वहाँ भी कुछ स्थलों में पाटिमोक्ख को मुख्यार्थक माना गया है और कुछ स्थलों में मोक्षार्थक[२५]।

अनेक सम्प्रदायों के प्रातिमोक्ष सूत्र उपलब्ध होते हैं और उनकी व्यापक समानता उनकी प्राचीनता प्रदर्शित करती है।[२६] प्रातिमोक्ष के आठ विभाग हैं—पाराजिक, संघावशेष, अनियत, नैसर्गिक-पातयन्तिक, पातयन्तिक, प्रतिदेशनीय, शैक्ष, एवं अधिकरण-शमथ। इनमें अभिहित धर्मों की संख्या सब सम्प्रदायों के प्रातिमोक्षों में सर्वथा समान नहीं है। महासांघिकों के प्रातिमोक्ष में निर्दिष्ट धर्मों की संख्या २१८ और सब से कम है। सर्वास्तिवादियों के प्रातिमोक्ष में संख्या सर्वाधिक, २६३ है। पालि प्रातिमोक्ष में २२७ है। किन्तु यह स्मरणीय है कि इस संख्याभेद का कारण मुख्यतया शैक्ष-धर्मों के परिगणन में भेद है। शेष वर्गों में प्रायः कोई भेद नहीं है और संख्याएं इस प्रकार हैं—पाराजिक–४, संघावशेष–१३, अनियत–२, नैसर्गिक–पातयन्तिक–३०, पातयन्तिक–९०, (महीशासकों के अनुसार, ९१), प्रतिदेशनीय–४, अधिकरणशमथ–७, इनकी संख्या १५० होती है जो कि अंगुत्तरनिकाय और मिलिन्दपञ्हो के 'दियड्ढ-सिक्खापदसत' से समञ्जस है। वस्तुतः शैक्षधर्म प्रातिमोक्ष में उद्दिष्ट अन्य धर्मों से भिन्न है क्योंकि वे आध्यात्मिक शील (मौरेलिटी) के नियम न होकर सामाजिक शील (सिविलिटी) के नियम हैं। अतएव उनके परिगणन में भेद सुबोध है। शैक्ष धर्म प्रारम्भ से नियतसंख्यक नहीं थे। महाव्युत्पत्ति में उनको 'सम्बहुलाः' कहा गया है। पालि प्रातिमोक्ष में भी शैक्ष धर्मों को नियत-संख्या निर्दिष्ट नहीं किया गया है। यह भी सम्भव है कि महापरिनिर्वाण के पहले क्षुद्रातिक्षुद्र शिक्षापदों को परिवर्तनीय बताते हुए तथागत का आशय कदाचित् शैक्ष धर्मों से ही रहा हो। ऐसा प्रतीत होता है कि पीछे विभिन्न सम्प्रदायों में विभिन्न परिवर्तन स्वीकृत हुए और इस प्रकार शैक्ष धर्मों का प्रस्तुत विभेद उत्पन्न हुआ। यह भी स्मरणीय है कि अधिकरण-शमथ प्रातिमोक्ष के शेष वर्गों से पृथक् है। इसमें अपराध एवं दण्ड का विधान न होकर संघ के अन्तर्गत

२५–द्र०—डा० पा-चाऊ, पूर्व० पृ० ४–६।

२६–द्र०—पा-चाऊ०, वहीं, ऑरिजिन्स ऑव् बुद्धिज्म, पृ० ३, फ्राउवाल्नर, पूर्व० पृ० १४३, ओल्देनबर्ग (सं०) विनय, जि० १, भूमिका, पा-चाऊ (सं०) महासांघिक प्रातिमोक्ष, (जे० जी० आर० आइ० १०.१–४), मूल सर्वास्तिवाद प्रातिमोक्ष–आइ० एच० क्यू० १९५३।

विवादों की शान्ति के लिए वैधानिक उपाय निर्दिष्ट हैं। अनियत-वर्ग में भी नवीन अपराध न गिन कर ऐसे दो का उल्लेख है जो कि पाराजिक, संघावशेष अथवा पात-यन्तिक समझे जा सकते हैं। शेष वर्गों में भी नियमों का क्रम विभिन्न सम्प्रदायों में सर्वथा एक नहीं है।

ऐसा प्रतीत होता है कि मूल प्रातिमोक्ष अब उपलब्ध नहीं है। उसका एक रूप महासांघिक सम्प्रदाय में संरक्षित हुआ, दूसरा मूलस्थविरवादियों से पालि-थेरवादियों ने एवं सर्वास्तिवादियों ने प्राप्त कर सम्पादित किया। मूलतः बौद्ध भिक्षुओं के लिए विहित शील पञ्चविध अथवा दशविध था। ब्राह्मण और जैन साधु भी इसके सदृश शील का पालन करते थे। वस्तुतः जिन पाँच नियमों को योगदर्शन में महाव्रत कहा गया है वे ही समस्त भिक्षुजीवन के आधार थे। इनके विभिन्न विस्तर ही प्रातिमोक्ष में अनेकधा संगृहीत है। किन्तु इसमें समानविषयक अपराधों का एकत्र संग्रह नहीं है प्रत्युत ऐसा प्रतीत होता है कि घटनाओं के प्रभाव से जैसे-जैसे व्रत-हानि प्रकट हुई वैसे-वैसे उस पर प्रतिषेध प्रातिमोक्ष में जोड़ दिया गया। दूसरी ओर प्रातिमोक्ष के पाराजिक, संघावशेष आदि वर्गों का क्रम स्पष्ट ही अपराधगौरव के अनुसार है और अतएव कृत्रिम है। उदाहरणार्थ, यह कहना अनुचित होगा कि ऐतिहासिक क्रम में सब पाराजिक पहले प्रतिष्ठित हुए, सब शैक्ष धर्म पीछे।

प्रातिमोक्ष-सूत्रों को सामान्यतः भिक्षु-शील-निर्देश से विकसित मानने पर उपोसथ के विकास का उपर्युक्त क्रम भी संगत हो जाता है। पहले उपोसथ में सामा-न्यतः धर्म-चर्या अथवा शील के आदर्श का स्मरण होता था। पीछे परिशुद्धि की आवश्यकता के द्वारा, एवं शील-खण्डन के व्यावहारिक पक्ष के आग्रह से, उपोसथ एवं प्रातिमोक्ष में वैधानिकता और कानूनियत का समारोप हुआ जिसने उनका परवर्ती रूप सम्पादित किया।

प्रातिमोक्ष का प्रारम्भ 'निदान' से होता है जिसमें उपोसथ के लिए एकत्र भिक्षुओं को सूचित किया जाता है कि जिस भिक्षु से कोई दोष हुआ हो वह उसे प्रकट करे। दोष न रहने पर चुप रहना चाहिए। प्रातिमोक्ष के प्रत्येक वर्ग के पाठ के बाद तीन बार सबसे पूछा जाता था कि 'क्या आप लोग इन दोषों से शुद्ध हैं?' दोष को प्रकट न करना झूठ बोलना माना जाता था। प्रातिमोक्ष के प्रथम पाराजिक काण्ड में ऐसे चार पातकों का उल्लेख है जो भिक्षु को संघ में रहने के अयोग्य बना देते हैं—अब्रह्मचर्य, चोरी, मनुष्य-वध, एवं अलौकिक शक्ति का झूठा दावा। मनुष्यवध के अपराध में दूसरे को आत्मघात के लिए प्रेरित करना भी गिना जाता है। संघावशेष (अथवा संघादिशेष)

काण्ड से ऐसे तेरह अपराध परिगणित हैं जिनके लिए अपराधी को कुछ समय के लिए परिवास अथवा पृथक्करण का दण्ड दिया जाता था। यह दण्ड संघ की यथाविहित बैठक में प्रस्तावित और निर्णीत होता था। परिवास के अन्त में पुनः संघ की बैठक ही भिक्षु को दण्डमुक्त कर सकती थी। जान बूझ कर शुक्र-विसृष्टि, काम-प्रेरणा से किसी स्त्री का काय-ससर्ग, किसी स्त्री के साथ काम-सम्भाषण, किसी स्त्री से कहना कि 'काम-सन्तर्पण द्वारा परिचर्या कर', संचरित्र (स्त्री और पुरुष के बीच में मध्यस्थ बनना), अस्वामिक कुटी-निर्माण में युक्त स्थान अथवा विहित प्रमाण का अतिक्रमण, सस्वामिक विहार-निर्माण में ऐसा ही व्यतिक्रम, द्वेष से दूसरे भिक्षु पर निर्मूल पाराजिक दोष का आरोप करना, लेशमात्र पकड़कर दूसरे पर पाराजिक का अभियोग करना, संघ-भेद करना, संघ-भेदकों का अनुवर्तन, कुल-दूषण, दौर्वचस्य (दूसरों की सलाह का जान बूझ कर निरादर करना)—ये तेरह संघादिशेष अपराध हैं। इनमें पहले ९ अपराध प्रथम बार में दोषावह हैं, शेष चार तीन बार दोहराने पर। किसी स्त्री के साथ ऐसे एकान्त में बैठना जहाँ कि अनुचित संसर्ग अथवा सम्भाषण सम्भव है और उस बात का किसी श्रद्धालु उपासिका का आलोच्य विषय बनना, ये तो दो अनियत धर्मों में संगृहीत हैं। नैसर्गिक पातयन्तिक (पालि निसम्यिय-पाचित्तिय) तीस गिने गये हैं। इनका प्रतिकार संघ, बहुत-से भिक्षु अथवा एक भिक्षु के सामने स्वीकार कर उसे छोड़ देने से हो जाता है। इन नैसर्गिकों में अतिरिक्त-लब्ध वस्तुओं का त्याग करना आवश्यक था। चीवर सम्बन्धी सोलह नियम दिये गये हैं, जिनके अनुसार भिक्षु को अतिरिक्त चीवर, अज्ञातिक (जिससे नाता नहीं है) भिक्षुणी से प्राप्त अथवा धोया हुआ चीवर, अपने आप मांगा अथवा बनवाया हुआ जीवर आदि का त्याग विहित है। सात नियम आसन के बनवाने और तैयार करने के बारे में हैं। कौशेय का अथवा काले भेड़ के ऊन का आसन निषिद्ध था। आसन शीघ्र नही बदलना चाहिए। नये आसन में पुराने आसन की छोर से बित्ता भर लेकर जोड़ना चाहिए। सोने चांदी का ग्रहण (स्पर्श), रूपिक-व्यवहार, एवं क्रय-विक्रय में भाग लेना भिक्षुओं के लिए निषिद्ध था। रोगी भिक्षुओं के लिए घी, मक्खन, तेल, मधु, खांड आदि का अधिक-से-अधिक सप्ताह तक संग्रह करना चाहिए। अतिरिक्त पात्र वर्जित है। संघ के लिए प्राप्त लाभ को अपने लिए बदलवा लेना भी इन्हीं अपराधों में परिगणित है।

पाचित्तिय, प्रायश्चित्तिक अथवा पातयन्तिक धर्मों की गणना में सम्प्रदाय-भेद उपलब्ध होता है। पालि प्रातिमोक्ष मे ९२ धर्म इस काण्ड में उल्लिखित हैं, महाव्युत्पत्ति में ९३। झूठ बोलना, चिढ़ाना, चुगली, अनुपसम्पन्न के साथ अथवा स्त्री के

साथ लेटना, स्त्रियों को लम्बे उपदेश देना, चमत्कार की बातें करना, दुष्ठुलारोचन, जमीन खोदना या खुदवाना, वृक्ष आदि काटना, निन्दा करना, संघ की चीजों को लापरवाही से छोड़ देना, प्राणियुक्त जल से सिंचन, बिना सघ की अनुमति के अथवा सूर्यास्त के बाद भिक्षुणियों को उपदेश देना, भिक्षुणी के साथ एकान्त में बैठना अथवा सलाह करके उसके साथ यात्रा, एक आवास में एक से अधिक भोजन, कुछ विशेष अवस्थाओं को छोड़कर गण के साथ भोजन, विकाल-भोजन, रखा हुआ भोजन खाना, नीरोग होते हुए मांग कर घी, मक्खन, तेल, मधु, खाँड, मछली, मांस, दूध, दही आदि उत्तम भोजन का सेवन, बिना दिये हुए भोजन का सेवन, नागा साधुओं को हाथ से भोजन देना, गृहस्थी में बैठकबाजी, सैनिक तमाशा या प्रदर्शन देखना, शराब पीना, ऊंगली से गुदगुदाना, पानी में खेल करना, डराना या तिरस्कार करना, आग तापना, गर्मी—बरसात एवं अन्य विशेष अवस्थाओं के अतिरिक्त आधे महीने से पहले नहाना, प्राणि-हिंसा, झगड़ा बढ़ाना, दूसरे भिक्षु के पाराजिक अथवा संघादिशेष अपराधों को छिपाना, बीस वर्ष से कम उम्र वाले भिक्षु को जानते हुए उपसम्पदा देना, जानते हुए चोरों के काफिले में जाना, धर्म के शिक्षापदों को सीखने में आनाकानी अथवा धर्म के विरुद्ध भाषण, दूसरे भिक्षुओं को पीटना या धमकाना, संघादिशेष का आरोप करना, किसी भिक्षु को हैरान करना या और भिक्षुओं के झगड़े में कान लगाना, संघकार्य में अपना मत न प्रकट करना अथवा प्रकट कर मुकर जाना, बिना सूचना के राजा के शयनागार में प्रवेश, बहुमूल्य वस्तु का हटाना, मध्याह्न के बाद बिना अत्यन्त आवश्यक कार्य के गाँव में प्रवेश करना, इत्यादि पाचित्तिय धर्मों में संगृहीत हैं।

प्रतिदेशनीय धर्म चार हैं। इनके करने पर भिक्षु को दूसरे भिक्षुओं के सामने अपना अपराध स्वीकार करना होता है एवं भविष्य में वैसा न करने का वचन होता है। अज्ञातिक भिक्षुणी के हाथ खाद्य ग्रहण करना, भिक्षुओं के भोजन करते समय किसी भिक्षुणी को परोसने में हाथ बँटाने देना, निर्धन और श्रद्धालु उपासकों के घर भिक्षा ग्रहण करना, भय अथवा आशंका से आरण्यक शयनासन के युक्त होने पर पहले से अप्रतिसंविदित खाद्य-भोजन का स्वयं ग्रहण करना—ये ही प्रतिदेशनीय धर्म है।

शैक्ष—काण्ड में शिष्ट व्यवहार के नियमों का संग्रह है जिन्हें कि भिक्षुओं को सीखना चाहिए। ऊपर कहा जा चुका है कि इनके परिगणन में बहुत संख्या-भेद हैं। उदाहरणार्थ, पालि-प्रातिमोक्ष में ७५ धर्मों का उल्लेख है, महाव्युत्पत्ति में १०६। अच्छी तरह कपड़ा पहनना, शऊर से उठना-बैठना, कहकहा न लगाना, सत्कारपूर्वक भिक्षा-ग्रहण करना, शऊर से खाना, ढंग से उपस्थित व्यक्ति को ही धर्मोपदेश करना, खड़े-खड़े या

हरियाली या पानी में मल-मूत्र का त्याग न करना इत्यादि से सम्वन्ध रखनेवाली शिक्षाएं इस काण्ड में संगृहीत हैं।

अधिकरण–शमथ में संघ के झगड़े मिटाने के तरीकों को वताया गया है–सम्मुख-विनय, स्मृति-विनय, अमूढ-विनय, प्रतिज्ञात-करण, यद्भूयसिक, यत्पापीयसिक और तृणप्रस्तारक–ये सात उपाय निर्दिष्ट किये गये हैं[२७]।

भिक्षुणियाँ—यद्यपि स्त्रियों की प्रव्रज्या उस समय विदित थी तथापि भगवान् बुद्ध उसके लिए अपने संघ में पहले अनुमति नहीं देना चाहते थे। महाप्रजापति गौतमी के इस विषय में अनुरोध को उन्होंने कपिलवस्तु में अस्वीकार कर दिया था। पीछे गौतमी बहुत-सी शाक्य स्त्रियों के साथ केश कटाकर और काषाय वस्त्र धारण कर वैशाली पहुँची जहाँ कि तथागत महावन में विहार कर रहे थे। वहाँ द्वार पर उसके सूजे पैर, धूलि-धूसर गात्र और साश्रुमुख देखकर आनन्द के चित्त में करुणा उपजी और उन्होंने तथागत से स्त्री-प्रव्रज्या का अनुरोध किया और कहा कि स्त्रियाँ आध्यात्मिक उन्नति कर सकती हैं और प्रजापति गौतमी तो भगवान् की मातृस्थानीया रही है। तथागत ने अनुरोध स्वीकार किया, किन्तु आठ शर्तों पर—भिक्षुणियाँ भिक्षुओं का आदर करेंगी, अभिक्षु-कुल में भिक्षुणियों का वर्षावास नहीं होगा, हर पखवारे भिक्षुणियाँ भिक्षु-संघ से उपोसथ—पृच्छा और अववादोपसंक्रमण प्राप्त करेंगी, वर्षावास के अनन्तर भिक्षुणियों को दोनों संघों में दृष्ट, श्रुत एवं परिशंकित तीनों स्थानों से प्रवारणा करनी चाहिए, भिक्षुणी को दोनों संघों में पक्षमानता करनी चाहिए, दो वर्ष ६ धर्मों में शिक्षित होकर भिक्षुणी को दोनों संघों में उपसंपदा की प्रार्थना करनी चाहिए, भिक्षुणी को आक्रोश-परिभाषण नहीं करना चाहिए, भिक्षुणियों के लिए भिक्षुओं को कुछ कहने का मार्ग निरुद्ध है, भिक्षुओं के लिए निरुद्ध नहीं है। इन शर्तों के साथ भिक्षुणी-संघ को अनुमति देते हुए भी तथागत ने यह कहा कि 'यदि स्त्रियाँ इस धर्म-विनय में प्रव्रज्या न पातीं तो यह सहस्र वर्ष तक ठहरता, स्त्री-प्रव्रज्या के कारण सद्धर्म केवल पाँच सौ वर्ष ठहरेगा।'

स्त्रियों के लिए प्रज्ञप्त ६ शिक्षापद (जो कि पाचित्तिय संख्या ६३ से ६८ तक हैं) हिंसा, चोरी, अब्रह्मचर्य, मृषावाद, मद्यपान और विकाल-भोजन का वर्जन करते हैं। उनके लिए उपदिष्ट प्रातिमोक्ष मेरे अनियत-काण्ड नहीं है। पाराजिक-काण्ड में ८ अपराध गिनाये गये हैं जिनमें भिक्षु-प्रातिमोक्ष के चार अपराधों के साथ चार और

२७—दे०—नीचे।

का संनिवेश है—कामासक्ति से पुरुष का घुटने के ऊपर पैर दबाना, कामासक्ति से पुरुष का स्पर्श या एकान्त में साथ, संघ से निकाले भिक्षु का अनुगमन, एवं किसी और भिक्षुणी के पाराजिक अपराध को छिपाना। भिक्षुणियों के लिए १७ संघादिशेष अपराध बताये गये हैं—पुरुष के साथ घूमना, चोर को दीक्षा देना, अकेले घूमना, संघ से निकाली भिक्षुणी का अनुगमन, आसक्ति से पुरुष के हाथ से खाद्य लेना, अथवा दूसरी भिक्षुणी को इसके लिए उत्साहित करना, कुटनी बनना, निर्मूल या लेश मात्र से किसी पर पाराजिक का आरोप करना, त्रिरत्न का प्रत्याख्यान करना, संघ की निन्दा, कुसंग अथवा कुसंग के लिए प्रेरित करना, सीख न लेना, और कुलों को बिगाड़ना। नैसर्गिकों की संख्या भिक्षुणी-प्रातिमोक्ष में भी तीस है। पाचित्तियों की संख्या १६६ है जिनमें लहसुन खाना, कूड़ा-कचरा दीवार के पार फेंकना, नाच-गाने में जाना, दूसरे को सरापना, सूत कातना आदि सम्मिलित हैं। गर्भिणी, स्तन्यपायिनी, १२ वर्ष से कम की विवाहिता एवं बीस वर्ष से कम की कुमारी को उपसम्पदा नहीं दी जा सकती और न उसे जिसने दो वर्ष से कम शिक्षा ग्रहण की है। भिक्षुणियों के लिए पाटिदेसनिय धम्म आठ हैं और भिक्षु-पाति-मोक्ख के ३९ वें पाचित्तिय से अभिन्न हैं। शैक्ष धर्म और अधिकरण शमथ भिक्षुओं के सदृश है।

वर्षावास—आज भी पूर्वी उत्तर प्रदेश एवं उत्तर बिहार में मार्गों और नदियों की अवस्था ऐसी है कि बरसात में यातायात दुष्कर हो जाता है। नदियों की बाढ़ से और भूमि के असाधारण रूप से समतल होने के कारण अनेक स्थल द्वीपवत् बन जाते हैं। तथागत के समय में इस प्रकार की कठिनाई आज से अधिक ही रही होगी। ऐसी स्थिति में यदि उस समय के परिव्राजकों में वर्षाकाल के लिए चारिका को स्थगित रखने की प्रथा का विकास हुआ तो उसे विस्मयावह नहीं कहा जा सकता। ब्राह्मण भिक्षुओं के लिए भी वर्षा में स्थिर रूप से रहने का विधान है। विनय में कहा गया है कि पहले शाक्य-पुत्रीय भिक्षुओं को वर्षा में भी विचरण करते देखकर लोग हैरान होते थे कि जब अन्य तीर्थिक एक जगह रहते हैं और चिड़ियाँ वृक्षों के ऊपर घोसले बनाकर रहती हैं शाक्य-पुत्रीय श्रमण कैसे हरे तृणों को रौंदते हुए एकेन्द्रिय जीवों को पीड़ित करते हुए तथा छोटे-छोटे जन्तुओं को मारते हुए विचरते हैं[२८]। यह देखकर तथागत ने अपने अनुयायियों के लिए भी वर्षावास का विधान किया। आषाढ़ी पूर्णिमा अथवा श्रावणी पूर्णिमा के दूसरे दिन से तीन महीने तक उनके लिए यात्रा का निषेध था और उन्हें एक आवास में

२८–विनय, ना० महावग्ग, पृ० १४४।

रहना पड़ता था। अत्यधिक आवश्यकता पड़ने पर जैसे बीमारी के आपत्ति-काल में, या उपासकों के विशेष हित के लिए, अथवा आत्ययिक सघ-कार्य के लिए, भिक्षु आवास को सात दिन तक छोड़ सकते थे। यदि आवास में सुरक्षा-हानि, दुर्भिक्ष, रोग, शील-विपत्ति, अथवा संघ भेद की सम्भावना हो तो आवास छोड़ने में दोष नहीं माना जाता था।

वर्षावास के अन्त में संघ को सम्मिलित होकर अपने अपराध की आदेशना करना आवश्यक था। इसको 'प्रवारणा' कहा जाता है। जिस प्रकार से उपोसथ पाक्षिक परि-शुद्धि के लिए आवश्यक है ऐसे ही प्रवारणा एक प्रकार से वार्षिक परिशुद्धि है। वर्षान्त में ही उपासकों के द्वारा भिक्षु-संघ को दिये गये वस्त्रों से चीवर निर्माण कर भिक्षुओं को बाँटे जाते थे। इस प्रकार के चीवर को 'कठिन' कहा जाता है। कठिन के निर्माण के लिए संघ एक विशेष भिक्षु को चुनता है जिसे दर्जी के आवश्यक कार्य की अनुमति दी जाती है।

वैनयिक 'कर्म'—विनय में अनुशासन के लिए अनेक विशिष्ट कर्मों का विधान पाया जाता है। यदि कोई भिक्षु विवादशील एवं कलहप्रिय हो अथवा अपनी मूढ़ता से अपराध करे अथवा गृहस्थों से अधिक सम्पर्क में आये तो उसके लिए तर्जनीय कर्म विहित है। ऐसे ही यदि कोई भिक्षु शील के विषय में उदासीन हो अथवा बुद्ध, धर्म एवं संघ की निन्दा करता हो तो वह भी तर्जनीय कर्म से दण्डनीय है। ऐसे अपराधी भिक्षु को चेतावनी देनी चाहिए। प्रातिमोक्ष के उपयुक्त नियम का स्मरण दिलाना चाहिए और फिर उसके लिए किये हुए विशिष्ट अपराध के दण्ड का उसे भागी बनाना चाहिए। संघ के समक्ष उसके अपराध की तीन बार ज्ञप्ति प्रस्तुत होनी चाहिए तथा संघ से उस भिक्षु के लिए तर्जनीय कर्म के आदेश का निवेदन करना चाहिए। दोषी भिक्षु को भी इस सभा में उपस्थित होना चाहिए तथा उसे इस बात का अवसर मिलना चाहिए कि वह अपना अपराध स्वीकार करे अथवा अपनी निर्दोषता का स्मरण करे। जिस भिक्षु के लिए तर्जनीय कर्म का आदेश होता है वह उपसम्पदा नहीं दे सकता और न निश्रय। वह अन्य भिक्षुओं को उपदेश भी नहीं कर सकता और न भिक्षुणियों को उपदेश दे सकता है। इस प्रकार के नियंत्रण का समुचित पालन करने पर दोषी भिक्षु से दण्ड हटा लिया जाता है।

यदि कोई भिक्षु गृहस्थों के साथ अधिक सम्पर्क में आता हो एवं प्रातिमोक्ष का उल्लंघन करता हो तो वह निश्रय कर्म का भागी होता है। उसके लिए एक भिक्षु आचार्य के रूप में निर्दिष्ट किया जाता है और उसके आदेश का पालन दोषी भिक्षु के लिए आवश्यक होता है। यदि कोई भिक्षु कुलदूषक हो अथवा पापसमाचार हो तो

वह प्रव्राजनीय कर्म का भागी होता है। उसे कुछ समय के लिए विहार छोड़कर स्थानान्तर में विशेष नियन्त्रणों की परिधि में रहना होता है। यदि कोई शील अथवा धर्म के विषय में विवादप्रिय हो अथवा आचरणहीन हो तो उसके लिए भी यही दंड विहित है। यदि कोई भिक्षु किसी गृहस्थ को हानि पहुँचाता हो अथवा उसकी निन्दा करता हो तो वह प्रतिसारणीय कर्म का भागी होता है। इस प्रकार के भिक्षु को न केवल तर्जनीय कर्म से दंडित भिक्षु के समान नियमों से रहना पड़ता है अपितु उस विशिष्ट गृहस्थ से क्षमा माँगनी पड़ती है। यदि कोई भिक्षु अपने अपराधों को स्वीकार नहीं करता अथवा कहे जाने पर धर्म-विरुद्ध सिद्धान्त को नहीं छोड़ता तो वह उत्क्षेपणीय कर्म का भागी बनता है। वह अन्य भिक्षुओं के साथ नहीं ठहर सकता और न उनके साथ आहार आदि कर सकता है।

कुछ गौण अपराधों के लिए प्रतिक्रोशना का विधान है। संघ से भिक्षु को निकालने के लिए निस्सारणा शब्द का प्रयोग मिलता है। परिवास के चार प्रकार निर्दिष्ट हैं। अन्य सम्प्रदायों के सदस्य यदि बौद्ध संघ में प्रवेशार्थी हों तो उनके लिए चार महीने का परिवास निर्दिष्ट है। यह एक प्रकार का 'प्रोबेशन' का समय है। संघादिशेष दोष के लिए अन्य तीन परिवासों का निर्देश है। जो भिक्षु परिवास में रहता है उसे अपने को अन्य भिक्षुओं से अनेक बातों में अलग रखना पड़ता है। उसके लिए सहावास, विप्रवास, एवं अनारोचना के नियन्त्रणों से शुद्ध रहना आवश्यक है। संघादिशेष अपराधों के लिए परिवास के अतिरिक्त मानत्व का विधान है। मानत्व में छः दिन के लिए भिक्षु को संघ की सदस्यता के सामान्य अधिकारों से वंचित रखा जाता है।

विवाद-शमथ—प्रातिमोक्ष में विवादों के सुलझाने के लिए अनेक प्रकार निर्दिष्ट है। इसमें पहला सम्मुख विनय कहलाता है। संघ के समक्ष, अथवा वादी और प्रतिवादी के आपस में एक-दूसरे के सामने, विवाद सुलझाने को सम्मुख-विनय कहते हैं। दूसरा स्मृति-विनय कहलाता है। यदि किसी भिक्षु के ऊपर लगे हुए अभियोग को वह स्वीकार नहीं करता है और संघ के सामने आकर अपनी निर्दोषता को प्रकट करता है तो यह स्मृतिविनय कहलाता है। दर्भ मल्लपुत्र ने मेत्तिया भिक्षुणी के मिथ्या दोषारोपण का ऐसे ही प्रत्याख्यान किया था। तभी से इस स्मृति-विनय का प्रवर्तन हुआ। यदि किसी भिक्षु ने मूढ़ अवस्था में अपराध किया हो और उसे अमूढ़ अवस्था में उसका सचमुच स्मरण न हो और वह संघ के सामने यह प्रकट करे, तो उसे अमूढ़-विनय दिया जा सकता है। गर्ग भिक्षु के प्रसंग से इसका प्रारम्भ बताया गया है। अपने ऊपर लगाये गये अपराध का स्वीकार किया जाय तो प्रतिज्ञातकरण शमथ होगा। यदि किसी विवाद

का उद्वाहिका के द्वारा सुलझाव न होता हो और शलाकाग्रहण के द्वारा सुलझाव आवश्यक हो तो ऐसी अवस्था में यद्भूयसिकीय अथवा मताधिक्य का सहारा लिया जाता है। यदि कोई भिक्षु अपने अपराध को कभी स्वीकार करे और कभी अस्वीकार करे अथवा जिरह में जान-बूझ कर झूठ बोले तब उसे संघ के सामने अपराध के अभियोग का स्मरण दिलाया जाता है और उसकी उपस्थिति में उससे पूछने के बाद उस दंड का भागी समझा जाता है। यह तत्पापीयसिक कर्म कहलाता है। यदि बहुत-से भिक्षु वर्गशः किसी अपराध में सम्मिलित हों तथा पीछे पश्चात्तापी हों तो उनके अपराध का संघ में प्रकट-विमर्श ठीक नहीं समझा जाता था एवं सामान्यतः संघ में आदेशना पर्याप्त मानी जाती थी। इसको ऊपर कहा जा चुका है कि संघ का कार्य गण-तन्त्रात्मक रीति से सम्पन्न होता था। आवास की परिपद् में सभी भिक्षुओं का उपस्थित होना आवश्यक था। भिक्षु-संघ के सन्निपतित होने पर कार्य सम्बन्धी प्रस्ताव अथवा 'ज्ञप्ति' को पेश किया जाता था, और उसकी तीन बार 'अनुश्रावणा' की जाती थी। संघ का मौन उसकी सम्मति मानी जाती थी और 'ज्ञप्ति' के आधार पर 'धारणा' प्रस्तुत होती थी। प्रायः सर्वसम्मति से ही निर्णय होते थे। किसी विपय पर मतभेद एवं विवाद उपस्थित होने पर उसे सुलझाने के लिए दो या अधिक भिक्षुओं के नाम संघ की सर्वसम्मति से चुने जाते थे। इस समिति को 'उद्वाहिका' कहा जाता है। यदि ये भिक्षु भी निर्णय नहीं कर पाते थे तो प्रस्तुत विषय फिर से संघ के सामने लौट आता था और मताधिक्य से ही उसका निर्णय किया जाता था। मतदान शलाकाग्रहण के द्वारा होता था और इस कार्य के लिए एक विशेष अधिकारी शलाका-ग्राहक के नाम से नियुक्त होता है। यह स्पष्ट है कि यद्यपि संघ के कार्य-व्यापार में मतैक्य का प्राधान्य स्वीकृत था, तथापि आवश्यक होने पर मताधिक्य से भी निर्णय वैध था।

सम्पत्ति—संघ में संपत्ति का अधिकार अतीतानागत चातुर्दिश संघ का माना जाता था। भिक्षु सभी अपरिग्रह का व्रत लिये होते हैं। अतएव भिक्षा में प्राप्त सामग्री पर संघ का मुख्य अधिकार मानना चाहिए, किन्तु इस अधिकार का अनियंत्रित प्रयोग नहीं किया जाता था। भिक्षु के मरने पर उनकी संपत्ति का संघ ही वितरण करता था। अन्न आदि दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए संघ मे विशेष भिक्षुओं को अधिकारी नियुक्त किया जाता है। ऐसे कई अधिकरियों के नाम उपलब्ध होते हैं। भक्तोद्देशक अन्न बाँटता था, यागु-भाजक यागु आदि बाँटता था। शयनासन-ग्राहक भिक्षु संघ की ओर से विहार आदि का दान स्वीकार करता था। शयनासन-प्रज्ञापक विहार के अन्दर शयनासन आदि का वितरण करता था। भाण्डागारिक चीवर, प्रतिग्राहक,

चीवर-भाजक, शाटी-ग्राहक, अल्पमात्रक-विसर्जक, पात्र-ग्राहक, नवकर्मिक, आरामिक, श्रामणेर-प्रेक्षक, आसन-प्रज्ञापक एवं ऊपर निर्दिष्ट शलाका-ग्राहक आदि की नियुक्ति आवश्यकता के अनुसार होती थी। नियुक्ति सर्वसम्मति से की जाती थी।

पहली संगीति और धर्म-विनय का संग्रह

प्रथम संगीति की ऐतिहासिकता—बौद्ध परम्परा के अनुसार विनय और सूत्र-पिटकों का संग्रह बुद्ध के परिनिर्वाण के अनन्तर राजगृह की प्रथम संगीति में हुआ था। प्रथम संगीति का उल्लेख अनेक संदर्भों से प्राप्त होता है। पालि विनय के चुल्लवग्ग में इस संगीति का एक प्राचीन वर्णन उपलब्ध है। परवर्ती सिंहलीय ऐतिह्य तथा बुद्धघोष की व्याख्याओं में यहीं से इस सम्बन्ध में सामग्री ली गयी है। महावस्तु एवं मंजुश्रीमूलकल्प में भी संक्षिप्त उल्लेख मिलते हैं। महीशासक, धर्मगुप्त, महासांघिक एवं सर्वास्तिवाद के विनयों में इस संगीति का उल्लेख है, किन्तु ये सब विनय चीनी अनुवादों में ही उपलब्ध होते हैं। काश्यप-संगीति-सूत्र, अशोकावदान, महाप्रज्ञा-पार-मिता-शास्त्र, एवं परिनिर्वाणसूत्र में भी उल्लेख हैं, किन्तु ये भी चीनी में ही सुरक्षित हैं। चीनी में एक अन्य ग्रंथ की भी उपलब्धि होती है जिसमें काश्यप और आनन्द के द्वारा परिनिर्वाण के अनन्तर त्रिपिटक के संग्रह का विवरण दिया गया है[२९]। एकोत्तरा-गम के पहले अध्याय की चीनी व्याख्या में भी प्रथम संगीति का उल्लेख है। तारानाथ एवं बुदोन के बौद्धधर्म के तिब्बती इतिहासों में भी इस संगीति का विवरण उल्लिखत है।

पहली संगीति की ऐतिहासिकता और कार्य पर प्रचुर विवाद ऐतिहासिकों में हो चुका है। मिनयेफ, ओल्डेन्बर्ग, फ्रान्के, प्रिलुस्की, दत्त, फ्राउवाल्नर, आदि ने समस्त सामग्री का मंथन कर नाना मत प्रस्तुत किये हैं[३०]। ओल्डेन्बर्ग का विश्वास था कि पहली संगीति विशुद्ध कल्पना है। इस धारणा के समर्थन में प्रधान युक्ति यह थी कि महापरिनिर्वाण सूत्र में संगीति का उद्देश्य और अवसर दोनों प्रस्तुत हैं, किन्तु संगीति के विषय में पूर्ण मौन स्वीकार किया गया है। फ्रान्के ने इसे स्वीकार कर यह सुझाव

२९—दत्त, अर्ली मौनेस्टिक बुद्धिज्म, जि० १, पृ० ३२६।

३०—द्र०—मिनयेफ, रेशर्श सूर ल बुद्धिज्म, ओल्देनबर्ग, ज़ड्० डी० एम० जी०, १८९८, पृ० ६१३—९४, फ्रान्के, जे० पी० टी० एस० १९०८, पृ० १—८०, नलिनाक्षदत्त, अर्ली मौनेस्टिक बुद्धिज्म, जि० १, प्रिलुस्कि, लकौंसीय द राजगृह, फ्राउवाल्नर, पूर्व०।

प्रस्तुत किया कि चुल्लवग्ग के संगीति-सम्बन्धी अंश भी महापरिनिर्वाण-सूत्र पर ही आधारित रहे होंगे और अतएव उन्हे भी अप्रामाणिक मानना चाहिए। ओल्डेनबर्ग की युक्ति का याकोबी ने समीचीन उत्तर दे दिया है। महापरिनिर्वाण-सूत्र के लिए यह अनावश्यक था कि वह संगीत का विवरण दे। यह भी कहा गया है कि चुल्लवग्ग के एकादश और द्वादश स्कन्धक कदाचित् मूलतः महापरिनिर्वाण सूत्र के अंग रहे हों। यह तो निस्सन्देह है कि ये दो स्कन्धक चुल्लवग्ग के परिशिष्ट के रूप मे है और मूलतः उसके अंग नहीं थे। चुल्लवग्ग का एकादश स्कन्धक उसके अन्य अंगों की अपेक्षा हठात् प्रारम्भ होता है, कुछ-कुछ वैसे ही जैसे कि महापरिनिर्वाण सूत्र, और उसमे वस्तुसादृश्य भी रखता है। संयुक्त-वस्तु नाम के मूल सर्वास्तिवादियों के विनय में एक साथ ही परिनिर्वाण और संगीतियों का वर्णन दिया गया है। अतएव यह सम्भव है कि चुल्लवग्ग का एकादश स्कन्धक महापरिनिर्वाण सूत्र का अन्तिम अंग रहा हो, किन्तु ऐसा रहने पर यह सुबोध नहीं है कि स्थविरवादियों ने इन दो को पृथक् क्यों कर दिया। कदाचित् चुल्लवग्ग के द्वादश स्कन्धक के सादृश्य के कारण एकादश स्कन्धक को उसके साथ रखा गया हो। इस पर एक परिष्कृत मतान्तर फ्राउवाल्नर ने प्रस्तुत किया है जिसके अनुसार महापरिनिर्वाण सूत्र और प्रथम सगीति का विवरण प्रारम्भ में साथ थे और विनय के अन्तिम अंग थे। दूसरी संगीति का विवरण प्रासंगिक परिशिष्ट के रूप में जोड़ दिया गया। यह मत सर्वाधिक समीचीन प्रतीत होता है।

यद्यपि अब पहली संगीति को केवल कल्पना नहीं कहा जा सकता तथापि उसका कार्य संदिग्ध रहता है। पूसें ने इस संगीति को एक बड़ी प्रातिमोक्ष-परिषद् कहा है। मिनयेफ़ ने पहले ही कहा था कि धर्म और विनय के संग्रह की कथा कदाचित् मूल संदर्भ में न रही हो। नलिनाक्ष दत्त ने संगीति का प्रयोजन उन क्षुद्रकानुक्षुद्र शिक्षापदों का निर्णय बताया है जिनको परिवर्तित करने की अनुमति तथागत ने निर्वाण से पहले दी थी। इस दशा में आनन्द के द्वारा सूत्रों का संगायन बाद का प्रक्षेप है जबकि मूल में केवल आनन्द की परिशुद्धि का ही वर्णन रहा होगा। इतना तो स्पष्ट है कि उपलब्ध विनय और सूत्र पिटक अपने वर्तमान बृहद् कलेवर में परिनिर्वाण के समनन्तर तत्काल संगृहीत नहीं किये जा सकते थे, किन्तु संग्रह का प्रयास तत्काल किया गया हो, यह भी सर्वथा संभाव्य एवं युक्तियुक्त है। तथागत ने कहा था 'धम्मो वो भिक्खवे ममच्चयेन सत्था' एवं आनन्द ने परिनिर्वाण के अनन्तर वर्षकार से यही दुहराया था कि धर्म ही उनका शास्ता है। ऐसी स्थिति मे यह स्वाभाविक है कि तथागत के अनन्तर उनके शिष्यों ने 'धर्म-विनय' का संगायन किया हो। समस्त भिक्षु-संघ को एक सूत्र में बाँधने

के लिए एवं उसके दिग्दर्शन के लिए इस प्रकार का धर्म-संग्रह एवं विनिर्णय आवश्यक था।

प्रथम संगीति—विनय में संगीति का विवरण इस प्रकार दिया हुआ है—पाँच सौ भिक्षुओं के साथ महाकाश्यप पावा और कुसीनारा के बीच थे जब उन्होंने एक आजीवक से सुना कि सप्ताह भर पूर्व तथागत का परिनिर्वाण हुआ है। यह सुनकर अवीतराग भिक्षु रोये, वीतराग भिक्षुओं ने अनित्यता का स्मरण कर दुःख सहा। किन्तु सुभद्र नाम के एक वृद्ध प्रव्रजित ने कहा कि अच्छा हुआ जो महाश्रमण के नाना विधि-निषेधों से छुट्टी मिली 'अब हम जो चाहेंगे करेंगे, जो न चाहेंगे, न करेंगे।' यह सुनकर महाकाश्यप ने कहा कि अधर्म और अविनय प्रकट हो रहा है, यह आवश्यक है कि धर्म और विनय का संगायन किया जाय।

संगीति के लिए महाकाश्यप ने एक कम पाँच सौ अर्हत् चुने। आनन्द के शैक्ष होने पर भी धर्म और विनय से उनके बहुत परिचित होने के कारण उन्हें भी चुन लिया गया। राजगृह में वर्षावास करते हुए धर्म और विनय के संगायन का निश्चय किया गया। पहले महीने में टूटे-फूटे की मरम्मत की गयी एवं दूसरे महीने में संगीति हुई। आयुष्मान् आनन्द भी संगीति के पहले अर्हत् बनाये गये। महाकाश्यप ने उपालि से विनय के सम्बन्ध में प्रश्न किया। उन्होंने पूछा कि प्रथम पाराजिक कहाँ प्रज्ञप्त किये गये थे, किसे लेकर, एवं किस विषय में। उपालि के उत्तर सुनकर महाकाश्यप ने प्रथम पाराजिक की वस्तु, निदान, पुद्गल, प्रज्ञप्ति, आपत्ति एवं अनापत्ति भी पूछी। इसके अनन्तर दूसरे, तीसरे एवं चौथे पाराजिक के सम्बन्ध में प्रश्न किये गये। इस प्रश्नोत्तरी को कुछ विस्तार से दिया गया है। इसके अनन्तर कहा गया है कि इसी उपाय से दोनों विभंगों (उभतो विभंग) अर्थात् भिक्षु और भिक्षुणी विभंगों, को पूछा गया और आयुष्मान् उपालि ने उनका उत्तर दिया। इस विवरण से ऐसा प्रतीत होता है कि मूलतः केवल प्रातिमोक्ष के सम्बन्ध में ही प्रश्न किये गये थे।

इसके अनन्तर महाकाश्यप ने आनन्द से धर्म के सम्बन्ध में प्रश्न किया। उन्होंने पूछा कि ब्रह्मजाल-सूत्र कहाँ भाषित किया गया एवं किसे लेकर। ब्रह्मजाल-सूत्र के निदान और पुद्गल को भी उन्होंने पूछा। ऐसे ही फिर श्रामण्यफल के सम्बन्ध में प्रश्न किया। इसी उपाय से पाँचों निकायों को पूछा और आयुष्मान् आनन्द ने पूछे का उत्तर दिया। इसके अनन्तर आनन्द ने स्थविर भिक्षुओं से कहा कि भगवान् ने परिनिर्वाण के समय कहा था 'आनन्द, मेरे अनन्तर संघ क्षुद्रकानुक्षुद्र शिक्षापदों को चाहने पर हटा सकता है।' इस पर आनन्द से प्रश्न पूछा गया कि क्या उन्होंने इन शिक्षापदों के विषय में तथागत से प्रश्न किया था। आनन्द के 'नहीं' कहने पर स्थविरों ने

नाना मत प्रस्तुत किये। कुछ ने कहा कि चार पाराजिकों को छोड़कर शेष सब शिक्षापद तुच्छ हैं, कुछ ने कहा कि पाराजिकों और संघादिशेषों को छोड़कर शेष क्षुद्र हैं। इसी प्रकार अन्य स्थविरों ने प्रातिमोक्ष के विभिन्न भागों को क्षुद्रकानक्षुद्र बताया। इस प्रसंग में यह स्मरणीय है कि अधिकाधिक पाराजिक, संघादिशेष, नैसर्गिक, प्रायश्चित्तिक एवं प्रायश्चित्तिक धर्मों को महत्त्वपूर्ण माना गया। प्रतिदेशनीय धर्म सभी ने क्षुद्रानुक्षुद्र बताये। शैक्ष धर्मों का अथवा अधिकरण-शमथों का इस प्रसंग में उल्लेख नहीं मिलता। इस पर महाकाश्यप ने यह प्रस्ताव रखा कि संघ न तो अप्रज्ञप्त का प्रज्ञापन करे और न प्रज्ञप्त का समुच्छेद, अन्यथा शिक्षापदों से कुछ उस समय छोड़ देने पर उनके गृहस्थों में भी विदित होने के कारण यदि उनमें संघ को लोकनिन्दा का भागी होना पड़ेगा। यह कहा जायगा कि शास्ता के परिनिर्वाण के अनन्तर शाक्यपुत्रीय अपने धर्म का यथावत् पालन न कर पाये। यह प्रस्ताव संघ को स्वीकृत हुआ। तब स्थविरों ने आनन्द पर क्षुद्रानुक्षुद्र शिक्षापदों के तथागत से न पूछने का दुष्कृत अपराध आरोपित किया। आनन्द ने अपराध की आदेशना की। इसके अनन्तर आनन्द के कुछ और अपराध प्रकाशित किये गये, यह कहा गया कि उन्होंने भगवान् की वर्षाशाटी को पैर से दाब कर सिया। आनन्द ने कहा कि यह उन्होंने अगौरव समझकर नहीं किया था एवं इसको वे दुष्कृत नहीं समझते, तथापि उन्होंने स्थविरों के गौरव को सोच अपराध की देशना की। आनन्द पर अन्य अभियोग थे—उन्होंने भगवान् के शरीर की वंदना सबसे पहले स्त्रियों से करवाई जिनके आँसुओं से उनका शरीर लिप्त हुआ, उन्होंने तथागत के संकेत करने पर भी उनसे कल्प भर ठहरने की प्रार्थना नहीं की, एवं उन्होंने तथागत के बतलाये धर्मविनय में स्त्रियों की प्रव्रज्या के लिए उत्सुकता पैदा की। इन सब दुष्कृतों के लिए आनन्द से क्षमायाचन के लिए कहा गया। आनन्द ने अपराध स्वीकार नहीं किया और कहा कि विकाल न हो इसलिए उन्होंने स्त्रियों से वंदना करायी। मार से विभ्रान्त होने के कारण तथागत से वे ठहरने के लिए प्रार्थना नहीं कर पाये एवं महाप्रजापति गौतमी के गौरव से उन्होंने स्त्री-प्रव्रज्या के लिए अनुरोध किया। तथापि स्थविरों के गौरव से उन्होंने क्षमा-प्रार्थना की।

उस समय आयुष्मान् पुराण दक्षिणागिरि में पाँच सौ भिक्षुओं के साथ चारिका कर रहे थे। जब वे राजगृह लौटे उनसे स्थविर भिक्षुओं ने अपने धर्मविनय के संगायन का उल्लेख करते हुए कहा कि वे उस संगायन को मानें, किन्तु आयुष्मान् पुराण ने कहा, 'जैसा मैंने भगवान् से प्रत्यक्ष सुना है और समझा है, ऐसे ही मैं समझूँगा।'

इसके अनन्तर आनन्द ने स्थविरों से छन्न नाम के भिक्षु को ब्रह्मदंड देने की तथागत

की आज्ञा का उल्लेख किया। 'ब्रह्मदंड कैसे होगा' यह पूछे जाने पर आनन्द ने कहा—
'छन्न भिक्षु जैसा चाहे, कोई भिक्षु छन्न से न बोले, न उपदेश करे, न अनुशासन करे।'
आनन्द से कहा गया कि वे स्वयं छन्न को ब्रह्मदंड की आज्ञा दें। छन्न के क्रोधी और कटुभाषी होने के कारण आनन्द ने कुछ आशंका प्रकट की। अतएव बहुत-से भिक्षुओं के साथ उन्हें नाव से कोशांबी जाने की अनुमति दी गयी। कौशाम्बी में पहुँच कर राजा उदयन के अन्तःपुर की स्त्रियों से आयुष्मान् आनन्द की मुलाकात हुई। आनन्द ने उन्हें धर्म का उपदेश किया। स्त्रियों ने उन्हें पाँच सौ उत्तरासंग प्रदान किये। जब राजा उदयन ने यह सुना उन्हें आकुलता हुई कि क्यों श्रमण आनन्द ने इतने अधिक चीवरों को लिया। 'क्या श्रमण आनन्द कपड़े का व्यापार करेंगे या दूकान खोलेंगे ?" उन्होंने आकर आनन्द से पूछा कि वे इतने अधिक चीवरों का क्या करेंगे। आनन्द ने बताया कि जिनके चीवर फट गये हैं उन्हें बाँटेंगे, पुराने चीवरों के बिछौने, बिछौनों की चादर, पुरानी चादरों के गिलाफ और पुराने गिलाफों के फर्श बनायेंगे इत्यादि। यह सुनकर राजा उदयन ने आनन्द को पाँच सौ चादरें दीं। इसके अन्न्तर आनन्द घोषिताराम गये और छन्न को ब्रह्मदंड दिया। यह सुनकर कि भिक्षुओं को उनसे नहीं बोलना होगा, छन्न मूर्छित हो गये, किन्तु शीघ्र ही उन्होंने अप्रमाद और उद्योग से एवं एकांतचर्या से अर्हत्त्व प्राप्त किया। उनके अर्हत्त्व प्राप्त करने पर उनका ब्रह्मदंड हट गया।

इस विनयसंगीति में पाँच सौ भिक्षु थे, इसलिए इसे पंचशतिका कहा गया।

इस विवरण के विभिन्न अंश सब एक सुदृढ़ सूत्र से बँधे हुए नहीं हैं, किन्तु वे सभी एक स्वाभाविक रीति से कही हुई कथा के अन्तरंग हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि आयुष्मान् आनन्द के तथागत के विशेष कृपापात्र होने के कारण अन्य भिक्षु उनसे कुछ असन्तुष्ट थे एवं परिनिर्वाण के अवसर पर उनकी व्यवस्था से विशेष रूप से असन्तुष्ट हुए। यह अत्यन्त स्वाभाविक स्थिति है। यह भी स्पष्ट है कि महापरिनिर्वाण सूत्र से इस संगीति के वर्णन को यदि अनुसतत न माना जाय तो इसका बहुत-सा अंश निरर्थक एवं अप्रासंगिक हो जाता है। संगीति की ओर पुराण का दृष्टिकोण यह सूचित करता है कि वह सर्वमान्य नहीं हुई थी। यह भी स्वाभाविक है कि परिनिर्वाण के बाद की पहली वर्षा में समस्त संघ का एकत्र होना कठिन रहा होगा और जो भिक्षु वहाँ नहीं आ पाये थे एवं जिन्होंने स्वयं तथागत से उपदेश ग्रहण किया था, उन्होंने अपनी स्मृति को ही प्रधान माना हो। कदाचित् इस संगीति में प्रातिमोक्ष-सदृश कुछ प्रधान विनय के नियमों का एवं ब्रह्मजाल एवं श्रामण्यफल सदृश कुछ प्रधान सूत्रों का संगायन हुआ था, किन्तु धर्म-विनय का कोई एक सर्वसम्मत अथवा सर्वग्राही संस्करण प्रस्तुत नहीं हो पाया।

विनय का संपादन

वर्तमान समय में निम्नोक्त सम्प्रदायों के विनय उपलब्ध होते हैं—स्थविरवादियों का विनय पालि में, सर्वास्तिवादी, धर्मगुप्तक, महीशासक एवं महासांघिकों का चीनी में, तथा मूलसर्वास्तिवादियों का चीनी और तिब्बती अनुवादों में तथा अंशतः मूलसंस्कृत में। इनमें सर्वास्तिवादी, धर्मगुप्तक, महीशासक और स्थविरवादियों के विनयों में बहुत सादृश्य है। यदि क्रम, विस्तार एवं कुछ अभिव्यक्ति–भेद को छोड़ दिया जाय तो यह कहा जा सकता है कि इन विनयों में वस्तुगत अभेद हैं। ऐसा प्रतीत होना है कि ये किसी एक मूल विनय की विकसित शाखाएँ हैं। फाउवालनर महोदय ने यह मत प्रकट किया है कि सम्भवतः अशोक ने जिन भिक्षुओं को विभिन्न प्रदेशों में धर्म के प्रचार के लिए भेजा था और जिन्होंने उन प्रदेशों में संघ के आवास स्थापित किये थे, उन्हीं में इन सम्प्रदायों का उदय हुआ। अतएव सबको एक ही मूल की शाखाएँ मानना उचित होगा[३१]।

सर्वास्तिवादियों का विनय चीनी भाषा में कुमारजीव, पुण्यत्रात एवं धर्मरुचि ने ईसवीय ४०४–४०५ में अनूदित किया था। इस विनय के दो भाग हैं—विभंग एवं विनयवस्तु। विनयवस्तु भिक्षु-विभंग एवं भिक्षुणी-विभंग के बीच में डाल दिया गया है, जैसा कि महासांघिकों के विनय में भी पाया जाता है। विनयवस्तु के भी दो भाग हैं—विनय-महावस्तु एवं विनय-क्षुद्रकवस्तु। यह स्मरणीय है कि पालि विनय में विनयवस्तु के स्थान पर स्कन्धक शब्द का प्रयोग किया गया है, यद्यपि पालि विनय में विनयवस्तु नाम अज्ञात नहीं था। चुल्लवग्ग के बारहवें सप्तशतिकास्कन्धक में चाम्पेयकस्कन्धक के स्थान पर चाम्पेयक-विनयवस्तु का उल्लेख इस बात का प्रमाण है। विभंग को तिब्बती अनुवाद में प्रातिमोक्षभाष्य कहा गया है।

धर्मगुप्तकों के विनय का काश्मीरक बुद्धयशस् एवं चूफोनियन ने ईसवीय ४०८ में चीनी भाषा में अनुवाद किया। महीशासक विनय से इसका घनिष्ठ साम्य है। उदाहरण के लिए, इन्हीं दोनों विनयों में चीवरवस्तु के साथ विरूढक के द्वारा शाक्यों का विनाश वर्णित किया गया है। महीशासकों का विनय फाहियन सिंहल से चीन लाये थे और काश्मीरक बुद्धजीव ने उसका ४२३-४२४ ईसवीय में चीनी अनुवाद किया था। इस विनय की अवस्था अपेक्षाकृत अपूर्ण और खंडित है। पालि विनय महेन्द्र एवं संघमित्रा के साथ भारत से सिंहल पहुँचा था एवं इस पर प्राचीन सिंहली अट्ठकथाओं के आधार पर आचार्य बुद्धघोष ने पाँचवीं शताब्दी के आरम्भ में समन्तपासादिका नाम

३१–द्र०–पूर्व उद्धृत ग्रन्थ, दि अर्लियेस्ट विनय इत्यादि।

की अट्ठकथा लिखी थी। इसमें प्रातिमोक्ष सूत्रों को पृथक् नहीं किया गया है, भिक्षु-विभंग को महाविभंग कहा गया है एवं परिवार नाम से दोनों विभंगों का एक आलोचनात्मक संक्षेप भी जोड़ दिया गया है। मूलसर्वास्तिवादियों के विनय का ई-चिं ने ईसवीय ७०३-१० में चीनी अनुवाद प्रस्तुत किया, किन्तु यह अनुवाद अपूर्ण था। केवल इसी विनय का तिब्बती में पूर्ण अनुवाद उपलब्ध होता है। 'गिलगित मैनस्क्रिप्ट्स' नाम की ग्रन्थमाला में मूलसर्वास्तिवादी विनय का बहुत-सा अंश मूल संस्कृत में प्रकाशित हुआ है। यह विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि मूलसर्वास्तिवादी विनय में बुद्ध के जीवन-चरित का वृत्तान्त एक साथ अन्त में दिया गया है एवं उनके प्रारम्भिक जीवन का भी उल्लेख यहाँ मिलता है। महासंघिकों के विनय की पांडुलिपि फाशियन पाटलिपुत्र से चीन लाये थे एवं बुद्धभद्र के साथ उन्होंने स्वयं उसका चीनी अनुवाद ४१६ ई० में प्रस्तुत किया था। अन्य विनयों से इसमें भेद अपेक्षाकृत अधिक है।

विनय की उत्पत्ति और विकास के विषय में ओल्देन्बर्ग ने यह मत प्रकट किया था कि प्रातिमोक्ष, एवं स्कन्धकों में उपलब्ध कुछ कर्मवाचाओं का उद्गम सबसे पहले मानना चाहिए। इसके अनन्तर निरुक्तिप्रधान प्रातिमोक्ष के विभंग को मानना चाहिए। कथाएँ और इतिहास जो कि इस समय विभंग में उपलब्ध होते हैं और भी बाद में विकसित हुए होंगे। चुल्लवग्ग के अंतिम दो स्कन्धक इनके पश्चात् माने जाने चाहिए एवं सबसे बाद में परिवार का संयोजन स्वीकार होना चाहिए। इस प्रकार विनय का विकास पाँच अवस्थाओं में बताया गया है[३२]। इस विषय पर फ्राउवालनर महोदय ने अधिक विचार-पूर्वक मतान्तर प्रकट किया है[३३]। उनका कहना है कि न केवल प्रातिमोक्ष अपितु विभंग में आयी हुई अनेक कथाएँ तथा अर्थवर्गीय सूत्र आदि कुछ सन्दर्भ अत्यन्त प्राचीन थे एवं इनके आधार पर परिनिर्वाण के प्रायः सौ वर्ष बाद मूलक स्कन्ध का एक समग्र-रचना के रूप में संपादन हुआ। इस मूल स्कन्धक के प्रणेता ने परम्परा प्राप्त वैनयिक नियम एवं तत्सम्बन्धित कथाओं के आधार पर एक विशिष्ट क्रमयुक्त एवं रीतिबद्ध ग्रन्थ की रचना की। इस मूलस्कन्ध के प्रारम्भ एवं अन्त में तथागत के जीवनचरित के अंश थे एवं उनकी जीवनी के अन्तर्गत विभिन्न अवसरों का उल्लेख करते हुए वैनयिक नियमों का प्रतिपादन किया गया था। महापरिनिर्वाण सूत्र इस मूल स्कन्धक का अन्तिम भाग था

३२–ओल्देन्बर्ग (पी० टी० एस० में सं०) विनयपिटक, जि० १, भूमिका, एस० बी० ई० जि० १, भूमिका।

३३–पूर्व०।

एवं उसके साथ प्रथम संगीति की कथा अनुसंतत थी। द्वितीय संगीति का वर्णन समसामयिक घटना का वर्णन है एवं उसे एक परिशिष्ट के रूप में माना जाना चाहिए। निकाय-भेद के अनन्तर इसी मूल स्कन्धक के आधार पर साम्प्रदायिक विनयों की रचना हुई। इसी कारण उनमें मौलिक सादृश्य उपलब्ध होता है।

जैसा कि ऊपर कहा गया है विनय के दो मुख्य भाग हैं--विभंग एवं स्कन्धक स्कन्धक के प्रधान प्रकरण विभिन्न विनयों में कुछ आख्याभेद, क्रमभेद एवं विभाग-भेद के साथ उपलब्ध होते हैं। इससे भी उपर्युक्त सम्भावना पुष्ट होती है। यह स्मरणीय है कि ललितविस्तर में तथा महावस्तु में शाक्यमुनि की जीवनी, उनके जन्म से प्रारम्भ कर उनके प्रारम्भिक धर्म प्रचार तक दी गयी है। यह सम्भव है कि मूल स्कन्धक में ऐसा रहा हो, किन्तु पालि विनय में बुद्ध चरित सम्बोधि से धर्म-चक्र-प्रवर्तन तक दिया गया है। इस भूमिका के अनन्तर प्रव्रज्या, पोषध, वर्षावास एवं प्रवारणा के सम्बन्ध में स्कन्धकों अथवा वस्तुओं की उपलब्धि होती है। ये चार प्रकरण संघ में प्रवेश एवं उसके प्रमुख सामूहिक कार्यों को नियमित करते हैं। इनके अनन्तर चर्मवस्तु, भैषज्यवस्तु, चीवरवस्तु एवं कठिनवस्तु में भिक्षुओं के उपयोगी जूते, कपड़े, दवाइयों आदि का नियमन है[३४]। तदनन्तर कोशाम्बकवस्तु, कर्मवस्तु, पाडुलोहितक वस्तु, पुद्गलवस्तु, पारिवासिकवस्तु, पोषध स्थापनवस्तु, शमथवस्तु, संघभेदवस्तु, शयनासनवस्तु, आचार-वस्तु, क्षुद्रकवस्तु एवं अन्त में भिक्षुणीवस्तु का स्थान है[३५]। इस प्रकार लगभग बीस प्रकरणों में स्कन्धक निष्पन्न होता है। दोनों संगीतियों का विवरण इन बीस स्कन्धकों अथवा वस्तुओं के अनन्तर रखना चाहिए। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, पहली संगीति का विवरण महापरिनिर्वाण के वर्णन का अंतिम भाग था।

'विनय' का युग--निर्वाण की प्रथम शताब्दी में संघ--उपलब्ध विनयपिटक में बुद्धाब्द की प्रथम शती में संघ की अवस्था का सजीव चित्र उपलब्ध होता है। श्रोण कोटिकर्ण की कथा में सद्धर्म की दृष्टि से प्रत्यन्त जनपदों का उल्लेख इस प्रकार किया गया है-पूर्व में कजंगल नाम का निगम जिसके बाद बड़े साख् के जंगल हैं, उसके परे प्रत्यन्त जनपद है। पूर्व-दक्षिण दिशा में सल्लवती नाम की नदी है, दक्षिण दिशा में

३४-यह सर्वास्तिवादी विनय का क्रम है। महासांघिक और पालि विनयों में कुछ भेद है।

३५-विभिन्न सम्प्रदायों के विनयों में क्रमभेद के लिए द्र०-फ्राउवाल्नर, पूर्व० पृ० ३, १७२ प्र०।

श्वेतकर्णिक नाम का निगम है, पश्चिम दिशा में स्थूण नाम का ब्राह्मणग्राम है, उत्तर दिशा में उशीरध्वज नाम का पर्वत है। इस वर्णन से सद्धर्म की तत्कालीन भौगोलिक स्थिति का संकेत मिलता है। बिहार एव उत्तर प्रदेश मे सद्धर्म विकसित प्रतीत होता है। इनके बाहर के प्रत्यन्त जनपदों में, जैसे कि अवंत दक्षिणापथ में, सघ के लिए कुछ विशेष नियम प्रवर्तित किये गये। इन प्रदेशों मे केवल पाँच भिक्षुओं के गण से उपसम्पदा करनी विहित थी एवं भिक्षुओं को 'एकपलाशिका' उपानह् की अनुज्ञा थी[३६]। नित्य स्नान भी उनको अनुमत था। अवंति-दक्षिणा-पथ मे मेषचर्म अजचर्म, एवं मृगचर्म के आस्तरणों की अनुमति दी गयी थी। चीवर-पर्याय भी अनुमत था। कहा गया है कि श्रोण कोटि-कर्ण के द्वारा महाकात्यायन के अनुरोध पर तथागत ने ही इन अपवादों का प्रवर्त्तन किया था, किन्तु सम्भवतः यह परिनिर्वाण के बाद की अवस्था का चित्र है। दूसरी संगीति के विवरण का विस्तृततर भूगोल इससे अनुमेय है कि वहाँ अवन्ति और मध्यम जनपदों का भेद विगलित हो गया है एवं मध्यदेश के अन्दर भी संघ में पूर्वदेशीय और पश्चिमदेशीय आवासों का भेद प्रकट हो गया है।

बौद्ध संघ अनेक सघारामों एवं विहारों में विभक्त था जिनकी अलग-अलग सीमाएँ थीं। सीमाएं प्रायः तीन योजन से अधिक नहीं होती थीं एवं प्राकृतिक चिह्नों के द्वारा उनकी सूचना मानी जाती थी। प्रारम्भ में भिक्षुओं के लिए कृत्रिम विहारों का निर्देश नहीं था और वे जंगल, पहाड़, गिरिकंदरा, श्मशान एवं खुले मैदान या खंडहरों या निर्जन स्थानों में रहा करते थे, किन्तु उपासकों की दानशीलता से एवं वर्षावास के आग्रह से शीघ्र ही विविध आरामों एवं विहारों का निर्माण प्रचलित हो गया। कहा जाता है कि पहले राजगृह के श्रेष्टी ने संघ के लिए साठ विहार बनाये जिन्हें अतीना-नागत चातुर्दिश भिक्षु संघ के लिए प्रतिष्ठित किया गया। इस अवसर पर तथागत ने पाँच प्रकार के लयनों अथवा निवास-स्थानों की अनुमति संघ को दी—विहार, अड्ढ-योग (जिसे गरुड़ की तरह टेढ़ा मकान बनाया गया है), प्रासाद, हर्म्य एवं गुहा। गुहा को चार प्रकार का कहा गया है—ईंट की, पत्थर की, लकड़ी की, एवं मिट्टी की। क्रमशः विहारों का रूप और निर्माण अधिकाधिक परिष्कृत एवं विकसित हो गया। प्रारम्भिक विहार कदाचित् वानप्रस्थों की पर्णशालाओं के सदृश थे, किन्तु पीछे इनका रूप परि-वर्तित हो गया। विहारों के चारों ओर आराम होते थे जोकि बांस अथवा कांटों की बाड़ अथवा खाई से सीमित होते थे। इन बाड़ों में फाटक और तोरण इत्यादि बनने

३६–द्र०–गिलगित मैनस्क्रिप्ट्स, जि० ३, भा० ४, पृ० १८९।

थे। चारों तरफ की दीवार अथवा प्राकार का भी उल्लेख मिलता है। प्राकार के द्वार पर नौबतखाने की तरह से कोष्ठक अथवा कोठा होता था। छोटे विहारों के एक ओर तथा बड़े विहारों के बीच में गर्भगृह अथवा कोठरियाँ बनती थीं। ये कोठरियाँ तीन प्रकार की कही गयी हैं—शिविकागर्भ, नालिकागर्भ एवं हर्म्यगर्भ। परिवेण अथवा आँगन में बालू एवं पत्थर का फर्श बनाया जाता था। भोजन के लिए पृथक् उपस्थानशाला होती थी; पानी के लिए, स्नान के लिए एवं निवृत्त होने के लिए अलग शाखाएँ अथवा कुटिया बनती थीं। पाँच प्रकार की छतों का उल्लेख है—ईंटों की, शिला की, चूने की, तिनकों की, एव पत्तों की। दीवारों पर और फर्श पर सफेद, काला और गेरुआ रंग रहता था। स्त्री-पुरुष के चित्रों का निषेध था किन्तु माला, लता, मकरदन्त आदि की अनुमति थी। सीढ़ियों, अलिन्द, प्रघण, प्रकुड्य आदि का उल्लेख मिलता है।

बौद्ध भिक्षुओं के लिए नग्नता का निषेध था जोकि विशेष रूप से आजीवकों का लक्षण था। ऐसे ही उनके लिए ब्राह्मणों के विदिन कुश-चीर, वल्कल-चीर, एवं मृग-छाल का निषेध था। अन्य तीर्थिकों में विदित फलक-चीर, केश-कम्बल, उल्लू के पंख के अथवा अर्कनाल के कपड़े भी बौद्ध भिक्षुओं को निषिद्ध थे। विनय की अट्ठकथा के अनुसार तथागत की बद्धत्व-प्राप्ति से बीस वर्ष तक सब भिक्षु पांमुकुलिक रहे और किसी ने गृहपति-चीवर का धारण नहीं किया। चीवर-स्कन्धक के अन्तर्गत जीवक-चरित में जीवक के द्वारा तथागत और भिक्षुसंघ का पांमुकुलिक के रूप में वर्णन किया गया है। जीवक ने बुद्ध से राजा प्रद्योत के द्वारा भेजे गये शिवि के दुशाले के जोड़े को स्वीकार करने के लिए तथा भिक्षु-संघ को गृहस्थों के दिये चीवरों के स्वीकार करने की अनुमति के लिए अनुरोध किया। बुद्ध भगवान् ने यह अनुरोध मान लिया और भिक्षुओं को अनुमति दी कि वे चाहे पांमुकुलिक रहें, चाहें गृहपति, चीवर का धारण करें। पीछे देवदत्त के अनुरोध करने पर भी उन्होंने सब भिक्षुओं को पांमुकुलिक होने पर मजबूर नहीं किया। उन्हें पहिनने के लिए तीन चीवरों का विधान था जो कि उत्तरासंग, अन्तर्वासक, एवं संघाटी कहे जाते थे। छः प्रकार के वस्त्रों के चीवर बनाये जा सकते थे—क्षौभ, कार्पास, कौशेय, कम्बल, सन और भंग। प्रावरण की भी भिक्षुओं को अनुमति थी चाहे वे कौशेय अथवा कोजव के हों। कम्बल की भी अनुमति थी। चीवरों को उपासकों से लेने, सम्हालने एवं भिक्षुओं में बांटने के लिए चीवर-प्रतिग्राहक, चीवर,निधायक, एवं चीवर-भाजक नाम के पदों में योग्य भिक्षुओं को चुना जाता था। चीवरों को रखने के लिए संघाराम में एक भाण्डागार होता था और उससे सम्बन्धी एक भाण्डागारिक

उपासकों से प्राप्त वस्त्र को भिक्षु-चीवर के रूप में काटने, सीने और रंगने का विधान उपलब्ध होता है। आसनों के लिए प्रत्यस्तरण, रोगियों के लिए कौपीन, वर्षिक-शाटिका, मुँह पोंछने के लिए अँगोछा, एवं थैला आदि आवश्यक परिष्कार-वस्त्र का भी विधान प्राप्त होता है। इन कपड़ों में जोड़, पैवन्द, रफू आदि भी विदित थे। वर्षावास की समाप्ति पर सारे संघ की सम्मति से किसी भिक्षु को जो चीवर दिया जाता है, उसे 'कठिन' कहा जाता है। विनय के अनुसार प्रव्रजित हुए चम्पा के श्रेष्ठिपुत्र श्रोण कोटिविंश के क्षत-विक्षत पैरों को देखकर तथागत ने भिक्षुओं को एकतल्ले के जूते पहिनने की अनुमति दी। बहुत तल्लों का जूता भी पहिना जा सकता था यदि उसे किसी ने पहिन कर छोड़ा हो। तत्कालीन समाज में प्रचलित नाना प्रकार के जूतों का भिक्षुओं के लिए उल्लेखपूर्वक निषेध किया गया है। नीरोग अवस्था में आराम के अन्दर भी जूते का निषेध था। किन्तु रात के समय आराम में भी उल्का, प्रदीप और दण्ड के साथ जूते का उपयोग भी अनुमत था। काठ की पादुका अथवा नाना ताड़, घास, मूँज तृण आदि से बनी पादुकाओं का व्यवहार भिक्षुओं को अनुज्ञात नहीं था। उनके लिए आरोग्य की अवस्था में जूता पहिने गाँव में प्रवेश करना मना था। यद्यपि गृहस्थों की चमड़े से मढ़ी चारपाइयों अथवा चौकियों में भिक्षु बैठ सकते थे, वहाँ लेटना उनके लिए निषिद्ध था। चमड़े के लोभ से पशु-हिंसा प्रेरित करना भिक्षुओं के लिए बड़ा अपराध था चर्म का धारण, विशेष रूप से गाय के चर्म का धारण निषिद्ध था, किन्तु प्रत्यन्त जनपद में चर्ममय आस्तरण का उपयोग अनुमत था।

भिक्षुओं को साधारणतया केवल भिक्षा में प्राप्त अन्न से ही निर्वाह करना होता थे यद्यपि निमन्त्रण एवं स्वयं उपनत दान का भी वे स्वीकार कर सकते थे। आराम के भीतर रखे, भीतर पकाये और स्वयं पकाये का खाना उनके लिए निषिद्ध था। दुर्भिक्ष में इस नियम का अपवाद किया जा सकता था। निर्जन वन-प्रदेश में फलों का स्वयं ग्रहण किया जा सकता था। अरण्य और पुष्करिणी की उपज, यथा कमल-नाल, भोजन के अनन्तर भी खायी जा सकती थी। नये तिल और शहद की भी उसी प्रकार अनुमति थी। भिक्षुओं के लिए गुड़, मूँग और नमकीन सौवीरक या छाछ भी विहित थे। ऐसे मत्स्य और मांस का खाना निषिद्ध था जिसमें अपने लिए की गयी हिंसा दृष्ट, श्रुत अथवा परिशंकित हो। हाथी, घोड़ा, कुत्ता, साँप, सिंह, बाघ, भालू एवं लकड़बग्घे के मांस का भक्षण सर्वथा निषिद्ध था। खिचड़ी न केवल अनुमत अपितु प्रशस्त थी। लड्डू (मधुगोलक) भी विहित था। विहार में प्राप्त खाद्यों के रखने के लिए एक विशेष स्थान होता था जिसे कल्प्य-भूमि कहा जाता है। भिक्षुओं के लिए पाँच गोरसों

का ग्रहण अनुमत था—दूध, दही, मठा, मक्खन और घी। निर्जन मार्ग में पाथेय का निषेध नहीं था। पाथेय के रूप में तंडुल, मूँग, उड़द, नमक, गुड़, तेल अथवा घी का ग्रहण किया जा सकता था। भिक्षु फलों के रस का विकाल में भी पान कर सकते थे।

भैषज्य के रूप में पहले केवल गोमूत्र का विधान था। पीछे घी, मक्खन, तेल, मधु, और खाड की भी अनुमति भिक्षुओं को दी गयी। इस रूप मे इनका ग्रहण पूर्वाह्न और अपराह्न दोनों में ही किया जा सकता था। अनेक पशुओ की चर्बी का भी दवाई के रूप में उपयोग किया जा सकता था। नाना मूल, कषाय, पर्ण, फल, गोंद, और लवण की औषधों का प्रयोग अनुमत था। अनेक चर्म-रोगों मे चूर्ण-रूप औषध विहित थी। दवा बनाने के लिए खरल-बट्टा, ओखली और मूसल, एवं चलनी का उपयोग किया जा सकता था। भूत-प्रेत के द्वारा आवेश होने पर कच्चे मास और कच्चे खून का सेवन निषिद्ध नही था। आँख के रोग के लिए अंजन, अंजन पीसने की सामग्री, अंजनदानी, सलाई, एवं सलाईदानी का उपयोग होता था। सिर के दर्द के लिए अनेक उपाय विहित थे—सिर में तेल मलना, नस लेना, एवं धूम-नेत्र से दवाई का धुँआ पीना। वात-रोग मे तेल पकाना अनुमत था। तेल-पाक मे आवश्यक होने पर अल्प-मात्रा मे मद्य डाली जा सकती थी। तेल को ताँबे, काठ और फल के तुंबे में रखा जा सकता था। वात में विहित अनेक चिकित्साओं का उल्लेख प्राप्त होता है—स्वेद-कर्म, सम्भार-स्वेद, महा-स्वेद, भंगोदक, उदककोष्टक एवं सींग से खून निकालना। फटे पैरों मे मालिश अनुमत थी। फोड़ों मे चीर-फाड़ और मलहम-पट्टी विहित थी। साँप के काटने पर चार महाविकट खिलाये जाते थे—मल, मूत्र, राख और मिट्टी। विष की भी ऐसी ही चिकित्सा थी। साँप से बचने के लिए एक 'रक्षा' का पाठ भी विहित है।

भिक्षुओं के लिए लम्बे केश रखने का एवं बाली, लटकन, कर्णसूत्र, कटिसूत्र, खड़ूआ, केयूर, हस्ताभरण, अंगूठी आदि आभूषणों का निषेध था। आरोग्य मे कघी अथवा दर्पण का प्रयोग नहीं किया जा सकता था। मुख पर लेप, मालिश या चूर्ण का प्रयोग, या मैनसिल से मुख का अंकित करना अथवा अगराग या मुखराग का प्रयोग निषिद्ध था। भिक्षुओ को केवल लोहे एवं मिट्टी के पात्रों की अनुज्ञा थी। चीवर बनाने के लिए कैंची, सूई और नमतक (वस्त्र) की अनुमति थी। सूई, कैंची, दवाई आदि रखने के लिए थैली का उपयोग होता था एवं पानी छानने के लिए परिस्रावण तथा गडुए (धर्मकरक) की अनुमति थी। मच्छरों से बचने के लिए मसहरी का उपयोग विहित था। घड़ा झाड़, पंखा, छाता, छीका और डंडा—इनका भी आवश्यकता के अनुसार उपयोग किया जा सकता था।

पाँच प्रकार के संघों का निर्देश प्राप्त होता है—चार व्यक्तियों का भिक्षु-संघ जिसे चतुर्वर्ग कहते हैं, पंचवर्ग, दशवर्ग, विंशतिवर्ग, एवं अतिरेकविंशति वर्ग। चतुर्वर्ग भिक्षु-संघ उपसम्पदा प्रवारणा एवं आह्वान—इन तीन कर्मों को छोड़कर, धर्म से समग्र हो, सभी कर्मों के करने योग्य है। पंचवर्ग भिक्षुसंघ आह्वान और मध्यम जनपदों में उपसम्पदा को छोड़कर अन्य कर्मों में समर्थ है। विंशतिवर्ग एवं अतिविंशति वर्ग भिक्षु-संघ सभी कर्मों के करने में समर्थ माने जाते हैं। वर्ग आधुनिक 'कोरम' के समान है। भिक्षुणी शिक्षमाणा, श्रामणेरी आदि से भी वर्गपूर्ति करना अपूर्ण वर्ग से श्रेयस्कर बताया गया है। कर्मों के सम्बन्ध में अनेक नियम विहित थे। उदाहरण के लिए, कुछ कर्म ज्ञप्तिद्वितीय कहे जाते थे, इनमें ज्ञप्ति के अनन्तर कर्मवाक्य कहे जाते थे। कर्म के लिए समागत भिक्षु सम्मुख होने में एवं आए हुए भिक्षुओं से उनके छन्द (म) प्राप्त होते थे। कुछ कर्म ज्ञप्तिचतुर्थ कहे जाते थे। इनमें ज्ञप्ति के अनन्तर तीन कर्मवाक्य आवश्यक थे। इन नियमों के उल्लंघन होने पर कर्म विनयविरुद्ध समझा जाता था। यदि कर्म-प्राप्त भिक्षु सब न आये हों और न उनके छन्द प्राप्त हुए हों तो कर्म को वर्गकर्म कहा जाता था। इसके विपरीत सब की उपस्थिति में एवं मत के ज्ञात होने पर समग्रकर्म कहा जाता है। वर्गकर्म निषिद्ध था। संघ की समग्रता पर बहुत जोर दिया गया है। दो प्रकार की संघसामग्री का उल्लेख है—अर्थरहित, किन्तु व्यंजनयुक्त, एवं अर्थयुक्त तथा व्यंजनयुक्त। जिस वस्तु से संघ में विवाद उत्पन्न होता है अथच वस्तु का बिना निर्णय किये संघ सामग्री करता है, उसे अर्थरहित किन्तु व्यंजनयुक्त संघसामग्री कहा गया है। जिस वस्तु से संघ में झगड़ा होता है उसके निर्णय के अनन्तर संघसामग्री अर्थयुक्त तथा व्यंजनयुक्त कही जाती है।

संघभेद की प्रवृत्ति शाक्यपुत्रीयों में विशेष रूप से विद्यमान थी और इसका पहला प्रकाश तथागत के जीवन काल में ही उपलब्ध होता है। देवदत्त, शाक्य, राजा भद्रिक, अनिरुद्ध आदि के साथ प्रव्रजित हुआ एवं तपश्चर्या के द्वारा उसने कुछ सिद्धि प्राप्त की। देवदत्त की इच्छा थी कि तथागत के स्थान पर वह स्वयं भिक्षु संघ का नेता बने। उसने पहले बुद्ध भगवान् से यह अनुरोध किया कि वे बूढ़े हो गये हैं, उन्हें आराम करना चाहिए और भिक्षुसंघ को देवदत्त को दे देना चाहिए। तथागत ने इसका अस्वीकार किया और राजगृह के संघ में देवदत्त का प्रकाशनीय कर्म किया गया। अर्थात् यह घोषित किया गया कि देवदत्त पहले और प्रकार का था, अब और प्रकार का है; उसके कर्मों का जिम्मेदार संघ नहीं है। देवदत्त ने अजातशत्रु को चमत्कार दिखला कर अपने पक्ष में किया एवं उसके बहकाने से अजातशत्रु ने अपने पिता मगधराज श्रेणिक बिम्बि-

सार के वध का प्रयत्न किया तथा देवदत्त ने स्वयं बुद्ध भगवान् को मारने के लिए अनुचर भेजे, किन्तु वे असफल रहे। इस पर देवदत्त ने गृध्रकूट पर्वत की छाया में टहलते हुए गौतम पर एक बहुत बड़ी शिला फेंकी जिसके एक टुकड़े से उनके पैर से रुधिर बह निकला। इस प्रयत्न के भी असफल होने पर देवदत्त ने नालागिरि नाम का मत्त हाथी राजगृह में भगवान् बुद्ध पर छोड़ा, किन्तु बुद्ध के मैत्री-चित्त से हाथी उनके सामने झुक गया। इन सब प्रयत्नों में विफल होकर देवदत्त ने संघ में फूट डालने का प्रयास किया। उसने कोकालिक, कटमोर, तिस्सक और खंडदेवी-पुत्र समुद्रदत्त से कहा कि तथागत से पाँच वस्तुएँ मांगी जायँ जिन्हें वे स्वीकार न करेंगे। उनके न मानने पर हम भिक्षुओं को समझाकर अपने साथ अलग ले जायँगे। ये पाँच वस्तुएँ थीं—भिक्षु आजीवन आरण्यक रहें, पिण्डपातिक रहें, पांसकुलिक रहें, वृक्षमूलि रहें एवं मत्स्यमांस न खायें। भगवान् बुद्ध ने इन बातों की अनुमति नहीं दी। तब देवदत्त ने राजगृह में प्रवेश कर घूम-घूमकर कहा कि श्रमण गौतम ने तपस्विता के इन प्रत्यक्ष नियमों का विरोध किया है, इन पाँच बातों की श्रमण गौतम अनुमति नहीं देते। यह सुनकर बहुत-से लोगों न सोचा कि देवदत्त सचमुच तपस्वी है जबकि श्रमण गौतम केवल बटोरू है, और यह सोच कर देवदत्त का अनुसरण किया। अनुयायियों का संग्रह कर देवदत्त ने भिक्षुसंघ से अलग ही अपना उपोसथ किया। उपोसथ में उसने इस बात पर शलाका पकड़वायी कि जिन लोगों को उसकी पाँच बातें पसन्द हैं वे शलाकाग्रहण करें। वैशाली में पाँच सौ वज्जि-पुत्तक नये भिक्षुओं ने शलाकाग्रहण किया। उसपर देवदत्त संघभेद कर उन्हीं पाँच सौ भिक्षुओं के साथ गयाशीर्ष चल दिया और वहाँ स्वयं धर्मदेशना करने लगा। पीछे शारिपुत्र और मोद्गल्यायन वहाँ जाकर उन भिक्षुओं को वापिस ले आये। इस पर कहा जाता है कि देवदत्त के मुख से गर्म खून निकला।

विनय के उपर्युक्त वर्णन से यह प्रतीत होता है कि देवदत्त के द्वारा संघभेद का प्रयत्न सर्वथा असफल हुआ था, तथापि तथ्य ठीक ऐसा नहीं है। शताब्दियों पीछे भी देवदत्त के अनुयायियों का उल्लेख प्राप्त होने से जान पड़ता है कि देवदत्त ने बुद्ध के समय में ही अपने पृथक् सम्प्रदाय की स्थापना की थी जो कि किसी न किसी रूप में बहुत दिन तक रहा[३७]। इस वास्तविकता से सूचित आशंका से ही संघ में फूट डालना बहुत बड़ा अपराध बताया गया है।

नवागन्तुक भिक्षु के लिए अनेक नियम कहे गये हैं। उन्हें आराम में प्रवेश करते

३७—श्वान्च्वांग, दे०—नीचे।

समय जूता खोलकर और उसे झाड़कर हाथ में ले लेना चाहिए, छाते को उतार कर और शरीर के चीवर को कंधे में ठीक तरह से करने के पश्चात् आराम में प्रवेश करना चाहिए। जहाँ आवासिक भिक्षु उपस्थानशाला, मण्डप या वृक्षछाया में आ-जा रहे हों वहाँ जाकर एक ओर पात्र-चीवर रखकर बैठना चाहिए और आवश्यक पानी छिड़ककर हाथ-पैर धोना चाहिए और जूता पोंछना चाहिए। आगन्तुक को आवासिक भिक्षुओं का उचित अभिवादन करना चाहिए और फिर उनसे शयनासन विषयक एवं अन्य आवश्यक बातें पूछनी चाहिए। आवासिक भिक्षुओं के लिए भी यह आवश्यक था कि वे आगन्तुक भिक्षु को आसन-पादोदक आदि दें, उनका उचित स्वागत करें, शयनासन आदि का प्रज्ञापन करें। यात्रा पर जाने के पहले भिक्षु को काठ-मिट्टी के बरतनों से सम्भाल कर, खिड़की-दरवाजों को बन्द कर, शयनासन के लिए पूछकर जाना चाहिए। पिण्डचारिक भिक्षु को बिना ठीक से वस्त्र धारण किये गाँव में नहीं जाना चाहिए। घर के अन्दर शीघ्र प्रवेश नहीं करना चाहिए और न देर तक खड़ा रहना चाहिए। भिक्षा देने वाली स्त्रियों के मुँह की ओर नहीं देखना चाहिए। आरण्यक भिक्षुओं को समय से उठकर पात्र को थैले में रख, कन्धे पर लटका तथा चीवर को कन्धे पर रख, जूता पहन कर निकलना चाहिए।

दूसरी संगीति—दूसरी संगीति की सूचना जिन अनेक मूल ग्रन्थों से प्राप्त होती है उनमें पालिविनयपिटक के चुल्लवग्ग एवं सर्वास्तिवादी विनयक्षुद्रकवस्तु का स्थान मुख्य है। चुल्लवग्ग से ही परवर्ती पालि परम्परा निकली है। दूसरी ओर बुदोन और तारानाथ का विवरण विनयक्षुद्रकवस्तु पर आधारित है। भव्य, वसुमित्र, विनीतदेव एवं श्वांच्वांग ने भी द्वितीय संगीति का वर्णन किया है, किन्तु भव्य, वसुमित्र और विनीतदेव महासांघिकों के विनय-विरुद्ध कार्यों का उल्लेख नहीं करते। वे संघभेद को केवल महादेव की 'पाँच प्रतिज्ञाओं' से प्रादुर्भूत मानते हैं। कुछ अन्य परवर्ती ग्रन्थों में भी द्वितीय संगीति के उल्लेख उपलब्ध होते हैं जैसे कि महावस्तु अथवा मंजुश्रीमूल-कल्प में[३८]।

३८—द्र०—दत्त, अर्ली मोनेस्टिक बुद्धिज्म, जि० २, पृ० ३० प्र०; सर्वास्तवादी परम्परा के लिए द्र०—रॉकहिल, लाइफ ऑव बुद्ध, पृ० १७१–८०; ओबर-मिलर आइ० एच० क्यू० १९३२; वसुमित्र के विवरण का अनुवाद—मसुदा, ऑरिजिन एण्ड डॉक्ट्रिन्स ऑव दि अर्ली इण्डियन बुद्धिस्ट स्कूल्स; भव्य के लिए द्र०—वालेज़र, दी सेक्तेन देस आल्तेन बुद्धिसमुस; बुदोन के

ऊपर कहा जा चुका है कि सम्भवत: विनयपिटक का स्कन्धक नाम का भाग दूसरी संगीति के आस-पास रचा गया होगा। वस्तुत: मूल स्कन्धक की रचना स्थविर-परम्परा के उल्लेख के साथ समाप्त हो गयी थी। यह अंश प्रस्तुत पालि विनय में उपलब्ध नहीं होता, किन्तु मूल ग्रन्थ में सम्भवत: रहा होगा। इस प्रकार मुख्य ग्रन्थ के समाप्त होने पर दूसरी संगीति का विवरण एक प्रकार से परिशिष्ट का जोड़ना है और इस प्रकार के परिशिष्ट का संयोजन उसमें वर्णित वृत्तान्त की तत्कालीन ख्याति के कारण ही समझा जा सकता है।[३९]

चुल्लवग्ग के इस अंश की आख्या सप्तशतिका स्कन्धक है। उसका प्रारम्भ इस प्रकार होता है—उस समय परिनिर्वाण के १०० वर्ष बीतने पर वैशाली के वज्जिपुत्तक भिक्षु इन १० वस्तुओं का प्रचार करते थे—'भिक्षुओं, शृंगि-लवण-कल्प विहित है, द्व्यंगुलकल्प विहित है, ग्रामान्तर कल्प०, आवास कल्प०, अनुमत कल्प०, आचीर्ण कल्प०, अमथित कल्प०, जलोगीपान कल्प०, अदशक कल्प०, जातरूपरजन कल्प०।' इन १० बातों के ठीक-ठीक अर्थ दुर्बोध हैं। शृंगि-लवण-कल्प के अर्थ अनेक प्रकार से बताये गये हैं—"सींग में नमक रखना, अथवा नमक बचा रखना, अथवा नमक बराबर अपने साथ रखना, अथवा नमक और अदरक अलग रख लेना।" द्व्यंगुल-कल्प का एक स्थान पर अर्थ मध्याह्न के बाद जब छाया दो अंगुल हो जाय तो भोजन करना बताया गया है। अन्य व्याख्या के अनुसार भोजन के अनन्तर दो उँगलियों से ऐसे भोजन को उठा लेना जोकि जूँठा नहीं था—यही इसका अर्थ करना चाहिए। तीसरे, ग्रामान्तर कल्प का एक अर्थ है दुबारा खाने के इरादे से गाँव को जाना। गाँव जाकर भोजन लाना लेकिन बने हुए भोजन के नियम का पालन करना—यह भी अर्थ बताया गया है। विहार से योजन अथवा योजनार्ध दूर होने पर यात्रा के समय भोजन करना, यह एक तीसरी व्याख्या है। आवास-कल्प का एक अर्थ यह किया गया है कि एक ही सीमा के अन्दर दूसरा उपोसथ करना। अन्य व्याख्या के अनुसार यह एक ही विहार में पृथक् कर्मवाचना का समर्थन है। अनुमतिकल्प को कार्य करने के बाद अनुमति लेना, अथवा

इतिहास का ओबरमिलर ने तथा तारानाथ का शीफनेर ने अनुवाद किया है। मिनयेफ (पूर्व) तथा वासिलियेफ, देर बुद्धिस्मुत, अभी भी उपयोज्य हैं। नवीन कृतियों में द्र०—फ्राउवालनर पूर्व०; बारो, ले० सेक्तबुद्धीक द पेति वेहीकल लामॉन. इस्त्वार दु बुद्धीज्म आंधां, पृ० १३८ प्र०।

३९.—फ्राउवाल्नर, पूर्व०।

गलत काम पहले कर लेना और पीछे संघ की अनुमति मांगना, अथवा वर्ग में पहले संघ से पृथक कर्म कर लेना तथा पीछे औरों की अनुमति मांगना बताया गया है। आचीर्णकल्प का तात्पर्य उपाध्याय के आचार का अनुकरण करना अथवा प्रचलित ढंग में आचरण करना, अथवा अपने पिछले गृहस्थ जीवन के आचार का अनुकरण करना बताया गया है। अमथित-कल्प को मध्याह्न भोजन के बाद दही खा लेना, अथवा बिना उबला दूध, दही और मक्खन मिलाकर खा लेना, अथवा भोजन के पश्चात् घी, शहद, दही और मक्खन मिलाकर खाना अथवा इसी का विकाल में खाना, अथवा आधे दूध, आधे दही को भोजन के पश्चात् पीना बताया गया है। जलोगी कल्प का अर्थ अभी न चुवाई हुई अप्राप्त-मद्य ताड़ी पीना, अथवा दरिद्र स्थिति में मद्य पीना, अथवा जलोगी-मद्य पीना, अथवा जोंक की तरह से चूसकर शराब पीना बताया गया है। अदशक कल्प के अर्थ बताये गये हैं—बिना किनारी के आसन या चटाई का उपयोग, अथवा ऐसे नये आसन का उपयोग जिसमें पुराने आसन का कुछ भाग नये के किनारे के तौर पर नहीं लगाया गया है, आसन को बिना जोड़-जाड़ के बनाना, आसन बनाने में नियत नाप न रखना। जातरूपरजत-कल्प के अर्थ सोना-चाँदी भिक्षा में ग्रहण करना अथवा सोना-चाँदी और अन्य बहुमूल्य वस्तुओं का या द्रव्य का ग्रहण करना बताये गये हैं। तिब्बती विवरण में इन दस वस्तुओं से भिन्न कुछ अन्य वस्तुएं भी बतायी गयी हैं जैसे "अलल' का उच्चारण करना, भोजन में अभिरति, एवं जमीन को खोदना या दूसरे से खोदवाना। महीशासक-विनय में एक और नयी बात का उल्लेख है—'बैठना और खाना", यद्यपि इसका ठीक-ठीक अर्थ नितान्त दुर्बोध है[40]।

इन दस विनय-विरुद्ध वस्तुओं में अधिकांश आध्यात्मिक दृष्टि से अत्यन्त गौण प्रतीत होती हैं, किन्तु अन्य धर्मों के इतिहास से भी यह सुविदित है कि धार्मिक विवाद और संगीतियाँ बहुधा ऐसे ही छोटे-बड़े आचार अथवा अभिव्यक्ति के भेद से उत्पन्न होते रहे हैं। श्रीमती रीजडेविड्स का कहना है कि वैशाली के भिक्षुओं के इस विवाद में वस्तुतः एक प्रकार से प्रादेशिक आवासों एवं व्यक्तियों की स्वतंत्रता का दावा अन्तर्निहित है। उनका यह भी कहना है कि उस समय की आर्थिक स्थिति देखते हुए सोना-चाँदी के उपयोग को महत्त्वशाली नहीं माना जा सकता और अतएव उनका ग्रहण भी महत्त्व का न रहा होगा। कुछ अन्य विद्वानों ने भी इन विनय-विरोध का कारण

४०—तु०—मिनयेफ, पूर्व० पृ० ४३—५८, दत्त, पूर्व० जि० २, पृ० ३५—४०; पा-चाउ, पूर्व०, पृ० २४—२६।

वैशाली के भिक्षुओं की गणतन्त्रतात्मक दृष्टि को माना है एवं यह कहा है कि वज्जिपुत्तक भिक्षु अपने को अर्हत् कहने वाले बूढ़े भिक्षुओं की सर्वथा आज्ञाकारिता के लिए तत्पर नहीं थे[४१]। इतना तो स्पष्ट है कि स्थविर भिक्षु नियमों में अधिक कट्टर थे और वैशाली के वज्जिपुत्तक भिक्षु आचार का अपेक्षाकृत कम संयत (दृष्टिभेद से, उदार) आदर्श उपस्थित करते थे। भोजन एवं भिक्षा सम्बन्धी शृंगिलवण-कल्प, द्वयंगुल०, ग्रामान्तर०, अमथित०, जलोगी० एवं जातरूपरजत० से यह स्पष्ट है। अनुमतकल्प, एवं आचीर्ण-कल्प आचार में अत्यधिक स्वाधीनता एवं अनियम के कारण हो सकते थे।

चुल्लवग्ग के अनुसार आयुष्मान् यश ने वैशाली में उपोसथ के दिन वज्जिपुत्तक भिक्षुओं को उपासकों से संघ के लिए कार्षापण, अर्धकार्षापण, पादकार्षापण, अथवा माशक माँगते हुए देखा। आयुष्मान् यश के विरोध करने पर वैशाली के वज्जिपुत्तक भिक्षुओं ने उनका प्रतिसारणीय कर्म करने का निश्चय किया। यश ने नियमतः अनुदूत माँगा और उसके साथ वैशाली के उपासकों के समक्ष अपने पक्ष का प्राचीन संदर्भों से उद्धरण देते हुए समर्थन किया। इस पर वज्जिपुत्तक भिक्षुओं ने आयुष्मान् यश का उत्क्षेपणीय कर्म करना निश्चित किया। इस पर यश कौशाम्बी चले गये। वहाँ से उन्होंने पावा-निवासी एवं अवन्ति-दक्षिणापथ के निवासी भिक्षुओं के पास दूत भेजा कि वैशाली में अधर्म हो रहा है, उसका निवारण होना चाहिए। आयुष्मान् सम्भूत शाणवासी जो कि अहोगंग पर्वत पर वास करते थे इस विवाद-शपथ में भाग ग्रहण करने के लिए राजी हुए। वहीं अहोगंग पर्वत पर पावा के भी छः भिक्षु एकत्र हुए और अवन्ति दक्षिणापथ के ८८ भिक्षु आये। सबने सोरेय्य में वास करन वाले आयुष्मान् रेवत का अपने पक्ष में संग्रह करने का संकल्प किया। आयुष्मान् रेवत इससे बचने के लिए सोरेय्य से संकाश्य चले गये, संकाश्य से कान्यकुब्ज, कान्यकुब्ज से उदुम्बर,, उदुम्बर से अर्गलपुर और वहाँ से सहजाति। सहजाति में जाकर भिक्षु उन्हें पकड़ पाये।

आयुष्मान् यश ने आयुष्मान् रेवत से वैशाली में प्रचारित १० वस्तुओं का उल्लेख किया एवं पूछा कि वे विहित हैं अथवा नहीं। रेवत ने उन वस्तुओं के अर्थ की जिज्ञासा प्रकट की। आयुष्मान् यश ने उनको विवादास्पद १० वस्तुओं के अर्थ बताये। रेवत ने उन सब कल्पों को निषिद्ध ठहराया एवं इस बात के लिए सहमत हुए कि वैशाली में उनके प्रचार का विरोध किया जाय। दूसरी और वैशाली के वज्जिपुत्तक भिक्षुओं ने यह सुनकर कि यश काकंडकपुत्त अपने समर्थन के लिए पक्षसंग्रह कर रहे हैं, प्रतिपक्ष-

४१—तु०—ऑरिजिन्स ऑव बुद्धिज्म, पृ० ५५९—६०।

संग्रह का प्रयत्न किया। वे भी आयुष्मान् रेवत को अपनी ओर करने के लिए बहुत-से साज-सामान लेकर उनके पास गये। पात्र, चीवर, निषीदन, सूचीघर, कायबन्धन, परिश्रावण, धर्मकरक आदि लेकर नाव से वज्जिपुत्तक भिक्षु सहजाति पहुँचे। वज्जिपुत्तकों के कहने पर भी आयुष्मान् रेवत ने उनसे श्रमण-परिष्कार का ग्रहण नहीं किया। आयुष्मान् रेवत का एक २० वर्ष का उत्तर नामक भिक्षु सेवक था। वज्जिपुत्तकों के बहुत कहने पर उसने एक चीवर ग्रहण किया और इस बात पर राज़ी हुआ कि संघ के बीच में यह कह दे कि पूर्वी जनपदों में बुद्ध भगवान् उत्पन्न होते हैं, वहाँ के भिक्षु धर्मवादी हैं, पावा के अधर्मवादी। आयुष्मान् उत्तर ने आयुष्मान् रेवत से भी यह कहने के लिए निवेदन किया, किन्तु उन्होंने स्वीकार नहीं किया। विवाद के निर्णय के लिए वैशाली प्रस्थान किया गया। उस समय आयुष्मान् आनन्द के शिष्य सर्वकामी नामक संघ-स्थविर १२० वर्ष की अवस्था के थे और वैशाली में रहते थे। वे भी आयुष्मान् यश के पक्ष में हो गये।

विवाद के निर्णय के लिए संघ के एकत्र होने पर बहुत समय तक बहस होती रही। अन्त में विवाद के निर्णय के लिए आयुष्मान् रेवत ने एक उद्वाहिका के चुनाव के लिए ज्ञप्ति प्रस्तुत की। चार पूर्वी और चार पश्चिमी भिक्षु चुने गये। पूर्वी भिक्षुओं में आयुष्मान् सर्वकामी, आयुष्मान् साढ़, आयुष्मान् क्षुद्रशोभित और आयुष्मान् वार्षभग्रामिक एवं पश्चिमी भिक्षुओं में आयुष्मान् रेवत, आयुष्मान् संभूत शाणवासी, आयुष्मान् यश का कंडक-पुत्त, और आयुष्मान् सुमन चुने गये। आयुष्मान् अजित आसन-प्रज्ञापक नियुक्त हुए, एवं बालुकाराम में विवाद के निर्णय के लिए उद्वाहिका की बैठक हुई। आयुष्मान् रेवत ने आयुष्मान् सर्वकामी से दसों वस्तुओं के विषय में प्रश्न किया एवं उन सबको अविहित एवं विनयविरुद्ध ठहराया। यह निर्णय समस्त संघ ने अनुमोदित किया। कहा जाता है कि इस विनय संगीति में ७०० भिक्षु उपस्थित थे।

निकाय भेद

उद्गम—दीपवंस की परम्परा के अनुसार वैशाली के वज्जिपुत्तक भिक्षुओं ने द्वितीय संगीति मे संघ के निर्णय को स्वीकार नहीं किया और उन्होंने स्थविर अर्हतों के बिना एक अन्य सभा की एवं वहाँ अपने मत के अनुकूल दूसरा निर्णय किया। यह सभा महासंघ अथवा महासंगीति कही गयी। इसमें १०,००० भिक्षु एकत्र हुए। उन्होंने विनय और पाँच निकायों में सूत्रों का क्रम और अर्थ बदल दिये, कुछ सन्दर्भ निकाल दिये, एवं कुछ अपने रचित सन्दर्भों का समावेश कर दिया। उन्होंने परिवार, पटिसमिदामग्ग,

निद्देश, कुछ जातक, एवं अभिधम्म के ६ ग्रन्थों का प्रामाण्य अस्वीकार किया। यहाँ पर स्मरणीय है कि ये ग्रन्थ वस्तुतः परवर्ती और मूल सद्धर्म की दृष्टि से अप्रामाणिक हैं।

यह विचारणीय है कि दूसरी संगीति के विवरण मे महासंघिकों के अभ्युदय का उल्लेख किसी विनय में उपलब्ध नहीं होता, न थेरवादियों के न महासंघिकों के। अतः संघभेद को वैशाली की संगीति का परवर्ती मानना ठीक होगा। वैशाली की संगीनि को संघभेद की आवश्यक भूमिका मानने पर महावंस (५.३-४) की भी मंगति हो जाती है। महावंस (४.७) के अनुसार इस समय मगध का राजा कालाशोक था। एक अन्य परम्परा, जिसका वसुमित्र, भव्य और विनीतदेव ने संरक्षण किया है, यह बताती है कि पहला संघभेद विनय की इन १० वस्तुओं के कारण न होकर महादेव की पाँच वस्तुओं के कारण था[४२]। महादेव के संबंध में अभिधर्म-महाविभाषाशास्त्र में यह सूचना उपलब्ध होती है कि वे मथुरा में एक ब्राह्मण व्यापारी के लड़के थे। पाटलिपुत्र के कुक्कुटाराम-विहार में उन्होंने उपसम्पदा पायी थी। वहाँ वे आवास के प्रधान हो गये एव स्थानीय राजा उनका मित्र और समर्थक। उसकी ही सहायता से महादेव ने अपनी पाँच वस्तुएँ प्रचारित की[४३]। श्वांच्वांग का कहना है कि अशोक ने एक भिक्षु-सभा एकत्र की जिसमें ५०० अर्हत् तथा महादेव के नेतृत्व में ५०० विरोधी भिक्षु निमन्त्रित थे। अन्यत्र उन्होंने कहा है कि काश्यप की संगीति से बहिष्कृत १०००० भिक्षुओं ने एक महासंघ रचा तथा उसमें त्रिपिटक के अतिरिक्त संयुक्त पिटक एवं धारणीपिटक का भी संग्रह किया[४४]। तारानाथ के अनुसार इसी समय वत्स ब्राह्मण ने कश्मीर से आत्मवाद का प्रचार कर संघभेद किया[४५]। श्वांच्वांग ने दस वस्तुओं एवं पाँच वस्तुओं, दोनों का ही उल्लेख किया है। ऐसा प्रतीत होता है कि पूर्वी भिक्षु संगठन और सिद्धान्त दोनों में ही पुरानी कट्टर परम्परा से अलग चले गये थे एवं वैशाली की विनयपरक दूसरी संगीति के बाद पाटलिपुत्र में एक महासंगीति हुई जिसके फलस्वरूप मूल शाखा से अलग महासांघिक सम्प्रदाय का जन्म हुआ।

महादेव के द्वारा प्रचारित पाँचों वस्तु अर्हद्विषयक हैं[४६]। ऐसा प्रतीत होता है कि अर्हतों की संगीति में पराजित होकर महासंघिकों ने अर्हतों पर ही आक्रमण किया।

४२—तु०—नलिनाक्ष दत्त, पूर्व० जि० २, पृ० ३२।
४३—वाटर्स, जि० १, पृ० २६७—६८।
४४—बील, श्वाँच्वांग, पृ० १९०, ३८०—८१।
४५—तारानाथ (अनु० शीफनर) पृ० ५३—५५।
४६—द्र०—पूसें, जे० आर० ए० एस०, १९१०, पृ० ४१३ प्र०।

इन 'वस्तुओं' में पहली यह है कि अर्हतों के लिए भी राग सभव है, दूसरी, अर्हतों में भी अज्ञान सम्भव है, तीसरी, अर्हतों मे भी संशय हो सकता है, चौथी, अर्हत् भी दूसरे के द्वारा ज्ञान पा सकते है, पाँचवी, सहसा शब्दोच्चारण करके मार्ग की प्राप्ति होती है। ऐसा प्रतीत होता है कि अर्हत् शब्द से यहाँ प्राचीन अर्थ मे वास्तविक अर्हत् अभिप्रेत न होकर वे व्यक्ति अभिप्रेत है जो कि अपने को अर्हत कहते थे, किन्तु जिनके विषय में राग, अज्ञान, संशय आदि की सम्भावना का सब लोगों के लिए अभाव नही था। महादेव का आविर्भाव १३७ बुद्धाब्द में नन्द और महापद्म के समय में बताया गया है। इस संघभेद को अशोककालीन भी कहा गया है, किन्तु यह धारणा भ्रान्तिमूलक प्रतीत होती है।[४७]

दूसरी संगीति के विवरण से ज्ञात होता है कि उस समय सद्धर्म अवन्ती से वैशाली और मथुरा से कौशाम्बी तक निश्चय ही फैला हुआ था। भिक्षुओं में पूर्व और पश्चिम के सामान्य भौगोलिक भेद के साथ वैनयिक और सैद्धान्तिक भेद उत्पन्न हो गये थे। पूर्वी भिक्षुओं के केन्द्र वैशाली और पाटलिपुत्र थे। इसी वर्ग मे महासांघिकों का प्रारम्भिक विकास निष्पन्न हुआ। यह स्मरणीय है कि वैशाली वज्जियोंका प्रधान नगर था और वज्जियों की स्वातन्त्र्य-निष्ठा प्रसिद्ध है, तथा विनय के बन्धनों की ओर एवं स्थविरों की ओर उनके आदर-शैथिल्य की सूचना पहले भी उपलब्ध होती है। पश्चिमी भिक्षुओं के केन्द्र कौशाम्बी, मथुरा एवं अवन्ती थे। कालान्तर में मथुरा एवं उत्तरापथ, विशेषतया कश्मीर और गन्धार, मूल सर्वास्तिवादी तथा सर्वास्तिवादी सम्प्रदायों के विकास-क्षेत्र सिद्ध हुए। स्थविरवाद की कौशाम्बी से दक्षिणपश्चिम की ओर यात्रा सिंहल जाकर पूरी हुई। अशोक के समय में सद्धर्म का सुदूर प्रयत्न प्रदेशो मे प्रसार आरम्भ हुआ और उस समय तक संघ अनेक सम्प्रदायों में विभक्त हो चुका था।

विभिन्न परम्पराएँ—सम्प्रदाय-भेद (निकाय-भेद) का एक प्राचीन विवरण दीपवंस से उपलब्ध होता है जिसकी सिंहल मे ईसवीय चतुर्थ शताब्दी मे रचना हुई थी। इस परम्परा का आधार और प्राचीन रहा होगा। इसके अनुसार दूसरी और तीसरी संगीतियो के बीच मे, अर्थात् परिनिर्वाण से दूसरी शताब्दी में, १८ सम्प्रदायों का आविर्भाव हो चुका था, एव स्थविरवाद के विरुद्ध उनके अभिमतो के खण्डन के लिए अशोक के समय में मोग्गलिपुत्त तिस्स ने कथावत्थुप्पकरण की रचना की। आचार्य बुद्धघोष

४७—पूसें, वहीं, तु०—बुदोन (अनु० ओबरमिलर), जि० २, पृ० ७६।

ने कथावत्थु की अट्ठकथा में अनेक नये सम्प्रदायों के नामों का उल्लेख किया है और उनके अवलोकन से यह सिद्ध होता है कि समग्र कथावत्थु अशोककालीन नहीं हो सकती।

(क) दीपवंस के अनुसार निकाय-भेद का क्रम इस प्रकार था—
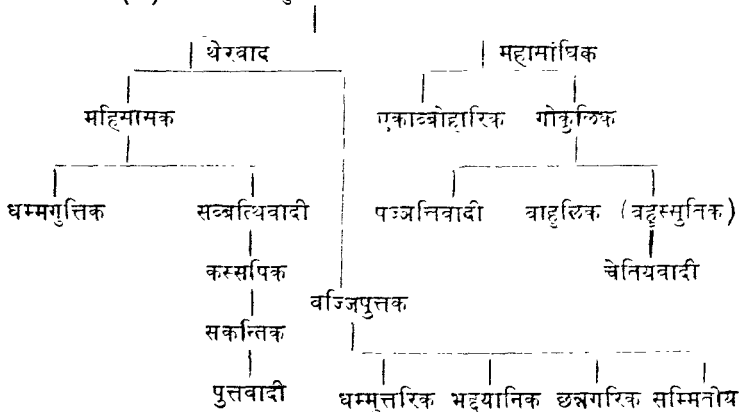
इन १८ नामों के अतिरिक्त कथावत्थु की अट्ठकथा में उल्लिखित नाम हैं—राजगिरिक, सिद्धत्थक, पुब्बसेलिय, अपरसेलिय, हेमवत, वज्जिरिय, उत्तरापथक, हेतुवादी, एवं वेतुल्लक[४८]। उनमें पहले चार सम्प्रदाय अन्धकों अथवा अन्ध्रकों की शाखाएँ थीं और उनके नाम अन्ध्रापथ के अभिलेखों में प्राप्त होते हैं।

निकाय-भेद-विषयक महासांघिकों की परम्परा शारिपुत्रपरिपृच्छा सूत्र से अंशतः विदित होती है। इस ग्रन्थ का चीनी अनुवाद ई० ३१७ और ४२० के अन्तराल में हुआ था और उसका प्रणयन सम्भवतः उड्डियान के प्रदेश में हुआ था। तारानाथ के विवरण में भव्य की दूसरी सूची[४९] भी महासांघिकों की परम्परा में निक्षिप्त है, किन्तु इसमें वर्णित क्रम उपर्युक्त सूत्र में वर्णित क्रम से भिन्न है जो कि अधः प्रदर्शित विवरण से स्पष्ट हो जायेगा।

(ख) 'शारिपुत्रपरिपृच्छा सूत्र' के अनुसार परिनिर्वाण से दूसरी शताब्दी में महासांघिक सम्प्रदाय का जन्म हुआ एवं उनसे एक व्यावहारिक, लोकोत्तरवादी, कौक्कु-

* ४८–इनमें पहले छः नाम महावंस में भी उल्लिखित हैं—द्र०—महावंस (सं० एन० के० भागवत, द्वितीय संस्करण), पृ० २३।

४९–तारानाथ (अनु० शीफनर), पृ० २७१, तु०—बारो, पूर्व०, पृ० २२।

लिक, बहुश्रुतिक एवं प्रज्ञप्तिवादी सम्प्रदाय निकले। निर्वाण से तीसरी शताब्दी में वात्सीपुत्रीय एवं सर्वास्तिवादी सम्प्रदाय निकले। वात्सी पुत्रीयों से धर्मोपक, भद्रयानिक, सम्मतीय एवं पण्णगरिक सम्प्रदायों का जन्म हुआ। सर्वास्तिवाद से महीशासक, धर्मगुप्तक एवं सुवर्षक निकाय निकले। स्थविरों से ही काश्यपीय एवं सूत्रवादियों का जन्म बताया गया है। संक्रान्तिकों की उत्पत्ति स्थविरवाद के क्रोड से ही निर्वाण की चतुर्थ शताब्दी में हुई[५०]।

(ख) शारिपुत्रपरिपृच्छा सूत्र के अनुसार
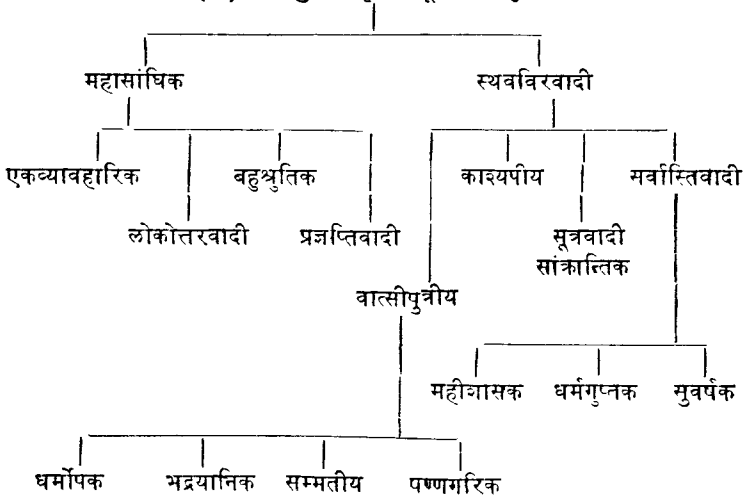
५०–मंजुश्रीपरिपृच्छासूत्र के अनुसार संघभेद प्रथम बुद्ध शताब्दी में ही परिनिष्ठित हो गया था। एक ओर महासांघिकों से एकव्यावहारिक निकले, एकव्यावहारिक से लोकोत्तरवादी, लोकोत्तरवादियों से कौक्कुलिक, कौक्कुलिकों से बहुश्रुतीय, बहुश्रुतियों से चैतिक, चैतिकों से पूर्वशैल एवं पूर्वशैलों से उत्तरशैल का जन्म हुआ। दूसरी ओर स्थविरों से सर्वास्तिवादी, उनसे सम्मितीय, उनसे षण्डगैरिक, उनसे महीशासक, उनसे धर्मगुप्तक, उनसे काश्यपीय एवं उनसे सौत्रांतिकों के सम्प्रदाय का जन्म हुआ। यह परम्परा स्पष्ट ही वसुमित्र पर आधारित है। द्र०—बारो, पूर्व० पृ० १९।
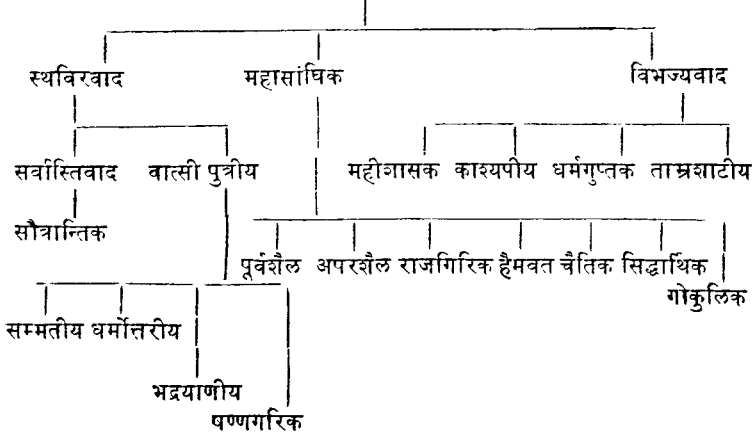
यह विचारणीय है कि जहाँ पहली सूची में थेरवादी परम्परा से समञ्जस दो मूल शाखाएँ है, दूसरी सूची में तीन मूल शाखाएँ बतायी गयी हैं। पालि विभज्यवादी अपने को ही मूल स्थविरवादी बताते हैं, भव्य की इस सूची में दोनों को पृथक् माना गया है। वात्सीपुत्रीयों की स्थिति पूर्वोक्त तीनों सूचियों में समान है, महीशासकों की तीनों में विभिन्न। (क) की अपेक्षा (ख) में महासांघिकों के अन्तर्गत लोकोत्तरवादियों का समावेश अधिक किया गया है। यह संभव है कि गोकुलिक और कौक्कुलिक एक ही सम्प्रदाय के नामान्तर है। (ग) में महासांघिकों की परवर्ती अवस्था का चित्रण है जब कि उनका केन्द्र अन्ध्रदेश में अमरावती था। (क) में मूल सूची की प्राचीनता के कारण एवं (ख) में देशगत दूरी के कारण महासांघिकों की इस विकसित एवं परिवर्तित अवस्था का अपरिज्ञान है। यह स्मरणीय है कि शारिपुत्रपरिपृच्छासूत्र में कहा गया है कि इन सम्प्रदायों के अनन्तर केवल पाँच सम्प्रदाय शेष रह गये—महासांघिक, धर्मगुप्तक, सर्वास्तिवादी, काश्यपीय एवं महीशासक।[५२]। श्वानच्वाङ के विवरण से इस उक्ति का कारण स्पष्ट होता है—उड्डियान में केवल इन्हीं निकायों का पता चलता था[५३]।

५१–द्र०—वालेजेर, पूर्व०, पृ० ४९–५०।

५२–बारो, पूर्व पृ० २२।

५३–बील, श्वानच्वांग पृ० १६७।

सर्वास्तिवादियों की परम्परा वसुमित्र के **समयभेदोपरचनचक्र** मे सुरक्षित है। इस ग्रन्थ के तिब्बती और चीनी में अनुवाद उपलब्ध है[५४]। प्राचीनतम अनुवाद ३५१ और ४३१ ई० के बीच में सम्पन्न हुआ था। चीनी परम्परा के अनुसार यह वही वसुमित्र था जिसने कनिष्ककालीन सगीति मे ख्याति पायी थी। वसुमित्र के अनुसार महासांघिक तीन शाखाओ में बँटे–एक–व्यावहारिक, लोकोत्तरवादी एव कौक्कुलिक। पीछे महासांघिको से बहुश्रुतीयों का जन्म हुआ तथा और भी पीछे प्रज्ञप्तिवादियो का। बुद्धाब्द के दूसरे शतक के समाप्त होते ही चैत्यगिरिवासी दूसरे महादेव के विवाद के कारण चैत्यशैल, अपरशैल और उत्तरशैल शाखाएं निकल पड़ी। स्थविरवादी निकाय सर्वास्तिवाद अथवा हेतुवाद, तथा मूलस्थविरवाद मे विभाजित हुआ। मूल-स्थविर का ही नाम हैमवत-निकाय पड़ा। उत्तरकाल में सर्वास्तिवाद से वात्सीपुत्रीयों का आविर्भाव हुआ और स्वयं वात्सीपुत्रीयों से धर्मोत्तरीय, भद्रयाणीय, सम्मतीय एवं छन्नगरिक अथवा षण्णगरिक संप्रदायो की उत्पत्ति हुई। इसके अनन्तर सर्वास्तिवादियों से महीशासक निकले, महीशासकों से धर्मगुप्त और तीसरी बुद्ध-शताब्दी के अन्त में सर्वास्तिवादियों से काश्यपीय अथवा सुवर्षकों का आविर्भाव हुआ। चतुर्थ बौद्ध शताब्दी के प्रारम्भ में सर्वास्तिवाद से सौत्रांतिक अथवा संक्रान्तिवादियों का जन्म हुआ।

भव्य अपनी सूचना के लिए स्पष्ट ही वसुमित्र के ऋणी है।[५५] उन्होंने तीन-तीन परस्पर भिन्न सूचियाँ दी है। इनमें से पहली उनकी गुरु-परम्परा के अनुसार कही गयी है और इसे तारानाथ ने स्थविरसम्मत बताया है, किन्तु यह वस्तुतः काश्मीरक सर्वास्ति-वादियों की परम्परा का ही अनुवाद करती है। यह सूची महासांघिकों से आविर्भूत संप्रदायों में गोकुलिकों को छोड़ देती है। साथ ही इस सूची के अनुसार स्थविरों से निकले हुए संप्रदायों में कुछ नये नाम भी उपलब्ध होते हैं जैसे मुरुन्तक, आवंतिक और कुरु-कुल्लक। दूसरी सूची 'औरों के कहने के अनुसार' बतायी गयी है। तारानाथ से यह महासांघिकों की परम्परा प्रतीत होती है। इसका ऊपर तालिका (ग) के रूप में विवरण दिया गया है। स्मरणीय है कि इसमें ताम्रशाटीयों का नया नाम प्रस्तुत है और मूल संघ-भेद में दो सम्प्रदायों के स्थान पर तीन का निर्देश किया गया है। तीसरी सूची मे सम्मतीय परम्परा रक्षित है, जैसा कि तारानाथ एवं मञ्जु, घोप वज्र के सिद्धान्त से विहित होता है[५६]। इसके अनुसार स्थविरवाद, मूल-स्थविरवाद और हैमवत-सम्प्रदाय में बँट

५४–अंग्रेजी अनुवाद, मसुदा कृत, एशिया मेजर २, १९२५, पृ० १–७८।

५५–भव्य के विवरण के लिए, वालेजर, दी सेक्तेन देस आल्तेन बुद्धिस्मुस।

५६–तु०—पूसें, जे० आर० ए० एस० १९१०, पृ० ४१३।

जाता है। मूल स्थविरों से वात्सी पुत्रीयों एवं सर्वास्तिवादियों का आविर्भाव हुआ, सर्वास्तिवादियों से विभज्यवादियों एवं संक्रान्तिवादियों का तथा विभज्यवादियों से महीशासक, धर्मगुप्तक, ताम्रशाटीय, एवं काश्यपीय सम्प्रदायों का। दूसरी ओर महासांघिकों से एक व्यावहारिक तथा गोकुलिक निकले। गोकुलिकों से वहुश्रुतीय, प्रज्ञप्तिवादी, एवं चैत्यक सम्प्रदायों का प्रादुर्भाव हुआ।

महाव्युत्पत्ति के अनुसार चार मूल सम्प्रदाय थे—आय सर्वास्तिवादी, आर्य सम्मतीय, महासांघिक और आर्य स्थविर। आर्यसर्वास्तिवादी कालान्तर में मूल सर्वास्तिवादी, काश्यपीय, महीशासक, धर्मगुप्त, वहुश्रुतीय, ताम्रशाटीय और विभज्यवादी सम्प्रदायों में बँट गये। दूसरे से कौरुकुल्ल, आवंतक और वात्सीपुत्रीय निकले। तीसरे से पूर्वशैल, अपरशैल, हैमवत, लोकोत्तरवादी और प्रज्ञप्तिवादी सम्प्रदायों का जन्म हुआ। चौथे से महाविहारवासी, जेतवनीय और अभय-गिरिवासियों का आविर्भाव वताया गया है[५७]। इस प्रसंग में यह स्मरणीय है कि इन नामों में कुछ सम्भवतः विकृत अनुवाद के कारण भ्रान्त हैं। जेतवनीय के स्थान में चैतिक, अभयगिरि के स्थान पर पण्डगिरि (षण्णगिरि), एवं आवन्तक के स्थान पर महीशासक का पाठ सुझाया गया है, जिसमें अन्तिम सुझाव विशेष रूप से सन्दिग्ध है[५८]।

इ-चिंग एवं विनितदेव मूलसर्वास्तिवाद की परम्परा का अनुसरण करते हैं[५९] इनके अनुसार चार मूल सम्प्रदाय थे—आर्यमहासांघिक, सर्वास्तिवादी स्थविरवादी एवं सम्मतीय। इ-चिंग के अनुसार आर्य महासांघिकों के सात भेद थे, आर्य स्थविरों के तीन, एवं आर्य मूलसर्वास्तिवादियों के चारमूलसर्वास्तिवादी, धर्मगुप्तक, महीशासक एवं काश्यपीय। आर्य सम्मतीयों के भी चार भेद बताये गये हैं।

विनीतदेव की सहायता से ज्ञात होता है कि आर्य महासांघिकों की पांच शाखाएँ इस प्रकार थीं—पूर्वशैल, अपरशैल, हैमवत, लोकोत्तरवादी एवं प्रज्ञप्तिवादी। सर्वास्तिवादियों की शाखाएँ थीं—मूलसर्वास्तिवादी, काश्यपीय, महीशासक, धर्मगुप्तक, वहुश्रुतीय, ताम्राशाटीय एवं विभज्यवादी। स्थविरों की तीन शाखाएँ थीं—जेतवनीय, अभयगिरिवासी एवं महाविहारवासी। सम्मतीयों की तीन शाखाएँ बतायी गयी हैं—कोरकुल्लक, आवन्तक एवं वात्सीपुत्रीय।

११वीं शताब्दी में तिब्वती में अनूदित **वर्षाग्रपृच्छासूत्र** मे प्रायः यही विभाजन और

५७—द्र०—महाव्युत्पत्ति, (वेगिहारा द्वारा सम्पादित), पृ० २३४।
५८—बारो, पूर्व० पृ० २०।
५९—इ-चिंग, (अनु०—तकाकुस), पृ० ७–१४।

क्रम प्रतिपादित किये गये हैं, केवल ताम्रशाटीय और बहुश्रुतीयनिकाय सर्वास्तिवाद से हटाकर सम्मतीयों में रख दिये गये हैं। वर्षाग्रपृच्छासूत्र के अनुसार आर्य सर्वास्तिवादियों के अन्तर्गत काश्यपीय महीशासक, धर्मगुप्तक एवं मूलसर्वास्तिवादी थे। आर्य महासांघिकों के अन्तर्गत पूर्वशैल, अपरशैल, हैमवत, विभज्यवादी, प्रज्ञप्तिवादी एवं लोकोत्तरवादी। आर्य सम्मतीयों की शाखाएं थीं—ताम्रशाटीय, आवन्तक, कुरुकुल्लक, बहुश्रुतीय एवं वात्सीपुत्रीय। आर्य स्थविरों की तीन शाखाओं का उल्लेख है—जेतवनीय, अभयगिरिवासी एवं महाविहारवासी।

इन विभिन्न सूचियों में यदि **तारानाथ** के बताये हुए नाम-साम्य का सहारा लिया जाय तो परिस्थिति विशद होती है[६०]। तारानाथ के अनुसार काश्यपीय और सुवर्षक एक ही संप्रदाय के दो नाम थे। ऐसे ही संक्रान्तिवादी, उत्तरीय और ताम्रशाटीय वस्तुतः अभिन्न थे। महादेव के शिष्यगण, पूर्वशैल, एवं चैत्यक अभिन्न थे। लोकोत्तरवाद एवं कौक्कुटिक, ये भी नामभेद से समान सम्प्रदायों को सूचित करते हैं। एक व्यावहारिक महासांघिकों का ही नाम था। कौरुकुल्लक, वात्सीपुत्रीय, धर्मोत्तरीय, भद्रयानीय और छन्नगरिक भी अत्यन्त सदृश सिद्धान्तों में विश्वास करते थे। उत्तरकालीन शाखाओं और प्रशाखाओं के भेद छोड़कर ऐसा प्रतीत होता है कि प्राचीनतम और मुख्यतम निकाय थे—महासांघिक और वात्सीपुत्रीय, एवं स्थविरवादी और सर्वास्तिवादी।

महासांघिक धारा—उपर्युक्त विवरण से यह अनुमान करना स्वाभाविक है कि वैशाली की संगीति में विनय की दस वस्तुओं के कारण जो संघभेद प्रारम्भ हुआ वही सैद्धान्तिक बातों को लेकर कुछ वर्ष पीछे पाटलिपुत्र की संगीति में परिपूर्ण हुआ। चूँकि वैशाली की संगीति के स्थविर भिक्षु जो अपने को अर्हत् मानते थे विनय की नयी वस्तुओं के विरुद्ध थे, अतएव कदाचित् इन स्थविर अर्हतों के ही विरोध में महादेव की नयी पाँच वस्तुएँ प्रतिपादित हुईं। इस प्रकार प्रथम संघभेद के अनन्तर संघ दो भागों में विभक्त हो गया—एक ओर अधिकसंख्यक, वैशाली और पाटलिपुत्र में केन्द्रित, पूर्वी भिक्षु जिनमें कि बूढ़े और अर्हत् लोग कम थे, और जो विनय और धर्म के सम्बन्ध में नयी बातें प्रचारित कर रहे थे; दूसरी ओर कौशाम्बी, मथुरा और अवन्ती में केन्द्रित, पश्चिम के भिक्षु जिनमें कि स्थविर भिक्षुओं का प्राधान्य था। इस कारण पहला वर्ग महासांघिक कहालया, दूसरा स्थविर।

६०—द्र०—तारानाथ, पृ० २७०–७४।

यह प्रायः सर्वसम्मत है कि महासांघिकों का पहला विभाजन एकव्यावहारिक एवं गोकुलिक अथवा कौक्कुटिक नाम के दो समुदायों में हुआ। लोकोत्तरवादियों की शाखा का भी इस स्थल पर उल्लेख मिलता है। यह सम्भव है कि लोकोत्तरवादियों का अन्य महासांघिकों से अपना सिद्धान्तकृत वैशिष्ट्य न हो कर आवासकृत अथवा भौगोलिक वैशिष्ट्य था। मूल महासांघिक मगधवासी थे, किन्तु लोकोत्तरवाद नाम की प्रख्या उत्तरापथ में ही प्रचलित थी एवं मध्य देश से उद्भूत परम्परा में उसका अनुल्लेख है। श्वानच्वाँग से विदित होता है कि लोकोत्तरवादियों का केन्द्र बामियान में था। दूसरी ओर सिद्धान्तपक्ष में उनका पार्थक्य-निर्देश दुष्कर है। सम्मतीय परम्परा उनके सिद्धान्तों को एकव्यावहारिकों से अभिन्न बताती है। वसुमित्र उनके सिद्धान्तों को महासांघिक, एकव्यावहारिक एवं कौक्कुटिक सम्प्रदायों में डालते हैं। दूसरी ओर विनीतदेव एकव्यावहारिकों एवं महासांघिकों के बताये हुए सिद्धान्तों को भी लोकोत्तरवादियों के बताते हैं। ऐसी स्थिति में तारानाथ की उपर्युक्त सूचना ही प्रकाश डालती है जिसके अनुसार लोकोत्तरवादी=कौक्कुटिक एवं एकव्यावहारिकमहासांघिक। बारो ने लोकोत्तरवादियों का एकव्यावहारिकों से अभेद प्रतिपादित किया है एवं नलिनाक्ष दत्त ने चैत्यकों से! वस्तुतः यह मानना चाहिए कि महासांघिक सम्प्रदाय का ही नाम पीछे एकव्यावहारिक एवं लोकोत्तरवादी भी पड़ा। ये दोनों नाम महासांघिकों के विशिष्ट सिद्धान्तों को बुद्धिस्थ करके उन्हें दिये गये होंगे। पिछली परम्परा के विशृंखल हो जाने के कारण ही अनेक स्थलों पर एकव्यावहारिकों एवं लोकोत्तरवादियों को महासांघिकों से एवं परस्पर पृथक् बताया गया है, किन्तु इस प्रकार के विवरण में सिद्धान्तमूलक संघभेद का स्पष्ट एवं युक्तियुक्त प्रतिपादन दुष्कर है।

एकव्यावहारिकों की उत्पत्ति के संबंध में परमार्थ की यह सूचना उल्लेखनीय है कि महायान-सूत्रों की प्रामाणिकता के विषय में विवाद ही उनका जन्मदाता था[६१]। भव्य के अनुसार एकव्यावहारिकों का नाम उनके द्वारा तथागत की एक-चित्त-क्षणिक सर्वज्ञता के सिद्धान्त को स्वीकार करने से पड़ा। वस्तुतः परिनिर्वाण की दूसरी अथवा तीसरी शताब्दी में महायान-सूत्रों की सत्ता ही स्वीकार नहीं की जा सकती। एकव्यावहारिकों के नाम का भव्यकृत निर्वचन भी अत्यन्त सन्दिग्ध है। वस्तुतः एकव्यावहारिक में व्यवहार शब्द वाक्परक है एवं एकव्यावहारिक का अर्थ है—एक अथवा एक ही, अथवा प्रत्येक शब्द से धर्म की अथवा सब धर्मों की प्रतिपाद्यता मानने

६१—बारो, पूर्व०, पृ० ७८।

वाला। यहाँ तथागत के आदेश का अनुभाव एवं उनकी उपदेशविधि की ओर एक लोकोत्तर दृष्टि विवक्षित है।

पाटलिपुत्र का कुक्कुटाराम ही महासंघिकों का पहला प्रधान केन्द्र था। यह सम्भव है कि इसी कारण महासांघिक कौक्कुटिक भी कहलाये। पीछे कौक्कुटिक शब्द विकृत होने के कारण-उनकी आख्या कुक्कुलिक अथवा कौक्कुलिक एवं गोकुलिक भी वन गयी प्रतीत होती है। गोकुलिक नाम को मूल विशुद्ध नाम मानने पर उसका कौक्कुटिक से कोई सम्बन्ध समझाना कठिन है। यह उल्लेखनीय है कि कौक्कुटिकों के विनय -शैथिल्य की सूचना दीपवंस से उपलब्ध कुक्कुटाराम की अवस्था से संगत है। इस दृष्टि से 'कुक्कुल' शब्द का अन्यत्र सूचित अर्थविशेष यहाँ अप्रासंगिक है। अथवा कौक्कुलिक सिद्धान्तपरक आख्या है, कौक्कुटिक आवासपरक।

महासांघिकों का प्रारम्भ से ही बुद्ध एवं बोधिसत्त्व की लोकोत्तरता तथा अर्हतों की परिहांणीयता के सिद्धान्तों पर जोर था। इस लोकोत्तरवादी दृष्टि के कारण यह प्रश्न उठना स्वाभाविक था कि बौद्ध सूत्रों में उपलब्ध बातों का आपातिक अक्षरार्थ जो कि बहुधा लोकोत्तरवाद के विरुद्ध पाया जाता है, किस प्रकार समझा जाय। इस शंका के कारण नीतार्थ एवं नेयार्थ का भेद प्रतिपादित किया गया एवं इसी से सत्य-द्वय का सिद्धान्त अंकुरित हुआ। परमार्थ के अनुसार महासांघिकों में इस पर मतभेद प्रकट हुआ एवं कौक्कुटिकों के अभ्यन्तर से बहुश्रुतीय एवं प्रज्ञप्तिवादी शाखाओं का प्ररोह हुआ। प्रज्ञप्तिवादियों को बहुश्रुतीय-विभज्यवादी भी कहा गया है। यह स्मरणीय है कि बहुश्रुत होने के कारण आनन्द की प्रसिद्धि थी। इन दोनों सम्प्रदायों का पारस्परिक भेद स्पष्ट नहीं है।

कालान्तर में एक दूसरे महादेव के कारण महासांघिकों में एक नयी प्रवृत्ति का जन्म हुआ। इस घटना को सम्भवतः ईसा पूर्व तीसरी शताब्दी में न रखकर दूसरी में रखना चाहिए।[६२] मगध के स्थान पर अन्ध्र प्रदेश इन नवीन महासांघिकों का प्रधान केन्द्र बना। परमार्थ के अनुसार अपरमहादेव प्रदेश छोड़कर अपने शिष्यों के साथ पर्वताश्रित हो गये। बुद्धघोष के द्वारा ये लोग अन्धक अथवा अन्ध्रक कहे गये हैं। अमरावती और नागार्जुनीकोण्ड मे उपासकों की दानशीलता के कारण इन नवीन महासांघिकों के लिए वहुत-से चैत्य बने जिनमें अमरावती का महाचैत्य सर्वप्रधान था। दूर-दूर से उसके दर्शन के लिए बौद्धगण आते थे। यह स्वाभाविक था कि ये महासांघिक

६२–तु०--लामॉत, इस्त्वार टु बुद्धिज्म आंधां पृष्ठः ३०९–१०

चैत्यवादी अथवा चैत्यक कहलायें। इन्हीं के भीतर आवास-भेद प्रकट होने से पूर्वशैल एवं अपरशैल नाम की शाखाएँ प्रकट हुई। अपरशैलीयों का ही नाम कदाचित् उत्तर-शैलीय भी था। इन अन्ध्र महासांघिकों के मध्य में तांत्रिक प्रवृत्ति भी प्रकट हुई एवं प्रचलित लोकोत्तरवाद महाशून्यता के सिद्धान्त में परिणत हुआ। इस विकास में अग्र-गामी दल वैतुल्यकों का था जिनका उल्लेख बुद्धघोष ने किया है। और भी पीछे इन आन्ध्र महासांघिकों से राजगिरिक एवं सिद्धार्थिक नाम के सम्प्रदायों की उत्पत्ति हुई। ये सम्भवतः ईसवीय तीसरी अथवा चौथी शताब्दी के थे।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि चौथी शताब्दी ईसापूर्व के मध्य के निकट मगध में प्रारम्भ होकर 'प्राचीनक' या पूर्वी बौद्धों की महासांघिक धारा ईसापूर्व तीसरी शताब्दी के अन्त के निकट आन्ध्र में पहुँची और पल्लवित हुई। बौद्धों के विकास की इस महा-सांघिक दिशा से ही लगभग ईसापूर्व पहली शताब्दी में महायान का जन्म हुआ। यह स्मरणीय है कि महासांघिक केवल मगध और आन्ध्र में ही विदित नहीं थे, उनके उल्लेख कश्मीर, बामियान, लाट और सिन्ध में भी यत्र-तत्र प्राप्त होते हैं।

महासांघिकों के आगमिक शास्त्र में विनय पिटक, सूत्रपिटक एवं अभिधर्म-पिटक के अतिरिक्त संयुक्त पिटक एवं धारणी पिटक का भी उल्लेख मिलता है महासांघिक विनय अन्य उपलब्ध विनयों से अपेक्षाकृत अधिक भेद रखता है। लोकोत्तरवादियों का प्रधान उपलब्ध ग्रन्थ महावस्तु है जिसमें उनके विनय के पहले भाग के रूप में तथागत का जीवन चरित्र वर्णित है। लोकोत्तरवादी सिद्धान्त मुख्यतः इसके प्रारम्भिक अंश में पीछे से जोड़े प्रतीत होते हैं। हरिवर्मा का सत्यसिद्धि शास्त्र बहुश्रुतीयनिकाय का माना जाता है।

स्थविरधारा : वात्सीपुत्रीय—जहाँ बौद्धों के विकास की महासांघिक धारा महा-यानिक शून्यता एवं लोकोत्तर बुद्ध और बोधिसत्त्वों की ओर अग्रसर हुई स्थविरों की दूसरी धारा नाना धर्मों की पृथक्-पृथक् सत्ता की समर्थक बन गयी और अभिधर्म के मलभूत दार्शनिक दृष्टिकोण को विकसित और परिष्कृत करती रही। बुद्धाब्द की दूसरी शती में स्थविरों के मुख्य केन्द्र कौशाम्बी, मथुरा एवं अवन्ती थे। कदाचित् वत्सदेश की राजधानी कौशाम्बी से अनतिदूर ही वात्सीपुत्रीयों का उद्भव हुआ हो। यह स्मरणीय है कि तथागत के समय में भी कौशाम्बी में विवाद और संघभेद की नौबत आ गयी थी। तारानाथ के अनुसार कालाशोक के समय में कश्मीर के वात्सनाम के ब्राह्मण ने आत्मवाद का प्रचार किया था। किन्तु वस्तुतः कालाशोक के समय कश्मीर में सद्धर्म अविदित था और धर्माशोक के समय में ही मध्यान्तिक ने कश्मीर में सद्धर्म

प्रचार का प्रारम्भ किया। पालिपरम्परा मे प्रसिद्ध वज्जिपुत्तक नाम भी भ्रान्ति-मूलक प्रतीत होता है। वात्सीपुत्र-वच्छीपुत्त-वज्जिपुत्त, इस क्रम मे यह भ्रान्ति सम्भव है। अन्यथा 'वज्जिपुत्तक' मे वैशाली के लिच्छवियों का संकेत ग्राह्य है। ऐसी स्थिति में 'वात्सीपुत्र' का 'वज्जिपुत्त' का 'संस्कृत' रूप मानना होगा। किन्तु इस कल्पना के विरोध में यह स्मरणीय है कि वात्सीपुत्र सम्प्रदाय का मूलतः वज्जिप्रदेश से सम्बन्ध असिद्ध था।

स्थविरों के अभ्यंतर यह पहला संघभेद था। इसका कारण मुख्यत सैद्धांतिक था। वात्सीपुत्रीय भिक्षु पुद्‌गलवादी थे। पालि-परम्परा के अनुसार एवं कथावत्थु के परिशीलन से यह पता चलता है कि अशोककालीन पाटलिपुत्रक संगीति मे, जिसे कि तीसरी संगीति भी कहा जाता है, अशोक ने बहुत से भ्रष्ट भिक्षुओं को संघ से निकाल दिया एवं मौद्‌गलीपुत्र तिष्य ने नाना विप्रतिपन्न बौद्ध-निकायों का खंडन किया। कथावत्थु की पहली पुद्‌गल-कथा ही प्राचीनतम प्रतीत होती है। और यह मानना युक्तियुक्त प्रतीत होता है कि मौद्‌गलीपुत्र तिष्य ने प्रधान रूप से पुद्‌गलवादियों अथवा वात्सीपुत्रीयों का ही खंडन किया। फलतः यह मानना होगा कि स्थविरों के अभ्यन्तर वात्सीपुत्रीयों का उद्‌भव अशोक की तृतीय संगीति के कुछ पहले हुआ होगा। परम्परा के अनुसार उनका उद्‌भव परिनिर्वाण से २०० वर्ष बीतने पर अथवा कुछ और पीछे हुआ था। इसकी पूर्वोक्त विवरण से पूरी संगति है।

वात्सीपुत्रीयों का अभिधर्मपिटक शारिपुत्राभिधर्म अथवा धर्मलक्षणाभिधर्म कहलाता था एवं उसके नौ भाग थे। वात्सीपुत्रीयों मे धर्मोत्तरीय, भद्रयाणीय, छन्नगरिक एवं सम्मतीय नाम की शाखाएं प्रादुर्भूत हुई जिनमे अन्तिम सर्वाधिक महत्त्व को प्राप्त हुई। वसुमित्र के अनुसार एक गाथा के व्याख्यान पर विवाद के कारण शाखाएँ प्रकट हुई थीं। सम्मतीय महाकात्यायन को अपना प्रवर्तक मानते थे। यह स्मरणीय है कि महाकात्यायन ने अवन्तिदक्षिणापथ मे सद्धर्म के अनुयायियों के पहले आवास को स्थापित किया था और वहाँ के निवासियों का आचारभेद देखकर विनय में आवश्यक परिवर्तन अभीष्ट समझा था। भव्य और विनीत देव के अनुसार सम्मतीयों से आवन्तक और कौरुकुल्लक नाम के सम्प्रदाय उद्‌भूत हुए थे। यह भी स्मरणीय है कि भद्रयाणीयों और धर्मोत्तरीयों के नाम अपरान्त के अभिलेखों मे उपलब्ध होते है। ऐसा प्रतीत होता है कि वात्सीपुत्रीय-निकाय का विकास और विस्तार सद्धर्म की कौशाम्बी से अपरान्तगामी पथ पर यात्रा के प्रसंग मे सम्पन्न हुआ था। ईसवीय दूसरी शताब्दी में भद्रयाणीयों और धर्मोत्तरीयों के नाम अपरान्त में अभिलिखित मिलते है। स्वात्-

च्वांग के समय में सम्मतीयों का प्राधान्य था। पाल-युग में वात्सीपुत्रीय निकाय अवशिष्ट था।

फ्राउवाल्नर महोदय ने यह प्रतिपादित किया है कि अशोक ने सद्धर्म के प्रचार के लिए जिन बौद्ध आचार्यों को प्रत्यन्त प्रदेशों में भेजा था उनके स्थापित आवास ही सर्वास्तिवाद, धर्मगुप्तक, काश्यपीय, महीशासक और थेरवाद नाम के निकायों में परिणत हो गये।[६३] विदिशा से ही ये सब प्रचारक गये थे और अपने साथ एक समान विनय ले गये थे। इसके विरोध में यह स्मरणीय है कि अशोक ने 'धर्म' का प्रचार किया था, न कि 'सद्धर्म' का। पालि परम्परा में संरक्षित और अभिलेखों से समर्थित प्रचारकों के नामों को अशोक के द्वारा प्रेषित प्रचारकों के नाम मानने के लिए कोई समर्थ उपपत्ति नहीं है। इसके अलावा यह मानना कठिन है कि सर्वास्तिवाद की उत्पत्ति मूलतः सैद्धान्तिक न होकर आवासिक थी।

सर्वास्तिवाद और महीशासक—सर्वास्तिवाद और महीशासक सम्प्रदायों में कौन मूल था एवं कौन उससे प्ररूढ़, इसके निर्णय के लिए कई सुझाव प्रस्तुत किये गये हैं। दत्त महोदय का मत है कि पूर्व महीशासक सर्वास्तिवादियों से प्राचीन थे एवं उत्तर-महीशासक उनसे परवर्ती। प्रिलुस्कि महोदय के अनुसार पूर्व-महीशासक पुराण के अनुगामी थे। महीशासक विनय से ज्ञात होता है कि पहली संगीति के बाद दक्षिणागिरि से लौटे हुए ५०० भिक्षुओं के साथ स्थविर पुराण ने अपनी सम्पत्ति तब तक नहीं दी जब तक उनके सामने दुबारा संगायन नहीं हुआ एवं इसके बाद भी उन्होंने अपने आहार सम्बन्धी आठ नियमों का विनय में समावेश किया। ये आठ नियम इस प्रकार है—अन्दर भोजन पकाना, अन्दर पकाना, स्वेच्छा से पकाना, स्वेच्छा से खाना, प्रातः उठते समय अन्न का स्वीकार करना, दाता की इच्छा से अन्न घर ले जाना, विविध फल रखना, एवं जलाशय में उत्पन्न वस्तुओं का खाना।[६४] महीशासकों के नाम को महिषमण्डल से सम्बद्ध बताया गया है। अभिलेखों से उनका बनवासी से सम्बन्ध सिद्ध होता है। चीनी यात्री (फाश्येन) ने उनका विनयपिटक सिंहल में पाया था। इ-चिंग ने उन्हें ठीक भारत में कहीं नहीं पाया था।

धर्मगुप्तक—सभी परम्पराओं में महीशासकों से धर्मगुप्तकों की उत्पत्ति बतायी गयी है। इस शाखा-भेद का कारण सम्भवतः बुद्ध और संघ को दिये हुए दान के स्वरूप

६३–फ्राउवाल्नर, पूर्व पृ० ६ प्र०।

६४–तु०—दत्त, पूर्व० जि० २, पृ० ११।

के सम्बन्ध में विवाद था। परमार्थ के अनुसार इस सम्प्रदाय का प्रवर्तन धर्मगुप्त ने किया था जो कि महामौद्गल्यायन के शिष्य थे। प्रिलुस्कि और फ्राउवाल्नर इस धर्मगुप्त का अपरान्त के धर्म-प्रचारक यौनक धर्मरक्षित के साथ अभेद प्रतिपादित करते हैं। कालान्तर में धर्मगुप्तक अपने त्रिपिटक में एक बोधि-सत्त्वपिटक और एक धारणीपिटक अथवा मन्त्रपिटक भी मानते थे। धर्मगुप्तकों का उल्लेख भारत में कहीं अभिलेखों से प्राप्त नहीं होता। श्वांच्वाँग और इ-चिगं ने भी उन्हें उड्डियान में एवं मध्य एशिया में पाया था।

काश्यपीय—काश्यपीयों का उद्भव परिनिर्वाण से लगभग ३०० वर्ष पश्चात् बताया गया है। यह स्पष्ट नहीं है कि इनका मूल स्थविर-निकाय था अथवा सर्वास्तिवाद-निकाय। यह संभव है कि इनका प्रादुर्भाव सर्वास्तिवादियों से हुआ, किन्तु स्थविरवादी प्रभाव के कारण, किन्तु यह भी सम्भव है कि स्थविरों से इनकी उत्पत्ति सर्वास्तिवादी प्रभाव के कारण हुई हो। इनके अन्य नाम भी बताये गये हैं—स्थाविरीय, सद्धर्मवर्षक, एवं सुवर्षक। अभिलेखों से एवं चीनी यात्रियों के विवरणों से इनके आवासों का क्षेत्र उत्तरापथ में ही प्रतीत होता है। यह स्मरणीय है कि पालि-परम्परा एवं साँची के अभिलेखों से यह ज्ञात होता है कि काश्यपगोत्र के भिक्षु समस्त हैमवतों के आचार्य थे। चीनी भाषा में उपलब्ध विनयमातृका नाम के ग्रन्थ से काश्यप हैमवतों के आचार्य प्रतीत होते हैं। अतएव यह सम्भव है कि काश्यपीय और हैमवत एक ही सम्प्रदाय के दो नाम रहे हों। इनकी उत्पत्ति हिमवत्प्रदेश में अशोककालीन धर्म प्रचार से ही प्रतीत होती है। भव्य की काश्मीरी परम्परा के अनुसार हैमवत स्थविरों से अभिन्न थे। अन्यत्र उन्हें महासांघिकों की आन्ध्र शाखाओं के साथ रखा गया है, किन्तु यह उनके नाम से संगत नहीं है।

कुछ आधुनिक विद्वान् सिंहल के स्थविरवादियों को मूल स्थविरों से निकली हुई उनकी एक परवर्ती शाखा-मात्र मानते हैं, किन्तु सिंहलगत होते हुए भी इन स्थविरों की परम्परा प्राचीन है एवं मूल-स्थविरों से अनुसन्तत है। सच तो यह है कि इनके अतिरिक्त स्थविरों का और कहीं पता ही नहीं चलता। यह स्मरणीय है कि विभज्यवादी नाम से कोई एक विशेष सम्प्रदाय सर्वदा विवक्षित नहीं है। स्थविरों का एक निकाय-विशेष के रूप में विकास तीसरी संगीति के अवसर पर मौद्गली पुत्र के प्रयास से हुआ। यह कहा गया है कि इसी अवसर पर कात्यायनीपुत्र ने सर्वास्तिवाद का प्रचार किया और उनके अनुगामियों का उत्तरापथ और कश्मीर में विशेष निकास हुआ।[६५]

६५—पूसें, बारो द्वारा उद्धृत, पूर्व० पृ० ३३।

बौद्ध निकायों की वंशावली एवं काल-क्रम का इस प्रकार उपसंहार किया जा सकता है—
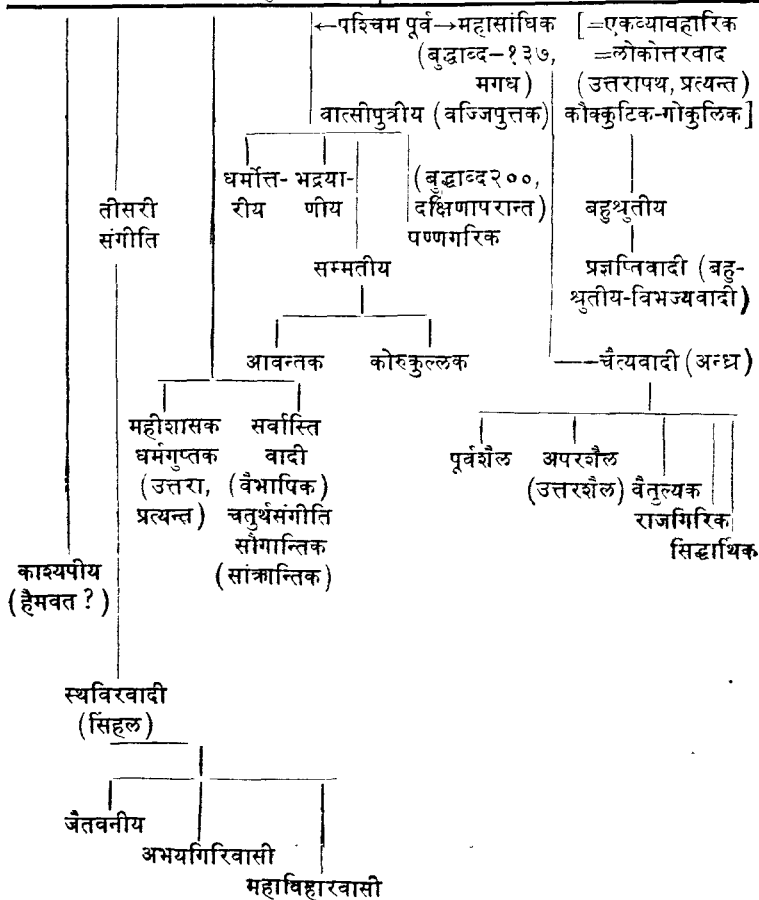
प्रादेशिक भेद—ऊपर कहा जा चुका है कि महासांघिकों का प्रारम्भिक केन्द्र वैशाली एवं पाटलिपुत्र का कुक्कुटाराम-विहार था। ईसवीय दूसरी शताब्दी के अभिलेखों में महासांघिकों का उल्लेख उत्तर पश्चिम में कपिशा के निकट, मथुरा में एवं कार्ली में प्राप्त होता है।[६६] श्वानच्वांग ने उन्हें अस्तप्राय पाया था—कश्मीर, गन्धार, एवं कृष्णा नदी के प्रदेश में उन्हें २० विहारों में लगभग १००० भिक्षु शेष थे। इ-चिंग ने उन्हें मगध, लाट और सिन्ध में बताया है। उनकी शाखाओं में बहुश्रुतीयों का नागार्जुनिकोण्ड के एक तीसरी शताब्दी के अभिलेख में उल्लेख है, एवं गन्धार के एक पाँचवी शताब्दी के अभिलेख में। अमरावती और नागार्जुनिकोण्ड के अभिलेखों में उनकी चैतिक, पूर्वशैल, एवं अपरशैल शाखाओं के नाम आते हैं। लोकोत्तरवादियों को श्वान्चांग ने बामियान में देखा था।

वात्सीपुत्रीयों को मूलतः कश्मीर, वैशाली अथवा वत्स-जनपद से सम्बद्ध किया गया है। यदि वात्सीपुत्रीयों का उद्भव बुद्धाब्द की दूसरी शती में हुआ तो उनका कश्मीर की अपेक्षा कौशाम्बी से सम्बन्ध मानना अधिक सम्भाव्य प्रतीत होता है। ईसवीय दूसरी शताब्दी में वात्सीपुत्रीयों की कई शाखाओं का अभिलेखों में नाम उपलब्ध होता है—धर्मोत्तरीयों का कार्ली और जुन्नर में, भद्रयाणीयों का नासिक और कण्हेरी में, सम्मतीयों का मथुरा में। चतुर्थ शताब्दी के एक अभिलेख में सम्मतीयों का सारनाथ में भी उल्लेख प्राप्त होता है। श्वान् च्वांग के समय में वे हीनयान के सम्प्रदायों में प्रधानतम थे। चीनी यात्री ने उनके १००० विहारों में ६५००० भिक्षु बताये हैं। यद्यपि मध्य देश और पूर्व में भी उनके विहार थे, तथापि उनका प्राधान्य पश्चिम में—मालवा, गुजरात और सिंध में—था। इ-चिंग से भी इस विवरण का समर्थन प्राप्त होता है।

सर्वास्तिवादियों का उल्लेख दूसरी शताब्दी के अभिलेखों में गन्धार, कश्मीर, मथुरा और श्रावस्ती में पाया जाता है। श्वान-च्वांग ने उन्हें काशगर, कूचा, एवं मध्यदेश में फैले देखा था। महीशासकों का उल्लेख तक्षशिला के निकट नागार्जुनिकोण्ड एवं बनवासी के अभिलेखों में प्राप्त होता है। गन्धार के अभिलेखों में काश्यपीयों का उल्लेख भी मिलता है। इ-चिंग ने मूल सर्वास्तिवादियों को मगध और उत्तर भारत में रखा था, महीशासक, धर्मगुप्तक और काश्यपीय केवल उड्डियान, काशगर और

६६—बौद्धनिकायों की भौगोलिक स्थिति पर प्रकाश डालनेवाले अभिलेखों के विस्तर के लिए द्र०—बारो, पूर्व०, पृ० ३४–४०; लामॉत, पूर्व०, पृ० ५७८–८४।

खोतान में ही उपलभ्य थे। स्थविरों को श्वान्च्वांग० ने दक्षिण में विशेष रूप से देखा था, यद्यपि समतट और सुराष्ट्र में भी वे पर्याप्त मात्रा में थे। इ-चिंग ने भी उन्हे प्रधानतया दक्षिण में पाया।

तथागत की लीला-भूमि और सद्धर्म की जन्मभूमि थी पूर्वो उत्तर प्रदेश और बिहार। यहाँ बौद्ध तीर्थों के होने के कारण इस प्रदेश मे उनके प्रायः सभी सम्प्रदायों के अलग-अलग या मिले-जुले विहार थे। महासांघिकों का केन्द्र पहले मगध में पाटलिपुत्र था, पीछे उत्तरापथ का सीमान्त भाग (गन्धार से कश्मीर) एवं अन्ध्रापथ में श्रीपर्वत था। वात्सीपुत्रीयों का प्रारम्भिक केन्द्र कदाचित् वत्सभूमि में कौशाम्बी के पास था, पीछे पश्चिमी भारत में। सर्वास्तिवादियों का प्रारम्भिक केन्द्र मथुरा था, पीछे उड्डियान, गन्धार और कश्मीर। धर्मगुप्तक और काश्यपीयों का विकास भी उत्तरापथ में हुआ। स्थविरों का एक प्राचीन केन्द्र कौशाम्बी और दूसरा विदिशा था। पीछे उन्होंने दक्षिणापथ में वृद्धि प्राप्त की।

तारानाथ के अनुसार वसुबन्धु एवं धर्मकीर्ति के मध्यवर्ती काल में पूर्वशैल, अपरशैल, हैमवत, काश्यपीय, विभज्यवादी, महाविहारवासी और अवन्तक सम्प्रदाय लुप्त हो गये थे। उनके अनुसार पाल-युग में केवल ६ सम्प्रदाय रहे थे—वात्सीपुत्रीय, कौरुकुल्लक, प्रज्ञप्तिवादी, लोकोत्तरवादी, ताम्रशाटीय, एवं मूलसर्वास्तिवादी।[६७]

विवादग्रस्त विषय—इन विभिन्न बौद्ध-निकायों में नाना आध्यात्मिक एवं दार्शनिक विषयों पर लगभग ५०० वस्तुएँ अथवा सिद्धान्त प्रतिपादित किये गये। बुद्ध, बोधिसत्त्व, अर्हत्, अन्य आर्य-गण एवं पृथग्जन, संघ एवं दान, आर्य-सत्य, कर्म, हेतु, फल, पाप-पुण्य, संयोजन एवं क्लेश, आध्यात्मिक मार्ग एवं उसके अंग, शील, ध्यान, ज्ञान, समापत्ति, निरोध, निर्वाण, असंस्कृत, चित्त एवं चैत्र, रूप, काल, आकाश, त्रैधातुक, पुद्गल—इन सभी पर नाना मत, नाना निकायों में प्रकाशित किये गये। इनमें से बहुत कम पर सन्तोषजनक जानकारी प्राप्त की जा सकती है। कुछ प्रधान मीमांसित मत इस प्रकार थे—बुद्ध और बोधिसत्त्व की अलौकिकता, विशेषतया उनका जन्म भौतिक देह, आध्यात्मिक चर्या एवं उपदेश-विधि; अर्हतों में दोष एवं पतन की सम्भावना, स्रोतआपन्न के पतन की सम्भावना; संघ के लिए दान-प्रतिग्रह की सम्भावना एवं उसकी विशुद्धि और फल की महत्ता; पुद्गल का अस्तित्व; अतीत और अनागत पदार्थों का अस्तित्व; इन्द्रिय-प्रत्यक्ष की सरागता अथवा विरागता; काम और इन्द्रियों का विभिन्न

६७—तारानाथ, पृ० २७४।

लोकों में अस्तित्व; रूप अथवा भौतिक धर्मों का कर्म-फल होना, एवं उनकी अरूप-लोक में सत्ता; अन्तराभव का अस्तित्व; चित्त की स्वाभाविक भास्वरता, देवलोक-में ब्रह्मचर्यावास की सम्भावना, श्रद्धा आदि पाँच इन्द्रियों की एवं सम्यग्दृष्टि की लौकिकता; आकाश, प्रतीत्यसमुत्पाद, नियाम, तथता, आरूप्य समापत्ति, एवं दो निरोधों की असंस्कृतता।[६८]

बारो का मत–सदोष—विवाद-ग्रस्त विषयों में मतैक्य एवं मतभेद का परिगणन कर बारो महोदय ने यह प्रतिपादित किया है कि (१) महीशासक, महासांघिक, विभाषा में वर्णित विभज्यवादी, शारिपुत्राभिधर्मशास्त्र (धर्मगुप्तक), एवं अन्धक परस्पर संलग्न प्रतीत होते हैं, (२) सिंहल के थेरवादी, एवं काश्मीर के सर्वास्तिवादी एक दूसरा वर्ग बनाते हैं, (३) वात्सीपुत्रीय और सम्मतीय साथ चलते हैं, (४) दार्ष्टान्तिक और सौत्रान्तिकों का परस्पर एवं पहले वर्ग से सम्बन्ध है।[६९]

किन्तु इस प्रसंग में यह स्मरणीय है कि दूसरे और तीसरे वर्ग में आन्तरिक अभि-सम्बन्ध सुविदित है। महासांघिक और महीशासकों का सम्बन्ध बारो महोदय की समीक्षा-प्रणाली के दोष से उद्भावित है। उन्होंने इन सम्प्रदायों के मर्मभूत सिद्धान्तों के भेद की ओर ध्यान न देकर केवल सदृश और विसदृश सिद्धान्तों की संख्या पर ही अपना निर्णय आधारित किया है।

६८–इन समस्त 'वस्तुओं' का वर्गीकृत तालिका के रूप में विस्तृत प्रदर्शन—बारो, पूर्व, पृ० २६०–८९।

६९–वहीं, पृ० २९०–९५।

अध्याय ४

बौद्ध धर्म का प्रसार और कला

बुद्ध से अशोक तक—भगवान् बुद्ध और उनके धर्म की जन्म-भूमि प्राच्य अथवा पूर्व देश था जिसका पश्चिमी छोर ब्राह्मण ग्रन्थों में प्रयाग अथवा काशी माना जाता था। दूसरी संगीति के अवसर पर 'प्राचीनक' भिक्षुओं ने पूर्व देश की इस महिमा का स्पष्ट विख्यापन किया था।[१] ऊपर कहा जा चुका है कि तथागत ने सद्धर्म का उपदेश प्रधानतया मगध एवं कोशल के जनपदों में तथा शाक्य, लिच्छवि, एवं मल्ल आदि गणराज्यों में किया था। राजगृह एवं श्रावस्ती में उन्होंने अनेक बार अवस्थान किया। उनकी चारिका की पूर्वी सीमा राढ के सेतक नाम के सुह्मनिगम तक अथवा कजंगल तक बतायी गयी है। पश्चिम की ओर वत्स-राजधानी कौशाम्बी में तथागत ने निवास एवं उपदेश किया था। अनुश्रुति के अनुसार उन्होंने चारिका के १२ वें वर्ष मथुरा के निकट वेरञ्ज में वास किया, किन्तु वहाँ उन्हें विशेष साफल्य नहीं प्राप्त न हुआ। लौटते समय वे सौरेय्य, संकसस, कण्णकुज्ज, तथा पयागपतिट्ठान, होते हुए वाराणसी पहुँचे। उत्तर में कुरु-जनपद के कम्मस्सधम्म तथा थुल्लकोटिठ्त नाम के ब्राह्मण-निगमों तक उनकी यात्रा बतायी गयी है।

पहले कहा जा चुका है कि तथागत ने अपने शिष्यों को सद्धर्म के प्रसारार्थ चारिका के लिए प्रोत्साहित किया था। चैतियों के सहजाति निगम में महाचुन्द के द्वारा धर्म-देशना का उल्लेख मिलता है। महाकच्चायन प्रभृति भिक्षुओं ने अवन्ति में सद्धर्म का प्रसार किया। यह स्मरणीय है कि महाकच्चायन का प्रव्रज्या से पूर्व का नाम नालक था एवं उन्हें अवन्तिवासी बताया गया है। यह कहा गया है कि उन्होंने तथागत के परि-निर्वाण के कुछ समय पश्चात् राजा मधुर अवन्तिपुत्त को सद्धर्म में दीक्षित किया। सूनापरान्त के सुदूर प्रत्यन्त प्रदेश में धर्म-प्रचार के लिए वहीं के निवासी पुण्ण को भेजने का उल्लेख उपलब्ध होता है[२]।

१–विनय ना०, चुल्लवग्ग, पृ० ४२५।

२–द्र०—मललसेकर, डिक्शनरी ऑव पालि प्रोपर नेम्स, जि० २, पृ० २२०।

विनय में सद्धर्म की मूल भूमि को 'मज्झिमा जनपदा' कहा गया है और इनके सीमावर्ती प्रदेश 'पच्चन्तिम जनपद' कहे गये हैं।[3] । इनकी सीमाएं इस प्रकार निर्दिष्ट हैं—पूर्व दिशा में कजंगल नाम का निगम, पूर्व दक्षिण में सल्लवती (सललवती) नाम की नदी, दक्षिण दिशा में 'सेतकण्णिक' नाम का निगम, पश्चिम दिशा में 'थूण' नाम का ब्राह्मणग्राम, उत्तर दिशा में 'उसीरद्धज' (उशीरध्वज) नाम का पर्वत[4]। इन सीमाओं के इस ओर 'मज्झिम' देश है, उस पार 'पच्चन्तिम' जनपद यथा अवन्ति-दक्खिणापथ। यह उल्लेखनीय है कि प्रत्यन्त जनपदों में धर्म-प्रचार की सुविधा के लिए विनय में आवश्यक परिवर्तन किया गया। परिस्थिति की ओर सद्धर्म की यह जागरूकता उसके प्रसार में निश्चित सहायक थी।

मञ्जुश्रीमूलकल्प के अनुसार बुद्ध के अनन्तर कुछ समय तक सद्धर्म की यथोचित प्रगति नहीं हुई। किन्तु धर्म के भौगोलिक प्रसार में विशेष अवरोध नहीं प्रतीत होता। इस समय विस्तारशील मगध साम्राज्य के अनेक शासकों की सद्धर्म के प्रति अनुकूलता उल्लेखनीय है। इन शासकों में उदायि[5], मुण्ड[6], कालाशोक[7] एवं शूरसेन[8] के नाम

३—महावग्ग (ना०) पृ० ३३५, २१४–१६।

४—वही, पृ० २१६।

तु०—"पूर्वेणोदालिन् पुण्ड्रवर्धनं नाम नगरं तस्य पूर्वेण पुण्ड्रकक्षोनाम दावः। (सोऽन्तः) ततः परेण प्रत्यन्तः। दक्षिणेन शरावती नाम नगरी। तस्याः परेण शरावती (सरावती) नाम नदी। सोऽन्तः। ततः परेण प्रत्यन्तः। पश्चिमेन स्थूणोपस्थूणकौ ब्राह्मणग्रामौ। ...उत्तरेण उशीरगिरिः।" (गिलगित मैनुस्क्रिप्ट्स, जि० ३, भा० ४, पृ० १९०)।

इससे ज्ञात होता है कि सल्लवती=सललवती=शरावती=सरावती। 'अन्त' सीमा के इस ओर है, 'प्रत्यन्त' उस पार।

५—मञ्जुश्रीमूलकल्प (जायसवाल), श्लो० ३२४, 'उकाराख्य' राजाबुद्धशासन के लिए उद्यत होगा और शास्ता के प्रवचन को लिपिबद्ध करायेगा।

६—अंगुत्तरनिकाय (रो०) जि० ३, पृ० ५७ प्र०।

७—जिसके समय में 'दूसरी संगीति' कही गयी है।

८—तु०—मञ्जुश्री मूलकल्प (जायसवाल) श्लो० ४१७–२१; 'वीरसेन' पर द्र०—तारानाथ (अनु० शीफनर) पृ० ५०–५१।

निर्दिष्ट हैं। परिनिर्वाण के १०० वर्ष पश्चात् कालाशोक के समय में दूसरी संगीति का विवरण प्राप्त होता है। इस समय संघ के तीन प्रधान केन्द्र थे—वैशाली, कौशाम्बी, एवं मथुरा, तथा संघ के अन्दर 'प्राचीनक' (पूर्वी) तथा 'पच्छिमक' (पश्चिमी) भिक्षुओं के दो विभिन्न दल बन चुके थे[९]। पूर्व में राजधानी के परिवर्तन के साथ राजगृह का स्थान पाटलिपुत्र ने ले लिया था। पावा, सहजाति, कान्यकुब्ज, सोरेय्य, संकाश्य, स्त्रुघ्न, और अवन्ती सद्धर्म के इस समय अन्य केन्द्र थे। यह स्पष्ट है कि आर्यावर्त में इस समय बौद्ध धर्म का प्रसार अवन्ति से वैशाली तथा मथुरा से कौशाम्बी तक था। परवर्ती काल में विदेशी बौद्ध यात्री मथुरा से ही 'मध्य देश' का आरम्भ मानते थे। इस मध्य देश का बौद्धों के लिए विशेष महत्त्व था क्योंकि उसी में बुद्ध-लीला से सम्बद्ध उनके पुण्यतीर्थ थे।

ऊपर कहा जा चुका है कि वैशाली की संगीति के अनन्तर प्रादेशिक भेद के साथ-साथ बौद्धों में साम्प्रदायिक भेद प्रकट हुए तथा विभिन्न सम्प्रदायों के नेतृत्व में सद्धर्म विभिन्न दिशाओं में प्रसारित हुआ। एक ओर मगध से महासांघिक अन्ध्रापथ की ओर प्रवृत्त हुए, दूसरी ओर कौशाम्बी से अवन्ति-दक्षिणापथ के मार्ग पर स्थविरवादी, तथा मथुरा से उत्तरापथ की ओर सर्वास्तिवादी अग्रसर हुए। नन्दमौर्य साम्राज्य में पहली बार अखिल भारतीय एकसूत्रता आभासित हुई तथा प्रशासकीय, सैनिक, व्यापारिक एवं सांस्कृतिक दृष्टियों से अन्तः प्रादेशिक सम्बन्धों की अवतारणा हुई। एक ओर अर्थशास्त्र, धर्मशास्त्र, व्याकरणशास्त्र आदि के विकास में जो अखिल भारतीयता प्रतिबिम्बित है, उसे ही पुरातत्त्वीय मृद्भाण्ड जगत् में एन्० बी० पी० का प्रसार सूचित करता है[१०]। इस अखिलभारतीयता का सबसे ज्वलन्त प्रतीक अशोक की धर्मलिपियाँ और स्तम्भ हैं।

अशोक—अशोक और सद्धर्म के सम्बन्ध पर बहुत कुछ लिखा जा चुका है, किन्तु कुछ विवाद अभी तक शान्त नहीं माने जा सकते। सभी बौद्ध परम्पराएं अशोक को बौद्ध घोषित करती हैं[११]। किन्तु जहाँ स्थविरवादी उन्हें निग्रोध एवं मौद्गली पुत्र तिष्य

९–द्र०—प्रिलुस्कि, पूर्व०।

१०–तु०—सुब्बाराव, पर्सनेलिटी ऑव् इण्डिया, पृ० ४६; तु०—जी० आर० शर्मा, पूर्व०।

११–उदा०—दीपवंस, महावंस, दिव्यावदान, फाइयेन, श्वानच्वांग, तारानाथ, बुदोन।

के अनुयायी बनाते हैं, मथुरा के सर्वास्तिवादी उन्हें उपगुप्त के शिष्य मानते हैं[१२]। अशोक के अपने अभिलेखों में उनके स्वयं बौद्ध होने के कुछ संकेत होते हुए भी यह कहना कठिन है कि जिस 'धर्म' का उन्होंने विविध उपायों से प्रचार किया वह सद्धर्म ही है। अशोक सभी धर्मों के हितैषी थे और किसी विशेष सम्प्रदाय का पक्ष-पोषण अनुचित समझते थे। वे सभी धर्मों की सारवृद्धि चाहते थे तथा उनकी धर्मलिपियों में एक प्रकार का सारभूत सर्वसाधारण धर्म ही उपदिष्ट प्रतीत होता है। तथापि उनके व्यक्तिगत धर्म होने के कारण सद्धर्म को अशोक से अवश्य पर्याप्त सहायता प्राप्त हुई। 'पाटलिपुत्र-संगीति' की अनुश्रुति में कम-से-कम आंशिक सत्य स्वीकार करना चाहिए[१३]। अशोक के स्तम्भों में स्पष्ट ही धर्मचक्र आदि बौद्ध प्रतीक उत्कीर्ण हैं। बौद्ध परम्परा के अनुसार अशोक ने ८४,००० स्तूपों का निर्माण कराया[१४]। यह निस्सन्देह है कि अशोक के ही समय से बौद्ध प्रस्तरकला इतिहास में प्रकट होती है[१५]। दिव्यावदान के अनुसार अशोक आर्य संघ का पञ्चवार्षिक सत्कार करते थे[१६]। यह सम्भव है क्योंकि परवर्ती काल में भी पञ्चवर्षीय दान परिषदों का बौद्ध शासकों में प्रचार उपलब्ध होता है[१७]।

तृतीय संगीति—'तृतीय' संगीति का विवरण दीपवंस, महावंस, समन्तपासादिका एवं कथावत्थुअट्ठकथा में उपलब्ध होता है। किन्तु सैहलक स्थविरवादी परम्परा के अतिरिक्त अन्यत्र इस संगीति के विषय में 'मौन' के कारण यह सन्देह उत्पन्न होता है कि कि यह संगीति कदाचित् एकनिकायिक थी, चातुर्दिश नहीं[१८]। यह भी कहा गया है

१२–मथुरा की 'स्थविर-परम्परा' (आचार्य०) मूलसर्वास्तिवाद-विनय तथा अशोकराजसूत्र में इस प्रकार उपलब्ध होती है—महाकाश्यप—आनन्द—शणिक (शाणवास)—उपगुप्त, द्र०—फ्राउवाल्नर, पूर्व०, पृ० २८–३४, पालि स्थविरपरम्परा दीपवंस आदि में प्रसिद्ध है, द्र०—नीचे; तु०—बुदोन, जि० २, पृ० १०८–९।

१३–दे०—नीचे।

१४–दिव्यावदान (सं० वैद्य), पृ० २४०।

१५–दे०—नीचे।

१६–दिव्यावदान, पृ० २५९।

१७–फाश्येन और श्वानच्वांग, दे०—नीचे।

१८–उदा० तु०—कीथ, बुधिस्ट फिलॉसफी, पृ० १८–१९, टॉमस, हिस्टरी ऑव बुधिस्ट थॉट, पृ० ३५।

कि कदाचित् दिव्यावदान में प्रोक्त अशोक की पञ्चवर्षीय परिषद् को ही अतिरजित कर 'संगीति' बना दिया गया हो। अशोक के अभिलेखों में इस संगीति का निर्विवाद उल्लेख प्राप्त नहीं होता। यदि पालिपरम्परा सत्य है तो अशोक का मौन दुर्बोध है। दूसरी ओर, कौशाम्बी, सारनाथ तथा साँची के अभिलेखों मे अशोक ने स्पष्ट ही संघ-भेद को निराकृत करने का निश्चय प्रकट किया है[१९]। उनका कहना है कि उन्होंने संघ को समग्र किया, तथा जो भिक्षु अथवा भिक्षुणी संघभेद के लिए प्रयत्नशील हो, उसे अवदात वस्त्र पहिना कर संघ से निकालने की उन्होंने आज्ञा दी। सारनाथ-स्तम्भ-लेख में महामात्रों को आदेश दिया गया है कि वे उपोसथ के दिनों में नित्य जाकर उल्लिखित राजशासन के पालन की ओर सावधान हों। इससे पालिपरम्परा का समर्थन होता है कि अशोक के समय संघ नाना सम्प्रदायों में विभक्त था तथा अशोक ने संघ को समग्र किया। यह स्मरणीय है कि विभिन्न सम्प्रदायों के भिक्षु पृथक्-पृथक् आवासों में नहीं रहते थे। अतएव उनमें विनय-सम्बन्धी मतभेद के कारण एकत्र उपोसथ के पालन में कठिनाई दुर्निवार रही होगी। कहा गया है कि इस अवरोध से सात वर्ष तक अशोकाराम में उपोसथ नहीं किया गया[२०]। इस पर अशोक ने मौद्गली पुत्र तिष्य की संरक्षकता में भिक्षुओं को एकत्र किया, तथा उनके सिद्धान्तों की परीक्षा के अनन्तर जो भिक्षु विभज्यवादी नहीं थे उन्हें संघ से निकाल दिया।

यह निश्चित है कि अशोक ने संघभेद के विरुद्ध, एवं संघ की समग्रता के पक्ष मे नियम बनाये। किन्तु यदि उन्होंने 'संगीति' संयोजित की होती तो इसका अवश्य ही स्पष्ट उल्लेख करते। दूसरी ओर, यदि संगीति न हुई होती तो विभिन्न सम्प्रदायों के संघर्ष में अशोक किस सम्प्रदाय के अनुसार संघ की समग्रता के विषय मे राजशासन प्रवर्तित करते? ऐसा प्रतीत होता है कि संगीति अवश्य हुई थी, किन्तु उसके आयोजन में संघ का ही हाथ था। इसीलिए अशोक ने उसका साक्षात् उल्लेख नहीं किया है[२१]। तथापि भाब्रू अभिलेख में इस संगीति का संकेत कथंचित् देखा जा सकता है। इसमें अशोक अपने को 'मागध राजा' बतलाते हुए संघ का अभिवादन करते है तथा सद्धर्म

१९-द्र०—डी० आर० भण्डारकर, अशोक (द्वितीयसंस्करण), पृ० ९६; तु०—वी० स्मिथ, अर्ली हिस्टरी ऑव् इण्डिया (४र्थ संस्करण), पृ० १६९।

२०-द्र०—दि० डिबेट्स कमेन्टरी (पी० टी० एस०, अनुवाद) पृ० ५।

२१-तु०—वी० स्मिथ, वहीं, स्मिथ के अनुसार अभिलेख पहले के हैं, संगीति बाद की।

के सब अनुयायियों के लिए विशेष रूप से स्मरणीय कुछ धर्मपर्यायों का निर्देश करते हैं। डा० भण्डारकर का सुझाव है कि यहाँ पर 'संघ' शब्द से किसी विशेष स्थान पर एकत्र समस्त संघ के प्रतिनिधियों का अर्थ ग्रहण करना चाहिए[२२]। ऐसी व्याख्या करने पर अशोक का अपना स्वयं परिचय देना भी समझ में आता है। क्योंकि कदाचित् संगीति में दूर-दूर के भिक्षु आये होंगे। अन्य सम्प्रदायों के मौन का कारण इस संगीति में विभज्यवादियों का प्राधान्य हो सकता है, किन्तु यदि संगीति एकदेशी थो, तो अशोक उसके नियमों को क्यों मानते? वे स्वयं साम्प्रदायिकता एव पक्षपात के प्रतिकूल उपदेश करते थे। वस्तुतः यह स्मरणीय है कि पहली दो संगीतियाँ विनय में उल्लिखित हैं, अतएव उनका विवरण परवर्ती बौद्ध परम्पराओं में सर्वत्र उपलब्ध होता है। यही नहीं, वे संगीनियां संघभेद के पूर्व की होने के कारण सर्वमान्य हैं, किन्तु दूसरी संगीति के अनन्तर शाखा भेद उत्पन्न होने से, तथा भिक्षुओं के ऐतिहासिक अज्ञान के कारण घटनाओं और व्यक्तियों की स्मृति धुंधली हो जाने से यह सम्भव है कि उपेक्षा एवं विस्मरण अथवा स्मृति-संकर के कारण ही इस तीसरी संगीति का स्पष्ट विवरण 'उत्तरी बौद्ध' परम्परा में नहीं मिलना। तथापि यह उल्लेखनीय है वसुमित्र के अनुसार संगीति अशोक के समय में कुसुमपुर में हुई थी तथा इस विवरण में दस विनय-वस्तुओं की चर्चा न होकर महादेव की प्रतिपादित 'पांच वस्तुओं' का उल्लेख है[२३]। महादेव की 'पाँच बातें' कथा-वत्थु में उपलब्ध होती है[२४]। यह स्पष्ट है कि वसुमित्र ने 'दूसरी' और 'तीसरी' 'संगी-तियों को एक कर दिया है और इस प्रक्रिया में कुछ अंश दूसरी संगीति का और कुछ तीसरी का लुप्त हो गया है। अतः यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि तीसरी संगीति के विषय में न तो अशोक सर्वथा मौन हैं, न विभज्यवादियों के बहिर्भूत अन्य सम्प्रदाय[२५]। तीसरी संगीति की ऐतिहासिकता अवश्य सूचित होती है, किन्तु उसका निष्पक्ष ऐतिहासिक विवरण प्राप्त नहीं होता।

महावंस के अनुसार संघ में प्रविष्ट तीर्थिकों के बाहुल्य के कारण सात वर्ष तक

२२–द्र०—भण्डारकर, अशोक, पृ० १०१-२।
२३–मसुदा, पूर्व, पृ० १४।
२४–पूसें, जे० आर० ए० एस०, पूर्व० स्थल।
२५–य्वान्च्वांग के विवरण में भी इस संगीति का कथंचित् उल्लेख द्रष्टव्य है—
बील, जि० ३, पृ० ३३१।

उपोसथ एवं प्रवारणा न हुई[२६]। यह सुनकर अशोक ने एक अमात्य को अशोकाराम[२७] भेजा और कहा कि विवाद की शान्ति के अनन्तर उपोसथ का विधान होना चाहिए। अमात्य के राजशासन सुनाने पर भिक्षुओं ने तीर्थिकों के साथ उपोसथ न करने का अपना निर्णय दुहराया। अमात्य ने बलपूर्वक उपोसथ कराने के प्रयत्न में कुछ स्थविरों का सिर काट लिया। राजा के अनुज तिष्य स्थविर के बीच-बचाव से यह काण्ड रुका और अशोक को सूचना पहुँची। अशोक ने दुःखी होकर जानना चाहा कि ऐसी परिस्थिति में दोषी कौन ठहरेगा। भिक्षुओं ने विभिन्न मत प्रकट किये। कुछ ने राजा को भी दोषी माना। अन्ततः राजा ने निर्णय के लिए मोद्गलीपुत्र तिष्य[२८] को बुलाने का निश्चय किया। उनके बुलाने के लिए पहले चार स्थविर और चार अमात्य भेजे गये। प्रत्येक स्थविर के साथ एक सहस्र भिक्षु और प्रत्येक अमात्य के साथ एक सहस्र राजपुरुष थे। किन्तु मौद्गलीपुत्र ने निमन्त्रण अस्वीकार कर दिया। इस पर पूर्ववत् अनुचरों के साथ आठ स्थविर और आठ अमात्य भेजे गये, किन्तु कोई सफलता प्राप्त न हुई। अनन्तर सोलह स्थविर और सोलह अमात्यों के भेजने पर मौद्गली पुत्र ने अहोगंग पर्वत से उतरना स्वीकार किया, जहाँ वे सात वर्ष से एकान्त ध्यान में निरत थे। राजा ने स्वयं गंगा जल में खड़े होकर स्थविर को नाव से उतारा। सत्कार के पश्चात् राजा ने चमत्कार प्रदर्शन के लिए अनुरोध किया। स्थविर ने भूकम्प-सिद्धि दिखला कर राजा को सन्तुष्ट किया। इसके पश्चात् उन्होंने राजा को समझाया कि भिक्षुवध का अपराध उन्हें न लगेगा और क्योंकि कर्म तब तक सदोष नहीं होता जब तक मन सदोष न हो।

राजा ने पृथ्वी भर के भिक्षुओं को अशोकाराम में एकत्र करवाया। भिक्षुओं के मन की परीक्षा के अनन्तर मिथ्या दृष्टि वाले भिक्षुओं[२९] की प्रव्रज्या छीन ली गयी। इस प्रकार ६०,००० भिक्षु निकाले गये। राजा ने धार्मिक भिक्षुओं से भी भगवान्

२६—महावंस (बम्बई, १९५९), पृ० ४३ प्र०।

२७—समन्तपासादिका (सं० तकाकुसु) के अनुसार अशोकाराम अशोक ने ही बनवाया था।

२८—सांची, द्वितीय स्तूप के एक अभिलेख में 'सपुरिस मोगलिपुत' (सत्पुरुष मौद्गलीपुत्र) का नाम उपलब्ध होता है।

२९—एकमत से वे मुख्यतया महासांघिक थे, (दत्त, पूर्व० पृ० २६९)। किन्तु यह स्मरणीय है कि कथावस्तु की प्राचीनतम 'कथा' वात्सीपुत्रियों के विरोध में है।

बुद्ध का वास्तविक मत पूछा, जो उन्होंने विभज्यवाद बताया। मौद्गलीपुत्र ने इसका समर्थन किया तथा भिक्षु-संघ ने शुद्ध होकर पुनः उपोसथ का विधान किया।

मौद्गलीपुत्र ने बहुसंख्यक भिक्षु-संघ में से एक सहस्र बुद्धिमान्, षडभिज्ञ, त्रिपिटक-विद् और प्रतिसम्भिदा प्राप्त भिक्षुओं को सद्धर्मसंग्रह के लिए चुना और उनके साथ अशोकाराम में ही संगीति की। अन्य मतों के खण्डन के लिए स्थविर ने कथावत्थुप्प-करण की रचना की। इस प्रकार अशोक की संरक्षकता में तथा मौद्गली पुत्र की अध्यक्षता में एक सहस्र भिक्षुओं ने नौ महीनों में तीसरी धर्मसंगीति समाप्त की। अशोक के शासन का उस समय १७ वाँ वर्ष था तथा मौद्गलीपुत्र ७२ के थे। संगीति समाप्त करके मौद्गलीपुत्र ने भविष्य को देखते हुए प्रत्यन्त प्रदेशों में बुद्ध शासन की स्थापना के लिए अनेक स्थविरों को भेजा।

दीपवंस, कथावत्थुप्पकरण एवं समन्तपासादिका में तृतीय संगीति का विवरण इसके समञ्जस है। यह स्पष्ट है कि इस 'संगीति' के दो भाग थे—'तीर्थिक' भिक्षुओं का संघ से निष्कासन, त्रिपिटक का विशेषतया अभिधर्म पिटक का, संगायन। विनय भेद के कारण उपोसथ में कठिनाई ही संगीति का मूल कारण था। कदाचित् अशोक ने केवल इसी विषय में संगीति के निर्णय को मान्य ठहराया हो। त्रिपिटक-संगायन, अथवा, जैसा अधिक सम्भाव्य है, मौद्गलीपुत्र के द्वारा विभज्यवाद के विरोधियों के निराकरण का प्रयत्न, कदाचित् एकदेशी अर्थात् एकनिकायिक था। कथावत्थुप्पकरण अपने वर्तमान रूप में एक साहित्यिक इकाई नहीं है[30]। नाना साम्प्रदायिक मतों के आविर्भाव एवं उनसे परिचय होने पर उनका खण्डन भी सम्भवतः मौद्गलीपुत्र की मूल कथावस्तु में संयोजित कर दिया गया और इस प्रकार उसकी वर्तमान रूप में क्रमिक निष्पत्ति हुई। भाषा के विचार से प्रथम 'कथा' में मागधी छाया उसकी प्राचीनता द्योतित करती है।

अशोक के अभिलेखों से ज्ञात होता है कि उसने सर्वत्र अपने साम्राज्य में, प्रत्यन्त प्रदेशों में तथा सुदूर पश्चिमी विदेश में 'धर्म-विजय' का प्रयत्न किया तथा अपने दूत भेजे। अनेक इतिहासकारों ने यह मान लिया है कि अशोक की यह धर्म-विजय सद्धर्म का ही प्रचार था और अतः इसे स्वीकार किया है कि अशोक के संरक्षण के कारण मगध

३०—द्र०—ऑरिजिन्स ऑव् बुद्धिज्म, पृ० १३–१४, तु०—श्रीमती राइज डेविड्स, पाइन्ट्स ऑव् कान्ट्रेवर्सी, भूमिका, अट्ठसालिनी के अनुसार 'कथावत्थु' की रचना भी परम्परया बुद्ध भगवान् के द्वारा ही माननी चाहिए। (द्र०—नीचे)।

का एक धार्मिक सम्प्रदाय विश्वविजयी धर्म में परिणत हो गया[३१]। किन्तु इसके विपरीत यह स्मरणीय है कि स्थविरवादियों की उपर्युक्त परम्परा के अनुसार मौद्गली पुत्र तिष्य ने ही प्रत्यन्त जनपदों में धर्म प्रचार के लिए भिक्षुओं को भेजा। कश्मीर-गन्धार के लिए मज्झन्तिक भेजे गये, महिषमण्डल के लिए महादेव, वनवासी के लिए रक्खित, अपरान्त के लिए योनक धम्मरक्खित, महारट्ठ के लिए महाधम्मरक्खित, यवनों में महारक्खित, हिमवत्प्रदेश में मज्झिम, काश्यपगोत्र, मूलदेव, सहदेव और दुन्दभिस्वर, सुवण्णभूमि में सोण और उत्तर, ताम्रपर्णी को महेन्द्र, 'इट्ठिय', 'उत्तिय', सम्बल और भद्रशाल। अभिलेखों से स्थविरवादियों के द्वारा धर्म प्रचार के इस प्रयत्न का आंशिक समर्थन उपलब्ध होता है[३२]।

प्रत्यन्त जनपदो में प्रसार—महावंस के अनुसार उपालि के शिष्य दासक थे, दासक के सोणक, सोणक के सिग्गव और चण्डवज्जि, सिग्गव के मोग्गलिपुत्र तिस्स। यह आचार्य-परम्परा सर्वास्तिवादी परम्परा से भिन्न है जिसके अनुसार आनन्द के शिष्य शाणवास थे, शाणवास के उपगुप्त। थेरवादी परम्परा वैशाली, राजगृह और पाटलिपुत्र की है, सर्वास्तिवादी परम्परा मथुरा की। मोग्गलिपुत्त की प्रेरणा से अशोक के शासन के छठें वर्ष में उसके लड़के महेन्द्र और लड़की संघमित्रा ने प्रव्रज्या ली। महेन्द्र बीस वर्ष के थे, संघमित्रा अठारह की। तृतीय संगीति के पश्चात् मोग्गलिपुत्त ने महेन्द्र को इट्ठिय, उत्तिय सम्बल और भद्रसाल के साथ धर्म प्रचार के लिए लंका भेजा। उस समय महेन्द्र को प्रव्रजित हुए बारह वर्ष हुए थे। महेन्द्र की माता विदिशा में रहती थी और विदिशा के ही मार्ग से वे लंका में मिश्रक पर्वत (मिहिन्तले) पहुँचे जहाँ देवानाम्प्रिय तिष्य शासन करते थे। पीछे संघमित्रा ताम्रलिप्ति से नाव पर चढ़कर जम्बूकोल पहुँची। सिंहल में भिक्षु और भिक्षुणी-संघ की स्थापना कर महेन्द्र और संघमित्रा ने तिष्य के उत्तराधिकारी उत्तिय के शासनकाल में निर्वाण प्राप्त

३१–तु०—वी० स्मिथ, पूर्व० पृ० १९७–९९।

३२–सोनारी और सांची के स्तूपों से प्राप्त अभिलेखों में हैमवत दुन्दुभिस्वर, सत्पुरुष मध्यम (मज्झिम), एवं 'सर्वहेमवताचार्य काश्यपगोत्र' के नाम उपलब्ध होते हैं। यह भी उल्लेखनीय है कि नागार्जुनिकोण्ड के एक परवर्ती अभिलेख में ताम्रपर्णी के स्थविर आचार्यों को कश्मीर-गन्धार-चीन-चिलात-तोसलि-अवरंत-वंग-वनवासि-यवन-द्रविड-पलुर के प्रसादक कहा गया है। (दे०—नीचे)।

किया[३३]। यह उल्लेख्य है कि फाश्येन नें सिंहल में सद्धर्म का प्रवेश बुद्ध भगवान् के द्वारा बताया है[३४]। श्वान्-च्वांग ने अशोक के अनुज महेन्द्र को सिंहल में बौद्ध धर्म का प्रथम प्रचारक बताया है[३५]। यह स्मरणीय है कि फाश्येन भी अशोक के अनुज का उल्लेख करता है, जिसे वह अर्हत् बताता है।[३६]। किन्तु इन अनुश्रुतियों को सिंहली परम्परा से अधिक महत्त्व नहीं दिया जा सकता[३७]।

सुवर्ण भूमि और दक्षिणापथ—'सुवर्णभूमि' का अर्थ स्पष्ट नहीं है। वर्मा में सुवर्णभूमि का रामञ्ञदेश (बर्मा) से तादात्म्य स्वीकार किया गया है, किन्तु यह सन्दिग्ध है[३८]। सुवर्णभूमि का सम्बन्ध 'सुवर्णगिरि' से स्थापित किया जाना चाहिए। सुवर्णगिरि अशोक की प्रादेशिक राजधानी थी और कदाचित् उसकी स्थिति दक्षिण में मास्की के निकट थी[३९]। वहाँ की स्वर्ण गर्भा भूमि ही कदाचित् 'सुवर्णभूमि' थी जहाँ सोण और उत्तर को धर्मप्रचार के लिए भेजा गया। दूसरी ओर यह भी स्मरणीय है कि सुवर्णभूमि का भारत के अन्दर अन्यत्र उल्लेख सुलभ नहीं है। अर्थशास्त्र एवं मिलिन्द-पञ्हो में कदाचित् विदेश उद्दिष्ट है। यह सम्भव है कि 'अलडोरेडो' के समान सुवर्ण भूमि भी भारत के बाहर दक्षिणपूर्व के किसी भाग का नाम रहा हो। किन्तु इतना निश्चित है कि बर्मा में सद्धर्म की निश्चित सत्ता अशोक के समय से अनेक शताव्दी परवर्ती है। प्रोम के निकट ई० तीसरी से छठी शताब्दी के मध्य के पालि अभिलेख प्राप्त हुए हैं जो उस समय वहाँ हीनयान का प्रचार सूचित करते हैं[४०]। कदाचित् ई०

३३—महावंस, पृ० ८४ प्र०।

३४—फाश्येन (अनु० लेग) पृ० १०२।

३५—श्वान्च्वांग (अनु० बील, प्र० सुशील गुप्त) जि० ४, पृ० ४४२।

३६—फाश्येन (अनु० लेग), पृ० ७७।

३७—तु०—स्मिथ, अर्ली हिस्टरी ऑव् इण्डिया, पृ० १९६–९७।

३८—तु०—इलियट, हिन्दुइज्म एण्ड बुद्धिज्म, जि० ३, पृ० ५०, तारानाथ के अनुसार भी अशोक के समय से कोकिदेश में धर्म का प्रचार हुआ। कोकिदेश कदाचित् बर्मा था। द्र०—तारानाथ (अनु० शीफनर) अध्याय ३९।

३९—तु०—स्मिथ, वहीं, पृ० १७२, फ्लीट ने सुवर्णगिरि का तादात्म्य राजगृह के निकट सोनगीर से स्थापित किया है—जे० आर० ए० एस०, १९०९, पृ० ९८१–१०१६, दत्त के अनुसार सुवर्णभूमि कदाचित् मगध के पास रही होगी, पूर्व, जि० २, २७१।

४०—द्र०—जे० ए० १९१२, पृ० १३१–३६।

तीसरी शताब्दी में दक्षिण भारत अथवा सिंहल से सद्धर्म दक्षिणी बर्मा पहुँचा। दूसरी ओर उत्तरी बर्मा में सद्धर्म कदाचित् समतट से पहुँचा था।[४१]

बौद्धधर्म का महिषमण्डल, वनवासी, महाराष्ट्र और अपरान्त में अशोक कालीन प्रचार और प्रसार अनायास विश्वास्य है। महिषमण्डल अथवा महिषराष्ट्र से मही-शासकों को सम्बद्ध किया गया है, किन्तु यह सम्भाव्यमात्र है। यह अवधेय है कि अपरान्त में प्रचार का कार्य एक यवन (योनक) को दिया गया है जो कि सुराष्ट्र में अशोक के प्रान्तपति यवनराज तुषाप्प का स्मरण दिलाता है। यह भी विचारणीय है कि संघ के द्वारा इस धर्मप्रचार के प्रसंग में दक्षिणपूर्वी भारत का उल्लेख प्राप्त नहीं होता। नन्दराज के समय में कलिंग में जैनशासन विदित था। कलिंग विजय के अनन्तर अशोक ने वहाँ 'धम्म' के अनुकूल व्यवस्था की थी।

उत्तरापथ—पालि परम्परा में हिमवत्प्रदेश, कश्मीर, गन्धार, एवं यवनराष्ट्र में धर्मप्रचार का श्रेय मौद्गलीपुत्र के भेजे हुए काश्यपगोत्र, दुन्दुभिस्वर, मध्यान्तिक, एवं महारक्षित को दिया हुआ है। हैमवतों के आचार्य काश्यपगोत्र, दुन्दुभिस्वर एवं मध्यान्तिक की ऐतिहासिकता ऊपर सूचित की जा चुकी है। हिमवत्प्रदेश में काश्यपीय अथवा हैमवत सम्प्रदायों का प्रचार यहीं से मानना चाहिए।[४२] समन्तपासादिका में कहा गया है कि कश्मीर में एक नाग का आधिपत्य था। मध्यान्तिक ने उसे प्रसादित कर सद्धर्म का प्रचार किया तथा सबसे पहले आशीविषोपम सुत्तन्त का उपदेश किया।[४३] कश्मीर और गन्धार परवर्तीकाल मे सर्वास्तिवादियों के केन्द्र थे। उत्तरापथ में सद्धर्म को प्रसारित करने का कुछ श्रेय मथुरा के सर्वास्तिवादियों को देना चाहिए जिन्हें उत्तरकाल में 'मूलसर्वास्तिवादी' कहा गया है।[४४] इनके विनय में न केवल मध्यान्तिक के द्वारा कश्मीर में धर्म प्रचार का उल्लेख है, अपितु बुद्ध भगवान् को उड्डियान एवं गन्धार तक गया हुआ कल्पित किया गया है। चीनी यात्रियों के विवरण से ज्ञात होता है कि उत्तरापथ में प्रचलित अनुश्रुतियों ने नाना स्थानों को बुद्ध भगवान् के जीवन और शरीर से सम्बद्ध किया था और वहाँ श्रद्धालु उपासकों ने स्तूप, चैत्य आदि का निर्माण किया था। बुद्ध भगवान् के सर्वथा अपरिचित इन प्रदेशों में श्रद्धानुगामिनी कल्पना

४१—इलियट, पूर्व० जि० ३, पृ० ५३।
४२—दे० नीचे।
४३—तु०—बील, श्वानच्वांग जि० २, पृ० १८९।
४४—इसके विरोध में द्र०—फ्राउवालनर, पूर्व पृ० २४–४०।

का यह महत्त्व भी अधिकतर सर्वास्तिवादियों की तथा कुछ अंश तक लोकोत्तरवादी महासांघिक आदि की देन है।[४५] उत्तरापथ में सद्धर्म का प्रसार वैदेशिक राजकुलों का भी ऋणी था।[४६]

अशोक ने जम्बूदीप के बाहर सुदूर पश्चिम तक 'धम्म' के दूत भेजे जिनके द्वार से भारतीय आध्यात्मिक संस्कृति विशेषतया सद्धर्म का कुछ न कुछ परिचय अवश्य ही उन देशों तक पहुँचा होगा। यह सम्भव है कि निवृत्ति, तप, अहिंसा, मैत्री, निर्माण-काय आदि के सिद्धान्तों ने ईसाई धर्म के अभ्युदय और विकास में सहायता पहुँचायी हो[४७]।

बौद्ध कला का विकास; कला का उद्गम और बौद्ध धर्म—सिन्धु-सभ्यता में शिल्प और वास्तु धार्मिक जीवन के अंग और सहायक के रूप में उपलब्ध होते हैं। सैन्धव शिल्प में परवर्ती भारतीय कला के कुछ विशिष्ट लक्षण देखे जा सकते हैं—मानव रूप की आदर्शपरक अभिव्यक्ति, पशुओं का स्वाभाविक निरूपण।[४८] मानव रूप आध्यात्मिक शक्ति अथवा चेतना को प्रतिबिम्बित करने की योग्यता से ही देवता को 'मूर्ति' प्रदान करता है। प्रतिमार्थ उपयुक्त नररूप के लिए आवश्यक है कि उसमें दैहिकता के स्थान पर प्राणिक स्फूर्ति का प्राधान्य हो तथा वह 'वैयक्तिक' न होकर साधारणीकृत अथवा आदर्शीकृत हो। दूसरी ओर, पशु प्रकृति के अंग हैं, सजीव होते हुए भी उनमें कर्मशक्ति का अभाव है। यदि सैन्धव सभ्यता 'योगविद्या एवं संसारवाद' से परिचित थी, जैसा कि सम्भाव्य है, तो उसकी कला में नर और पशु का निरूपण-भेद सुबोध हो जाता है

४५—श्वानच्वांग ने लोकोत्तरवादियों को बामियान में देखा था, बील, जि० १, पृ० ११४, उड्डियान में उसने सर्वास्तिवादी, धर्मगुप्त, महीशासक, काश्यपीय एवं महासांघिकों का उल्लेख किया है, वहीं, जि० २, पृ० १६७।

४६—दे०—नीचे।

४७—द्र०—राय चौधरी, पुलीटिकल हिस्टरी ऑव् एन्श्येन्ट इण्डिया पृ० ६१४-१७; इलियट हिन्दूइज्म एण्ड बुद्धिज्म, जि० ३, पृ० ४२९, प्र०, विन्टरनित्स, पूर्व, पृ० ४०२ प्र०; स्मिथ, पूर्व पृ० १९७। सामान्यतः तु०—एडमंड्स, बुधिस्ट एण्ड क्रिश्चियन गौस्पेल्स (४र्थ संस्करण, सं० आनेसाकि, १९०८-९); गार्बे, इन्दी न उन्द दास क्रिस्तेन्तुम।

४८—द्र०—नर्तकी की ताम्रमूर्ति, मुद्रांकित पशुपति; मुद्रांकित वृषभ; द्र०—ह्वीलर, पूर्व० चित्रफलक, १७, २३।

और परवर्ती भारतीय धर्म और लिपि के समान कला की परम्परा का भी मूल उद्गम सिन्धु सभ्यता में ही मानना चाहिए।[४९]

वैदिक काल में यह परम्परा विच्छिन्न-सी प्रतीत होती है। सैन्धव नागरिकता वैदिक आर्यों की ग्रामीणता में विलुप्त हो गयी। ईटों के स्थान पर लकड़ी के उपयोग से वास्तुकला अपने उपादान के समान पुरातत्त्वविदों के लिए भी निश्शेषभंगुर हो गयी। पुरुषविध, नररूप देवताओं का स्थान 'प्रत्यक्ष-तनु' देवताओं ने ले लिया जो काव्य की प्रेरणा होते हुए भी कला के लिए अमूर्त थे।[५०]

सूर्य, अग्नि, वायु अथवा सोम के यजन के लिए उनकी प्रतिमाएँ अनावश्यक थीं। यह अद्भुत है कि जहाँ सिन्धु सभ्यता का अपने देवताओं के समान केवल नामहीन अवाक्‌रूप शेष मिलता है, वैदिक सभ्यता का अभौतिक वाङ्मय रूप ही उपलब्ध होता है। वैदिक देवता भी शब्दात्मक थे न! अस्तु, उत्तर वैदिक काल से यह परिस्थिति क्रमशः परिवर्तित हुई तथा अनेक कारणों के समवेत प्रभाव से अशोक के युग में कला का पुनर्जन्म हुआ। इन कारणों को त्रिविध कहा जा सकता है—कला के पोषक सामाजिक वर्ग का उदय, कारीगरी का विकास, एवं धार्मिक प्रेरणा का प्रभाव। ई० पू० छठी शताब्दी से नगर-जीवन, धनिकवर्ग, तथा राजदरबारों के अभ्युदय के साथ वास्तुकला तथा विविध शिल्पों का पुनरुज्जीवन स्वाभाविक था। कुछ शताब्दियों तक इस वास्तु के विषय धनिकों के हर्म्य तथा राजप्रासाद ही थे और इसका अधिकांश दारुमय होने के कारण अतीव भंगुर था। चन्द्रगुप्त मौर्य का पाटलिपुत्र का प्रासाद इसके एक उत्कृष्ट उदाहरण के रूप में स्मरणीय है।[५१] हाथीदाँत, काष्ठ आदि के शिल्पों ने इस युग में पर्याप्त प्रगति की। प्रचलित धर्म में यक्षों की प्रतिमाओं का भी उपयोग होता था।[५२] श्रेणियों के विकास ने शिल्पियों को संगठन, शिक्षा एवं परम्परा प्रदान की

४९–तु०—रोलन्ड, आर्ट एण्ड आर्किटेक्चर, ऑव् इण्डिया, पृ० ४८।

५०–तु०—'प्रत्यक्षाभिस्तनुभिरवतु वस्ताभिरष्टाभिरीशः' (शाकुन्तल)।

५१–द्र०—मैक्रिन्डल, एन्शेन्ट इण्डिया एज डिस्क्राइब्ड मेगास्थनीज एण्ड एरियन, पृ० ६५–६८ तु०—स्पूनर, ए० एस० आइ० ए० आर० १९१२–१३; वेडल, रिपोर्ट ऑव् एक्सकवेशन्स एट पाटलिपुत्र (१९०३); तु०—फाश्येन (अनु० जाइल्स), पृ० ४५।

५२–उदा०—पारखम और पटना की प्रसिद्ध, किन्तु विवादग्रस्त मूर्तियाँ, दीदारगंज की यक्षी।

जिसके सहारे कला में निपुणता का विकास सम्भव हुआ। अपने समर्थक धनिकों और शासकों के अनुग्रह से बौद्ध विहारों की समृद्धि बढ़ी तथा कालान्तर में वे स्वयं कला के पोषक बन गये और कला धर्मप्रचार का माध्यम।

कला और धर्म का यह समन्वय एक विशाल आध्यात्मिक क्रान्ति का द्योतक था। संक्षेप में इस क्रान्ति का अर्थ था मनुष्य और देवता का समुपसर्पण। प्राचीन वैदिक धारणा में मर्त्य और अमर्त्य का विभेद आत्यन्तिक था। कर्मवाद ने इस भेद को जर्जरित कर दिया। कर्म के बल से मनुष्य देवलोक में जन्म ग्रहण करते हैं, कर्म क्षीण होने पर देवता मनुष्यलोक में गिर पड़ते हैं। ऐसी स्थिति में पुराने देवता अपार्थक हो गये तथा उनका स्थान एक ओर परम देवता अथवा ईश्वर ने ले लिया, दूसरी ओर 'कपिल', बुद्ध, महावीर आदि ईश्वरोपम सिद्ध गुरुओं ने। ईश्वर के अनुग्रह से कर्म का बन्धन शिथिल हो जाता है तथा ईश्वर स्वयं मनुष्य रूप में अवतार ग्रहण करते हैं। सिद्धगण कर्म से मुक्ति का पथ प्रदर्शित करते हैं तथा वे स्वयं मनुष्य होते हुए भी संसार से उत्तीर्ण हैं। संसार में अवतीर्ण ईश्वर एवं संसार से उत्तीर्ण सिद्ध पुरुष, दोनों में ही लोक एवं लोकोत्तर का समन्वय दृष्ट होता है। अवतार एवं महापुरुष का तात्त्विक भेद ज्ञानियों का गोचर है, साधारण श्रद्धालु एवं मुमुक्षु के लिए दोनों ही पारमार्थिक आदर्श के प्रत्यक्ष रूप तथा भक्ति के विषय हैं। धर्म की इस जनसुलभ एवं भक्तिप्रधान धारा के विकास में कला ने सुयोग प्रदान किया।

बौद्ध कला के विषय—बौद्ध कला के प्राचीनतम विषय विहार एवं स्तूप थे। विनय मे पाँच प्रकार के 'लयनों' अथवा शयनासनों का उल्लेख प्राप्त होता है जिन्हें विहार, अर्धयोग प्रासाद हर्म्य एवं गुहा कहा गया है[५३]। इनमें चतुर्विध गुहाका परवर्ती कला के दृष्टिकोण से विशेष महत्त्व सिद्ध हुआ। वस्तुतः विहार भिक्षुओं के संवास थे; प्राकृतिक गुहावास का प्रयोजन एकान्तचर्या थी। कृत्रिम गुहात्मक विहारों ने कालान्तर में आवासिकता तथा एकान्तचर्या का विचित्र समाधान प्रस्तुत किया। प्रारम्भ में यह स्वाभाविक था कि पहाड़ी काट कर गुहा निर्माण करने में आदर्श के रूप में पूर्वोपस्थित दारुनिर्मित विहार की रचना का अनुकरण किया जाय। इस प्रक्रिया में क्रमशः प्रस्तर-कला का विकास भी उतना ही स्वाभाविक था। स्तूप परिनिर्वृत तथागत का प्रतीक था, अतएव स्तूप अथवा चैत्य की पूजा के प्रचलित होने पर कालान्तर में चैत्यगृहों का निर्माण हुआ। सामान्यतः सभी प्राचीन विहार एवं चैत्यगृह जो गुहा व्यतिरिक्त या अनुत्खनित थे, धराशायी हो चुके हैं।

५३–विनय ना०, चुल्लवग्ग, पृ० २३९।

बौद्ध परम्परा के अनुसार परिनिर्वाण के समनन्तर ही तथागत की चिताशेष शरीर धातु का अष्टधा विभाजन हुआ तथा प्रत्येक पर पृथक्-पृथक् स्तूप की रचना हुई। यह सन्दिग्ध है[५४] किन्तु मृत देह अथवा उसके कुछ अंश के सोपचार निखनन की प्रथा अत्यन्त प्राचीन है। भारतीय प्रागितिहास तथा वैदिक साहित्य से इसके अनेक भेद ज्ञात होते हैं[५५]। मृतक को गाड़कर उस स्थान को चिह्नित करने के लिए मृत्तिका, इष्टका अथवा प्रस्तर का विविध उपयोग अनेकत्र पाया जाता है। स्तूप का अण्डाकार स्वाभाविक मृत्तिकासंचय के आकार से निःसृत प्रतीत होता है[५६]। हर्मिका एवं छत्र कदाचित् मृद्-चय के ऊपर गाड़े हुए पत्थर का परिष्कार है। वेदिका की उत्पत्ति स्पष्ट ही स्तूप की रक्षा के लिए बनाये हुए बाड़े के विकास से है। सम्भवतः राजाओं या चक्रवर्तियों के लिए स्मारक प्रधान स्तूपों का निर्माण किया जाता था[५७]। तथागत को धर्मराज, धार्मिक चक्रवर्ती मान लेने पर उनके लिए भी वैसे ही स्तूपों की कल्पना एवं रचना स्वाभाविक थी। स्तूपों के आकार का वर्धन, उनकी चिरस्थिति के लिए प्रस्तर का उपयोग तथा उनके अलंकरण के लिए कलात्मक परिष्कार का आधान, विकास के क्रम में स्वभावतः सिद्ध होते हैं।

मौर्यकाल—बौद्ध कला के ऐसे उदाहरण, जो निश्चयपूर्वक अशोक से प्राचीन

५४—महापरिनिब्बानसुत्तन्त के अनुसार कुसीनारा के मल्ल, मागध अजातशत्रु, वैसाली के लिच्छवि, कपिलवत्थु के सक्य, अल्लकप्प के बुलि, रामगाम के कोलिय, वेठदीपक ब्राह्मण, तथा पावा के मल्लों में 'शरीरशेष' का विभाजन हुआ था।

५५—ऋक् संहिता, ७.८९.१, मैकडॉनल, वैदिक माइथॉलजी, पृ० १६५।

५६—तु०—स्तूप का अक्षरार्थ-निचय, द्र०—पालि टेक्स्ट सोसायटी का पालिकोश। तु०—शिल्पशास्त्र में, स्तूपिका-शिखराग्र; । फर्ग्युसन स्तूप के अण्डाकार से यह अनुमान करते हैं कि उसका मूल मृत्तिका-संचय न रहा होगा, द्र०—हिस्टरी ऑव इण्डियन एण्ड ईस्टर्न आर्किटेक्चर, जि० १, पृ० ६५–६६, शतपथ में प्राच्यों के 'परिमण्डल' श्मशान का उल्लेख है।

५७—द्र०—महापरिनिब्बानसुत्तन्त—"चक्कवत्तिस्स सरीरं झापेन्ति, चातुम्महापथे रञ्ञो चक्कवत्तिस्स थूपं करोन्ति।" पश्चिमी एशिया और मिश्र में राजाओं के मकबरों का प्रायः धूमधाम से निर्माण किया जाता था, तु०—रोलन्ड, पूर्व० पृ० ६१, नोट ४।

कहे जा सकें, उपलब्ध नहीं हैं ।[५८] यह भी सत्य है कि मौर्य-शुंग काल का बौद्ध प्रस्तर-शिल्प काष्ठ-शिल्प का अनुकरण करता है, तथा मौर्यों के पहले की किसी प्रस्तर-कला का निश्चित अवशेष भी प्राप्त नहीं होता ।[५९] इन तथ्यों के आधार पर यह कहा गया है कि अशोककालीन प्रस्तरकला को मौर्य साम्राज्य के पश्चिमी सम्पर्क का परिणाम मानना चाहिए ।[६०] शाखामनीषी साम्राज्य के प्रचुर विस्तार ने नाना पश्चिमी सभ्यताओं के 'सन्द्रवण' की प्रक्रिया को अग्रसर किया । मिश्र, असीरिया और यूनान की कलाओं के सम्मिश्रण से उत्पन्न शाखामनीषी ईरानी कला इन विभिन्न सभ्यताओं के असमञ्जस मेल को प्रतिबिम्बित करती हैं ।[६१] पर्सीपोलिस का प्रसिद्ध स्तम्भ अपने आकार से इस संस्कृति संगम का प्रतीक माना जा सकता है । अशोक के स्तम्भों को इस प्रकार के स्तम्भ से निःसृत अथवा यवन शिल्पियों के द्वारा निर्मित बताया गया है । गुहाविहारों का मूल भी असीरिया एवं ईरान में खोजा गया है । यह भी कहा गया है कि अशोक धर्मलिपि प्रकाशित करने के अभिप्राय में भी ईरानी सम्राटों के अभिलेखों से प्रेरित हुए । लेखनकला और लिपि भी पश्चिमी एशिया से सीखी गयी । मौर्य प्रशासन तक पश्चिम का ऋणी बताया गया है । वस्तुतः मौर्य साम्राज्य एवं कला पर समकालीन प्रभाव को सम्भाव्य मानते हुए भी मौर्य संस्कृति की मौलिकता एवं भारतीयता को अस्वीकार नहीं किया जा सकता । कतिपय अनिश्चित शैल्पिक तत्त्व विदेश से संगृहीत होने पर भी यह निर्विवाद है कि अशोककालीन कला की मुख्य प्रेरणा बौद्ध धर्म के विकास से ही प्राप्त थी ।

बौद्ध परम्परा के अनुसार अशोक ने ८४,००० स्तूप तथा बहुसंख्यक विहारों

५८—पिप्राव स्तूप को शाक्यनिर्मित कहा गया है किन्तु वहाँ से लब्ध पात्र के अभिलेख को निर्विवाद रूप से पढ़ना सम्भव नहीं है ।

५९—हाल में कौशाम्बी के उत्खनन में श्री जी० आर० शर्मा द्वारा प्राप्त नवीन सामग्री से इस पुरानी धारणा को आघात पहुँचता है ।

६०—उदा० द्र०——रोलन्ड, पूर्वं० पृ० ४४–४५, मार्शल, सी० एच० आइ० जि० १, फोगल, बुधिस्ट आर्ट इन इण्डिया सीलोन एण्ड जावा, पृ० ११, फर्ग्युसन, पूर्वं० जि० १, पृ० ५९, स्मिथ, ए हिस्टरी आव फाइन आर्ट इन इण्डिया एण्ड सीलोन, पृ० २०, ५९–६२ ।

६१—द्र०——गर्शमान, ईरान, पृ० १६५–६६, फ्रैन्कफोर्ट, दि आर्ट एण्ड आर्किटेक्टर ऑव् दि एन्शेन्ट ओरियन्ट, पृ० २१५–३३ ।

का निर्माण कराया। चीनी यात्रियों ने भारत में नाना स्थानों पर स्तूप एवं विहार देखे जो उन्हें अशोक-निर्मापित बताये गये। दुर्भाग्यवश इनमें से कोई भी इस समय कम से कम अपने मूल रूप में निश्चयपूर्वक शेष नहीं कहा जा सकता। खलतिक-पर्वत में अशोकदत्त एक गुहा का पता चलता है। किन्तु यह दान आजीविकों को दिया गया था। इस गुहा की दीवारों पर चमकीला पालिश विस्मयास्पद है। अशोक के स्तम्भों में भी यही चिकनाई और चमक मिलती है। ये स्तम्भ वृत्ताकार हैं तथा पृथ्वी से बिना किसी आधार अथवा पीठिका के उद्गत होकर ऊपर की ओर कुछ तनु हो जाते हैं। स्तम्भाग्र के सामान्यतया तीन भाग हैं—मूल अधोमुख कमल के आकार का है, मध्य में आतत वर्तुल पट्टिका पर धर्मचक्र, हंस-श्रेणी, अश्व, वृषभ आदि निरूपित हैं, शिरोभाग में सिंह, अथवा गज अथवा वृषभ आदि की मूर्ति निर्मित है। उदाहरण के लिए सारनाथ के सिंहाग्र स्तम्भ के शीर्षभाग की मध्यपट्टिका पर चार धर्मचक्र और उनके अन्तराल में गज, वृषभ, अश्व और सिंह तक्षित हैं तथा सर्वोपरि किसी समय चार सिंहों पर धर्मचक्र प्रतिष्ठित था। इस स्तम्भ में धर्मचक्र-प्रवर्तन का संकेत देखना कठिन नहीं है।[६२] सिंह और गज शाक्यमुनि के प्रतीक हैं, हंस-श्रेणी विनेयजन का इंगित करती है। पद्म न केवल प्रसिद्ध अलंकरण है अपितु उसकी आध्यात्मिक व्यञ्जकता भी गंभीर एवं विविध है। अश्व, आदि को दिशा वाचक भी माना जा सकता है।[६३] अशोक के स्तम्भों में पशुओं का तक्षण निर्दोष रमणीय है। कदाचित् ही कला के किसी युग में इससे चारुतर निरूपण मिले।

शुंगकाल—यह कहा गया है कि मौर्यराज बृहद्रथ को मार कर स्वयं सम्राट् बनने में उसके ब्राह्मण सेनापति पुष्यमित्र शुंग ने मौर्यों की बौद्ध धर्म के अनुकूल नीति से असन्तुष्ट ब्राह्मणों का नेतृत्व किया।[६४] इस कल्पना को प्रमाणित करना कठिन है, किन्तु यह निस्सन्देह प्रतीत होता है कि पुष्यमित्र ब्राह्मणों के अनुकूल तथा बौद्धों के प्रतिकूल था। धनदेव के अयोध्या-अभिलेख में पुष्यमित्र को दो बार अश्वमेध का यजन करने वाला बताया गया है।[६५] **मालविकाग्निमित्र** से पुष्यमित्र का अश्वमेध-

६२—तु०—रोलन्ड, वही, पृ० ४५–४६।
६३—फ्रोगेल, पूर्व०, पृ० ११, रोलन्ड, पूर्व०, पृ० ४९।
६४—तु०—एन० एन० घोष, डिड पुष्यमित्र शुंग पर्सीक्यूट दि बुद्धिस्ट्स, पी० आइ० एच० सी० १९४३।
६५—एपिग्राफिया इण्डिका, जि० २०।

यजन समर्थित होता है। दूसरी ओर **दिव्यावदान** एवं तारानाथ ने पुष्यमित्र को बौद्ध विरोधी बताया है।[६६] कहा गया है कि पुष्यमित्र ने सद्धर्मके विनाश का निश्चय किया। उसने पाटलिपुत्र में कुक्कुटाराम विहार को नष्ट करना चाहा, किन्तु द्वार पर सिंहनाद से भयभीत हो गया। तथापि स्तूपों और विहारों का नाश तथा भिक्षुओं का वध करते हुए वह सेना के साथ शाकल तक गया।[६७] यहाँ उसने यह घोषणा की कि प्रत्येक श्रमण के मस्तक के लिए वह १०० दीनार देगा। पुष्यमित्र को यक्ष कृमिश से पराजित बताया गया है। जो कदाचित् यवनों की ओर संकेत हो।[६८] ये बौद्ध अनुश्रुतियाँ इस रूप से भले ही अविश्वास्य हों, उन्हें सर्वथा निराधार नहीं कहा जा सकता।

शुंगों की प्रतिकूलता से सद्धर्म उच्छिन्न नहीं हुआ, इसका एक प्रमाण भारहुत और साँची के स्तूप हैं।[६९] प्रारम्भिक स्तूप अण्डाकार तथा इष्टका-खचित होते थे। अण्ड के अग्रभाग में हर्मिका और छत्र तथा मूलभाग में एक प्रदक्षिणापथ होता था। चारों ओर रक्षा के लिए वेदिका बना दी जाती थी जिसमें द्वार या तोरण होते थे। क्रमशः स्तूपों का आकार बढ़ता और ऊँचा होता गया तथा वेदिका और तोरण उभारे हुए उत्कीर्ण चित्रों से अलंकृत किये गये, जिनके विषय जातक अथवा बुद्ध की जीवनी से लिये गये हैं। भारहुत नागौद में है, किन्तु वहाँ का स्तूप सर्वथा उन्मूलित हो चुका है। उसकी वेदिका एवं तोरण अलंकृत थे एवं इनके शेष मुख्यतया इण्डियन म्यूजियम, कलकत्ता तथा प्रयाग संग्रहालय में संरक्षित हैं। पूर्वी तोरण पर एक अभिलेख के अनुसार, "सुगनं रजे रञो गागीपुतस विसदेवस पौतेण गौतिपुतस आगरजुस पूतेण वाछिपुतेन धनभूतिन कारितं तोरनां सिलाकंमंतोच उपंण।[७०]" शुंगों के राज्य में राजा गार्गीपुत्र विश्वदेव के पौत्र एवं गौप्तीपुत्र के पुत्र धनभूति ने तोरण का निर्माण कराया। वेदिका में प्राप्त एक अन्य अभिलेख धनभूति के पुत्र वधपाल का भी

६६–दिव्यावदान (सं० वैद्य) पृ० २८२, तारानाथ (अनु० शीफनर), पृ० ८१।

६७–तारानाथ के अनुसार मध्यदेश से जलन्धर तक, वहीं।

६८–तु०—बागची, आई० एच० क्यू०, जि० २२।

६९–द्र०—कनिंघम, स्तूप ऑव भारहुत (१८७९), बडुआ और सिन्हा, भारहुत इन्सक्रिप्शन्स (१९२६), बडुआ, भारहुत (१९३४), मार्शल एण्ड फूशे, दि मॉनुमेन्ट्स ऑव साँची, ३ जि० (१९४०)।

७०–डी० सी० सरकार, सेलेक्ट इन्सक्रिप्शन्स।

प्राप्त होता है।[७१] भारहुत के शिल्प में प्रस्तर-तक्षण काष्ठ-तक्षण के निकट है और आकृतियों का उकेरना इतना निपुण नहीं है कि उनकी औपादानिक-जड़ता जीवन्त भावभंगिमा में सर्वथा विलीन हो जाय। तथापि यह पहला अवसर था कि बुद्ध और बोधिसत्त्व के चरित साधारण जनता के सम्मुख चित्रों की सर्वसुगम भाषा में प्रत्यक्ष हो उठते। कथानिरूपण में अनेक घटनाओं को समान फलक में प्रदर्शित करने की विधि अपनायी गयी है। दिग्विभाग के यथादृश्य निरूपण के स्थान पर एक प्रकार के 'समय' का अवलम्बन किया गया है जिसमें पृष्ठ-स्थित वस्तु ऊपर स्थित दिखायी जाती है।[७२] बुद्ध भगवान् की रूप-काय का चित्रण न कर उसके स्थान पर विविध प्रतीकों का प्रयोग किया गया है। उदाहरण के लिए, बोधिवृक्ष एवं स्तूप क्रमशः सम्बोधि तथा निर्वाण को सूचित करते हैं। बुद्ध भगवान् ने अपने को मनुष्य, देवता, यक्ष, आदि सबसे विलक्षण 'बुद्धमात्र' बताया था।[७३] उनका दर्शन भौतिक देह के सहारे न होकर धर्म के दर्शन से ही हो सकता है। धर्म ही बुद्ध की वास्तविक काय है।[७४] परिनिर्वाण के अनन्तर रूपकाय नष्ट ही हो गयी एवं बुद्ध की स्थिति अनिर्वाच्य तथा अपरिभाष्य हो गयी। कदाचित् रूपकाय की अनुपयोगिता तथा धर्ममय वास्तविक बुद्ध की अप्रत्यक्षता के कारण भारहुत एवं अन्यत्र उनका दैहिक चित्रण न कर प्रतीकों का सहारा लिया गया है।

साँची प्राचीन विदिशा के निकट है जिसका अशोक के जीवन से गहरा सम्बन्ध प्रसिद्ध है। यहाँ अनेक स्तूपों के अवशेष प्राप्त होते हैं। स्तूप (संख्या, २) का शैल्पिक अलंकरण भारहुत के सदृश है और कदाचित् समकालीन रहा होगा। इस स्तूप में से तृतीय संगीति से सम्बद्ध अनेक प्रचारकों के नाम उपलब्ध हुए हैं। साँची के स्तूप (संख्या १) का प्रारम्भ कदाचित् अशोककालीन रहा हो, किन्तु उसे पीछे विवर्धित तथा प्रस्तर-मण्डित किया गया। इसकी वेदिका अनलंकृत है, किन्तु तोरण प्राचीन शिल्प की उत्कृष्ट कृतियों में परिगणनीय हैं। इन तोरणों का निर्माण अपेक्षया परवर्ती है। दक्षिण तोरण में राजा श्री शातकर्णि के कारीगरों के अध्यक्ष वासिष्ठीपुत्र आनन्द का नाम अभिलिखित मिलता है, जिससे इसके समय का कुछ

७१–जे० आर० ए० एस०, १९१८, पृ० १३८।

७२–इसे 'वर्टिकल पर्सपेक्टिव' कहा गया है।

७३–अंगुत्तर (रो०), जि० २, पृ० ३८–३९।

७४–संयुत्त (रो०) जि० ३, पृ० १२०।

अनुमान किया जा सकता है।[75] इस तोरण का निर्माण विदिशा की एक दन्तकार-श्रेणी ने किया था। अन्य तीन तोरण इसके अनतिचिर ही के स्थापित किये गये थे क्योंकि अयचूड के शिष्य बलमित्र का नाम दक्षिण एवं पश्चिम, दोनों तोरणों में अभिलिखित है।

सांची के तोरणों में भारहुत की अपेक्षा कला का निश्चित विकास सूचित होता है। 'एकत्र चित्रण', दिग्भेद का अयथार्थ प्रदर्शन, तथागत का प्रतीकात्मक उपस्थापन आदि भारहुत की कला के सामान्य लक्षण साँची में भी घटते हैं, किन्तु यहाँ रूप का उकेरना और गढ़ना अधिक निपुण और परिष्कृत है। दृश्य की उभरी हुई विभिन्न सतहों में सामञ्जस्य है तथा 'नतोन्नति' का प्रौढ़ प्रदर्शन किया गया है। जनसंकुल दृश्यों को नयनगोचर करने की इस शिल्प में अद्भुत क्षमता है। प्राकृत जीवन का विविध और जीवन्त चित्रण होते हुए भी इसमें दृष्टि को अध्यात्म से समञ्जस एक प्रकार की शान्ति अथवा विश्राम की उपलब्धि होती है।[76] प्रकृति के साथ इसमें गहरी समवेदना है जो पौधों और पशुओं के आलेखन में उभर आती है। कुमार-स्वामी ने साँची के दूसरे स्तूप की कला को 'पौधों की शैली' कहा है और रवीन्द्र-नाथ ने साँची की कला में अभिव्यक्त भावना की तुलना कालिदास की कविता से सुझायी है।[77]

भारहुत और साँची के स्तूपों में प्रकट इस मध्यभारतीय कला का उद्गम अशोककालीन मागधी कला में ही मानना चाहिए जिसका कि अधिकांश विलुप्त हो चुका है। यह स्मरणीय है कि भारहुत और साँची कौशाम्बी से विदिशा के मार्ग में पड़ते हैं। यह मध्यभारतीय कला की परम्परा दक्षिणापथ के शिल्प लिए पथ-प्रदर्शक हुई और इसका विकास पीछे अमरावती और अजन्ता में देखा जा सकता है। अमरावती में साँची की शान्ति का स्थान एक प्रकार की जीवन्त स्फूर्ति अथवा भावाकुलता ले लेती है जिसकी अभिव्यक्ति में कला की निपुणता पहले की अपेक्षा अधिक है। अजन्ता की चित्रकला भी इसी मूर्तिविधान की परम्परा का रूपान्तरित परिणाम एवं उत्कर्ष है जहाँ आध्यात्मिक शान्ति एवं शैल्पिक दक्षता, परमार्थ की

७५—ए० एस० आइ० ए० आर० १९१३—१४, पृ० ४, तु०—चन्द, एम० ए० एस० आइ०, १।

७६—उत्कीर्ण-शिल्प की अनुदग्रता इसमें सहायक है, मार्शल एण्ड फूशे, पूर्व०।

७७—प्राचीन साहित्य।

सूचना तथा जीवन की प्रेरणा, दोनों का चरम समन्वय है।[७८] उत्तरापथ में स्तूप ऊँचे होकर बहुभूमिक शिखर से प्रतीत होने लगे तथा उकेरी हुई मूर्तियों का स्थान अधिकाधिक कोरी हुई मूर्तियों ने ले लिया। उत्कीर्ण मूर्तिशिल्प (रिलीफ स्कल्पचर) ने एक ओर चित्रकला को प्रेरणा दी, दूसरी ओर 'अनाश्रित' मूर्तियों के विधान को। किन्तु उत्तरापथ में बौद्ध कला के प्रसार का केन्द्र मथुरा को मानना चाहिए न कि विदिशा को।

सातवाहन-युग—मौर्य साम्राज्य के पतन के अनन्तर दक्षिणापथ में कुछ समय तक सातवाहनों का प्राधान्य था। सातवाहनों को पुराणों मे अन्ध्रभृत्य तथा अन्ध्र-जातीय कहा गया है तथा उनके अनुसार सुशर्मा नाम के अन्तिम काण्व शासक को मार कर सिमुक (—शिशुक, सिन्धुक, आदि) ने सातवाहन वंश को स्थापित किया।[७९] सातवाहनों के उद्‌गम के देश अथवा काल के विषय में प्रचुर विवाद है। ई० पू० प्रथम शताब्दी में सातवाहन अवश्य ही शक्तिशाली थे तथा ई० दूसरी शताब्दी तक घट-बढ़ के साथ उनकी शक्ति बनी रही। शक क्षत्रपों के साथ उनका संघर्ष विशेष रूप से उल्लेखनीय है। सातवाहन नरेश ब्राह्मण एवं ब्राह्मण धर्मावलम्बी थे, किन्तु उन्होंने तथा उनके विरोधी क्षत्रपों ने बौद्धों की ओर उदारता एवं दानशीलता का परिचय दिया। फलतः ई० पू० दूसरी शताब्दी से ई० दूसरी शताब्दी तक दक्षिणापथ मे बौद्ध धर्म एवं कला का प्रचुर विकास सूचित होता है। भाजा, पितलखोरा, कौन्डाने, जुन्नर, वेडसा, नासिक, एवं कार्ली में अनेक शिलोत्खात चैत्य एव विहार उपलब्ध होते हैं। भट्टिप्रोलु, अमरावती आदि स्थानों में स्तूप भी सद्धर्म का प्रसार दिखलाते हैं। पश्चिमी घाट की गुफाओं में भद्रयानीय, धर्मोत्तरीय, और महासांघिक सम्प्रदायों का प्रचार विदित होता है। दक्षिण पूर्व में चैत्यक, पूर्वशैल, अपरशैल आदि उत्तर-कालीन महासांघिकों के आवास थे।[८०]

७८—मार्शल एण्ड फूशे, पूर्व०।

७९—द्र०—पार्जिटर, पुराण टेक्स्ट्स ऑव दि डाईनेस्टिज ऑव दि कलि एज।

८०—अभिलेखों के लिए, द्र०—लूडर्स, लिस्ट ऑव् ब्राह्मी इन्स्क्रिप्शन्स; सेनार, एपिग्राफिया इण्डिका, जि० ७, ८; सरकार, सेलेक्ट इन्स्क्रिप्शन्स; बर्जेस, ए० एस० एस० आइ०, जि० १०; चन्द, एपिग्राफिया इण्डिका, जि० १५; फोगल, एपिग्राफिया इण्डिका, जि० २०—; गुहावास्तु पर द्र०—फर्गुसन एण्ड बर्जेस, दि केव टेम्पल्स ऑव इण्डिया, (१८८०); पर्सी ब्राउन, इण्डियन

शिलोत्खात वास्तु का प्रथम परिचय अशोककालीन मगध से प्राप्त होता है। सातवाहनों का सम्बन्ध विदिशा और उसकी कला से निश्चित है, कदाचित् मगध से साक्षात् सम्बन्ध भी था। सैनिक और व्यापारिक पथ-पद्धति के सहारे कला का प्रसार होना स्वाभाविक है। इसी क्रम से शिलोत्खात वास्तु का पश्चिमी घाट में विकास समझना चाहिए। भाजा, पितलखोरा, कोन्डाने, अजन्ता (गुहा १०), एवं जुन्नर की गुफाएँ प्राचीनतर हैं, बेडसा, नासिक और कार्ली की अपेक्षया परवर्ती। भाजा से कार्ली तक एक दीर्घ विकास देखा जा सकता है।

इस 'गुहा-वास्तु' का सामान्य वास्तु से भेद स्मरणीय है। भूमि पर निर्माण नीचे से ऊपर तथा समावेश के द्वारा होता है। इसी में स्थापत्य की शक्ति-सन्तुलन-सम्बन्धी वास्तविक समस्याएँ प्रकट होती हैं तथा अलंकरण की प्रेरणा को औपादानिक एवं नैर्माणिक सम्भावनाओं पर आधारित करना पड़ता है। शिला-तक्षित वास्तु ऊपर से नीचे तथा अपहार के द्वारा सिद्ध होता है। इसकी निर्माण-विधि स्थापत्य के निकट कम है, उत्कीर्ण-शिल्प के अधिक। इसी कारण इस शिल्प के निष्पादित आकारों में नैर्माणिक अनिवार्यता नहीं है। प्रारम्भ में इसमें दारुनिर्मित कुटियों एवं गृहों का अनुकरण किया गया, जिसने क्रमशः एक अधिक प्रास्तरिक एवं विशिष्ट आकार को जन्म दिया।

पूजार्थक स्तूप को ही चैत्य कहते हैं। चैत्यगृहों का आकार सामान्यतः एक दीर्घ चतुरस्र गुहा का होता था, जिसमें सामने प्रवेश द्वार तथा दूसरे सिरे पर चैत्य रखते थे। गुहा का चैत्यान्त प्रायः अर्धपरिमण्डल बनाया जाता था। द्वार से स्तूप तक के मुख्य मध्य भाग के दोनों पार्श्वों में स्तम्भावलियों से विभाजित दो वीथियाँ होती थीं जो स्तूप के पीछे मिल कर एक प्रदक्षिणापथ का निर्माण करती थीं।[८१] द्वार के ऊपर एक बृहद् गवाक्ष होता था जिसके अन्वर्थ आकार की 'घोड़े की नाल' से तुलना की गयी है।[८२] छत छाजननुमा और कहीं कमानीदार बनायी जाती थी। चैत्यगृह, ध्यान, बन्दन, आदि के लिए होते थे और उनके आकार का ईसाई गिरजों से अंशतः

आर्किटेक्चर (बुधिस्ट एण्ड हिन्दू पीरियड्स); फर्गुसन, हिस्टरी ऑव् इण्डियन एण्ड ईस्टर्न आर्किटेक्चर जि० १।

८१—द्र०—ब्राउन, पूर्व०, प्लेट्स, १५ और १६ में चैत्यगृहों के मानचित्र।

८२—द्र०—वही, प्लेट २१ में चैत्यगवाक्ष के आकार का विकास।

८३—प्रॉपिल्युम्।

सादृश्य अद्भुत है। चैत्यगुहा एक प्रकार का गर्भगृह था जहाँ उपासक अपेक्षाकृत अन्धकार में तथा उपास्य चैत्य गवाक्षगत रश्मियों से आलोकित होता था। विहार भिक्षुओं के आवास थे और उनका मानचित्र सिन्धुघाटी की सभ्यता के समय से परिचित साधारण भारतीय गृहों के मानचित्र के समान है—बीच में आँगन, उसके चारों ओर कोठरियाँ, सम्भव होने पर ऊपर ओर मंजिल, कमरों के आगे स्तम्भयुक्त अनुसन्तत वीथि, तथा आँगन के मध्य में एक या अधिक मण्डप, इस योजना के परिष्कार थे।

भाजा के चैत्यगृह की छत में लकड़ी की कमानियाँ देखी जा सकती है। अष्टास्र स्तम्भों को यहाँ लकड़ी के खम्भों की तरह कुछ तिरछा बनाया गया है मानो इससे उन्हें छत का दबाव सम्हालने में सहायता मिल रही हो! कोन्दा-न्ने में छत की कमानीनुमा शहतीरों का अनुकरण प्रदर्शित नहीं किया गया है और आकार बृहत्तर है। पितलखोरा में पार्श्ववीथियों की छत में शिला काट कर कमानियाँ बनायी गयी हैं। बेडसा में प्रवेश द्वार एक प्रकार के प्र-स्तम्भ आमुख[८३] से मण्डित हैं। यहाँ के अष्टास्र स्तम्भ कलशमूल तथा पद्माग्र हैं जिनके शीर्षभाग में विविध शैलिपक अलंकरण हैं। कार्ली का चैत्यगृह इस कला की सर्वोत्कृष्ट कृति है। यहाँ द्वार के आमुख में सिंहाग्र स्तम्भ है। गुहामुख विविध और समृद्धिपूर्वक अलंकृत हैं। गर्भगृह का आयाम १२४, विस्तार ४६'·६", तथा उच्छ्राय ४५ फुट है। शिलोत्खात वास्तु में यह प्रमाणगत वैपुल्य अद्भुत है। मध्यवीथि के दोनों ओर की स्तम्भश्रेणियों का शीर्षभाग मूर्ति-मण्डित है तथा इस कारण मानो एक उत्कीर्ण शिल्प का सतत प्रस्तार प्रस्तुत हो जाता है। गवाक्ष का आकार मनोहारी है तथा विपुल गर्भगृह में उससे प्रविष्ट आलोक मानो सन्ध्यालोक की सृष्टि करता है।

ई० पू० दूसरी शताब्दी से ई० तीसरी शताब्दी तक पूर्वी दक्षिणापथ के कृष्णा एवं गन्टूर जिलों में बौद्ध धर्म की समृद्धि के अनेक प्रमाण उपलब्ध होते हैं। कृष्णा नदी के तट पर अमरावती और नागार्जुनिकोण्ड तथा अमरावती से कुछ दूर उत्तर की ओर जग्गयपेट एवं नागार्जुनिकोण्ड के निकट श्रीशैल (=श्रीपर्वत) बौद्ध धर्म के प्रधान केन्द्र थे। सातवाहन नरेशों की सद्धर्म के प्रति अनुकूलता का ऊपर उल्लेख किया गया है। वासिष्ठीपुत्र श्री पुलुमावी के समय का एक अभिलेख अमरावती में चैतिकीय निकाय के परिग्रह में महाचैत्य की सत्ता सूचित करता है। अमरावती

८४—द्र०—सरकार, दि० सक्सेसर्स ऑव् दि सातवाहनज इन लोअर डेकान; लांगहर्स्ट, एम० ए० एस० आइ० ५४।

के इस महाचैत्य की रचना, विवर्धन एवं परिष्कार ई० पू० २री शती से ई०२री शतीके बीच में माने जाते हैं। चन्द महोदय ने इसी पुलुमावी को नागार्जुन का समकालीन सातवाहन राजा बताया है। इस प्रदेश में सातवाहनों के उत्तराधिकारी इक्ष्वाकु वंश के शासक थे।[८५] नागार्जुनिकोण्ड में इनके अनेक अभिलेख प्राप्त हुए हैं। वासिष्ठी-पुत्र शान्तमूल प्रथम, वैदिक धर्म का समर्थक था, किन्तु माठरीपुत्र वीरपुरुष दत्त के शासन काल में सद्धर्म की समृद्धि हुई तथा जग्गयपेट एवं नागार्जुनिकोण्ड के महा-चैत्यों की निर्मिति, संस्कार एवं वृद्धि सम्पन्न हुई। वीरपुरुषदत्त की एक रानी 'वपिसिरिनिका' के एक अभिलेख में नागार्जुनिकोण्ड के महाचैत्य के निर्माण का पूरा होना तथा वहाँ अपरमहावनशैलीयों का केन्द्र होना सूचित होता है। अन्यत्र यहाँ महीशासक आचार्यों के लिए प्रदत्त विहार का उल्लेख है। वीरपुरुषदत्त के १४वें वर्ष का एक अभिलेख श्रीपर्वत में ताम्रपर्णी के स्थविर आचार्यों के परिग्रह के लिए निर्मित एक चैत्यगृह का उल्लेख करता है। यहाँ गन्धार, कश्मीर, चीन, चिलात, तोसलि, अपरान्त, वंग, बनवासी, यवन (१), द्रविड (?), पलुर (?), एवं ताम्रपर्णीद्वीप के प्रसादक स्थविरों (?) का उल्लेख है। जिस उपासिका बोधिश्री ने इस चैत्यगृह को बनवाया था उसी के अन्य दानों में एक "सिंहल-विहार" में बोधि-वृक्ष-प्रासाद का निर्माण भी था। अल्लुरू के एक भग्न स्तम्भ अभिलेख में पूर्वशैलीय आचार्यों का उल्लेख है। वीरपुरुष दत्त के पुत्र एहुवुल शान्तमूल के शासनकाल में वहुश्रुतीय आचार्यों के लिए महादेवी मट्टिदेवा ने नागार्जुनिकोण्ड में एक विहार स्थापित किया।

इक्ष्वाकुओं के अनन्तर बृहत्फलायनों एवं पल्लवों के समय में बौद्धों की यह समृद्धि क्षीण हो गयी। ७वीं शताब्दी में श्वान्च्वांग ने अन्ध्रापथ में विहारों और चैत्यों को वीरान पाया।[८५] अमरावती का महाचैत्य अब सर्वथा नष्ट हो चुका है और उसके अवशेष अधिकतर मद्रास अथवा ब्रिटिश म्यूजियम में देखे जा सकते हैं[८६]। मूल स्तूप घंटाकार था जिसके अग्रभाग में चौकोर हर्मिका तथा उसमें दो छत्र थे। मूलभाग के चारों ओर प्रदक्षिणापथ था जिसमें 'प्रायक खम्भों' का संनिवेश था। स्तूप के चारों ओर वेदिका थी। न केवल यह वेदिका और प्रदक्षिणापथ अपितु स्तूप का

८५—दे० नीचे।

८६—द्र०—बर्जेस, बुधिस्ट स्तूप्ज ऑव् अमरावती एण्ड जग्गयपेट (ए० एस० एस० आइ०, जि० १)।

अण्डभाग भी उत्कीर्ण-शिल्प से अलंकृत है। जैसा पहले कहा जा चुका है, इस शिल्प में विधिगत दक्षता जीवन के प्रति एक उल्लासमय भाव के साथ संयोजित है। बुद्ध भगवान् यहाँ रूपकाय के द्वारा भी चित्रित हैं, प्रतीकों के द्वारा भी,जो इस स्तूप के निर्माण की दीर्घ अवधि सूचित करता है। कम से कम एक ओर आन्ध्रदेश की कला का सातवाहनों के सूत्र के द्वारा विदिशा से सम्बन्ध जोड़ना चाहिए। महासांघिकों के प्रभाव से चैत्यपूजा का यहाँ विशेष विस्तार हुआ तथा अनेक साक्ष्यों से सूचित होता है कि सद्धर्म का महायान में महत्त्वपूर्ण रूपान्तर इसी प्रदेश और युग में सर्वप्रथम सम्पन्न हुआ।

अमरावती की कला में बुद्धमूर्ति का उपयोग तथा अन्यान्य इंगित मथुरा एवं गन्धार की कला का प्रभाव सूचित करते हैं। मध्यदेश को उत्तरापथ और विदेश से सम्बद्ध करने वाला मार्ग मथुरा से तक्षशिला और पुष्करावती होकर जाता था। इस युग में वाल्हीक, कपिशा, उड्डियान, गन्धार, शाकल और कश्मीर नाना व्यापारिक, सैनिक और राजनीतिक गतिविधि से संसूत्रित थे तथा इस औत्तरापथ चक्र के साथ मध्यदेश के यातायात का मुख्य द्वार मथुरा थी। मथुरा, कश्मीर, गन्धार और उड्डि-यान में विस्तृत सर्वास्तिवाद इस विविध सम्पर्क-जाल को प्रतिबिम्बित करता है।

यवन-शासक—ई० पू० दूसरी और पहली शताब्दियों में अनेक यवन शासकों ने वाल्हीक से अग्रसर हो कर गन्धार और उत्तरापथ में शासन किया तथा उनमें से कुछ ने सद्धर्म के प्रति रुचि प्रदर्शित की।[८७] मैनेन्डर अथवा मिलिन्द का नाम सर्व-प्रसिद्ध है जिनकी राजधानी शाकल एवं नागसेन के साथ संवाद का मिलिन्दपञ्हो में विवरण प्राप्त होता है। ऐसी अनुश्रुति है कि मैनेन्डर ने सद्धर्म के लिए बहुत से विहार एवं चैत्य बनवाये। उनकी कुछ मुद्राओं में चक्र का लक्षण उपलब्ध होता है तथा उनके लिए ध्रमिय अर्थात् धार्मिक का बिरुद भी मिलता है।[८८] प्लूटार्क के अनु-सार मैनेन्डर के निधन के अनन्तर उनके दग्धशेष के लिए उनके साम्राज्य के नगरों में वैसी ही होड़ हुई जैसी स्वयं बुद्ध भगवान् के निधन के अनन्तर हुई थी।[८९] आगाथोक्लेस नाम के यवन राजा की मुद्राओं में भी स्तूप एवं बोधिवृक्ष चिह्नित हैं। स्त्रत (स्टैटो) प्रथम के चाँदी के सिक्कों में उसे 'ध्रमिक' कहा गया है। अनेक यवनों

८७—द्र०—मेमोरियल सिल्वेंलिव, पृ० २०४ प्र०।

८८—तु०—आइ० एच० क्यू०, जि० १४, पृ० २९३—३०८।

८९—तु०—सी० एच० आइ० जि० १, पृ० ५५१।

के द्वारा सद्धर्म के लिए दिये गये दानों का भी अभिलेखों में उल्लेख प्राप्त होता है। उदाहरण के लिए, इन्द्राग्निदत्त नाम के एक यवन ने नासिक मे गुहा का उत्खनन करवाया था। जुन्नर में ईरिल के धर्मदान का उल्लेख मिलता है। स्वात से एक अभिलेख में मेरिदर्ख थेउडोर के द्वारा शाक्यमुनि के देहावशेष की प्रतिष्ठा उल्लिखित है। उसी प्रदेश से थेउडोर दतियपुत्र के द्वारा एक तड़ाग के दान का उल्लेख प्राप्त होता है। इस प्रसंग में यह स्मरणीय है कि यवनों की सद्धर्म मे रुचि अशोक के समय से विदित होती है। अशोक ने उनमें धर्मप्रचारक का उल्लेख किया है तथा अपने साम्राज्य में बसे हुए उनके लाभ के लिए यवन भाषा और लिपि में अपनी 'धर्म प्रशस्ति' का प्रकाशन तक किया। मौद्गलीपुत्र तिष्य ने धर्मरक्षित नाम के यवन को प्रचार कार्य के लिए चुना।

गान्धार-कला—गन्धार यवनों का मुख्य केन्द्र था तथा वहाँ यवन-शिल्प और बौद्ध आदर्श के समन्वय से एक विशिष्ट कला का उद्गम हुआ जिसे 'गन्धार-कला' का नाम दिया गया है।[१०] 'यवन-शिल्प' का अर्थ यहाँ हेलेनिस्टिक अथवा रोमन प्रभाव है। दुर्भाग्यवश गान्धार प्रतिमाओं का कालनिर्णय अनिवार्यतया विवाद-ग्रस्त है और अतएव जहाँ कुछ विद्वान् गान्धार-कला की उत्पत्ति प्रथम शती ई० पू० में मानते हैं कुछ अन्य उसे ई० प्रथम शताब्दी मे रखते हैं। यह निस्सन्देह है कि इस कला के पोषकों में यवनों के स्थान पर शक और कुषाण ही प्रमुख प्रतीत होते हैं। गान्धार कला के विकास में यवन कारीगरों और कारीगरी का हाथ था न कि यवन शासकों का। पहले यह माना जाता था कि बुद्ध प्रतिमा को जन्म देने का श्रेय गन्धार-कला को ही है। किन्तु इस पर सन्देह प्रकट किया गया है और यह कहा गया है कि मथुरा में बुद्ध की प्रतिमा का आविर्भाव स्वतन्त्र रीति से और सम्भवतः गन्धार प्रतिमा के पूर्व हुआ। ई० पू० दूसरी और पहली शताब्दियों में सभी बौद्ध सम्प्रदायों में न्यूनाधिकतया बुद्धभक्ति का विकास हुआ। त्रिशरण-गमन तथा बुद्धानुस्मृति सर्वत्र प्रसिद्ध थी। बुद्ध भगवान् के अनुस्मरण में उन्हें अंगविद्या में विदित महापुरुष-

१०—गान्धार-कला पर द्र०—फूशेर, लार ग्रेकोबुद्धीक दु गन्धार, वही, बिगिनिंग्स ऑव बुद्धिस्ट आर्ट एण्ड अदर एसेज; ग्रूनवेदेल, बुद्धिस्ट आर्ट इन इण्डिया; स्मिथ, ए हिस्टरी ऑव् फाइन आर्ट इन इण्डिया एण्ड सीलोन; बाखहोफर, अर्ली इण्डियन स्कल्पचर, २ जि०; लुइजोदल्वी, दि सिथियन पीरियड; मार्शल, टैक्सिला, ३ जि०।

लक्षणों के अनुसार कल्पित करना स्वाभाविक था। इन लक्षणों के अनुसार ध्यान में तथागत की मानस प्रतिमा ही उनकी भौतिक प्रतिमा का पूर्वसिद्ध आदर्श था। महासांघिकों में "अनास्रव रूप" की कल्पना तथा तथागत की लोकोत्तरता से प्रेरित भक्ति के भाव ने बुद्ध प्रतिमा के उपयोग की सहायता की होगी तथा माहायानिक सिद्धान्तों और भावना के विकास ने इसका समर्थन किया होगा। शैल्पिक पक्ष में यक्ष-प्रतिमा की परम्परा ने बौद्ध आदर्श को दृश्यरूप प्रदान करने में आवश्यक निर्माण-विधि के द्वारा उपकृत किया होगा।[९१] एक बौद्ध परम्परा के अनुसार जब तथागत त्रायस्त्रिंश लोक गये थे, प्रसेनजित ने उनकी गोशीर्षचन्दन की प्रतिमा बनवायी थी जो प्रथम बुद्ध-प्रतिमा थी। तथागत ने इसे भविष्य के लिए आदर्श बताया। यह प्रतिमा जेतवन विहार में बहुत दिन रही, (लेग, फाश्येन पृ० ५६–५७)। दिव्यावदान के अनुसार अशोक ने पिण्डोलभारद्वाज से प्रतिमोपयोगी महापुरुषलक्षण पूछे। महावस्तु में अशोक की नागराज से प्रतिमाविषयक जिज्ञासा उल्लिखित है। किन्तु ये सब परम्पराएँ श्रद्धेय नहीं प्रतीत होतीं।

ई० पू० पहली शताब्दी में यवन शासकों का स्थान शक-पल्लव शासकों ने ले लिया। इनमें मोग, वोनोनेस, स्पलहोर, स्पलगदम, अय, अयलिष तथा गुदुह्वर के नाग उल्लेख्य हैं। इन शासकों की जाति, तिथि तथा परस्पर सम्बन्ध विवादग्रस्त हैं। तक्षशिला से प्राप्त ताम्रपट्ट अभिलेख महाराज मोग के शासनकाल में तक्षशिला के क्षत्रप लिअक के पुत्र महादानपति पतिक के द्वारा शाक्यमुनि के शरीर तथा संघाराम की स्थापना का उल्लेख करता है। मोग की एक मुद्रा के पृष्ठ में बुद्ध की मूर्ति उत्कीर्ण बतायी गयी है जो निस्संदेह नहीं है।[९२] स्पलहोर और स्पलगदम को मुद्राओं में 'ध्रमिय' कहा गया है किन्तु वह सम्भवतः यवन 'दिकाइओस' (न्यायशील) का अनुवादमात्र है। गुदुह्वर को ईसाई प्रचारक टॉमस से परिचित मानना ही सही प्रतीत होता है। मुद्राओं में उसे 'ध्रमिय' और 'देवव्रत' कहा गया है तथा कुछ में त्रिशूलधारी शिव कदाचित् चित्रित हैं। तख्तेबाही प्रस्तर अभिलेख उनके शासन काल के २६वें वर्ष में एक श्रद्धा-दान का उल्लेख करता है।

मथुरा के शक क्षत्रपों की सद्धर्म में रुचि वहाँ प्राप्त प्रसिद्ध सिंह-स्तम्भ अभिलेखों

९१–द्र०—कुमारस्वामी, हिस्टरी ऑव् इण्डियन एण्ड इन्डोनेशियन आर्ट, वही, फिगर ऑव् स्पीच ऑर फिगर ऑव् थॉट।

९२–द्र०—टार्न, दि ग्रीक्स इन बैक्ट्रिया एण्ड इण्डिया।

से प्रकट होती है।[93] इसमें महाक्षत्रप राजुल की अग्रमहिषी तथा अन्य राजपरिवार का सर्वास्तिवादियों के लिए विविध दान उल्लिखित है जिसमें बुद्ध-शरीर, स्तूप, संघाराम, स्तम्भ एवं गुहाविहार की स्थापना का विवरण है। इस अभिलेख में महासांघिकों का नाम भी उल्लिखित है।

ई० पू० १३८ में हन् सम्राट क वु-ति ने चं-छियेन को अपने दूत के रूप में य्वेची के पास भेजा जो उस समय वंक्षु के उत्तरी तट पर बसे थे, किन्तु वाल्हीक प्रदेश उनके अधीन था।.चं-छियेन के 'ताहिया' के विवरण में बौद्ध धर्म के विषय में कुछ उल्लेख प्राप्त नहीं होता। तथापि यह स्मरणीय है कि चीनी हन्-इतिहास के अनुसार ई० पू० १२१ में ह्युङ-नु (=हूण) जाति के लोगों से चीनियों ने एक 'स्वर्ण-पुरुष' प्राप्त किया था। यह 'स्वर्ण-पुरुष' सम्भवतः बुद्ध की प्रतिमा रही होगी। ऐसी स्थिति में यह मानना उचित होगा कि य्वे-चि जाति भी उस समय अवश्य ही सद्धर्म से परिचित थी। ई० पू० २ में चीनी सम्राट् आइ ने य्वे-चि शासक के पास एक दूत भेजा जिसने वहाँ सद्धर्म का उपदेश सुना। य्वे-चि शासन ने चीनी सम्राट् के पास कुछ बौद्ध ग्रन्थ तथा बुद्ध के देहावशेष भेजे।[94] पहली शताब्दी ई० में कुषाण शासक कुजुल—कस को सिक्कों में 'धर्म-स्थित' अथवा 'सत्य-धर्मस्थित' कहा गया है। उसका उत्तराधिकारी विम कथ्फिश माहेश्वर था। सम्भवतः इसी के समय में तक्षशिला का रजत-पट्टिका-अभिलेख मानना चाहिए जिसमें अय के १३६ वें वर्ष का उल्लेख है। इसमें एक उरश-वासी के द्वारा तक्षशिला में अपने बोधिसत्त्वगृह में धातु-स्थापना निर्दिष्ट है। कल-वान का ताम्रपट्ट-अभिलेख इससे दो वर्ष पूर्व का है और उसमें एक उपासक परिवार के द्वारा गृहस्तूप में सर्वास्तिवादियों के परिग्रह के लिए 'शरीर' की स्थापना उल्लिखित है।

बौद्ध धर्म के प्रसिद्ध समर्थक कनिष्क के समय में कुषाण साम्राज्य मध्य एशिया से 'पूर्वी भारत' तक विस्तृत कहा गया है।[95] गांधार कला का यह स्वर्ण-काल था। राजकुल की सहायता ने बुद्ध और बोधिसत्त्वों की मूर्तियाँ प्रतिष्ठित करने में तथा स्तूप, चैत्य आदि के निर्माण में योग दिया। कनिष्क के ३रे वर्ष के सारनाथ बौद्ध-प्रतिमा-अभिलेख में त्रैपिटिक भिक्षु बल के द्वारा भगवत् चंक्रम में बोधिसत्त्व और छत्र-

९३—द्र०—सरकार, सेलेक्ट इन्सक्रिप्शन्स।

९४—इलियट, हिन्दुइज्म एण्ड बुद्धिज्म, जि० ३, पृ० २४५।

९५—चतुर्थ संगीति पर द्र०—नीचे।

यष्टि की प्रतिष्ठा का उल्लेख मिलता है। इस अभिलेख में क्षत्रप वनस्पर एवं महा-क्षत्रप खरपल्लान की पुण्यवृद्धि अभीष्ट है। इसी भिक्षु बल ने श्रावस्ती में भी एक देय-धर्म प्रतिष्ठित किया था जो कि सर्वास्तिवादी आचार्यों के परिग्रह के लिए था। १८वें वर्ष के माणिकयाल प्रस्तर अभिलेख में क्षत्रप वेश्यपशिकेदानपति दण्डनायक लल के द्वारा अनेक स्तूपों की स्थापना सूचित है। स्वयं कनिष्क ने नाना चैत्यों और विहारों को स्थापित किया। पुरुषपुर में उनका बनवाया महाचैत्य अत्यन्त प्रसिद्ध था और इसका विवरण फाश्येन और श्वानच्वांग से प्राप्त होता है।[९६] पेशावर में शाह जी की ढेरी में उत्खनन से 'कनिष्क विहार' की सूचना प्राप्त होती है। इसमें 'नव-कर्मिकअगिसल' का नाम यवन कारीगरी का योग प्रकट करता है। फाश्येन के अनु-सार यह स्तूप ४००' से अधिक ऊँचा था तथा उसके देखे स्तूपों से अधिक प्रभाव-शाली था। श्वान् च्वांग के अनुसार यह स्तूप पाँच भूमियों में निर्मित था और इसके शिखर में २५ सुनहले मण्डल बने थे। स्तूप के पूर्वी मुख के सोपान के दक्षिण की ओर महाचैत्य की दो छोटी प्रतिकृतियाँ थीं तथा बुद्ध भगवान् की दो विशाल मूर्तियाँ थीं। दक्षिणसोपान के निकट एक १६ फुट ऊँचो भगवत् मूर्ति थी। दक्षिण पश्चिम की ओर एक १८ फुट ऊँची एक और मूर्ति थी। श्वान् च्वांग के भारत आने के कुछ पूर्व ही यह स्तूप जल कर नष्ट हो गया था। इसके निकट ही कनिष्क ने एक प्रसिद्ध विहार बनवाया या जो कि अनेक शिखर, भूमि, स्तम्भ आदि से मण्डित था। यह स्मरणीय है कि गन्धार में स्तूप का आकार मध्य भारतीय नहीं है। उसकी ऊँचाई बहुत बढ़ गयी तथा उसके चौकोर मूल भाग का अनेक भूमियों में निर्माण होता था जिन पर आरोहण के लिए एक या अधिक सोपान श्रेणियाँ बनायी जाती थीं। किन्तु वेदिका और तोरण अप्रयुक्त हो गये थे। स्तूप स्वयं प्रभूत शिल्प-मण्डित होता था जिसका विषय अब जातकों से कम उद्धृत होता था, बुद्ध चरित्र से अधिक। समस्त स्तूप एक बुर्ज-सा प्रतीत होता था।

गन्धार की बुद्ध प्रतिमा में लक्षण और भाव सदा एक-सा नहीं है। उदाहरण के लिए एक प्रसिद्ध प्रतिमा में शिरश्चक्र, दक्षिणावर्तकेश, उष्णीष ऊर्णा, पृथुकर्णता तथा संघाटी की सलवटें प्रदर्शित की गयी हैं।[९७] इनमें शिरश्चक्र और संघाटी के आकुंचन

९६—फाश्येन (अनु० जाइल्स) पृ० १३, श्वानच्वांग (अनु० बील) जि० २, पृ० १५१—९४।

९७—द्र०—फूशे, बिगिनिंग्स ऑव् बुधिस्ट आर्ट, प्लेट ११।

का निरूपण यवन कला से अनुकृत माने जाते हैं। मूर्ति का भाव "स्वप्निल, लेशतः, स्त्रीसुलभ सौन्दर्य" का है। सहरी बहलोल से लब्ध मूर्ति में बुद्ध की मूँछें दिखायी गयी हैं। गान्धार मूर्तियों में अनेक प्रकार की मुद्राएँ प्रदर्शित हैं—अभय, वरद, भूमिस्पर्श, ध्यान, धर्मचक्रप्रवर्तन। पीठ प्रायः पद्मासन अथवा सिंहासन होता है।

गन्धार में बुद्ध प्रतिमा का आविर्भाव कब हुआ, यह विवादास्पद है। टार्न ने मोग की एक मुद्रा में बुद्ध मूर्ति को उत्कीर्ण माना है। किन्तु यह सन्दिग्ध है। लोरियान तंगई अथवा हश्तनगर से प्राप्त मूर्तियों में उल्लिखित अब्द अज्ञात है। यदि इनमें सिल्यूकिद अब्द माना जाय तो इन्हें ई० प्रथम शती में रहना होगा। तक्षशिला की खुदाई में प्राप्त साक्ष्य के आधार पर गान्धार-कला के उद्गम के लिए ई० पू० प्रथम शती में अय का समय अथवा ई० प्रथम शती में विमकथ्फिश का समय सुझाया गया है। कनिष्क के पूर्व गान्धार बुद्ध प्रतिमा का निर्माण हो चुका था, यह निश्चित है।

मथुरा की बुद्ध प्रतिमा का गान्धार प्रतिमा से सम्बन्ध अवश्य था, किन्तु एक से दूसरी का जन्म हुआ, यह नहीं कहा जा सकता। मथुरा में प्राप्य बुद्ध प्रतिमाएँ सामान्यतः दो प्रकार की हैं जिनमें एक का उदाहरण जेतवन-विहार से प्राप्त मूर्ति है। दूसरी का मथुरा के कटरे से प्राप्त मूर्ति। इनका भेद गान्धार कला के प्रभाव से अथवा विकास भेद से समझाया गया है।

मौर्य साम्राज्य पहला अखिल भारतीय साम्राज्य था एवं मौर्य सम्राट् अशोक की सहानुभूति सद्धर्म के अखिल भारतीय प्रसार में सहायक हुई। कुषाण-साम्राज्य मध्यदेश से हिन्दुकुश के उस पार तक फैला हुआ था। उसकी अध्यक्षता में सांस्कृतिक एवं जातीय संगम का अग्रसर होना अनिवार्य था और साथ ही गन्धार से मध्य एशिया में विस्तृत सैनिक एवं व्यापारिक पथ-पद्धति के सहारे सद्धर्म का क्रमशः सुदूर पूर्व तक प्रसार। इस प्रसंग में यह उल्लेखनीय है कि सिंधु नदी को पार करने पर फाश्येन से वहाँ के लोगों ने यह प्रश्न किया था कि सद्धर्म पूर्व की ओर सर्वप्रथम कब प्रचारित हुआ। इसके उत्तर में फाश्येन ने कहा—"मैंने जब उन देशों के लोगों से यह प्रश्न किया तो उन सबने यह कहा कि उनके पास सद्धर्म प्राचीन परम्परा से प्राप्त हुआ है और मैत्रेय बोधिसत्त्व की प्रतिमा की स्थापना के उत्तरकाल में भारतीय श्रमणों ने सिन्धु नदी पार कर विनय और सूत्र के ग्रंथों को वहाँ तक पहुँचाया। यह स्मरणीय है कि प्रतिमा परिनिर्वाण के ३०० वर्ष पश्चात् स्थापित की गयी और अतएव इसे चाऊ वंश के पिंग सम्राट् के समय से रखना चाहिए। इस विवरण के अनुसार इस घटना

में प्राची की ओर सद्धर्म का सर्वप्रथम प्रचार मानना चाहिए। यदि मैत्रेय महापुरुष की प्रेरणा न होती तो सद्धर्म को सुदूर प्रत्यन्त प्रदेशों तक कौन पहुँचाता ? इस प्रकार अद्‌भुत धर्मप्रचार का कारण केवल मनुष्य का यत्न नहीं हो सकता। इसीलिए हन सम्राट् मि के स्वप्न का भी उचित हेतु मानना चाहिए।[९८] चाऊ वंश के सम्राट् का उल्लेख फाश्येन की ऐतिहासिक काल-गणना में अप्रवीणता प्रदर्शित करता है। किन्तु यह अनुश्रुति विचारणीय है कि परिनिर्वाण के ३०० वर्षों पश्चात् सद्धर्म की प्राचीयात्रा प्रारम्भ हुई और इसके अधिष्ठाता मैत्रेय थे। मैत्रेय की उपर्युक्त प्रतिमा को फाश्येन और श्वान-च्वांग ने 'दरेल' में देखा था। श्वान-च्वांग ने इसे १०० फुट ऊँचा, काष्ठनिर्मित तथा स्वर्णिम बताया है। इसकी स्थापना अर्हत् मध्यान्तिक ने की थी।[९९] यह स्मरणीय है कि मध्यान्तिक अशोककालीन धर्म-विस्तार में अग्रगण्य थे।

गुप्तकाल—गुप्तकाल को बौद्धधर्म के प्रसार और कला का स्वर्णयुग कहा जा सकता है। उस समय मध्य-एशिया के अतिरिक्त, फाश्येन ने उत्तरापथ और मध्य-देश में बौद्ध धर्म की समृद्धि का उल्लेख किया है, जिसका पुरातत्त्वीय सामग्री से समर्थन होता है। बामियान में शैल-पार्श्वपर एक मील तक विहार और चैत्य उत्खात मिलते हैं। इस वास्तु-प्रस्तार के दोनों ओर बुद्ध की दो विशालकाय खड़ी मूर्तियाँ हैं, पूर्व की ओर १२०' ऊँची और पश्चिम की ओर १७५ ऊँची। इन्हें ३री-४थी शताब्दियों में रखा गया है। बामियान के गुहावास्तु में विविध परिमण्डल शिखर प्राप्त होते हैं। यहाँ से मूर्तियाँ और भित्ति चित्र भी उपलब्ध हुए हैं। चित्रों में तीन शैलियाँ बतायी गयी हैं—सासानी, भारतीय और मध्य-एशियायी। भारतीय शैली अजन्ता की गुप्तकालीन चित्रकला से सादृश्य प्रकट करती है। कपिशा (आधुनिक बेग्राम) में पुरातत्त्वीय खोज ने कुषाणकालीन राजप्रासाद से देश-विदेश के व्यापार के अवशेष प्रकाशित किये हैं। यहाँ रोमन-साम्राज्य से आयात धातु की मूर्तियाँ, शाम से काँच का सामान तथा चीन से 'लेकर' के डिब्बे मिले हैं। तीसरी-चौथी शताब्दी के गान्धार-शिल्प के पर्याप्त चिह्न मिलते हैं। यहाँ से प्राप्त हाथी दाँत के उत्कीर्ण फलक उल्लेखनीय हैं। प्राचीन नगरहार जनपद के आधुनिक हड्डा नामक स्थान से १९२२ की फ्रांसीसी पुरातत्त्वीय गवेषणा में बहुत-सी अमूल्य शिल्पराशि प्राप्त हुई जिसमें से कुछ

९८—फाश्येन (अनु० जाइल्स) पृ० १०।

९९—श्वान-च्वांग (अनु० बील), जि० २, पृ० १७७।

जलालाबाद में अफगानों के द्वारा नष्ट भी कर दी गयी । नगरहार की गान्धार कला में सुधा-प्रलेप (स्टको) का महत्त्व था । यहाँ की मूर्तियों की तुलना 'गोथिक' मूर्तियों से की गयी है । इनमें वैयक्तिकता, भाव-व्यंजना तथा रोमन प्रभाव द्रष्टव्य है । कभी पुरुषपुर में ४००' ऊँचा कनिष्क स्तूप था जिससे अधिक समृद्ध और सुन्दर स्तूप फाश्येन ने अपनी यात्रा में कहीं नहीं देखा था ।

फाश्येन के अनुसार आर्यावर्त के सब राजा सद्धर्म में श्रद्धालु थे, जबकि वस्तुतः गुप्त नरेश 'परम भागवत' थे । स्पष्ट ही गुप्तों की धार्मिक नीति अत्युदार थी । फाश्येन ने मध्यदेश के शासन और समाज की बहुत प्रशंसा की है । यहाँ के विहारों के विषय में उसका कहना है कि परिनिर्वाण के समय से विभिन्न राजा एवं धनी गृहपति भिक्षुओं के लिए विहारों को बनवा उनके लिए क्षेत्र, गृह, उद्यान एवं आराम आदि का दान करते रहे हैं । उस प्रकार दी हुई भूमि में रहने वाले लोग और पशु आदि भी इन विहारों के अधीन माने जाते थे । ये दानपत्र धातुमयी पट्टिका पर उत्कीर्ण होते थे और इनका पीढ़ी दर पीढ़ी राजाओं के द्वारा आदर किया जाता था (द्र०—लेग, फाश्येन, पृ० ४३, तु०—जाइल्स, फाश्येन, पृ० २१) ।

गुप्तकाल में मथुरा का कुषाणकालीन महत्त्व घटा नहीं था । यहाँ से शिल्प के अवशेषों को देखने से यह प्रकट होता है कि ५वीं और ७वीं शताब्दियों के मध्य में कला का जो स्वर्णयुग विदित है उसमें मथुरा की बौद्ध प्रतिमाओं का अपना सुरक्षित स्थान है । गुप्तकालीन कला के परिष्कार और परिनिष्पन्न सौष्ठव की भूरि-भूरि प्रशंसा की गयी है । इसमें कोई सन्देह नहीं कि इस समय की बुद्ध प्रतिमा विश्वकला की चिरन्तन कृतियों में गिनी जायगी । सामान्यतः गुप्तकालीन बुद्ध-प्रतिमा में शीर्ष के प्रभाचक्र में एक-केन्द्रिक वृत्तों में अलंकरण उत्कीर्ण होते हैं, केश सावर्त प्रदर्शित किये जाते हैं, ऊर्णा का प्रदर्शन नहीं होता, भौहों का आलेखन निराला है, नयन कुड्मलाकार होते हैं, अंगुलियों का जालबद्ध निरूपण होता है, नख-शिख बारीक, मुखाकृति शान्त और प्रसन्न, परिधान का तनु-मग्न रूप में अर्थात् 'मग्नांशुक' के रूप में निरूपण, तथा अनेक मुद्राओं का प्रदर्शन किया जाता है । मध्यदेश में बुद्ध प्रतिमाओं के इस समय दो महत्त्वपूर्ण केन्द्र थे—मथुरा और सारनाथ । इन मूर्तियों में मग्नांशुक के निरूपण में शैलीभेद देखा जा सकता है । कुछ मूर्तियों में वस्त्र का संकेत केवल उसके प्रान्त-निर्देश से होता है, कुछ में महीन रेखाओं से वस्त्र की सलवटें प्रदर्शित की जाती हैं । पहली शैली का उदाहरण धर्म-चक्र-प्रवर्तन मुद्रा में सारनाथ की प्रसिद्ध बुद्धमूर्ति है जिसे सब समय की उत्कृष्ट कलाकृतियों में रखना चाहिए । दूसरी शैली का उदा-

हरण मथुरा से प्राप्त बुद्ध की खड़ी मूर्ति हैं जिसमें अभयमुद्रा प्रदर्शित है और जो अब इण्डियन म्यूजियम, कलकत्ता, में रक्षित है।

श्वान-च्वांग ने अजन्ता के भित्तिचित्रों और गुहावासों का उल्लेख किया है, जिनका निर्माण कराने में अपरान्त के अर्हत् अचल का भी हाथ था। अजन्ता की २९ गुफाओं में विभिन्न युगों के उत्खात विहार और चैत्य प्राप्त होते हैं। पहले इनमें से अधिकांश में भित्तिचित्र थे, किन्तु जब से ये गुफाएँ 'आविष्कृत' हुई हैं, हवा और रोशनी के प्रभाव से अधिकांश चित्र विनष्ट हो चुके हैं अथवा हो रहे हैं। अजन्ता की चित्रकला मध्यभारतीय उत्कीर्ण-चित्र की परम्परा का विकसित और परिष्कृत रूप है। यहाँ भी बुद्ध और बोधिसत्त्व के चरित अंकित हैं तथा निरूपण-विधि सदृश है क्योंकि समान आलेख्य प्रदेश में अनेक घटनाओं का चित्रण तथा आगे-पीछे की वस्तुओं का अयथार्थ रूप से नीचे-ऊपर प्रदर्शन यहाँ भी पाया जाता है। भित्ति में 'चित्रों' का विभाजन प्रायः चित्रित व्यक्तियों के केन्द्र की ओर आभिमुख्य से सूचित होता है। पशु-पौधों के चित्रण में प्रकृति का प्रेम तथा जनसंकुल और उल्लसित जीवन की अभिव्यक्ति भी साँची का स्मरण दिलाती है। अजन्ता के चित्रों में नगर और अरण्य के विविध दृश्य एक आध्यात्मिक आशय से अनुप्राणित हैं। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र और स्तर में बोधिसत्त्व के आदर्श का अनुसरण सम्भव है जिसके द्वारा बुद्धत्व की प्राप्ति अभीष्ट है। गुफा की दीवारों में चित्रित बोधिसत्त्व-लीला मानों चैत्यान्त में प्रतिष्ठित बुद्ध की ओर प्रत्यक्ष संकेत है।

चित्रण के पहले गुफा की शिलामयी सतह पर गोबर, तुष, शिलाचूर्ण आदि का लेप किया जाता था। इसके ऊपर चूने का लेप होता था तथा आलेखन के पूर्व आलेख्य-भूमि को जल-सिक्त किया जाता था। गैरिक वर्ण में रूपरेखा खींच कर काले रंग से उसका आवश्यक संशोधन किया जाता था। उन्मीलन में उपयुक्त रंग कुछ ही थे जिनमें लाल और नीला प्रधान थे। कहा गया है, "रेखां प्रशंसन्त्याचार्याः' आचार्य-गण रेखा के सहारे चित्र आँकते हैं। इस कसौटी पर अजन्ता के चित्र अपना सानी नहीं रखते। गुहाभित्ति की विपुल भूमि पर जिस निर्बाध, निश्शंक और निर्दोष रूप से रेखाएँ खींची गयी हैं, और उनके सहारे सूक्ष्मातिसूक्ष्म भावों की व्यंजना की गयी है, उसकी समुचित प्रशंसा अथवा वर्णन असम्भव है। "गिरा अनयन, नयन बिनु बानी"। यों तो एशिया की चित्रकला में सर्वत्र रेखा का प्राधान्य है, किन्तु अजन्ता के रेखांकन में अपनी विशिष्टता है। फारसी चित्रों में रेखा मानों बारीक सजावट की रेखा है।

चीनी चित्रों में रेखा एक व्यंजक संकेतमात्र है। अजन्ता में रेखा मानों किसी महाकाव्य का छन्द है।

बौद्ध चित्रकला के लिए अजन्ता एक शाश्वत प्रेरणा थी। मध्यएशिया में दन्दान उलिक, किजिल, मिरान, और तुन-ह्वंग तक उसके प्रभाव का विस्तार आलक्ष्य है। यही नहीं, जापान के प्रसिद्ध पर अभाग्यवश विनष्ट भित्तिचित्रों तक अजन्ता की परम्परा देखी जा सकती थी।[१००]

१००—अजन्ता पर द्र०—ग्रिफिथ्स, पेंटिंग्स इन दि बुघिस्ट केव टेम्पल्स ऑव् अजंटा, २ जि०, १८९६–७; लेडी हेरिंगम, अजंटा फ्रेस्कोज, १९१५; यजदानी, अजंटा, ३ जि०, १९३१–४६।

अध्याय ५

हीनयान के सम्प्रदाय-स्थविरवाद

इतिहास और साहित्य—तीसरी संगीति के अनन्तर—पालि परम्परा के अनुसार पाटलिपुत्र की संगीति में मौद्गलीपुत्र तिष्य के द्वारा निकायान्तरीय मतों का खण्डन **कथावत्थु** में संगृहीत है। श्रीमती राइज़डेविड्स का यह मत युक्तियुक्त है कि समस्त **कथावत्थु** की रचना एक समय की नहीं है[1]। उस ग्रन्थ का प्रारम्भिक अंश सम्भवत: अशोककालीन है, किन्तु पीछे अन्य विप्रतिपत्तियों का निराकरण भी उसमें जुड़ कर ग्रन्थ का वर्तमान रूप सम्पन्न हुआ। पुद्गल-कथा ग्रन्थ में अपने प्रथम स्थान एवं भाषागत वैलक्षण्य के कारण प्राचीनतम प्रतीति होती है। एवं वात्सीपुत्रीयों को स्थविरों का प्रधान विरोधी सूचित करती है। अन्यत्र कथावत्थु में महासांघिक, सर्वास्तिवादी एवं काश्यपीय सिद्धान्तों का विशेष रूप से खण्डन मिलता है। **निकायसंग्रह** के अनुसार तृतीय संगीति में स्थविरों के प्रधान विरोधी महासांघिक थे[2]। सर्वास्तिवादियों को भी स्थविरों के विरोध में अग्रणी कहा गया है[3]। **ज्ञानप्रस्थान** के रचयिता कात्यायनीपुत्र का सर्वास्तिवादियों में वही स्थान है जोकि मौद्गलीपुत्र का स्थविरों में। सम्भवत: सर्वास्तिवादी अभिधर्म के **विज्ञानपाद** नाम के ग्रन्थ में जिस मौद्गल्यायन का उल्लेख है वह मौद्गलीपुत्र तिष्य ही हो। यह स्मरणीय है कि सर्वास्तिवादियों के अनुसार अशोक के धर्म-गुरु मौद्गलीपुत्र न होकर उपगुप्त थे जो कि मथुरा के संघ के प्रधान थे।

ऐसा प्रतीत होता है कि तृतीय संगीति के अनन्तर संघ से अ-स्थविरवादी भिक्षुओं के निकाले जाने के कारण एवं अशोक तथा संघ के प्रत्यन्त प्रदेशों में एवं विदेश में धर्म-प्रचार के प्रयत्न के कारण बौद्ध-निकायों का स्थानान्तरण, प्रसार एवं बहुलीकरण हुआ। महासांघिक भिक्षु मगध से निष्कासित होकर द्वितीय महादेव की अध्यक्षता में

१—पॉइन्ट्स ऑव् कॉन्ट्रोवर्सी, भूमिका।

२—द्र०—दत्त, अर्ली मोनेस्टिक बुद्धिज्म, जि० २, पृ० २६८।

३—बारो, ले सेक्त, पृ० ३३।

अन्ध्र-देश की ओर अग्रसर हुए। **निकायसंग्रह** के अनुसार तीसरी संगीति के अनन्तर महासांघिक नौ शाखाओं में बँट गये—हेमवत, राजगिरिय, सिद्धत्थक, पुब्बसेल, अपर-सेल, वाजिरिय, वेतुल्लक, अन्धक, अञ्ज-महासंघिक। सर्वास्तिवादी मथुरा से उत्तरा-पथ, विशेषतः कश्मीर की ओर अग्रसर हुए। मज्झन्तिक अथवा मध्यान्तिक के द्वारा इस समय कश्मीर में सद्धर्म का प्रचार अनेक आकरों से विदित होता है। धर्मगुप्त और काश्यपीय निकायों की उड्डियान और गन्धार में स्थापना हुई। हिमवत् प्रदेश में ही कदाचित् काश्यपीयों से सम्बद्ध हैमवतों का प्रचार हुआ। अवन्ति और विदिशा से दक्षिण-पश्चिम की ओर वात्सीपुत्रीय, महीशासक और स्थविरों का प्रसार हुआ[४]।

पालि साहित्य और भाषा—थेरवादी साहित्य पालि में निबद्ध है और इसका यह विशेष महत्त्व है कि किसी भी अन्य बौद्ध सम्प्रदाय का साहित्य इतने प्राचीन और सर्वांग-सम्पूर्ण रूप से मूल भारतीय भाषा में उपलब्ध नहीं है। उसी कारण अनेक विद्वान् पालि साहित्य को ही प्रचीनतम एवं प्रामाणिकतम बौद्ध साहित्य स्वीकार करते हैं। अन्य सम्प्रदायों के प्राचीन साहित्य के चीनी अथवा तिब्बती अनुवाद बहुत उपयोगी होते हुए भी यह निर्विवाद है कि उनके मूल के अधिकांश का नाश हो जाने के कारण पालि-साहित्य से ही प्राचीन सद्धर्म का सबसे पूर्ण और प्रामाणिक विवरण प्राप्त हो सकता है। अभिधर्म को छोड़ कर पालित्रिपिटक का अधिकांश सैहलक साम्प्रदा-यिकता से अविकृत है[५]।

वस्तुतः पालि शब्द के अर्थ 'पंक्ति', "पाठ", अथवा 'मूल ग्रन्थ या सन्दर्भ, होते हैं। इसी कारण आजकल जिस भाषा में इन मूल ग्रन्थों की रचना है उसे भी पालि-भाषा कहा जाता है, एवं यही अर्थ आजकल सुप्रचलित हो गया है। यह भाषा मध्य-भारतीय उद्गम की एक प्राचीन प्राकृत है जिसने परिष्कृत साहित्यिक रूप धारण कर लिया है[६]। यह अवश्य स्मरणीय है कि उपलब्ध पालि त्रिपिटक की भाषा सर्वत्र एकरस नहीं है। उसमें विभिन्न काल और प्रदेशों के चिह्न मिलते हैं, किन्तु पालि के वैकासिक

४—दे०—ऊपर।

५—बंकाक से पालि-त्रिपिटक स्यामी लिपि में १८९४ में प्रकाशित हुआ था। सिंहली, बर्मी, रोमन और नागरी लिपियों में भी त्रिपिटक के न्यूनाधिक अंश प्रकाशित हुए हैं। सामान्य विवरण के लिए द्र०—विन्टरनित्स,पूर्व०, जि० २; बी० सी० लॉ, हिस्ट्री ऑव् पालि लिटरेचर; पाण्डे, ऑरिजिन्स ऑव् बुद्धिज्म।

६—विषय विवाद-ग्रस्त है—द्र०—ऑरिजिन्स ऑव् बुद्धिज्म, पृ० ५७३–७४।

स्तरों का एवं प्रादेशिक प्रभावों का यथेष्ट सूक्ष्म विवेचन अभी तक नहीं हो पाया है। बुद्धघोष के अनुसार पालि वास्तव में मागधी है। बुद्ध भगवान् ने अवश्य मागधी मे देशना की, किन्तु पालि को मागधी नहीं माना जा सकता क्योंकि उसमें मागधी के प्रसिद्ध लक्षण उपलब्ध नहीं होते—'र' के स्थान पर 'ल', एवं 'स' के स्थान पर 'श' रखने की प्रवृत्ति, तथा अकारान्त पुल्लिंग एवं नपुंसक-लिंग के एक वचन की प्रथमा विभक्ति में 'ए' का प्रयोग। इस प्रसंग में यह स्मरणीय है कि बुद्ध भगवान् ने अपने शिष्यों को यह अनुमति दी थी कि वे उनके उपदेशों को अपनी-अपनी बोली में याद रखें[७]। अतएव मूल देशना मागधी मे होते हुए भी मागधी के संरक्षण का विशेष प्रयास न किया गया तो आश्चर्य नहीं है।

सिंहल में पालित्रिपिटक महेन्द्र लाये थे। वे विदिशा के निवासी थे और वहीं से पश्चिमी तट के मार्ग से कदाचित् सिंहल पहुँचे। अतएव यह स्वाभाविक है कि वे अपने प्रदेश में प्रचलित त्रिपिटक लाये हों एवं उसी प्रदेश की बोली में वह निबद्ध हो। पालि की तुलना खारवेल के अभिलेख की भाषा से की गयी है एवं अशोक की गिरनार में उपलब्ध धर्म-लिपियों से भी उसका सादृश्य बताया गया है। एक प्राचीन परम्परा के अनुसार स्थविरवादी पिटक पैशाची में था। यह पैशाची कदाचित् उत्तरपश्चिम की भाषा न होकर मध्य-भारत की थी, जिसमें कि कालान्तर में गुणाढ्य ने **बृहत्कथा** की रचना की। ये सब प्रकट सादृश्य एवं अनुश्रुतियाँ पालि को मध्य-भारतीय सिद्ध करती हैं। स्थविरवाद के प्रसार की दिशा का स्मरण करने से यही सम्भावना दृढ़तर होती है कि पालि विदिशा और अवन्ति के प्रदेश की बोली रही होगी।

पालि-त्रिपिटक—जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, बौद्ध परम्परा के अनुसार धर्म और विनय का संग्रह पहली संगीति में हुआ था एवं अभिधर्म का अन्तिम ग्रन्थ **कथा-वत्थु** तीसरी संगीति में रचा गया। अभिधर्म को बुद्धवचन नहीं माना जा सकता और यह प्रायःसर्व-सम्मत है कि विभिन्न उपलब्ध अभिधर्मो की—जिनमें सर्वास्तिवादी एवं थेरवादी अभिधर्म प्रधान हैं—तुलना करने पर उनकी निकाय-भेद से उत्तरकालीनता एवं साम्प्रदायिकता स्पष्ट हो जाती है। विनय और सूत्र पिटकों की विभिन्न साम्प्रदायिक प्रतियों के उपलब्ध तुलनीय अंशों की आलोचना से यह प्रतीत होता है कि वे किसी अभिन्न मूल पर आधारित रहे होंगे। इन साम्प्रदायिक प्रतियों में प्रधान भेद प्रायः

७–"सकाय निरुतियाँ"—चुल्लवग्ग (ऊपर उद्धृत), यहाँ "स्व" का संकेत श्रोताओं की ओर मानना ही ठीक है।

वस्तुगत न होकर संग्रह, क्रम एवं विस्तार के विषय में हैं। सूत्रपिटक के खुद्दक-निकाय अथवा क्षुद्रकागम की स्थिति इस प्रसंग में निराली है। इसके अभ्यन्तर अनेक ग्रन्थ संगृहीत हैं और अपने वर्तमान रूप में इस संग्रह को साम्प्रदायिक कहना होगा, यद्यपि इसके अन्तर्गत अनेक प्राचीन और सर्व-निकाय-सम्मत सन्दर्भों की सत्ता निर्विवाद है।

ईसापूर्व दूसरी शताब्दी के अभिलेखों में पेटकी, सुत्तन्तिक, पञ्चनेकायिक आदि पदों के उपलब्ध होने से पिटकों की प्राचीनता द्योतित होती है। अशोक के द्वारा निर्दिष्ट धर्म-पर्याय प्रस्तुत त्रिपिटक के ही भाग प्रतीत होते हैं और यह भी उनकी प्राचीनता एवं प्रामाणिकता का समर्थक है। त्रिपिटक में अशोक के नाम का अनुल्लेख भी इस प्रसंग में स्मरणीय है! अशोक के समय तक कम-से-कम विनयपिटक एवं सूत्रपिटक के चार-निकायों तथा पाँचवें निकाय के अनेक अंशों की रचना हो चुकी थी। अभिधर्म का कितना भाग उस साहित्य के अन्तर्गत था जिसे अशोक के समय में महेन्द्र सिंहल ले गये, यह कहना कठिन है। भारत और ताम्रपर्णी का सम्बन्ध उन दिनों और पीछे बराबर बना हुआ था। अतएव यह सम्भव है कि कुछ धर्म-ग्रन्थ अशोक के बाद दक्षिण-भारत से भी सिंहल पहुँचे हों। इस कल्पना के समर्थन के लिए साक्षात् प्रमाण बहुत नहीं हैं तथापि कुछ संकेत प्राप्त होते हैं। **कथावत्थु** की अट्ठकथा के अनुसार कथावत्थु में 'अन्धकों' के एवं उनकी शाखाओं के अनेक मत उल्लिखित हैं। ये मत, विशेषतः 'वैतुल्यकों' के, अशोक से उत्तरकालीन हैं एवं दक्षिण-भारतीय हैं। दक्षिणभारत से सिंहल का सम्बन्ध अनेक उल्लेखों से विदित है[८]। इस प्रकार यह प्रतिपादित करना सत्य से विदूर न होगा कि वर्तमान पालि त्रिपिटक का अधिकांश अशोक से पूर्वकालीन है। सम्भवतः अभिधम्म के कुछ अंश, विशेषतः **कथावत्थु** अशोक के परवर्ती हों। ई० पू० पहली शताब्दी में समस्त त्रिपिटक सिंहल में वट्टगामणि के शासन-काल में लिखा गया था। परम्परा के अनुसार अट्ठकथा भी इसी समय लिपिबद्ध हुई। बुद्धघोष की अट्ठकथाओं से अनुमेय है कि इन पुरानी अट्ठकथाओं में बुद्धकालीन भारत के सम्बन्ध में कितनी सूक्ष्म जानकारी थी। अतः उन अट्ठकथाओं को भी त्रिपिटक के साथ समानीत व्याख्या की परम्परा पर आधारित मानना होगा।

थेरवादी मत के अनुसार बुद्ध-वचन तीन पिटकों में, पांच निकायों में, नव अंगों में, अथवा चौरासी हज़ार धर्मस्कन्धों में संगृहीत हैं। तीन पिटक प्रसिद्ध हैं—विनय-

८—सरकार, सक्सेसर्स ऑव् दि सातवाहनज, पृ० २८।

पिटक, सुत्तन्त-पिटक एवं अभिधम्मपिटक। पिटक शब्द के अर्थ 'पर्याप्ति' एवं 'भाजन' किये गये हैं[९]।

'परियत्ति' (पर्याप्ति) शब्द के अर्थ सामर्थ्य अथवा शिक्षा अभिप्रेत हैं। भाजन अथवा पात्र के अर्थ में पिटक शब्द का प्रयोग सुविदित है एवं कदाचित् पिटक शब्द का प्रयोग प्रारम्भ में राशीकृत शिक्षा के अनुप्रदाय को सूचित करने के लिए हुआ। जैसे वाहकों की परम्परा से पिटकों में राशीकृत उत्खात मृत्तिका आदि का अनुप्रदान होता है, ऐसे ही शिक्षा का भी विभिन्न सुत्तन्तिक, विनयधर एवं मातिकाधर स्थविरों की गुरु-शिष्य परम्परा के द्वारा विभिन्न राशियों अथवा पिटकों में अनुप्रदाय होता रहा है।

इन तीन पिटकों को क्रमशः आज्ञा, व्यवहार एवं परमार्थ की देशना; यथापराध, यथानुलोम एवं यथाधर्म शासन, तथा संवरासंवर, दृष्टिविनिवेष्टन, एवं नामरूप-परिच्छेद की कथा कहा गया है। विनयपिटक में अपराधों का शासन है, आज्ञा का बाहुल्य है, एवं संवरासंवरकी कथा है। सुत्तन्त-पिटक में व्यवहार की देशना है, अनेक सत्वों की चित्तप्रकृति एवं प्रवृत्ति के अनुरूप (अनुलोम) शासन है, तथा बासठ दृष्टियों के खंडन की कथा है। अभिधम्मपिटक में परमार्थ देशना है, अहं एवं मम में अभिनिवेश करने वाले जीव के स्थान पर धर्मपुंज-मात्र का शासन है तथा नाम-रूप को परिभाषित किया गया है। विनयपिटक की शिक्षा अधिशीलशिक्षा है, सुत्तन्तपिटक की अधिचित्त शिक्षा एवं अभिधम्मपिटक की अधिप्रज्ञ शिक्षा है। विनयपिटक के परिशीलन से व्यतिक्रम-प्रहाण होता है, सुत्तन्त-पिटक से पर्यवस्थान-प्रहाण, अभिधम्मपिटक से अनुशयप्रहाण[१०]।

विनय और सुत्तपिटक—विनयपिटक का सामान्य विवरण ऊपर दिया जा चुका है। यह उल्लेखनीय है कि पालि विनय में प्रातिमोक्ष सूत्र अलग से नहीं रखे गये हैं, किन्तु विभग के अन्तर्गत रूप में ही प्रस्तुत किये गये हैं। सम्पूर्ण विभंग को, जिसमें भिक्षु-प्रातिमोक्ष सूत्र का एवं भिक्षुणी-प्रातिमोक्ष-सूत्र का प्राचीन व्याख्यान है, दो विभागों में बाँट दिया गया है जिन्हें पाराजिक एवं पाचित्तिय की आख्या दी गयी है।

९—द्र०,—पिटकं पिटकत्थविदू परियत्तिभाजनत्थतो आहु।
तेन समोधानेत्वा तयो पि विनयादयो ञेय्या॥
(अट्ठसालिनी, पृ० १८)

१०—द्र०—अट्ठसालिनी, पृ० १८ प्र०।

खंधक में महावग्ग एवं चुल्लवग्ग के दो विभाग संगृहीत हैं। सम्बोधि के समनन्तर बुद्धचर्या के विवरण से महावग्ग का प्रारम्भ होता है एवं राजगृह में शारिपुत्र-मौद्गल्यायन की प्रव्रज्या तक बुद्ध के जीवनचरित्र का निरूपण कर उसमें प्रव्रज्या, उपसम्पदा आदि के लिए अपेक्षित सामान्य नियमों का वर्णन है। जिन परिस्थितियों में नियम बनाने की आवश्यकता हुई, उनका कथा के रूप में हर बार उल्लेख किया गया है। चुल्लवग्ग के अन्त में बुद्ध की जीवनी का कोई अंश नहीं है और पहली संगीति का विवरण असम्बद्ध परिशिष्टवत् जोड़ दिया गया है। खंधक के अतिरिक्त पालि विनयपिटक में परिवार नाम से एक और भाग है। यह भाग स्पष्ट ही बहुत बाद की कृति है।

पालि सुत्तन्तपिटक पाँच निकायों में विभक्त है—दीघनिकाय, मज्झिमनिकाय, संयुक्तनिकाय, अंगुत्तरनिकाय एवं खुद्दकनिकाय। दीघनिकाय में तीन वर्गों में ब्रह्मजाल आदि चौंतिस सुत्तन्तों का संग्रह है। परम्परा के अनुसार दीघनिकाय का नाम उसके अन्तर्गत सूत्रों के प्रमाणदैर्घ्य के कारण है। चीनी भाषा में उपलब्ध दीर्घागम में कुल तीस सूत्र हैं, जिनमें से छः पालि दीघनिकाय में कम-से-कम उन्हीं नामों से उपलब्ध नहीं होते हैं[11]। ऐसे ही, दीघनिकाय के दस सुत्तन्त दीर्घागम में उपलब्ध नहीं होते। इनमें से कुछ आगमान्तर अथवा निकायान्तर में मिलते हैं, जिससे यह सूचित होता है कि विभिन्न सम्प्रदायों में सूत्रान्तों का समान रूप से राशीकरण नहीं हुआ। मज्झिमनिकाय एवं मध्यमागम, संयुक्तनिकाय एवं संयुक्त-आगम की तुलना से भी यह निष्कर्ष समर्थित होता है। सूत्रों का क्रम भी इन सम्प्रदायों में बहुत विभेद प्रकट करता है। फ्रांके महोदय ने पालि दीघनिकाय में ब्रह्मजाल सुत्तन्त के अग्रवर्ती होने के कारण उसके क्रम को अधिक प्रामाणिक कहा है और यह सुझाव युक्तियुक्त प्रतीत होता है। पालि दीघनिकाय के दूसरे एवं तीसरे भाग पहले की अपेक्षा साधारणतः परवर्ती सूत्रान्तों को प्रस्तुत करते हैं, किन्तु यह नहीं समझना चाहिए कि दीघनिकाय के पहले दस सुत्तन्त सम्पूर्णतः बाद के बीस सुत्तन्तों से प्राचीन हैं। सुत्तन्तों में अनेक स्थलों पर अनेक स्तर संगृहीत हैं। उदाहरण के लिए महापरि-निब्बान सुत्तन्त में बहुत प्राचीन सामग्री के साथ-साथ बहुत बाद तक संयोजित सामग्री उपलब्ध होती है। ब्रह्मजाल-सुत्तन्त में प्राचीन

११—चीनी त्रिपिटक पर द्र०—नन्जियो, कैटेलोग; ; सी० अकानुमा, कम्पेरेटिव कैटेलोग ऑव् दि चाइनीज् आगमज् एण्ड दि पालि (टोकियो १९५८); आनेसाकि, जे० आर० ए० एस०, १९०१, पृ० ८९५ प्र०। पालि निकायों का विस्तृत आलोचन द्र०—ओरिजिन्स ऑव् बुद्धिज्म, भाग १।

सामग्री का अपेक्षाकृत उत्तरकालीन विवरण प्रस्तुत है। सामञ्ञफलसुतन्त अवश्य बहुत प्राचीन प्रतीत होता है।

मज्झिमनिकाय में मध्यम प्रमाण के एक सौ बावन सूत्रों का पन्द्रह वर्गों में संग्रह किया गया है। स्पष्ट ही इस प्रकार का वर्गीकरण उत्तरकालीन है। चीनी मध्यमागम की तुलना मे भी सूत्रों के क्रम और संग्रह की प्रामाणिकता पर सन्देह उत्पन्न होता है। अन्तिम पण्णास में अपेक्षाकृत उत्तरकालीन सूत्रों का संग्रह प्रतीत होता है। अपेक्षाकृत प्राचीन सूत्रों में निम्नांकित सूत्रों का निर्देश किया जा सकता है—

सूत्र संख्या ७, १७, २४, २९, २६, ६१, ६३, ७१, १०८, १४०, १४४, १५२।

संयुक्तनिकाय में, परम्परा के अनुसार, ७७६२ सूत्रों का पाँच वर्गों में संग्रह किया गया है। पहला वर्ग सगाथवग्ग, दूसरा निदानवग्ग, तीसरा खंधवग्ग, चौथा सळायतनवग्ग एवं पांचवां महावग्ग है। चीनी भाषा में संयुक्तागम के तीन भेद उपलब्ध होते हैं, जिनमें क्रम एवं वस्तु के संग्रह में अपेक्षाकृत अधिक वैविध्य प्रकट होता है। संयुत्तनिकाय के कुछ सूत्रों में अत्यन्त प्राचीन संदर्भ संरक्षित हैं, किन्तु अधिकतर में सूचीकरण एवं परिगणन की परवर्ती शैली का प्राधान्य है। अंगुत्तर-निकाय में प्राचीन अनुश्रुति के अनुसार ९५५७ सूत्रों का संग्रह है। वस्तुतः अंगुत्तर में २३४४ सूत्रों से अधिक उपलब्ध नहीं होते । ये सूत्र १६० वर्गों में विभक्त हैं। इन वर्गों का ग्यारह निपातों में संग्रह किया गया है। इन निपातों में सूत्रों को इस प्रकार से रखा गया है कि उनमें वर्ण्य वस्तु की संख्या में एकोत्तर वृद्धि का क्रम प्रदर्शित हो। इसी कारण समस्त संग्रह का नाम अंगुत्तरनिकाय अथवा एकोत्तरागम पड़ा। ग्यारहवाँ निपात स्पष्टतः अप्रामाणिक है। इस प्रसंग में अभिधर्मकोश-व्याख्या की यह उक्ति स्मरणीय है—

'तथाहि एकोत्तरिकागम आशताद् धर्म-निर्देश आसीदिदानीं तु आदशकाद् दृश्यत इति ॥'

खुद्दकनिकाय के सम्बन्ध में बुद्धघोष का कहना है कि चार निकायों को छोड़कर शेष बुद्ध-वचन—विनयपिटक और अभिधम्मपिटक तथा खुद्दकपाठ आदि पन्द्रह ग्रन्थ—सब खुद्दक-निकाय है—

किन्तु प्रायः खुद्दक-निकाय शब्द से खुद्दक-पाठ आदि सन्दर्भ ही सूचित होते है। इनके नाम इस प्रकार हैं—खुद्दकपाठ, धम्मपद, उदान, इतिवुत्तक, सुत्तनिपात, विमानवत्थु, पेतवत्थु, थेरगाथा, थेरीगाथा, जातक, निद्देस, पटिसम्भिदा, अपदान, बुद्धवंस एवं चरियापिटक। इनमें से अनेक ग्रन्थ संस्कृत में भी उपलब्ध थे। चीनी त्रिपिटक में धर्मपद के चार अनुवाद प्राप्त होते हैं। धर्मपद एक विविध और प्रकीर्ण संग्रह प्रतीत

होता है। इस प्रकार के वैराग्यपरक पद्य शान्तिपर्व तथा सूयगंडग आदि में भी उपलब्ध होते हैं। उदान में पद्यमय उदानों की अपेक्षा कथाएं परवर्ती लगती हैं। इतिवुत्तक में ११२ सूत्र चार निपातों में संगृहीत हैं। ?तु-निपात का इतिवुत्तक के चीनी अनुवाद में अभाव है। पहले दो निपात एवं तीसरे के पूर्वार्ध में अपेक्षाकृत प्राचीन सुत्तों का संग्रह है। सुत्त-निपात अत्यन्त महत्त्वपूर्ण एवं प्राचीन सन्दर्भ है, विशेषतः इसके पारायण और अट्ठकवग्ग।

विमानवत्थु और पेतवत्थु स्पष्ट ही परवर्ती ग्रन्थ हैं। विमानवत्थु में देवलोक के प्रासादों[12] की महिमा वर्णित है। इसमें सात वग्गों में तिरासी (८३) कथाएँ दी हुई हैं। पेतवत्थु में चार वग्गों में ५१ कथाएँ हैं जिनमें कि अपुण्यात्मा प्रेतों के दुःख का विवरण है। थेरगाथा एवं थेरीगाथा में भिक्षुओं और भिक्षुणियों की निर्मित गाथाएँ संगृहीत हैं। ये दोनों संग्रह एक प्रकार के प्राचीन काव्यसंग्रह हैं। थेरगाथा में बाह्य प्रकृति के सौन्दर्य की ओर भी दृष्टि उन्मीलित है। थेरगाथाएँ १२७९ हैं एवं थेरीगाथाएँ ५२२। जातक में भी पद्य संग्रह है जिसमें कि प्रत्येक गाथा के साथ किसी जातक-कथा का आक्षेप अभीष्ट है। इन गद्यमय कथाओं का इस समय केवल जातकट्ठवण्णना नाम की जातकों की टीका से ही पता चलता है। ये कथाएँ बुद्ध के पूर्व-जन्मों से सम्बन्ध रखती हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि बहुधा नाना प्रचलित कथाओं को परिवर्तित कर एवं सद्धर्म के उपयोगी बनाकर इस संग्रह में रख दिया गया है। भारतीय कथासाहित्य का यह सबसे प्राचीन संग्रह है। निद्देस सुत्तनिपात की टीका है। पटिसंभिदामग्ग में आध्यात्मिक साक्षात्कारात्मक ज्ञान का विवरण प्रस्तुत किया गया है। अपदान में पद्यमय कथाओं का संग्रह है जिनमें विशिष्ट बौद्धों के उदारचरितों का वर्णन है। इनकी तुलना संस्कृत बौद्ध साहित्य के अवदानों से करनी चाहिए। बुद्धवंस भी पद्यात्मक है एवं इसमें २४ पूर्ववर्ती बुद्धों की तथा गौतम बुद्ध की कथा कही गयी है। चरियापिटक २५ पद्यमय जातकों का संग्रह है। इसमें १० पारमिताओं का विवरण प्राप्त होता है।

अट्ठकथाएं—ऊपर कहा जा चुका है कि महावंस के अनुसार महेन्द्र अपने साथ अट्ठकथाएँ भी लाये थे। ये अट्ठकथाएँ सिंहली भाषा में अनेक शताब्दियों तक उपलभ्य थीं, किन्तु अब लुप्त हो चुकी हैं। इनमें विनय की अट्ठकथा का नाम कुरुन्दी था। सुत्तपिटक की अट्ठकथा महाअट्ठकथा कही जाती थी एवं अभिधम्म की अट्ठकथा

१२-अट्ठसालिनी, पृ० २२, "दीघ आदि इन चार निकायों को छोड़कर शेष बुद्ध-वचन खुद्दक-निकाय है।"

महापच्चरी के नाम से प्रसिद्ध थी। चुल्लपच्चरी , अन्धट्ठकथा, पण्णवार, एवं संखे-पट्ठकथा के नाम भी प्राप्त होते हैं। बुद्धघोष ने इन अट्ठकथाओं के आधार पर पालि में अट्ठकथाएँ लिखीं। बुद्धघोष के जीवनचरित का विवरण महावंस से प्राप्त होता है।

अभिधर्म का उद्भव और विकास

बुद्धघोष के द्वारा उल्लिखित परम्परा[13] के अनुसार तथागत ने सम्बोधि के चतुर्थ सप्ताह में अभिधर्म के तत्त्वों का प्रत्यवमर्श किया तथा 'महाप्रकरण' के चौबीस प्रत्ययों में ही उनकी सर्वज्ञता ने अपने अनुरूप अवकाश का लाभ किया। उस समय उनके शरीर से ६ रंगों की रश्मियाँ निष्क्रान्त हुई। चित्त से समुद्गत इस प्रकाश का प्रसार वस्तुतः अभिधर्म के ज्ञान का अनुभव एवं एक प्रकार की मानसिक देशना थी। पीछे त्रयस्त्रिंश देवलोक में मातृ प्रमुख देवताओं को उन्होंने तीन महीने में अभिधर्म का उपदेश किया एवं "निर्मित" बुद्ध को अपने स्थान पर छोड़ कर अपने उपदेश का मर्म प्रतिदिन सारिपुत्त को अनवतप्त-सर के तीर पर पिण्डदान-परिभोग के अनन्तर चन्दन-वन में बताया। सारिपुत्र ने अपने ५०० शिष्यों को उपदेश किया।

बुद्धघोष के अनुसार पहली संगीति में अभिधम्म का भी संगायन हुआ। यह उल्लेखनीय है कि एक परम्परा के अनुसार अभिधम्म का खुद्दक निकाय में संग्रह किया जाता था। पालि अभिधर्म-पिटक का विकास सम्भवतः मातृकाओं से हुआ है जिनका उल्लेख विनयपिटक में प्राप्त होता है। मातृकाएँ 'धर्मों' की सूचियाँ थीं। **धम्मसंगणि** का प्रारम्भ एक मातृका से होता है और उसी को **अभिधम्म-पिटक** का मूल कहा गया है। **पुग्गलपञ्ञत्ति** और **धातुकथा** भी मातृकाओं से प्रारम्भ होती हैं।

यह स्मरणीय है कि अभिधम्मपिटक में प्रायः उन्हीं सिद्धान्तों का विश्लेषण और रीतिबद्ध प्रतिपादन किया गया है जो सुत्तपिटक में बीजरूप से उपलब्ध होते हैं। बुद्धघोष ने अभिधर्म की देशना को परमार्थ देशना अथवा निष्पर्याय देशना कहा है। पिटकान्तर से विभेदपूर्वक यहाँ कथादि वर्जित, शुष्क तात्विक निरूपण किया गया है।

(२) **धर्म और अभिधर्म**—प्रारम्भ से ही बौद्ध धर्म में मनोवैज्ञानिक विश्लेषण-पूर्वक नैतिक साधन पर जोर दिया गया था। बौद्ध भिक्षु के लिए आवश्यक था कि वह पुण्यभागीय गुणों का संग्रह करे तथा अपुण्यभागीय अवगुणों का त्याग, एवं निरन्तर जागरूकता, सतर्कता और विवेक के द्वारा तृष्णा और असत्कर्म से अपनी रक्षा करे।

१३—अट्ठसालिनी, पृ० १२।

साधारण मनुष्य देह और चित्त के व्यापारों को आत्मिक व्यापार समझकर उनके सम्मुख विवश हो जाता है। काम हो, क्रोध हो, आलस्य हो, उत्तेजना हो, इन सब प्रवृत्तियों को अपनी प्रवृत्ति समझकर लोग उनके अनुसार कर्म अथवा अकर्मण्यता में निरत रहते हैं। सद्धर्म के अनुसार मानसिक व्यापार एवं अनुभव की प्रक्रिया एक अस्थिर प्रवाह है जिसमें अनेक तत्वों का संयोग और वियोग निरन्तर होता रहता है। कार्य-कारण-भाव से परतन्त्र इस प्रक्रिया में किसी प्रकार की आत्मा अथवा आत्मीयता की वास्तविक सत्ता नहीं है। जैसे कार्य-कारण-भाव से परतन्त्र बीजांकुर न्याय से वनस्पति जगत् का जीवन-चक्र चलता रहता है, ऐसे ही अविद्या, काम, कर्म और दुःख का नियत प्रवाह मानव-जीवन में भी अनादि काल से प्रवृत्त है। फलतः बाह्य प्रकृति एवं आध्यात्मिक अथवा आभ्यंतरिक प्रकृति को नाना तत्त्वों में विभाजित कर उनके परस्पर कार्यकारण-सम्बन्ध के परिज्ञान का प्रयत्न बौद्धों के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण बन गया। जिन नाना तत्त्वों में अनुभव को विभाजित किया गया वे ही अभिधर्म में धर्म अथवा धम्म कहे गये। धर्म शब्द के पूर्व-इतिहास का ऊपर निर्देश किया जा चुका है। यह स्मरणीय है कि प्राचीन बौद्ध प्रयोग में धर्म-शब्द से प्रायः दो अर्थ सूचित होते हैं—अतर्क्य परमार्थ तत्त्व एवं नाना अनित्य संस्कार। संस्कृत और असंस्कृत धर्मों का भेद भी सूत्रान्तों में उपलब्ध होता है, एवं धर्म को कुछ स्थलों पर 'रूप' का प्रतियोगी माना गया है। बुद्धघोष का कहना है 'धम्मसद्दो पनायं परियत्ति-हेतु-गुण-निस्सत्तनिज्जीवतादीसु दिस्सति। ...अत्तनो पन सभावंधारेन्तीति धम्मा। धारियन्ति वा पच्चयेहि, धारयन्तिवा यथासभावतो ति धम्मा।'[१४] इससे प्रकट होता है कि अभिधर्म के अनुसार आत्मा के स्थान पर "निस्सत्व-निर्जीव" तत्त्वों को प्रतिष्ठित करना चाहिए। ये तत्त्व पृथक्-पृथक् स्वभाव वाली अनेक सत्ताएँ हैं जोकि कार्यकारण भाव के अधीन निरन्तर प्रवाह-शील हैं। यह स्मरणीय है कि संयुत्त में वजिराभिक्खुनी ने "सुद्धसंखारपुञ्जोयं" की घोषणा पहले ही कर दी थी[१५]। यह विचारणीय है कि धर्म शब्द अनित्य संस्कार एवं नित्यनिर्वाण तथा भौतिक एवं मानसिक तत्त्वों का समान रूप से अभिधान करता है। इस व्यापक प्रयोग से यह सूचित होता है कि अनुभव की धारा में विषय और विषयी के बीच कोई अगाध खाई नहीं है। इस दृष्टिकोण को आधुनिक शब्दों में कभी यथार्थवादी (रीयलिस्ट, पॉजिटिविस्ट) माना गया है एवं कभी प्रतिभासवादी (फेनोमेनलिस्ट)

१४—अट्ठसालिनी, पृ० ३३।

१५—संयुत्त (ना०) जि० १, पृ० १३५।

बताया गया है[१६]। वस्तुतः ये दोनों ही नाम भ्रामक हैं क्योंकि अभिधर्म की दृष्टि न तो बाह्यार्थ-परायण है, न केवल प्रतीति-विश्रान्त। धर्म-वस्तु-मात्र है जिसके चित्त और भूत दो प्रधान विभाग हैं। दोनों ही अनात्मक हैं एवं उनकी इस अनात्मक वस्तुसत्ता—निस्सत्व-निर्जीवता—की सूचना से ही स्थविरवादी बौद्ध अभिधर्म सन्तुष्ट था।

(३) **अभिधर्म-"नैतिक मनोविज्ञान"**—अनुभव के व्यापार और प्रक्रिया को नाना धर्मों में विभाजित करना एवं उनके संयोग और वियोग में कार्य-कारण-सम्बन्ध का विश्लेषण करना अभिधर्म का प्रधान कार्य है। यह विशेष रूप से अवधेय है कि मानसिक व्यापारों के वैज्ञानिक अध्ययन के लिए ये ही दो मौलिक सिद्धान्त हैं—अनुभव को तत्त्वशः विभाजित करना, एवं उसको कार्य-कारण-नियम के परतन्त्र मानना। अनुभव को प्रतीत्यसमुत्पन्न धर्मों का संघात और संतति मानकर बौद्धों ने यथार्थ में मनोविज्ञान की नींव डाली, किन्तु आधुनिक मनोविज्ञान से इस प्राचीन मनोविज्ञान के भेद विस्मरणीय नहीं हैं। आधुनिक मनोविज्ञान अपने आप को नीति-निरपेक्ष मानता है, जबकि प्राचीन मनोविश्लेषण नैतिक एवं आध्यात्मिक प्रयोजनों से प्रेरित था। इससे अधिक महत्त्व की बात यह है कि बौद्ध लोग 'कुशल' और 'अकुशल' (अर्थात् 'गुड' और 'ईविल') का भेद विज्ञानवत् शास्त्र-निरूपणीय मानते थे। इसके अतिरिक्त बौद्ध मनोविज्ञान में सामान्य मनुष्य-लोक के अतिरिक्त अन्य लोकों के अनुभव की एवं लोकोत्तर-अनुभव की भी चर्चा है। अन्ततः, आधुनिक मनोविज्ञान की दैहिक व्यापारों तथा सामाजिक भावनाओं एवं व्यवहार के विश्लेषण के साथ विशेष आसक्ति है।

(४) **सूत्र-पिटक और अभिधर्म-पिटक**—पूर्वोक्त विवरण से यह स्पष्ट होगा कि अभिधर्म में उन्हीं प्रवृत्तियों का विस्तार पाया जाता है जो कि बीज-रूप से प्राचीनतर सद्धर्म में सूत्रपिटक में उपलब्ध हैं। एक बड़ा भेद अवश्य आलोचनीय है। प्राचीन सद्धर्म में अवर्णनीय एवं अतर्क्य परमार्थ की चर्चा का महत्त्व था। निर्वाण का लक्ष्य निरन्तर सामने रखा जाता था एवं उसकी महिमा का उल्लेख किया जाता था। अहंकार एवं मिथ्या आत्मवाद का निराकरण होते हुए भी आत्म-गवेषणा, अध्यात्मरति एवं अस्तित्व तथा नास्तित्व के परे मध्यमा प्रतिपदा का उपदेश प्रमुख था। अभिधर्म में इन सबका प्रायः अभाव है। सारा ध्यान धर्मों के विभाजन और वर्गीकरण की ओर दिया गया है ताकि बौद्ध साधक को हर उत्पन्न होती हुई मानसिक अवस्था का नाम और कार्य परिचित हो जाय एवं उसकी भावना अथवा प्रहाण उसके लिए सम्भव हो।

१६–तु०—रोजनबर्ग, दी प्रोब्लेम देर बुद्धिस्तिशेन फिलोज़ोफी, पृ० ९४–१०४।

धर्म का प्राचीनतम विभाजन नाम-रूप में था, यद्यपि सूत्रपिटक में धर्मों का विभाजन प्रायः पाँच स्कन्धों में पाया जाता है—रूपस्कन्ध, विज्ञानस्कन्ध, वेदनास्कन्ध, संज्ञास्कन्ध एवं संस्कारस्कन्ध। इन पांच-स्कन्धों के संघात से ही मानव जीवन का व्यापार सम्पन्न होता है एवं मोक्ष के लिए इनका प्रहाण आवश्यक है। इनको उपादान-स्कन्ध भी कहा गया है क्योंकि इनकी उत्पत्ति तृष्णा और कर्म से होती है। इनकी उत्पत्ति और परिणति का क्रम द्वादश निदानात्मक प्रतीत्यसमुत्पाद में निर्दिष्ट है। इस प्रकार सूत्रपिटक में पंचस्कन्धवाद एवं द्वादश निदानों के द्वारा अनुभव के जगत् का विश्लेषण किया गया है। अनेक स्थलों में स्कन्धों के स्थान पर धातुओं में एवं आयतनों में धर्मविश्लेषण किया गया है। अभिधर्मपिटक में पाँच स्कन्धों का महत्त्व घट गया है और साथ ही पुराने प्रतीत्यसमुत्पाद का। पाँच स्कन्धों के स्थान पर चित्त एवं रूप के विभाजन को पुनः प्रधान मान कर दोनों के अनेक अवान्तर विभाग किये गये हैं। इनमें चित्त के कुशल, अकुशल, एवं अव्याकृत, ये तीन विभाग सर्वप्रधान हैं। ऐसे ही प्रतीत्य-समुत्पाद का स्थान पट्ठान में नाना पच्चयों ने ले लिया है।

अभिधर्मपिटक में धम्मसंगणि, विभंग, धातुकथा, कथावत्थु, पुग्गलपञ्ञत्ति, यमक और पट्ठानपकरण नाम के सात ग्रन्थ संगृहीत हैं। प्रायः अभिधम्म के ग्रन्थों में पारि-भाषिक पद, उनका वर्गीकरण, और उनके अर्थ दिये गये हैं। कथावत्थु में न्यायवाक्यों का परिचय मिलता है एवं वादकथाओं का विस्तार पाया जाता है। धम्मसंगणि में मातृका के अनन्तर धर्मों का अनुपद और व्यवस्थित विवरण दिया गया है। मातृका में पहले २२ त्रिक धर्मों का उल्लेख किया गया है और उसे 'तिक-मातिका' कहा गया है। इस सूची में संगृहीत धर्मों के कुछ उदाहरण इस प्रकार है—

(१) कुशलधर्म, अकुशलधर्म, अव्याकृत धर्म,

(२) सुखवेदना, संप्रयुक्तधर्म, दुःखवेदना, संप्रयुक्त धर्म, अदुःखासुखवेदना, संप्रयुक्त धर्म।

(३) विपाकधर्म, विपाकधर्म-धर्म, न विपाक-धर्म न विपाकधर्म-धर्म।......

(५) संक्लिष्ट-सांक्लेशिक धर्म, असंक्लिष्ट-सांक्लेशिक धर्म, असंक्लिष्ट-असां-क्लेशिक धर्म,

(६) सवितर्क-सविचार धर्म, अवितर्क-विचारमात्रधर्म, अवितर्काविचार धर्म।

इस प्रकार अनेक धर्मों का यहाँ पर त्रिधाकृत संग्रह है। अनन्तर अभिधम्म-मातिका का नाम दिया गया है और उसमें हेतुगोच्छक, चूलन्तरदुक, आसव-गोच्छक, संयोजन-गोच्छक, गन्थगोच्छक, ओघ-गोच्छक, योग-गोच्छक, नीवरण-गोच्छक, परा-

मास-गोच्छक, महन्तर-दुक, उपादान-गोच्छक, किलेस-गोच्छक एवं पिट्ठिदुक नाम के वर्गों में कुछ धर्मों को द्विधा विभाजित कर संगृहीत किया है, जैसे हेतुधर्म, अहेतुधर्म; सहेतुक धर्म, अहेतुक धर्म। इसके अनन्तर सुत्तन्तमातिका दी गयी है जिसमें अनेक धर्मद्विक संगृहीत हैं, जैसे, विद्याभागीय-धर्म, अविद्याभागीय-धर्म; विद्योपम धर्म, वज्रोपम धर्म, इत्यादि। कुल मिलाकर अभिधम्ममातिका में २२ तिक और १०० दुक हैं एवं सुत्तन्तमातिका में ४२ दुक हैं। इनमें सुत्तन्तमातिका बाद की प्रतीत होती है। सम्पूर्ण ग्रन्थ चार खण्डों में विभक्त है—चित्तोत्पाद कांड, रूपकांड, निक्षेप-कांड, और अर्थोद्धार-कांड। पहले दो कांड मातिका के पहले तिक की विस्तृत व्याख्या प्रस्तुत करते हैं। तीसरे कांड में दूसरे बाद के तिकों का विस्तार व्याख्यात है। चारों काडों में संक्षिप्त रूप में तिकों का एवं अभिधम्ममातिका के दुकों का व्याख्यान दिया गया है। सुत्तन्त-मातिका की व्याख्या इसमें नहीं है। परम्परा के अनुसार चतुर्थ कांड शारिपुत्र की कृति है। अन्तिम दो काण्डों को परवर्ती मानना युक्तियुक्त प्रतीत होता है।

धम्मसंगणि का अर्थ धर्म-सम्बन्धी प्रश्नोत्तरी करना ठीक होगा[17]। पहले कांड का प्रारम्भ इस प्रकार होता है—'कतमे धम्मा कुसला—इमे धम्मा कुसला'। इसी शैली में सम्पूर्ण ग्रन्थ की रचना हुई है।

(५) **धम्मसंगणिचित्त के भेद**—धम्मसंगणि के चित्तोत्पाद काण्ड में ८९ प्रकार के चित्त बताये गये हैं जिनमें २१ कुशलचित्त हैं, १२ अकुशलचित्त एवं ५६ अव्याकृत। २१ कुशलचित्तों में ८ कामावचर कुशलचित्त हैं, ५ रूपावचर, ४ अरूपावचर एवं ४ लोकोत्तर। कामावचर कुशलचित्त का विस्तृत विवरण दिया गया है। इनमें ४ सौमनस्य-सहगत हैं, ४ उपेक्षा-सहगत। ये दोनों प्रकार भी ज्ञान-सम्प्रयुक्त तथा ज्ञान-विप्रयुक्त होने के साथ ही ससांस्कारिक अथवा असांस्कारिक होने के कारण पुनः इनका विभाजन किया गया है। रूपावचर-चित्तों का विभाग ५ ध्यानों से सम्बंध रखता है, अरूपावचरचित्तों का विभाग ४ आरूप्यों से एवं लोकोत्तर चित्तों का विभाग ४ भागों से। वस्तुतः कुशल-चित्तों के विवरण में आध्यात्मिक साधन से सम्बद्ध विभिन्न चेतसिक अवस्थाओं का विश्लेषण और निरूपण पाया जाता है। १२ अकुशल चित्तों में ८ लोभमूल हैं, २ द्वेषमूल एवं २ मोहमूल। मोहमूल अकुशलचित्त या विचिकित्सासम्प्रयुक्त होता है या औद्धत्यसम्प्रयुक्त। द्वेषमूल अकुशलचित्त या ससांस्कारिक होता है या असांस्कारिक। लोभमूल अकुशलचित्त सौमनस्यसहगत हो सकता है एवं उपेक्षासहगत,

१७—तु०—धम्मसंगणि, भूमिका, पृ० ११–१२।

और इनमें से प्रत्येक दृष्टिसम्प्रयुक्त अथवा विप्रयुक्त हो सकता है तथा अन्ततः ये अवान्तर विभाग भी असांस्कारिक हों अथवा ससांस्कारिक। अव्याकृतचित्तों में ३६ विपाक रूप हैं, २० क्रियारूप। विपाक-रूप अव्याकृत-चित्त कुशल एवं अकुशल होने के कारण द्विधा विभक्त हैं। क्रिया के अर्थ होते हैं ऐसा व्यापार जिससे भोग्य फल उत्पन्न नहीं होता। क्रिया का तीनों लोकों से सम्बन्ध होने के कारण त्रिधा विभाजन किया गया है।

(६) **चित्त का स्वरूप**—इस विश्लेषण के प्रसंग में धम्मसंगणि ने प्रायः शब्दान्तर-सूची प्रस्तुत कर परिभाषा का प्रयत्न किया है। उदाहरण के लिए चित्त की व्याख्या इस प्रकार है—'चित्त, मन, मानस, हृदय, पांडुर, मन, मनायतन (मन-आयतन), मनिन्द्रिय (मन-इंद्रिय), विज्ञान-स्कन्ध, तज्जा (तज्जन्य) मनोविज्ञान-धातु'[१८]। इस विवरण से चित्त के तत्त्व का द्विधा परिचय प्राप्त होता है, अन्तःकरण के रूप में एवं विषयोपलब्धि के रूप में। सूत्र-पिटक में ही यह कहा जा चुका था कि मन इन्द्रियों का प्रतिशरण है अर्थात् इन्द्रियाँ नाना विषयों की सूचना मन के सम्मुख उपस्थित करती हैं और मन उनका प्रत्यनुभव अर्थात् समन्वय और व्यवस्थापन करता है। जैसे कोई राजा पाँच ग्रामों से आहृत बलि का[१९]। अभिधर्म में चित्त के व्यापार के लिए भी एक भौतिक आधार की सत्ता स्वीकार की गयी है, किन्तु यह भौतिक आधार देह में कहाँ है, इसका अवधारण नहीं किया गया है। पीछे के विवरण से यह स्पष्ट होता है कि हृदय को ही चित्त का भौतिक आधार स्वीकार किया जाता था[२०]। यद्यपि नाना चैतसिक व्यापारों के नाम एवं उनका कोष-शैली से व्याख्यान धम्मसंगणि में उपलब्ध होता है तथापि चित्त के अतिरिक्त अन्य चेतसिक धर्मों की तथात्वेन वर्गीकृत पृथक् सत्ता का व्याख्यान अभी प्राप्त नहीं होता। परवर्ती व्याख्यान में चैतसिक धर्म ५२ बताये गये हैं—वेदना, संज्ञा, एवं संस्कार-स्कन्ध के अन्तर्गत ५० धर्म। यह स्मरणीय है कि प्रारम्भ में केवल तीन ही संस्कारों का उल्लेख मिलता है—काय-संस्कार, वाक्-संस्कार, एवं चित्त-संस्कार[२१]।

१८—धम्मसंगणि, पृ० २२।

१९—मज्झिम, सुत्त ४३; तु०—मिसेज राइजडेविड्स, दि बर्थ ऑव् इण्डियन साइकोलॉजी एण्ड इट्स डिवेलपमेन्ट इन बुद्धिज्म (लण्डन, १९३६), पृ० ३१७—१८।

२०—द्र०—मिसेज राइज डेविड्स, पूर्व० पृ० ४१०।

२१—मज्झिम, सुत्त ४४।

'रूप—रूप का विवरण संयुत्त के अनुसार दिया गया है—४ महाभूत अथवा ४ महाभूतों पर आधारित रूप, इसे कहते हैं रूप[२२]। अर्थात् भूत और भौतिक पदार्थ रूप कहे जाते थे। रूप न हेतु है, न उसका हेतु है, किन्तु वह सप्रत्यय है, संस्कृत है, लौकिक है, एवं सास्रव है। उसे संयोजनीय, उपादानीय, सांक्लेशिक, अव्याकृत, अनालम्बन, एवं चित्त-विप्रयुक्त, तथा अचैतसिक बताया गया है। रूप केवल कामलोक में ही प्राप्त होता है, रूप एवं अरूप-लोक में नहीं। रूप का ज्ञान छः विज्ञानों से होता है। रूप अनित्य है, किन्तु दर्शन अथवा भावना से प्रहातव्य नहीं है। रूप के ११ भेद बताये गये हैं—५ इंद्रियाँ, ५ इन्द्रियों के विषय, एवं वह रूप जो धर्मायतन-पर्यापन्न, अप्रतिघ तथा अनिदर्शन है। इन्द्रियाँ ४ महाभूतों से निर्मित हैं, किन्तु वे एक प्रकार का सूक्ष्म रूप हैं जिसे प्रसाद रूप कहा गया है[२३]। उन्हें 'आध्यात्मिक आयतन' कहा जाता है। वे स्वयं अप्रत्यक्ष हैं, किन्तु सप्रतिघ हैं अर्थात् वे अन्य पदार्थों के लिए आवरण उपस्थित करती हैं। इसी कारण उनके और उनके विषय का सम्पात सम्भव है जिससे कि विज्ञानों की उत्पत्ति होती है। किन्तु इनमें स्पर्शायतन 'अनुपादाय रूप' है। आध्यात्मिक एवं बाह्य आयतन 'औदारिक' अथवा स्थूल रूप माने जाते हैं। स्त्री-लिंग और पुरुष-लिंग, जीवितेन्द्रिय, काय-विज्ञप्ति एवं वाग्-विज्ञप्ति, तथा आकाश धातु को भी रूप कहा गया है। 'जीवितेन्द्रिय' के पर्याय आयु एवं जीवन दिये गये हैं। कायिक अथवा वाचिक व्यापार से अभिप्राय का प्रकाशन विज्ञप्ति कहलाता है। विज्ञप्ति चित्त-समुत्थान, चित्त-सहभू, एवं चित्तानुपरिवर्ती रूप माना गया है। चारों महाभूतों से असंस्पृष्ट विवर को आकाश-धातु कहते हैं। रूप की लघुता, मृदुता, कर्मण्यता, उपचय, सन्तति, जरता (=जराशीलता), एवं अनित्यता को भी रूप कहा गया है। कवलीकार आहार को रूप का एक पृथक् भेद बताया गया है। लिंग, विज्ञप्ति, आहार आदि रूप को सूक्ष्म एवं 'दूर' कहा गया है। पृथ्वी-धातु का लक्षण है कर्कशत्व, जल-धातु का स्नेह, तेजो-धातु का ऊष्मा एवं वायु का कम्पन या गति।

तीसरे निक्षेप काण्ड में सम्पूर्ण मातृका की व्याख्या है, पिछले काण्ड में दी हुई व्याख्याओं से कुछ स्थलों में ये नवीन व्याख्याएँ विपुलतर हैं। चतुर्थ काण्ड में व्याख्या संक्षिप्ततर है और कुछ नये पद प्राप्त होते हैं, यथा पिछले काण्ड की असंखत धातु के लिए निब्बान।

२२—धम्मसंगणि, पृ० १६३।
२३—वही, पृ० १७८ प्र०।

विभंग—अभिधम्मपिटक का मूलभूत ग्रन्थ अवश्य ही धम्मसंगणि है, किन्तु एक प्रकार से विभंग उसका पूरक है। धम्मसंगणि में नाना धम्मों का वर्गीकरण एवं परिगणन किया गया है एवं उन्हीं के अभ्यन्तर खंध, आयतन, धातु आदि को रखा गया है। विभंग में यह क्रम उलट दिया गया है एवं खंध, आयतन आदि के वर्गों में उपलब्ध धर्मो का निर्देश और परिगणन किया गया है। यह स्मरणीय है कि सुत्तपिटक में प्रायः खंध, आयतन और धातुओं में समस्त अनुभव अथवा जगत् का विवरण दिया गया था। सत्ता का प्राचीनतम विभाजन नामरूप में था जिसके परिष्कार के द्वारा पाँच स्कन्धों का प्रतिपादन किया गया। रूप रूपस्कन्ध बन गया और नाम का चतुर्धा विभाजन हो गया। एक ओर पाँच इन्द्रियाँ एवं मन आध्यात्मिक आयतन हैं, दूसरी ओर उनके अपने-अपने विषय बाह्य आयतन हैं। मन का विषय 'धर्म' कहा गया है। इन्द्रिय और उसके विषय के संघट्टन से विज्ञान की उत्पत्ति होती है। इन छहो प्रकार के विज्ञानों को मिलाकर १२ आयतन, १८ धातुएँ बन जाती है।

विभंग के १८ विभाग हैं—खंध-विभंग, आयतन-विभंग, धातु-विभंग, सच्च-विभंग, इन्द्रिय-विभंग, पच्चयाकार-विभंग, सतिपट्ठान-विभंग, सम्मप्पधान-विभंग, इद्धिपाद-विभंग, बोज्झंग-विभंग, मग्ग-विभंग, झान-विभंग, अप्पना-विभंग, सिक्खापद-विभंग, पटिसंभिदा-विभंग, ञान-विभंग, खुद्दकवत्थु-विभंग, धम्महृदय-विभंग। खंध-विभंग में वेदना एवं सञ्ञा का औदारिक एवं सूक्ष्म नाम के वर्गों में विभाजन सूक्ष्म पर्यालोचन दर्शित करता है। उदाहरण के लिए यह कहा गया है कि अकुशल वेदना औदारिक है, कुशल एवं अव्याकृत वेदना सूक्ष्म है। ऐसे ही प्रतिघ-संस्पर्शजा संज्ञा औदारिक है, अधिवचन-संस्पर्शजा सूक्ष्म। संस्कारस्कन्ध में संस्पर्शजन्य चेतना का ही विवरण दिया गया है। आयतन-विभंग में मन-आयतन के अन्तर्गत चार अरूपी स्कन्ध रखे गये हैं। धम्मायतन को वेदना-स्कन्ध, संज्ञास्कन्ध, संस्कारस्कन्ध, अनिदर्शन, अप्रतिघ, रूप, एवं असंस्कृत धातु बताया गया है। धातु-विभंग में मनोधातु को चक्षुर्विज्ञान आदि धातुओं के समनन्तर उत्पन्न चित्त अथवा मन कहा गया है। इसका प्रकारान्तर से भी वर्णन किया गया है—सब धर्मो के प्रथम समन्वाहार के समनन्तर उत्पन्न चित्त अथवा मन। मनोधातु के समनन्तर उत्पन्न धातु को मनोविज्ञानधातु बताया गया है।

धातुकथा—धातुकथा में इस बात का विचार किया गया है कि खंध, आयतन एवं धातुओं के वर्गों में कौन-कौन से धर्म संगृहीत हैं एवं कौन-से असंगृहीत हैं तथा उनके साथ कौन-से धर्म सम्प्रयुक्त हैं, कौन विप्रयुक्त। उदाहरण के लिए रूपस्कन्ध किसी भी स्कन्ध, आयतन अथवा धातु से सम्प्रयुक्त नहीं है। वेदनास्कन्ध संज्ञा, संस्कार एवं विज्ञान से सम्प्रयुक्त है।

पुग्गलपञ्ञत्ति—पुग्गलपञ्ञत्ति में पुरुषों के विभिन्न प्रकारों का निर्देश किया गया है। दीघनिकाय के संगीतिसुत्त एवं अंगुत्तरनिकाय के कुछ निपातों से इसका बहुत सादृश्य है। अभिधर्म की दृष्टि से इस ग्रन्थ का महत्त्व बहुत कम है। पृथग्जन का लक्षण इस प्रकार दिया हुआ है—वह पुरुष जिसके तीन संयोजन प्रहीण नहीं हुए हैं और जो न उसके प्रहाण के लिए प्रतिपन्न है। यह बताया गया है कि सोतापन्न एवं सकृदागामी काम और भव में अवीतराग हैं। अनागामी काम में वीतराग, किन्तु भव में अवीतराग है। अनागामी के पाँच ओरम्भागीय संयोजन परिक्षीण हो जाते हैं एवं वह औपपातिक होकर उसी लोक में परिनिर्वाण प्राप्त करता है, इस लोक में लौटता नहीं। अर्हत् काम एवं भव दोनों में वीतराग है।

यमक—यमक-प्रकरण में न्यायोपयोगी संग्रहासंग्रह के प्रश्न एवं उत्तर दिये गये हैं। उदाहरण के लिए—'क्या रूप रूपस्कन्ध है? (नहीं), प्रियरूप, शातरूप रूप है, न कि रूपस्कन्ध। रूपस्कन्ध रूप भी है, रूपस्कन्ध भी। रूपस्कन्ध रूप है? हाँ···क्या जो रूप नहीं है वह रूपस्कन्ध नहीं है? क्या जो रूपस्कन्ध नहीं है वह रूप नहीं है? प्रिय-रूप, शातरूप रूपस्कन्ध नहीं है, किन्तु रूप है।'[२४]। इस ग्रन्थ से नैयायिक अथवा तार्किक चर्चा का विकास सूचित होता है।

पट्ठान और पच्चय—पट्ठानपकरण अथवा महापकरण अभिधम्मका विशालतम एवं जटिलतम ग्रन्थ है। धम्मसंगणि में वर्णित धर्मों का इसमें कार्य-कारणभाव की दृष्टि से परस्पर अभिसम्बन्ध आलोचित किया गया है। बौद्ध धर्म के अनुसार सभी पदार्थ सापेक्ष हैं और यही सापेक्षता पच्चय (=प्रत्यय) शब्द से सूचित होती है। यह सापेक्षता पहले 'पटिच्चसमुप्पाद' अथवा 'इदप्पच्चयता' के नाम से सुत्तपिटक में अभिहित है। परवर्ती काल में एक ओर 'मध्यमा प्रतिपद' का अनुसरण करते हुए इस सिद्धान्त की धर्म-शून्यता के सिद्धान्त में परिणति हुई। दूसरी ओर 'निदानों' के पर्यालोचन एवं कार्य-कारण-भाव के नाना प्रकारों के विवेचन से पट्ठान का पच्चयवाद प्रतिपादित हुआ। यह स्मरणीय है कि पच्चय शब्द से सम्बन्ध-मात्र की सूचना नहीं होती, किन्तु ऐसे सम्बन्धों की सूचना होती है जिनमें किसी-न-किसी प्रकार से एक दूसरे के प्रति कार्य अथवा कारण कल्पित किया जा सकता है। यह सच है कि इस प्रसंग में बहुत-से ऐसे सम्बन्धों का भी उल्लेख किया गया है जिसे अन्य दर्शनों में कार्य-कारण-भाव से सर्वथा असम्बद्ध मानते हैं। उदाहरण के लिए, ज्ञान और ज्ञान के विषय का सम्बन्ध अथवा

२४—जगदीश काश्यप, दि अभिधम्म फिलॉसफी, जि० २, पृ० १८३ प्र०।

पौर्वापर्य सम्बन्ध। इन्हीं को पट्ठान में क्रम से आरम्मणपच्चय एवं समनन्तर पच्चय कहा गया है। २४ प्रकार के पच्चयों का पट्ठान में विवरण दिया गया है। प्रत्येक के निरूपण के लिए एक ओर पच्चय अथवा कारणभूत धर्म का निर्देश करना होता है दूसरी ओर पच्चयुप्पन्न धर्म का जो उससे अभिसम्बद्ध एवं उसका किसी-न-किसी प्रकार से कार्यभूत धर्म हैं। ये २४ पच्चय इस प्रकार हैं[२५]।

(१) **हेतुपच्चय**—यदि एक धर्म की स्थिति या उत्पत्ति दूसरे धर्म का प्रत्याख्यान किये विना हो तो वह उपकारक धर्म उसका 'प्रत्यय' (पच्चय) कहलाता है। कुछ आचार्यों के मत से हेतु का अर्थ इस प्रसंग में मूल है एवं हेतुत्वेन अर्थात् मूलत्वेन उपकारक होने पर पच्चय को हेतुपच्चय कहते हैं। उदाहरण के लिए, बीज अंकुर का हेतुपच्चय है। आचार्य बुद्धघोष ने इसे संशोधित करते हुए कहा है कि मूलत्व के स्थान पर सुप्रतिष्ठापकत्व का ग्रहण करना चाहिए। इस परिष्कार से तिक-पट्ठान के पच्चयनिद्देस में दिया हुआ लक्षण संगत होता है—'हेतु हेतुसम्प्रयुत्तकानं धम्मानं तंसमुट्ठानैश्च रूपानं हेतुपच्चयेन पच्चयो।' (अर्थात् हेतु हेतुसम्प्रयुक्त धर्मों का एवं तत्समुत्थित रूपधर्मों का हेतु-प्रत्यय से प्रत्यय है।) लोभ, द्वेष एवं मोह, तथा अलोभ, अद्वेष एवं अमोह छः हेतु हैं। जिस-जिस चित्त में ये विद्यमान होते हैं अपने से भिन्न उसके चैतसिक धर्मों के एवं चित्तसमुत्थ रूप-धर्मों के हेतुप्रत्यय से प्रत्यय होते हैं।

(२) **आरम्मणपच्चय**—रूपायतन चक्षुर्विज्ञानधातु का एवं तत्सम्प्रयुक्त धर्मों का आलम्बनप्रत्यय (आरम्मण-पच्चय) से प्रत्यय है। शब्दायतन, गन्धायतन आदि तत्तदिन्द्रिय-विज्ञानों के इसी प्रकार से प्रत्यय हैं। 'यं यं धम्मं आरम्म ये ये धम्मा उप्पज्जन्ति, चित्तचेतसिक धम्मा, ते ते धम्मा तेसं तेसं धम्मानं आरम्मणपच्चयेन पच्चयो।' अर्थात् जिस-जिस धर्म को सहारा बनाकर जो-जो चित्त-चैत्त धर्म उत्पन्न होते हैं वे-वे उनके आलम्बन-प्रत्यय से प्रत्यय होते हैं। सभी धर्म यथासम्भव चित्त के आलम्बन प्रत्यय होते हैं। 'आलम्बन' को समझाते हुए बुद्धघोष ने कहा है 'जैसे कोई दुर्बल पुरुष दण्ड या रज्जु का आलम्बन कर उठता है और खड़ा होता है, ऐसे ही चित्त-चैतसिक-धर्म रूपादि आलम्बन के सहारे उत्पन्न होते हैं और ठहरते हैं। अतएव चित्त-चैतसिकों

२५—संक्षिप्त परिचय के लिए द्र०—अभिधम्मत्थ विसुद्धिमग्गो, पृ० ३७३ प्र० अभिधम्मत्थ संगहो, पृ० १४०। अभिधम्मत्थ संगह में २४ प्रत्ययों को ४ में संग्राह्य माना है "आरम्मणूपनिस्सयकम्मत्थि पच्चयेसु च सब्बेपिपच्चया समोधानं गच्छन्ति" पृ० १५१।

के सभी आलम्बनभूत धर्मों को आलम्बन-प्रत्यय समझना चाहिए। उदाहरण के लिए यदि दान देकर उसकी प्रत्यवेक्षा की जाय तो एक कुशल धर्म दूसरे कुशलधर्म का आलम्बन बन जायेगा। दान देकर यदि उसके विषय में संशय उत्पन्न हो तो एक कुशल धर्म दूसरे अकुशल धर्म का आलम्बन हुआ। यदि राग का आस्वादन किया जाय तो अकुशल धर्म अकुशल धर्म का आलम्बन होगा। यदि अर्हत् निर्वाण की प्रत्यवेक्षा करे तो अव्याकृत धर्म का आलम्बन अव्याकृत धर्म होगा।

(३) **अधिपतिपच्चयो**—चित्त-चैतसिक धर्म जिन धर्मों को बड़ा मान कर (गरुकत्वा) उत्पन्न होते हैं वे उनके अधिपति-प्रत्यय कहलाते हैं। इनके दो भेद हैं—आलम्बनाधिपति और सहजाताधिपति। सम्मानित आलम्बन आलम्बनाविपति-प्रत्यय होते हैं। छन्द, वीर्य, चित्त एवं मीमांसा (वीमंसा) सहजाताधिपति हैं। आलम्बनाधिपति के प्रत्ययोत्पन्न धर्म कुशल चित्त अथवा लोभसहगत अकुशल चित्त होते हैं। छन्द, वीर्य आदि वस्तुतः ऋद्धिपाद ही हैं; 'वीमंसा', प्रज्ञा है। इनका अधिपतित्व केवल द्विहेतुक अथवा त्रिहेतुक जवन चित्तों में ही सत्ता लाभ करता है।

(४)–(५) **अनन्तरपच्चय एवं समनन्तरपच्चय**—ये दोनों वस्तुतः एक हैं, केवल नाम-भेद से ही पृथक् हैं। बुद्धघोष के पूर्ववर्ती आचार्य इनमें भेद का समर्थन करते थे। उनके अनुसार अर्थानन्तरतया अनन्तर-प्रत्यय होता है, कालानन्तरतया समनन्तर-प्रत्यय। किन्तु बुद्धघोष ने इस मत का खण्डन किया है।

चित्त-वीथि में इन्द्रियविज्ञान, मनोधातु, एवं मनोविज्ञानधातु का एक निश्चित पौर्वापर्य क्रम है। इसमें पूर्ववर्ती धर्म अपने अनन्तरवर्ती का अनन्तर-प्रत्यय कहलाता है।

(६) **सहजात-पच्चय**—जो उत्पद्यमान धर्म दूसरे धर्म का सहोत्पादन के द्वारा उपकारक हो वह उसका सहजात-प्रत्यय है। जैसे प्रकाश का प्रदीप। चार अरूपी स्कन्ध परस्पर सहजात-प्रत्यय हैं। ऐसे ही चार महाभूत दूसरे के सहजात-प्रत्यय हैं। अवक्रान्ति-क्षण में नाम-रूप परस्पर सहजात प्रत्यय हैं। चित्त-चैतसिक धर्म चित्त-समुत्थ रूप-धर्मों के एवं महाभूत उपादाय रूप-धर्मों के सहजात प्रत्यय हैं। हृदय-वस्तु कभी अरूपी धर्मों का सहजात-प्रत्यय है, कभी नहीं।

(७) **अञ्ञमञ्ञपच्चय**—परस्पर उत्पादन एवं उपष्टम्भन के द्वारा उपकारक धर्म एक दूसरे के अन्योन्य-प्रत्यय कहे जाते हैं। इस कोटि में चार अरूपी धर्म, चार महाभूत, एवं अवक्रान्ति-क्षण में नाम-रूप परिगणित हैं।

(८) **निस्सय-पच्चय**—अधिष्ठान एवं आश्रय के रूप में उपकारक धर्म निश्रय-प्रत्यय होता है जैसे पेड़ के लिए पृथ्वी अथवा चित्र के लिए पट। ऊपर सहजात-प्रत्यय

में उल्लिखित पहले पांच प्रत्यय यहाँ भी अवबोध्य हैं। छठे स्थल पर यह अवबोध्य है कि चक्षुरादि आयतन चक्षुर्विज्ञानधातु आदि के निश्रय हैं।

(९) **उपनिस्सय-पच्चय**—बलवत्कारण रूप से उपकारक धर्म उपनिश्रय-प्रत्यय कहलाता है। इसके तीन भेद हैं—आलम्बनोपनिश्रय, अनन्तरोपनिश्रय, एवं प्रकृतोपनिश्रय। इनमें पहले दो क्रमशः आलम्बनाधिपति एवं अनन्तर-प्रत्यय से अभिन्न हैं। 'पकतोपनिस्सय' के उदाहरण इस प्रकार हैं—श्रद्धा के उपनिश्रय से दान दिया जाय, अथवा राग के उपनिश्रय से प्राण-घात किया जाय। पहले उदाहरण में कुशलधर्म कुशलधर्म का उपनिश्रय है, दूसरे में अकुशल धर्म अकुशल धर्म का।

(१०) **पुरेजात-पच्चय**—पहले उत्पन्न होकर वर्तमान तथा उपकारक धर्म पूर्व-जात-प्रत्यय कहलाता है। चक्षुरादि एवं रूपादि आयतन चक्षुरादि-विज्ञान धातुओं के 'पुरेजात'–प्रत्यय हैं।

(११) **पच्छाजात-पच्चय**—'पीछे उत्पन्न चित्त-चैतसिक धर्म पहले उत्पन्न इस शरीर के पश्चाज्जात-प्रत्यय हैं।"

(१२) **आसेवन-पच्चय**—जिनके आसेवन से अनन्तरवर्ती धर्म पुष्ट होते है वे उनके आसेवन-प्रत्यय हैं। लोकोत्तर-चित्तों को उनकी एकक्षणिकता के कारण छोड़कर शेष तीन भूमियों में कुशल, अकुशल एवं क्रियाव्याकृत जवन-चित्तों में उसकी उपलब्धि होती है।

(१३) **कम्मपच्चय**—कुशल और अकुशल कर्म विपाक-स्कन्धों के कर्म-प्रत्यय हैं एवं चेतना सम्प्रयुक्त धर्मों की तथा तत्समुत्थरूप धर्मों की। यहाँ चेतना से तात्पर्य सर्व-चित्त-साधारणी सहजाता चेतना से है। कर्म नाना क्षणिक चेतना है।

(१४) **विपाक-पच्चय**—चार अरूपी विपाक-स्कन्ध एक दूसरे के विपाक-प्रत्यय हैं।

(१५) **आहार-पच्चय**—चार आहार हैं—कवलीकार आहार जो कि रूपी है, स्पर्श, मनःसञ्चेतना, एवं विज्ञान। इनमें पहला शरीर का आहार-प्रत्यय है, शेष सम्प्रयुक्त धर्मों के एवं तत्समुत्थ रूप-धर्मों के।

(१६) **इन्द्रिय पच्चय**—चक्षु आदि पाँच इन्द्रियाँ पाँच विज्ञानों के इन्द्रिय प्रत्यय हैं, रूपजीवितेन्द्रिय उपादाय रूपों के तथा अरूपी इन्द्रिय सहजात नामरूप के।

(१७) **ध्यान-पच्चय**—'ध्यान के अंग ध्यान-सम्प्रयुक्त धर्मों के एवं तज्जन्य रूप के ध्यान-प्रत्यय हैं। ध्यान के अंग सात हैं—वितर्क, विचार, प्रीति, एकाग्रता, सौमनस्य, दौर्मनस्य एवं उपेक्षा। इनकी उपलब्धि पांच विज्ञानों में नहीं होती। दौर्मनस्य केवल प्रतिघयुक्त चित्त में ही प्राप्य है।

(१८) **मग्गपच्चय**—मार्ग के अंग मार्गसम्प्रयुक्त धर्मों के एवं तत्समुत्थित रूप-धर्मों के मार्ग-प्रत्यय हैं।

(१९) **सम्पयुत्त पच्चय**—चार अरूपी स्कन्ध परस्पर सम्प्रयुक्त-प्रत्यय हैं क्योंकि इनके एक ही आश्रय, आलम्बन, उत्पाद और निरोध हैं।

(२०) **विप्पयुत्त-पच्चय**—रूपी और अरूपी धर्म परस्पर विप्रयुक्त प्रत्यय हैं।

(२१) **अत्थिपच्चय (२४) अविगत पच्चय**—दोनों वस्तुतः एक ही हैं। अपनी सत्ता से दूसरे की सत्ता का उपकारक होना ही इसका अर्थ है। चार अरूपी स्कन्ध, चार महाभूत, नाम-रूप, चित्त-चैतसिक धर्म एवं चित्तसम्भूत रूप, महाभूत और उपादाय रूप, आयतन और विज्ञान, इन सबमें आभ्यन्तर अस्ति-प्रत्यय का सम्बन्ध है।

(२२) **नत्थिपच्चय (२३) विगत**—ये वस्तुतः एक ही हैं।

'समनन्तर-निरुद्ध चित्त-चैतसिक धर्म प्रत्युत्पन्न चित्त-चैतसिक धर्मों के नास्ति-प्रत्यय हैं।'

इनमें हेतु, सहजात, अञ्जमञ्ज, निस्सय, पुरेजात, पच्छाजात, विपाक, आहार, इन्द्रिय, झान, मग्ग, सम्प्रयुत्त, विप्पयुत्त, अत्थि, एवं अविगत, ये १५ पच्चय प्रत्युत्पन्न धर्म हैं एवं अस्ति-प्रत्यय में समवहित हो जाते हैं। अनन्तर, समनन्तर, आसेवन, नत्थि, एवं विगत, ये ५ अतीत पच्चय हैं और अनन्तरूपनिस्सय में समवहित होते हैं। कम्म-पच्चय प्रत्युत्पन्न और अतीत दोनों कालों में निश्रित है। शेष तीन प्रत्यय-आरम्मण, अधिपति, एवं उपनिस्सय—त्रैकालिक हैं एवं काल-विमुक्त भी कहे जा सकते हैं। इस प्रकार अस्ति, अनन्तर एवं आलम्बन ये तीन प्रत्यय प्रधान सिद्ध होते हैं जिनके द्वारा वर्तमान, अतीत एवं त्रैकालिक कारणों का संग्रह होता है।

स्थविरवाद और अन्य निकाय—प्राचीन थेरवादी-विभज्यवादी सम्प्रदाय महा-सांघिक, सर्वास्तिवादी और वात्सीपुत्रीयों का विरोधी था। वह तथागत को महा-पुरुष, किन्तु मनुष्यधर्मा स्वीकार करता था, और महासांघिकों के प्रच्छन्नदेववाद का निराकरण। सर्वास्तिवादियों का प्रच्छन्न शाश्वतवाद एवं वात्सीपुत्रीयों का प्रच्छन्न, आत्मवाद भी उसका अभीष्ट नहीं था। यही दृष्टि कथावत्थु में प्रतिपादित है।

कथावत्थु—कथावत्थु में धम्मसंगणि और विभंग से उद्धरण मिलता है, किन्तु धातुकथा, पुग्गलपञ्ञत्ति एवं यमक से नहीं। ग्रन्थ के उत्तरभाग में पट्ठान में वर्णित अनेक पच्चयों का परिचय मिलता है। कथावत्थु में प्रतिपादित सिद्धान्त क्रमानुसार इस प्रकार हैं—(I) (१) पुद्गलवाद का निषेध कथावत्थु में सप्रयास किया गया है और यही निषेध थेरवादियों के सिद्धान्त में उस समय तथा और पीछे भी मुख्यतम रहा है।

पुद्गलवाद के विरोध में प्रधान युक्ति यह दी जाती थी कि पुद्गल की उपलब्धि नहीं होती, केवल स्कन्धों की ही उपलब्धि होती है। ये उपलब्ध स्कन्धविशेष ही वस्तुतः सत्तावान् हैं। पुद्गल केवल प्रज्ञप्ति है यह वात्सीपुत्रीयों के प्रधान अभिमत का खण्डन है। तथा (२) इसके अतिरिक्त थेरवादी महादेव की पांच वस्तुओं को भी प्रत्याख्यात करते हैं और अर्हत्-परिहाणि को सम्भव नहीं मानते थे यह यह महासांघिकों के विरोध में हैं। थेरवादियों के मत में स्रोतआपन्न के लिए भी गिरना सम्भव नहीं है। (३) देवलोक में भी ब्रह्मचर्यावास सम्भव है। (४) क्लेश क्रमशः छूटते हैं। (५) पृथग्जन के लिए काम-राग और व्यापाद का छोड़ना सम्भव नहीं है। (६)–(८) अतीत और अनागत धर्मों की सत्ता नहीं होती, न सर्वात्मना और न अंशतः यह सर्वास्तिवादियों के मुख्य सिद्धान्त का प्रतिषेध है। (९) सब धर्म स्मृति-प्रस्थान नहीं है। (१०) यह नहीं कहना चाहिए कि अतीतादिअध्व और रूपादि स्कन्ध हैं भी और नहीं भी हैं।

न अन्तराभव की सत्ता होती है। अनुशय और पर्यवस्थान चैतसिक, चित्तसम्प्रयुक्त और चित्त के आलम्बन बन सकते हैं। तीन ही असंस्कृत हैं।

(II) (५) एक चित्त दिन भर नहीं ठहर सकता। (६) सब संस्कार कुक्कुलमात्र नहीं है। (७) मार्ग और चार सत्यों का अभिसमय आनुपूर्वी से होता है। स्रोतआपत्ति फल के अनन्तर सब चर्या लोकोत्तर है। (८) बुद्ध का व्यवहार लोकोत्तर नहीं है। (९) एक ही निरोध है।

(III) (१) तथागत का बल श्रावक-साधारण नहीं है। (२) तथागत के दस बल 'आर्य' नहीं है। (३) सराग-चित्त विमुक्त नहीं होता है। (४) विमुक्त विमुच्यमान नहीं होता। (५) अष्टमक-पुद्गल के पर्यवस्थान, दृष्टि और विचिकित्सा का प्रहाण नहीं होता। (६) किन्तु वह श्रद्धादि पाँचों इन्द्रियों से संप्रयुक्त होता है। (७), (९) दिव्यचक्षु मांसचक्षु से भिन्न है और (८) दिव्य-श्रोत मांसश्रोत्र से। (१०) देवताओं में संवर नहीं होता। (११) असंज्ञिसत्त्वों में संज्ञा नहीं होती। (१२) नैवसंज्ञानासंज्ञायतन में संज्ञा होती है।

(IV) (१) गृहस्थ अर्हत् नहीं हो सकता। (२) उपपत्त्या अर्हत् नहीं हो सकते। (३) अर्हत् के सब धर्म अनास्रव नहीं है। (४) अर्हत् चारों श्रामण्य-फलों से समन्वागत नहीं है। (५) अर्हत् षड्-उपेक्षासमन्वागत नहीं है। (६) बोधि से ही बुद्ध बनते हैं। (७) महापुरुष-लक्षण युक्त बोधिसत्त्व नहीं भी होते। (८) बोधिसत्त्व काश्यपबुद्ध के श्रावक नहीं थे। (९) अर्हत्त्व में पिछले तीन फल समन्वागत नहीं होते। (१०) अर्हत्त्व सर्वसंयोजन-प्रहाण नहीं है।

V (१) विमुक्ति-ज्ञान-युक्त सब विमुक्त नहीं होते। (२) शैक्ष का अशैक्ष ज्ञान नहीं होता। (३) पृथ्वी कसिण से विपरीत-ज्ञान उत्पन्न होता है। (४) अनियत को नियाम-गमन का ज्ञान नहीं होता। (५) सब ज्ञान प्रतिसंभिदा नहीं है। (६) संवृति-ज्ञान का विषय न सत्य है न असत्य। (७)–(८) अनागत का ज्ञान नहीं होता और न प्रत्युत्पन्न का। (९) श्रावक को अन्यगत फल का ज्ञान नहीं होता।

VI (१)–(२) नियाम और प्रतीत्यसमुत्पाद संस्कृत नहीं है। (३) चार सत्य भी असंस्कृत नहीं है और (४) न अरूप-समापत्तियाँ और (५) न निरोध समापत्तियाँ और (६) न आकाश ही असंस्कृत है। (७)–(८) आकाश और चारों महाभूत अदृश्य है। (९) चक्षुरिन्द्रिय और कार्यकर्म भी अदृश्य है।

VII (१) धर्म दूसरे धर्मों में संगृहीत होते हैं। (२) धर्म दूसरे धर्मों से सम्प्रयुक्त होते हैं। (३) चैतसिक धर्म होते हैं। (४) दान चैतसिक धर्म नहीं है। (५) पुण्य परिभोगमय नहीं है। (६) यहाँ पर दिया हुआ दान परत्र शेष नहीं होता। (७)–(१०) पृथ्वी कर्मविपाक नहीं है, जरा-मरण भी विपाक नहीं है, आर्यधर्म सविपाक है, विपाक में स्वयं विपाकधर्मिता नहीं है।

VIII (१) पाँच ही गतियाँ हैं। (२) अन्तराभव नहीं होता। (३) पाँच कामगुणों से ही काम-धातु नहीं बनती। (४) पाँच आयतन ही काम नहीं हैं। (५)–(६) रूपी धर्म और अरूपी धर्म से ही रूप-धातु और अरूप-धातु है। (७) रूप-धातु में षडायतनिक आत्मभाव नहीं होता। (८) अरूप-धातु में रूप नहीं है। (९) कुशल-चित्त-समुत्थित कार्य कर्म कुशल रूप नहीं है। (१०) जीवितेन्द्रिय केवल अरूप नहीं है। (११) अर्हत् की कर्म के कारण अर्हत्व से परिहाणि नहीं होती।

IX (१) आनिशंसदर्शी अप्रहीण-संयोजन होता है। (२) संयोजन अमृतालम्बन नहीं होता है। (३) रूप अनालम्बन है। (४) अनुशय आलम्बन है। (५) ज्ञान सालम्बन है। (६)–(७) अतीतालम्बन एवं अनागतालम्बन चित्त सालम्बन है। (८) सब चित्त वितर्कानुपतित नहीं हैं। (९) शब्द वितर्क-विस्फार नहीं है। (१०)–(११) वाणी चित्त के अनुरूप हो सकती है और कार्य-कर्म भी चित्त के अनुरूप हो सकता है। (१२) अतीत और अनागत से समन्वागति नहीं होती।

X (१) पिछले स्कन्धों के निरुद्ध होने पर नयों का जन्म होता है। उनका समवधान एवं सम्मुखीभाव नहीं होते। (२) मार्गसमङ्गी का रूप मार्ग नहीं है। (३) पञ्चविज्ञानसमङ्गी की मार्ग-भावना नहीं होती। (४) पाँच विज्ञान न कुशल है न अकुशल, (५) वे अनाभोग हैं। (६) मार्गसमंगी लौकिक एवं लोकोत्तर शील से

समन्वागत नहीं है। (७)-(८) शील चैतसिक है और चित्तानुपरिवर्ती है। (९) समाधानहेतु शील बढ़ता नहीं है। (१०) विज्ञप्ति शील-मात्र नहीं है। (११) अविज्ञप्ति दौश्शील्य-मात्र नहीं है।

XI (१) अनुशय अकुशल, सहेतुक और चित्तसम्प्रयुक्त है। (२) अज्ञान विगत होने पर एवं ज्ञानविप्रयुक्ततया वर्तमान चित्त की अवस्था में 'ज्ञानी' नहीं कहा जा सकता। (३) ज्ञान चित्तसम्प्रयुक्त है। (४) 'इदं दुःखम्' कहने से अनुरूपज्ञान प्रवृत्त नहीं होता। (५) ऋद्धि बल से कल्प भर नहीं ठहरा जा सकता। (६) समाधि चित्तसंतति नहीं है। (७) धर्मस्थितता परिनिष्पन्न नहीं है। (८) अनित्यता, जरा और मरण भी परिनिष्पन्न नहीं है।

XII (१) संवर और असंवर कर्म नहीं है। (२) सब कर्म सविपाक नहीं है। (३)-(४) शब्द विपाक नहीं है और न षडायतन विपाक है। (५) स्रोतआपन्न के लिए आवश्यक नहीं है कि वह सात बार और जन्म ले। (६) कोलंकोल एक कुल से दूसरे कुल में जाने के लिये बाध्य नहीं है। (७) दृष्टि सम्पन्न पुद्गल बोधपूर्वक प्राणघात नहीं कर सकता, किन्तु (८) उसकी दुर्गति की सम्भावना प्रहीण नहीं होती। (९) सप्तभविक पुद्गल दुर्गति से ऊपर है।

XIII (१) कल्पस्थ कल्प तक नहीं ठहर सकता। (२) कल्पस्थ कुशल-चित्त-प्रतिलाभ कर सकता है। (३) आनन्तरिक पुद्गल सम्यक्त्व-नियाम में अवक्रमण नहीं कर सकता। (४) नियत पुद्गल नियाम में अवक्रमण नहीं करता। (५) नीवृत नीवरण नहीं छोड़ता। (६) संयोजन-सम्मुखीभूत संयोजन नहीं छोड़ता। (७) समापन्न आस्वादन नहीं करता, ध्यान की चाह नहीं रखता, न ध्यानालम्बन होता है। (८) असुख का राग नहीं होता है। (१०) धर्म-तृष्णा अकुशल है और (११) दुःख-समुदय है।

XIV (१) कुशलमूल और अ० का अन्योन्य-प्रतिसन्धान नहीं होता। (२) षडायतन एक साथ मातृगर्भ में समुत्थित नहीं होते। (३) पाँच विज्ञानों की परस्पर समनन्तर उत्पत्ति नहीं होती। (४) आर्य-रूप महाभूतों से उत्पन्न नहीं है। (५) अनुशय पर्यवस्थानों से भिन्न नहीं है। (६) पर्यवस्थान चित्तसम्प्रयुक्त है। (७) रूप-राग एवं रूप राग केवल रूप-धातु एवं अ० में अनुशयित और पर्यापन्न नहीं है। (८) दृष्टिगत अकुशल है और (९) त्रैधातुक में पर्यापन्न है।

XV (१) प्रत्ययता व्यवस्थित नहीं है। (२) संस्कार अविद्याप्रत्यय है, अविद्या संस्कार-प्रत्यय है। (३) अतीतादि कालभेद परिनिष्पन्न नहीं है। (४) क्षण, लव और

मुहूर्त भी परिनिष्पन्न नहीं है। (५) चार आस्रव सास्रव हैं। (६) लोकोत्तर धर्मों का जरा-मरण लोकोत्तर नहीं है। (७) संज्ञावेदितनिरोध लोकोत्तर या लौकिक नहीं कहा जा सकता। (८) संज्ञावेदित निरोध में मृत्यु नहीं हो सकती। (९) संज्ञावेदित-निरोध में असंज्ञि-सत्त्वों का प्रवेश नहीं है। (१०) कर्म कर्मोपचय से भिन्न नहीं है।

XVI (१)–(२) दूसरे के चित्त पर वश नहीं होता। (३) दूसरे को सुख का अनुप्रदान नहीं हो सकता। (४) अधिगति के अनन्तर मनसिकार नहीं होता। (५) रूप हेतु नहीं बन सकता, अव्याकृत है, अहेतुक है और विपाक नहीं है।

XVII (१)–(२) अर्हत् का पुण्योपचय नहीं होता और अर्हत् की अकाल मृत्यु सम्भव है। (३) सब कुछ कर्म का फल नहीं है। (४) केवल इन्द्रियबद्ध ही दुःख नहीं है। (५) आर्यमार्ग को छोड़कर अवशेष संस्कारमात्र दुःख नहीं है। (६) संघ दक्षिणा-प्रतिग्रह करता है। (७) दक्षिणा-विशोधन करता है, और (८) संघ के बारे में यह कहा जा सकता है कि वह खाता है, पीता है आस्वादन करता है। (९) संघ को दान का बहुत फल है, किन्तु (१०) बुद्ध को दान का भी फल बहुत है। (११) दान प्रति-ग्राहक से शुद्ध होता है न कि दाता से।

XVIII (१)–(२) बुद्ध भगवान् ने मनुष्यों में निवास किया था और धर्म का वस्तुतः उपदेश किया था। (३) बुद्ध भगवान् लोकानुकम्पक एवं महाकरुणा-समापत्ति से युक्त थे। (४) उनका उच्चार-प्रस्राव अन्य गन्धों का अतिशायन नहीं करता था, क्योंकि वे गन्धभोगी न होकर ओदन-कुलमास-भोगी थे। (५) एक आर्य-मार्ग से चार श्रामण्य-फलों का साक्षात्कार नहीं होता। (६) एक ध्यान से ध्यानान्तर में साक्षात् संक्रमण नहीं होता। (७) ध्यानान्तरिक अवस्थाएँ नहीं होती हैं। (८) समापन्न शब्द नहीं सुनता। (९) चक्षु रूप नहीं देखता।

XIX (१) अतीत, अनागत और प्रत्युत्पन्न क्लेशों का प्रहाण नहीं होता। आर्य-मार्ग के अनुसरण से उनकी अनुत्पत्ति होती है। (२) शून्यता संस्कार-स्कन्ध-पर्यापन्न नहीं है। (३) श्रामण्यफल असंस्कृत नहीं है। (४)–(५) प्राप्तियाँ और तथता असंस्कृत नहीं है। (६) निर्वाण-धातु अव्याकृत है। (७) पृथग्जन के लिए अत्यन्त नियामता नहीं है। (८) श्रद्धादि पाँच इन्द्रियाँ केवल लोकोत्तर नहीं हैं।

XX (१) अबोधपूर्वक किये हुए पाँच आनन्तर्य दोषावह नहीं है। (२) पृथग्जन भी ज्ञानसम्पन्न होता है। (३) निरय में निरयपाल होते हैं। (४) देवलोक में तिर्यग्-जातीय नहीं होते। (५) मार्ग पञ्चांगिक नहीं होता। (६) लोकोत्तर ज्ञान द्वादश-वस्तुक नहीं होता।

XXI (१) संगीतियों के द्वारा शासन नव-कृत नहीं है। (२)पृथग्जन त्रैधातुक धर्मों से विविक्त हो सकता है। (३) कोई संयोजन अर्हत् के द्वारा अप्रहीण नहीं होता। (४) "अधिप्राय-ऋद्धि" (यथाकाम सिद्धि) न श्रावक की होती है, न बुद्ध की। (५) बुद्धों में ही नातिरेकता होती है। (६) बुद्ध सब दिशाओं में नहीं होते हैं। (७)-(८) सब धर्म अथवा कर्म मिथ्यात्व या सम्यक्त्व में नियत नहीं है, क्योंकि कुछ को अनियत-राशि देशित किया गया है।

XXII (१) परिनिर्वाण में सब संयोजनों का प्रहाण हो जाता है। (२)-(३) कुशलचित्त उत्पन्न कर अर्हत् परिनिर्वृत नहीं होते, और न आनेञ्जय में स्थित होकर परिनिवृत होते हैं। (४)-(५) गर्भावस्था या स्वप्न में धर्म का अभिसमय नहीं होता और न अर्हत्त्व-प्राप्ति। (६) सब स्वप्न-गत चित्त अव्याकृत नहीं होते। (७) आसेवन-प्रत्ययता होती है। (८) सब धर्म एकचित्त-क्षणिक नहीं है।

XXIII (१) एकाभिप्राय से मैथुन-धर्म प्रतिसेवितव्य नहीं है। (२) अर्हत् के रूप में छिप कर अमनुष्य मैथुन नहीं करते। (३) बोधिसत्त्व दुर्गति में जन्म ग्रहण नहीं कर सकते। (४) राग-प्रतिरूपक अराग नहीं होता। (५) पाँच स्कन्ध, बारह आयतन, अठारह धातु एवं बाईस इन्द्रियाँ परिनिष्पन्न हैं। दु:ख परिनिष्पन्न नहीं है।

कथावत्थु, विभाषा और विभज्यवाद—पाटलिपुत्र की संगीति में तिस्समोग्गली-पुत्त ने अशोक से अपने को और भगवान् बुद्ध को विभज्यवादी बताया। शाश्वतवाद एवं उच्छेदवाद, संज्ञिवाद एवं असंज्ञिवाद आदि का अस्वीकार करते हुए विभागपूर्वक अथवा विवेकपूर्वक अपने आशय का प्रतिपादन करने के कारण तथागत को विभज्यवादी कहा गया था।

विभज्यवादी के अर्थ होते हैं—जो विवाद के विषय को विभक्त करके बोले अर्थात् जो एकदेशी मत को न ग्रहण कर यथाभूत विवेकपूर्वक सिद्धान्तों का प्रतिपादन करे। महासांघिकों में प्रज्ञप्तिवादी विभज्यवादी कहलाते थे। **विभाषा** में विभज्यवादियों के बहुत-से सिद्धान्तों का उल्लेख मिलता है। विभज्यवादियों को यहाँ युक्तवादियों का विरोधी प्रतिपादित किया गया है अर्थात् वैभाषिक सर्वास्तिवादियों का विरोधी। ऐसा प्रतीत होता है कि कि **विभाषा** में विभज्यवादियों को तीर्थिकवत् माना गया है और इस नाम से वैभापिक सर्वास्तिवादियों के अतिरिक्त अनेक अन्य सम्प्रदायों को सूचित किया गया है। वसुबन्धु के अनुसार विभज्यवादी वे हैं जो कि वर्तमान सत्ता एवं कुछ अतीत की सत्ता स्वीकार करते हैं, किन्तु भविष्य की एवं कुछ अतीत की सत्ता स्वीकार

नहीं करते[२६]। इस परिभाषा से काश्यपीय विभज्यवादी बन जाते हैं। संघभद्र ने भी वसुबन्धु का समर्थन किया है। वसुवर्मा के अनुसार विभज्यवादी सब संस्कृत धर्मों को अनित्य होने के कारण सर्वथा दुःखात्मक मानते थे। यह मत प्रज्ञप्तिवादियों का भी था। भव्य ने विभज्यवादियों को और सर्वास्तिवादियों को अभिन्न बताया है[२७]।

स्थविरवादी दर्शन

धर्म-स्वरूप और वर्गीकरण—व्युत्पत्ति के अनुसार धर्म शब्द का अर्थ 'धारण करने वाला' है। अतएव प्रयोग में धर्म शब्द स्वभाववाची बन गया तथा स्वभाव से ही प्रत्येक वस्तु के कार्य और व्यापार के नियत होने के कारण नियमवाची भी। उत्तर-वैदिक-काल में ऋत के स्थान पर 'धर्म' का प्रयोग होने लगा था, एवं वैदिक परम्परा में प्रकृति और समाज के शाश्वत स्वभावगत नियम का धर्म शब्द अभिधायक था। इस प्रकार 'धर्म' मूलतः स्वभाववाची ही है एवं इसी के अनुसार धर्म की प्रचलित बौद्ध परिभाषा है—जो स्वभाव अथवा स्वलक्षण का धारण करे। बौद्ध चिन्तन में 'धर्म' का कुछ वही स्थान है जो सांख्य-दर्शन में 'तत्त्व' का। सांख्य के समान ही बौद्ध दर्शन में गुण और गुणी का भेद अपारमार्थिक माना जाता है। अतः बौद्ध मत में धर्म, स्वभाव एवं स्वभाव-प्रतिसंयुक्त वस्तु, दोनों को संकेतित करता है एवं दोनों में अभेद ही बौद्धों का विवक्षित है।

धर्म नाना किन्तु परिगणित हैं। उनके स्वभाव प्रति विशिष्ट एवं प्रति नियत हैं तथापि उनके विषय में सामान्यतः यह कहा जा सकता है कि वे अनित्य-लक्षण, दुःख-लक्षण एवं अनात्म-लक्षण हैं। नैरात्म्य को बौद्धों ने धर्म का मूल लक्षण भी बताया है। स्थविरवादी अभिधर्म में धर्मों की अनात्मकता का अर्थ है उनका पुरुष अथवा पुद्गल

२६—अभिधर्मकोश, ५, पृ० ५२; तु०—वही, पृ० २३–२४।

२७—बारो के अनुसार—(१) विभज्यवादी सर्वास्तिवादी नहीं थे। (२) काश्यपीय विभज्यवादियों के अंग थे। (३) थेरवादी और अतएव महीशासक भी विभज्यवादियों के अंग थे। (४) महीशासकों से निकले धर्मगुप्तक भी विभज्यवादियों के अंग थे। (५) ताम्रशाटीय भी इसी वर्ग के थे। (६) विभज्यवादी स्थविरों के उस वर्ग के थे जो कि वात्सीपुत्रीयों से भिन्न और सर्वास्तिवादियों का विरोधी था। पाटलिपुत्र की संगीति के बाद अवात्सीपुत्रीय स्थविर दो शाखाओं में बँट गये—सर्वास्तिवादी और विभज्यवादी। पूर्व०।

से असम्बन्ध, उनकी निस्सत्व-निर्जीविता। सब धर्म कार्य-कारण-भाव से परिगत हैं। इसलिए उन्हें प्रतीत्यसमुत्पन्न अथवा हेतु-प्रभव कहा गया है। कार्यकारण-प्रवाह में पतित होने के कारण धर्मों को 'संस्कार' अथवा संस्कृत-धर्म कहा जाता है। सब संस्कार भंगुर एवं संचलनात्मक हैं, किन्तु यह स्मरणीय है कि संस्कारों का निरोध शान्त है और यही निर्वाण है जो कि अतर्क्य और असंस्कृत-धर्म कहा गया है। अभिधर्म मूलतः एक प्रकार का 'धर्मवाद' है जिसके अनुसार परमार्थ के घटक केवल अलग-अलग एवं असंकीर्ण-स्वभाव वाले अनित्य और संचलनशील अनेक धर्म मात्र हैं जो कि प्रतीत्यसमुत्पाद एवं प्रत्ययता के परतन्त्र हैं, किन्तु जिनका निरोध शान्त और अतर्क्य है।

इस दृष्टि के सम्बन्ध में यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि यदि धर्म अनित्य हैं तो क्या उनके स्वभाव अथवा लक्षण भी अनित्य है? क्या निर्वाण कुछ धर्मों का अथवा सब धर्मों का निरोध मात्र है, अथवा यह 'निरोध' स्वयं एक पृथक् धर्म है? यदि यह (निर्वाण) स्वयं स्वभाव-प्रतिसंयुक्त पृथक् धर्म है, तो अनित्यत्व एवं प्रतीत्यसमुत्पाद से इसे किस प्रकार विमुक्त माना जा सकता है। इन प्रश्नों के उत्तर एक ओर सर्वास्तिवाद तथा महायानिक धर्मतथता एवं शून्यता के सिद्धान्तों में पर्यवसित होते हैं। किन्तु थेर-वादी दर्शन में इस प्रकार की शंकाओं एवं कौतूहल को अधिक प्रश्रय नहीं दिया गया है प्रत्युत धर्म और धर्मी का अभेद, धर्मों का स्वभाव-पार्थक्य, प्रत्येक धर्म का स्वभाव-प्रतिसंयोग तथा इस प्रकार से अवधारित धर्मों के प्रतियोगी के रूप में निर्वाणाख्य धर्म की पारमार्थिकता, इन सभी सिद्धान्तों का अभ्युपगम दृढ़ता-पूर्वक किया गया है। धर्म का मूल लक्षण स्वभाव-धारणा है और यही लक्षण निर्वाण में घटता है। निर्वाण का स्वभाव है, किन्तु उसके वस्तुतः अतर्क्य होने के कारण उसको संसार के प्रतियोगी के रूप में निरूपित किया जाता है। इस प्रकार वस्तुतः निर्वाण के निरो-धादि लक्षण एक प्रकार से 'तटस्थ-लक्षण' ठहरते हैं। अभिधर्मपिटक में निर्वाण को असंस्कृत धातु के रूप में निर्दिष्ट किया गया है। मार्ग-चतुष्टय-ज्ञान से उसका साक्षा-त्कार होता है। मार्ग-फलों का वह आलम्बन है, लोकोत्तर है, अव्याकृत है, तथा स्वभावतः एकविध होते हुए भी उपाधि-शेष एवं अनुपाधि शेष, इस प्रकार द्विविध उपदिष्ट है। तृष्णा से निष्क्रान्त होने के कारण उसे 'निर्वाण' कहा जाता है।

संस्कृत धर्मों का एक प्राचीन विभाग नाम-रूप अथवा रूप-धातु एवं धर्म-धातु में था। 'रूप' के द्वारा इन्द्रिय-गोचर अथवा भौतिक धर्मों का संकेत होता था। 'नाम' अथवा 'धर्म-धातु' अरूप-सत्ता का द्योतक था जिसमें चित्त, चैतसिक धर्म, एवं मनोमात्र-गोचर धर्म संगृहीत थे। 'नाम' को विज्ञान, वेदना, संज्ञा, एवं संस्कार में विभाजित कर

संस्कृत धर्मों की पंच-स्कन्धी निरूपित हुई। रूप-स्कन्ध को इन्द्रियों के अनुसार पाँच आध्यात्मिक एवं पाँच बाह्य आयतनों में बाँटा गया। इसके साथ ही रूप का एक दूसरा विभाजन भी विदित था—महाभूतों में, एवं उनके 'उपादाय रूपों' में। सुत्त-पिटक में उपलब्ध धर्म-विवरण इस प्रकार प्रदर्शित किया जा सकता है—
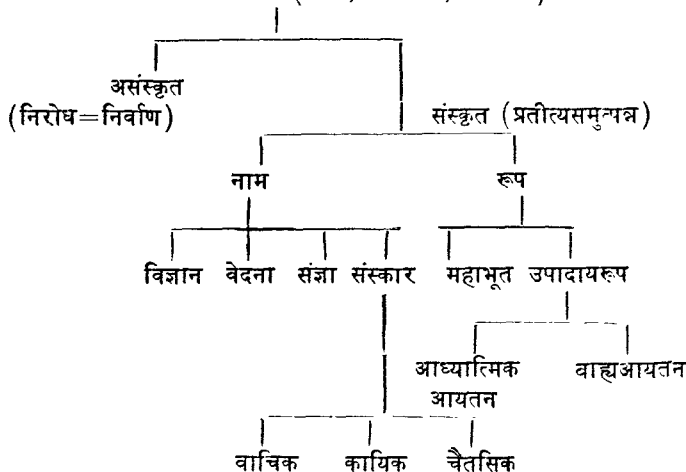
थेरवादी अभिधर्म में धर्म के स्वरूप का सामान्य विवेचन कम, किन्तु उनके पृथक् स्वभावों का निरूपण विस्तार से किया गया है। ऊपर कहा जा चुका है कि धम्मसंगणि में धर्मों का मुख्य विभाजन उनकी हेयोपादेयता की दृष्टि से किया गया है। धर्म कुशल, अकुशल अथवा अव्याकृत हैं। अव्याकृत धर्म स्वयं कोई भोगरूप फल उत्पन्न नहीं करता। निर्वाण, रूप (=भौतिक धर्म), विपाक (=पूर्व कर्म का भोग) एवं क्रिया (असंकल्पपूर्व नैसर्गिक क्रिया) अव्याकृत हैं। कुशल-धर्म कालान्तर में सुख-भोग प्रदान करते हैं एवं अकुशल-धर्म दुःखभोग। चित्त और चैतसिक धर्म ही कुशल अथवा अकुशल हो सकते हैं। लोभ, द्वेष एवं मोह—ये तीन अकुशलहेतु हैं। इन्हीं के संयोग से चित्त-चैतसिक धर्मों में अकुशलता उत्पन्न होती है। दूसरी ओर अलोभ, अद्वेष एवं अमोह—ये कुशल-हेतु हैं। यह स्पष्ट है कि कुशल, अकुशल एवं अव्याकृत का भेद धर्मों का स्वभावगत भेद नहीं है, किन्तु संसारी पुरुष की दृष्टि से ही धर्मों का उनके पृथक् कार्यों के अनुसार विभाजन है—कुछ धर्म उन्हें सुख देते हैं, कुछ दुःख देते हैं, कुछ न सुख देते

हैं, न दुःख देते हैं। आध्यात्मिक साधन की दृष्टि से ही इस प्रकार का वर्गीकरण बहुत महत्त्वपूर्ण है।

धम्मसंगणि में प्रकारान्तर से धर्मों का चित्त, चैतसिक तथा चित्त-विप्रयुक्त, इन तीन वर्गों में विभाजन उल्लिखित है। चित्त सप्तविध हैं—चक्षुरादि-विज्ञान, मनोधातु एवं मनोविज्ञानधातु। चैतसिक त्रिविध हैं—वेदनास्कन्ध, संज्ञास्कन्ध, एवं संस्कार-स्कन्ध। चित्त-विप्रयुक्त धर्म दो हैं—रूप, एवं निर्वाण। किन्तु यह विभाजन अभिधर्म-पिटक में अधिक चर्चित नहीं है। उस समय, जैसा कथावत्थु से प्रतीत होता है चैतसिक धर्मों की पृथक् सत्ता भी विवादास्पद थी। चित्त एवं रूप के दो वर्गों का धम्म-संगणि में विस्तार से वर्णन मिलता है। अभिधम्म के कुछ ग्रन्थों में पुनःप्राचीन स्कन्ध, धातु, एवं आयतन की विस्तृत चर्चा है। संक्षेप में अभिधर्मपिटक में उपलब्ध धर्म-विवरण इस प्रकार प्रदर्शित किया जा सकता है—(पृष्ठ २५६ देखें)

आचार्य अनिरुद्ध ने चार पारमार्थिक तत्त्व स्वीकार किये हैं—चित्त, चैतसिक, रूप और निर्वाण[२८]।

चित्त—समस्त लौकिक धर्मों में चित्त शीर्षभूत है जैसे समस्त लोकोत्तर धर्मों में प्रज्ञा। सब कुशल अथवा अकुशल धर्म चित्तपूर्वंगम हैं धम्मपद की प्रसिद्ध गाथाओं के के अनुसार। 'मन सब धर्मों में पहले अग्रसर होता है। सब धर्मों में मन श्रेष्ठ है। सब धर्म मनोमय हैं।' सुख और दुःख मनोगत शुभ और अशुभ का इस प्रकार अनुसरण करता है जैसे यानवाही पशु का यानचक्र अथवा पुरुष की छाया[२९]। क्लेश और व्यवदान चित्त का ही सहारा लेकर प्रवृत्त होते हैं। यही कारण है कि चित्त के स्वभाव, प्रवृत्ति एवं उसके कुशल और अकुशल से सम्बन्ध को लेकर अभिधर्म में इतनी चर्चा रही है। जैसे चित्र में नाना विचित्र रूप लोक का प्रदर्शन होता है ऐसे ही देव, मनुष्य, निरय, एवं तिर्यक् गतियों में कर्म, लिंग, संज्ञा, व्यवहार आदि का भेद चित्त-कृत एवं चित्त-मात्र ही है[३०]। कर्म का मूल चित्त में ही है एवं कर्म से ही समस्त संसार का वृक्ष निरूढ़ हुआ है। इस प्रकार यह कहने में कोई अत्युक्ति नहीं है कि संसार का दुःख एवं उससे विमुक्ति दोनों ही चित्त के अधीन हैं।

चित्त और रूप—चित्त और रूप (भौतिक धर्म) का सम्बन्ध पर्यालोचनीय है। चित्त रूप का पच्छाजात-पच्चय है। रूप चित्त का पुरेजात-पच्चय है। चित्त की

२८—अभिधम्मत्थसंगहो (सारनाथ, १९४१), पृ० १।

२९—खुद्दक (ना०), जि० १, पृ० १६।

३०—अट्ठसालिनी, पृ० ५४।

धर्माः
चित्त
चैतसिक
चित्तविप्रयुक्त
कुशल
अकुशल
अव्याकृत
रूप
निर्वाण
(असंस्कृत)
लोभमूल
द्वेष
मूल
मोहमूल
वेदना संज्ञा संस्कार
भूतरूप
उपादाय
रूप
(भौतिक)
कामावचर रूपावचर अरूपा० लोकोत्तर
स्पष्ट-
व्यायतन
अव्यातु
विपाक
क्रिया
पृथ्वी
तेजस्
वायु
'प्रसाद'—रूप
स्त्रीन्द्रिय पुरुषेन्द्रिय
जीवि
तेन्द्रिय
चक्षु-
रायतन
श्रोत्र०
घ्राण०
काय०
(त्वक्)
(गोचर)
रूप
रूपायतन शब्द० गन्धा० रसायतन
हृदय
वस्तु
'सूक्ष्म रूप'
आकाशधातु
रूपलघुता ०मृदुता ०कर्मण्यता
कवलीकार आहार
०उपचय
वाग्विज्ञप्ति
०सन्तति
कायविज्ञप्ति
०जरता
०अनित्यता
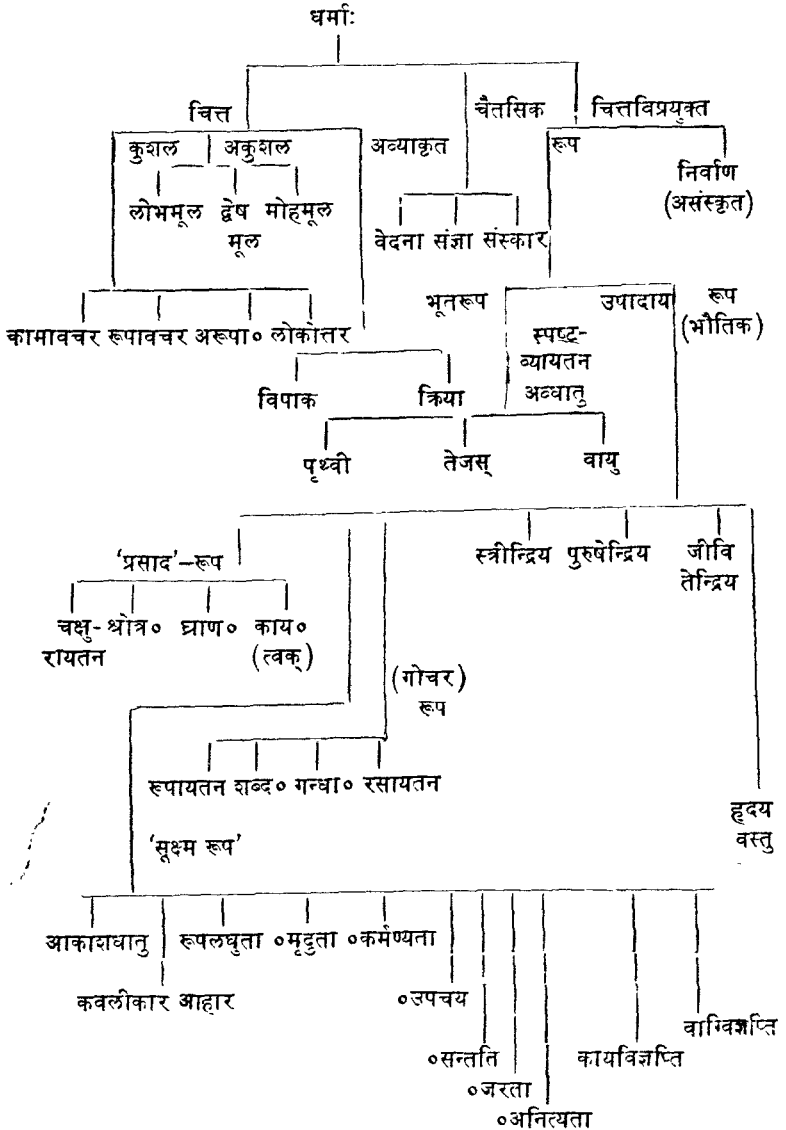
प्रवृत्ति के लिए रूप, वस्तु एवं आलम्बन प्रदान करता है। इन्हीं के आश्रय से सातों विज्ञान-धातु उत्पन्न होती हैं। ऐसे ही रूप, शब्द आदि पंचविध भौतिक धर्मों का आलम्बन कर पाँच प्रकार की विज्ञान-वीथियाँ प्रवृत्त होती हैं। दूसरी ओर चित्त-संभूत कर्म कायिक-रूप की उत्पत्ति में प्रधान कारण है। कर्म और विज्ञप्ति के प्रसंग में चित्त ही देह का संचालन करता है। चित्त को रूप के उद्भवों में से एक स्वीकार किया गया है। रूप का जहाँ अभाव है ऐसे अरूप लोकों में भी चित्त की प्रवृत्ति सम्भव होती है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि यद्यपि भूतरूप चित्त-निरपेक्ष है एवं चित्त की प्रवृत्ति साधारणतः रूप-सापेक्ष है तथापि कर्म आदि के द्वारा देह का उत्पादक, संचालक एवं उपष्टम्भक होने के कारण चित्त का ही प्राधान्य स्वीकार करना चाहिए। वस्तुतः रूपतत्व की पर्याप्त आलोचना वर्तमान पालि साहित्य में उपलब्ध नहीं होती।

सूत्रपिटक में भी चित्त को रूप से अधिक चंचल बताया गया है। पीछे क्षणभंगवाद के विकसित होने के साथ इस प्रश्न पर विचार किया गया कि यदि रूप-धर्म एवं चित्त दोनों ही क्षणिक हों तो चित्त और रूप का सम्बन्ध दुरुपपाद है। रूपालम्बन के पूरी तरह से अवबुद्ध होने में अनेक चित्त उत्पन्न एवं निरुद्ध होते हैं। यदि चित्त का एक क्षण रूप के एक क्षण के बराबर हो तो रूप का ठीक ज्ञान असम्भव है। अतएव थेरवादियों ने यह सिद्धान्त प्रस्तुत किया कि रूप-क्षण सत्रह (१७) चित्त-क्षणों के बराबर है। इस सिद्धान्त का आधार चित्तवीथि का विवेचन है[३१]।

वीथिचित्त—वीथि का अर्थ स्फुट-बोध के अभिमुख चित्त-परम्परा है। एक जन्म में उत्पत्ति के समय का प्रथम चित्त जो पिछले जन्म की चित्त-संतति से इस जन्म की चित्तसंनति का सम्बन्ध जोड़ता है, प्रतिसंधान-हेतु होने के कारण प्रतिसंधि-विज्ञान कहलाता है। इसके अनन्तर भवांगचित्त की प्रवृत्ति होती है। भवांग से तात्पर्य उपपति-भव के अंग अथवा कारण से है जो कि चित्त का एक अर्धचेतन अथवा उपचेतन प्रवाह है जैसा सुषुप्ति की अवस्था में उपलब्ध होता है। भवांग का प्रारम्भ प्रतिसन्धि-चित्त से होता है एवं अन्त च्युति-चित्त से। भवांग का आलम्बन प्राक्तन जनक-कर्म, कर्मनिमित्त अथवा गति-निमित्त होता है। १९ प्रकार के भवांग बताये गये हैं[३२]। इस भवांग-चित्त के स्रोत को काटकर वीथिचित्त की प्रवृत्ति होती है एवं वीथि के अन्त में

३१—द्र०—अभिधम्मत्थसंगहो, पृ० ६४—८५; अट्ठसालिनी, पृ० २१६—३३।
३२—अभिधम्मत्थसंगहो, पृ० ८६।

पुनः भवांग-पात। भवांगचित्त बोध का आत्मविश्रान्त अस्फुट प्रवाह है, वीथिचित्त नाना आध्यात्मिक एवं बाह्य विषयों के जगत् का स्फुट बोध है।

विषयों का चित्त से सम्बन्ध इन्द्रियों के द्वारों से एवं मन के द्वार से सम्पन्न होता है। इन्द्रिय-द्वार में आलम्बन के प्रकट होने पर वह मनोद्वार में भी प्रकट होता है, जैसे किसी वृक्ष की शाखा पर उतरते हुए पक्षी की छाया पृथ्वी पर भी उतरती है। किन्तु अनेक आलम्बन सीधे मनोद्वार में प्रकट होते हैं। इस प्रकार द्वार-भेद से चित्तवीथि के दो भेद किये जा सकते हैं—पंचद्वार-वीथि एवं मनोद्वार-वीथि। पंचद्वारवीथि में बाह्य विषय का इन्द्रिय-द्वार के साथ सम्पर्क स्थापित होना वस्तुतः बाह्यरूप एवं 'प्रसादरूप' का संघट्टन है। इससे विचलित होकर भवांग की धारा का विच्छेद होता है। पहले क्षण में 'भवांग-चलन' होता है, दूसरे में 'भवांग-उपच्छेद'। तदनन्तर इन्द्रिय-द्वार में प्राप्त आलम्बन की ओर चित्त का आकर्षण अथवा 'आवर्जन' होता है। यह एक असंकल्प-पूर्वक नैसर्गिक क्रिया है। अभिधर्मपिटक में इसे क्रिया-मनोधातु कहा गया है। और इसे क्रियारूप अव्याकृत धर्म बताया गया है। पीछे के दार्शनिक साहित्य में इसका नाम 'पञ्चद्वारावर्जन' है। आवर्जन के अनन्तर तद्विषयाकार चक्षुरादिविज्ञान की उत्पत्ति होती है। चक्षुर्विज्ञान, श्रोत्र-विज्ञान आदि विज्ञान सर्वथा निर्विकल्पक, विशुद्ध ऐन्द्रिय-संवेदन हैं। ये विज्ञान प्राक्तन कुशल अथवा अकुशल धर्मों के विपाक होते हैं और अतएव अव्याकृत धर्म हैं। इन विज्ञानों के निरोध के अनन्तर 'सम्पटिच्छन' अथवा 'विपाक-मनो-धातु' की उत्पत्ति होती है। स्थूल रूप से कहा जा सकता है कि यदि पंच-विज्ञान आलम्बनों की ऐन्द्रिय स्फूर्ति हैं तो 'सम्पटिच्छन' उन आलम्बनों का मन के द्वारा प्रथम ग्रहण। इसके अनन्तर मन के द्वारा आलम्बन के स्वरूप-निर्णय का प्रयत्न होता है जिसे 'सन्तीरण' कहा गया है। अभिधर्म के अनुसार यह अहेतुक विपाक मनोविज्ञान-धातु है। इसके अनन्तर मन के द्वारा आलम्बन का 'व्यवस्थापन' होना है। 'व्यवस्थापन' के अनन्तर 'जवन'—चित्त की उत्पत्ति होती है। जवन के पूर्ववर्ती चित्त विपाक-रूप अथवा क्रिया-रूप होने के कारण अव्याकृत धर्म है। 'जवन' चित्त आलम्बन की ओर चेतना-प्रतिसंयुक्त सम्मुखीभाव है। जवन-चित्त की अधिकतया सात बार उत्पत्ति होती है अथवा होती ही नहीं। कामावचर-जवन-चित्तों के २९ भेद बताये गये हैं। ज्ञान का कुशल अथवा अकुशल कर्म से सम्पर्क जवन-चित्त में ही होता है। इसके अनन्तर 'तदालम्बन' चित्त के दो क्षण होते हैं। तदालम्बन—चित्त जवन-चित्त के आलम्बन का अनुसरण करता है। मानो इसका अवशिष्ट संस्कार हो। इसके अनन्तर पुनः भवांग-पात होता है। भवांग के उपच्छेद से वीथि की प्रवृत्ति होती है,

वीथि के पर्यवसान पर पुनः भवांग का पूर्ववत् प्रवाह। इसी प्रकार जन्म के प्रतिसन्ध-चित्त से प्रारम्भ कर मृत्यु के च्युति-चित्त तक भवांग का स्रोत और वीथि का उन्मेष चलता रहता है।

भवांग-चलन के दो क्षणों से पहले एक क्षण अतीत-भवांग का गिनने पर 'तदालम्बन' के अन्त तक १७ चित्त-क्षणों का क्रम ऊपर वीथि-चित्त में निर्दिष्ट है। प्रत्येक क्षण का उत्पाद, स्थिति, और भंग होता है। किन्तु यह पूरी चित्तपरम्परा आलम्बन के 'अति-महत्' होने पर ही सम्पन्न होती है। यदि आलम्बन केवल 'महत्' हो तो 'जवन' के अन्त में ही भवांग-पात हो जाता है, 'तदालम्बन' की उत्पत्ति नहीं होती। जब 'व्यव-स्थापन' की दो-तीन बार प्रवृत्ति के अनन्तर ही भवांग-पात हो जाता है और 'जवन' का भी उत्पाद नहीं होता, तब आलम्बन 'परित्त' अथवा अल्प कहलाता है। 'अति-परित्त' आलम्बन होने पर भवांग-चलन मात्र होता है, वीथि-चित्त का उत्पाद नहीं होता।

मनोद्वार में विभूत आलम्बन के उपस्थित होने पर भवांगचलन, मनोद्वारावर्जन, जवन, एवं 'तदालम्बन' क्रमशः उत्पन्न एवं निरुद्ध होते हैं। आलम्बन अविभूत होने पर 'तदालम्बन' का उत्पाद नहीं होता।

ध्यान के प्रसंग में वीथिचित्त की कुछ विशेषताएँ उल्लेखनीय हैं। ध्यान से निष्पन्न बलवत् समाधि अर्पणा कहलाती है। इसमें आलम्बन सदा अतिविभूत होता है किन्तु अर्पणाजवन के अतिसन्तत होने के कारण तदालम्बन-चित्त का भी उत्पाद नहीं होता। अर्पणा भी भवांग -स्रोत के समान प्रवृत्त होती है। इस अर्पणावीथि में ज्ञानसम्प्रयुक्त आठ कामावचर जवनचित्तों में से कोई एक कुशलचित्त अथवा क्रियाचित्त तीन बार अथवा चार बार उत्पन्न होकर निरुद्ध होता है। ये चित्त क्रमशः परिकर्म, उपचार अनुलोम एवं गोत्रभू नाम से प्रसिद्ध हैं। इनके अनन्तर चतुर्थ एवं पंचम जवनचित्त अर्पणावीथि में अवतीर्ण होता है। यह जवन छब्बीस महद्गत एवं लोकोत्तर जवनों में से एक होता है। इसके अनन्तर अर्पणा के जवनचित्तों का प्रवाह प्रवृत्त होता है। तदनन्तर भवांगपात पुनः घटता है। यदि सौमनस्य-सहगत जवनचित्त के अनन्तर अर्पणा का प्रारम्भ हो तो वह भी सौमनस्य-सहगत होती है तथा उपेक्षापूर्वक होने पर वह उपेक्षासहगत होती है। कुशल जवनचित्त के अनन्तर कुशल जवन एवं निचले तीन फल, तथा क्रियाजवन के अनन्तर क्रियाजवन एवं अर्हत्व-फल अर्पित होते हैं।

वीथिचित्त के अवबोधन के लिए 'आम्रोपमा' उदाहृत की गयी है—मान लीजिए फले हुए आम्रवृक्ष के नीचे सिर ढंककर कोई पुरुष सोया हुआ हो एवं अपने पास गिरे

एक आम के शब्द को सुनकर सिर से वस्त्र हटाकर आँख खोलकर उसे देखे, उठाये और परखे तथा उसे पका हुआ जानकर उसका परिभोग करे और फिर मुख में उसके शेष स्वाद का अनुभव करता हुआ पुनः सो जाय। ऐसी स्थिति में पहली निद्रा का समय भवांग का प्रवाह है, फल का गिरना आलम्बन के द्वारा प्रसाद-संघट्टन है, उस शब्द से जागना आवर्जन है। आँख खोलकर देखना चक्षुर्विज्ञान आदि विज्ञानों की प्रवृत्ति है। उठा लेना सम्पटिच्छन है। परखना संतीरण है। पके होने का निश्चय व्यवस्थापन है, परिभोग जवन है, पीछे के स्वाद का अनुभव तदालम्बन है। पुनः निद्रा की प्रवृत्ति भवांगपात है[३३]।

चैतसिक—ऊपर कहा जा चुका है कि चित्त के ८९ भेदों का प्रदर्शन धम्मसंगणि में स्पष्ट किया जा चुका था, किन्तु वहाँ चैतसिकों के सामान्यतः उल्लेख में उन्हें केवल तीन ही भागों में बाँटा गया है, यद्यपि नाना चैतसिक धर्मों का विशेषतः उल्लेख उपलब्ध होता है। जैसा कथावत्थु से ज्ञात होता है उस समय कुछ सम्प्रदाय चैतसिकों की सत्ता का ही प्रतिवाद करते थे। चैतसिकों का विकसित विवरण बुद्धघोप के समय तक निश्चित हो चुका था। इस विकास में संस्कारस्कन्ध को अनेक धर्मों में बाँट दिया गया था। चैतसिक चित्त से सम्प्रयुक्त धर्म हैं। वे चित्त के साथ उत्पन्न होते हैं, एवं चित्त के साथ निरुद्ध होते हैं। उनके आलम्बन और वस्तु भी चित्त के आलम्बन और वस्तु से अभिन्न होते हैं। चैतसिक धर्म बावन बताये गये हैं जिनमें वेदना और संज्ञा के अतिरिक्त पचास धर्मों में विभक्त संस्कारस्कन्ध परिगणित है। सात चैतसिक धर्म सर्वचित्त-साधारण हैं—स्पर्श, वेदना, संज्ञा, चेतना, एकाग्रता, जीवितेन्द्रिय तथा मनसिकार। स्पर्श चित्त एवं आलम्बन को संघटित करता है। वेदना के सुविदित तीन भाग हैं—सुख, दुःख, अदुःखासुख। आलम्बन का संज्ञान ही संज्ञा है। चेतना संकल्पात्मक प्रेरक धर्म है। एकाग्रता न्यूनाधिक मात्रा में सभी चित्तों में पायी जाती है। मनसिकार का अर्थ नवीन आलम्बन की ओर मन का अवधान है। ७ चैतसिक धर्म प्रकीर्णक कहे जाते हैं। ये बहुत से चित्तों के सहगत होने के कारण इस प्रकार कहे गये हैं—इनकी चित्त के साथ सदा उपस्थिति नहीं होती। वितर्क, विचार, अधिमोक्ष, वीर्य, प्रीति एवं छन्द—ये ही प्रकीर्णक हैं। इन दोनों विभागों के १३ चैतसिक धर्म अन्य-समान कहे जाते हैं क्योंकि ये स्वतः न कुशल हैं न अकुशल। किन्तु कुशल अथवा अकुशल चित्त के सम्प्रयोग से स्वयं भी कुशल अथवा अकुशल हो जाते हैं। चौदह चैतसिक

३३–अट्ठसालिनी, पृ० २११।

अकुशल हैं—मोह, अह्री, अनवत्रप्य, औद्धत्य, लोभ, दृष्टि, मान, द्वेष, ईर्ष्या, मात्सर्य, कौकृत्य, स्त्यान, मृद्ध, एवं विचिकित्सा। शोभन चैतसिक पच्चीस हैं। ये केवल कुशल चित्तों में पाये जाते हैं। इनमें १९ चैतसिक शोभन-साधारण कहे जाते हैं—श्रद्धा, स्मृति, ह्री, अवत्रप्य, अलोभ, अद्वेष, तत्रमध्यस्थता, काय-प्रस्रब्धि, चित्तप्रस्रब्धि, कायलघुता, चित्तलघुता, कायमृदुता, चित्तमृदुता, कायकर्मण्यता, चित्तकर्मण्यता, कायप्रागुण्यता, चित्तप्रागुण्यता, काय-ऋजुता, एवं चित्तऋजुता। शोभन चैतसिकों में तीन विरतियाँ—सम्यक्वाक्, सम्यक्कर्मान्त एवं सम्यग-आजीव—दो अप्रमाण—करुणा, एवं मुदिता—एवं प्रज्ञेन्द्रिय सम्मिलित हैं।

अध्याय ६

हीनयान के सम्प्रदाय

सर्वास्तिवादी—सर्वास्तिवादी संप्रदाय, स्थविर शाखा से वात्सीपुत्रीयों के पश्चात् विभाजित हुआ था। अशोक के समय की संगीति में मोग्गलीपुत्र ने सर्वास्तिवाद का भी खण्डन किया था। परमार्थ के अनुसार कात्यायनीपुत्र की मृत्यु पर स्थविर दो भागों में बँट गये—स्थविर और सर्वास्तिवादी। इस विभेद का कारण उन्होंने यह बताया है कि स्थविर निकाय सूत्रों को ही मानते थे, इसके विरुद्ध सर्वास्तिवादी अभिधर्म को पिटकों में सर्वश्रेष्ठ स्वीकार करते थे। एक दूसरी व्याख्या के अनुसार विभेद का कारण यह था कि कुछ स्थविरों ने महादेव की पाँच 'वस्तुओं' का तिरस्कार किया था। किन्तु ये दोनों ही व्याख्याएँ अश्रद्धेय हैं। इतना निश्चित है कि अशोक के समय में मध्यान्तिक ने कश्मीर में अपना संप्रदाय स्थापित किया। मध्यान्तिक को मथुरा के प्राचीन आवास से आया कहा गया है, किन्तु यह सन्दिग्ध है। पहली-दूसरी सदी ई० में कनिष्क ने इन सर्वास्तिवादियों का समर्थन किया और उस समय वे गन्धार, कश्मीर, मथुरा और श्रावस्ती में विशेष रूप से पाये जाते थे। परम्परा के अनुसार कनिष्क के समय में सर्वास्तिवादियों की संगीति हुई थी जिसमें उन्होंने अभिधर्म-महाविभाषा की रचना की[1]। इस संगीति में पार्श्व प्रधान बने थे। पार्श्व कनिष्क के द्वारा स्थापित पुरुषपुर के आश्चर्य महाविहार के वासी थे। इस संगीति में पार्श्व के साथ ५०० अर्हत और वसुमित्र के साथ ५०० बोधिसत्व थे। यह विवरण महायानिकों का भी भाग-ग्रहण सूचित करता है, किन्तु अधिक विश्वास्य नहीं प्रतीत होता। संगीति का स्थान कश्मीर का कुण्डलवन विहार अथवा जालन्धर का कुवन बताया गया है[2]। कहा जाता है कि इस संगीति में अष्टादश-निकायों में से सभी में प्रामाणिकता मानी गयी एवं इसके पहले अनिबद्ध आगम भी लिखे गये। त्रिपिटक पर विभाषाएँ रची गयीं

१—वाटर्स, जि० १, पृ० २७०–७८।
२—तारानाथ, पृ० ५९–६०।

जिनमें प्रत्येक शतसाहस्रिका थी। इन्हें ताम्र-पट्ट पर उत्कीर्ण कर स्तूप मे रखा गया। अभिधर्ममहाविभाषा में अनेक पुराने सर्वास्तिवादी आचार्यों के नाम मिलते हैं[३]। इनमें मुख्य हैं—पार्श्व, वसुमित्र, घोषक, बुद्धदेव, धर्मत्रात और एक अन्य आचार्य जो कि केवल भदन्त पद से संबोधित किये गये हैं। और भी अनेक आचार्यों के नाम यत्र-तत्र महाविभाषा में प्राप्त होते हैं जैसे कुशवर्मा, घोषवर्मा, द्रव, धरदत्त, धर्मनन्दी, धार्मिक, सुभूति, पूर्णास, वक्कुल, वामक, श्रमदत्त, संघवसु और बुद्धरक्षित। इस समय सर्वास्तिवादियों में अनेक अवान्तर सम्प्रदायों को सत्ता भी **महाविभाषा** से सूचित होती है—जैसे युक्तवादी, अभिधर्माचार्य, कश्मीराचार्य, गन्धाराचार्य, पाश्चात्रीय, एवं बहिर्देशक। **विभाषा** के अनुयायी वैभाषिक सर्वास्तिवादी कहलाये।

वैभाषिकों के दो भेद प्रधान थे—काश्मीर-वैभाषिक, एवं पाश्चात्य-वैभाषिक जिनका केन्द्र गन्धार में था। पाश्चात्यों के अनुसार बोधिसत्व पहले शैक्ष अवस्था मे निरोध-समापत्ति का लाभ कर अनन्तर बोधि प्राप्त करते हैं। काश्मीरक पहले बोधि की प्राप्ति और उसके साथ निरोध-समापत्ति मानते थे। पाश्चात्यों का एक अवान्तर भेद भी था—मृदु और मध्य। मृदु पाश्चात्य बाह्य अर्थों का अस्तित्व स्वीकार करते थे एवं पुद्गल को न नित्य-लक्षण, न अनित्य-लक्षण मानते थे। मध्य पाश्चात्य ध्यान के विषय मे विशिष्ट मत रखते थे।

तारानाथ के अनुसार धर्मत्रात, घोषक, वसुमित्र एवं बुद्धदेव वैभाषिकों के प्रधानतम चार आचार्य थे[४]। इन सबका **महाविभाषा** की रचना में हाथ था। तारानाथ के अनुसार घोषक तुषार जाति के आचार्य थे। कहा जाता है कि संगीति के बाद उन्हें अश्मापरान्तक के राजा ने बुला लिया था। चीनी भाषा में उपलब्ध उनके एकमात्र ग्रन्थ **अभिधर्मामृत** का हाल में संस्कृत पुनरुद्धार किया गया है। घोषक लक्षणान्यथात्ववादी थे। उन्होंने कुल ६१ धर्मों का परिगणन किया है—चित्त १, रूप १, चित्तसम्प्रयुक्त ४०, चित्त-विप्रयुक्त १६, असंस्कृत ३।

एक स्थविर धर्मत्रात ने **उदान-वर्ग** का संग्रह किया था। इन्हें या अन्य धर्मत्रात को भावान्यथात्ववादी कहा गया है। वसुमित्र को **प्रकरणपाद** का कर्ता बताया गया है और अवस्थान्यथात्ववाद का प्रवर्तक। यह स्मरणीय है कि धर्मत्रात आदि नाम सम्भवतः एकाधिक आचार्यों के थे।[५]

३—बारो, पृ० १३२—३३।

४—तारानाथ, पृ० ६७।

५—तु०—तारानाथ, पृ० ६८; तु०—वाटर्स, जि० १, पृ० २१४—१५।

धर्मश्री के **अभिधर्मसार** ने बहुल प्रचार और ख्याति का लाभ किया। लगभग ३२० ई० में एक धर्मत्रात ने इस ग्रन्थ का एक विस्तृत संस्करण प्रस्तुत किया। इस पर वसुबन्धु ने भी एक व्याख्या लिखी थी। **अभिधर्मकोश** के पहले **अभिधर्मसार** ही वैभाषिकों का मुख्य ग्रन्थ था।

वसुबन्धु—वसुबन्धु की तिथि के विषय में दो सुविदित मत हैं—तकाकुसु का मत जिसके अनुसार वसुबन्धु पाँचवी शताब्दी ई० के थे, तथा नोएल पेरी का मत जो उन्हें चौथी शताब्दी ई० में रखता है। हाल में पेरी का फ्राउवाल्नर ने प्रबल समर्थन किया है।[६] इस मतभेद के निराकरण के लिए कुछ विद्वानों ने यह भी सुझाया है कि वसुबन्धु नाम के दो आचार्य थे जिनमें पूर्ववर्ता ४ थी शताब्दी के एवं परवर्ती ५वीं शताब्दी के थे। यशोमित्र के साक्ष्य से दो वसुबन्धुओं की सत्ता निश्चित है, किन्तु परमार्थ, श्वांच्वांग एवं तारानाथ के विवरणों में उनका भेद विलीन हो गया है।

परमार्थ का जन्म उज्जयिनी में ५०० ई० में हुआ था। वे ५४६ ई० में चीन आये और ५६९ ई० में केन्टन में उनका देहान्त हुआ। उन्होंने एक वसुबन्धु-चरित की रचना की जो चीनी में उपलब्ध है। इस ग्रन्थ को परमार्थ के द्वारा अन्य-रचित ग्रन्थ का चीनी अनुवाद भी बताया गया है, और यह भी कहा गया है कि सम्भवत: वसुबन्धु की यह जीवनी परमार्थकृत नहीं है बल्कि उनके किसी शिष्य ने उनसे सुनी बातों के आधार पर उसकी रचना चीनी में की। इसके अनुसार वसुबन्धु का समय परिनिर्वाण से ११०० वर्ष पश्चात् था। वे पुरुषपुर के निवासी थे और कौशिक नाम अथवा गोत्र के ब्राह्मण के पुत्र थे। असंग उनके बड़े भाई थे और विरिञ्चिवत्स छोटे। वसुबन्धु बुद्धमित्र के शिष्य थे। सांख्य आचार्य विन्ध्यवासी के द्वारा गुरु के बाद में पराजित होने पर वसुबन्धु ने विन्ध्यवासी के खण्डन के लिए परमार्थ सप्ततिका नाम का ग्रन्थ रचा। उस समय वसुबन्धु अयोध्यावासी कहे गये हैं। उन्होंने अभिधर्मकोश की रचना की एवं वैयाकरण वसुरांत को पराजित किया। किन्तु वैभाषिक आचार्य संघभद्र के साथ अपनी वृद्धता के कारण वाद के लिए वे सहमत नहीं हुए। राजा विक्रमादित्य की उन पर कृपा थी एवं उनके युवराज बालादित्य के वे शिक्षक थे। शासक बनने पर बालादित्य ने उन्हें अयोध्या अपनी राज-सभा में बुला लिया। वृद्धावस्था में असंग की प्रेरणा से

६—फ्राउवाल्नर, ऑन दि डेट ऑव् दि बुधिस्ट मास्टर ऑव् दि लॉ वसुबन्धु; तकाकुसु, जे० आर० ए० एस० १९०५, पृ० ३३ प्र०, वही, १९१४, पृ० १०१३ प्र०, पुनश्च दे०—नीचे।

वे महायानी बन गये तथा उन्होंने महायान के अनेक ग्रन्थों की रचना की। ८० वर्ष की अवस्था में उन्होंने अयोध्या में देह-त्याग किया।

श्वांच्वांग के अनुसार[७] वसुबन्धु असंग के भाई थे। असंग गन्धार के निवासी थे और परिनिर्वाण से एक सहस्र वर्ष के भीतर उत्पन्न हुए थे। उन्होंने वसुबन्धु को हीनयान से महायान में परिवर्तित कराया। श्वांच्वांग ने असंग और वसुबन्धु से सम्बन्ध रखने वाले कई संघाराम और स्तूप अयोध्या में देखे।

यह स्मरणीय है कि श्वांच्वांग के सम्प्रदाय में धर्मपाल आदि ६ठी शताब्दी के आचार्यों को परिनिर्वाण के ११०० वर्ष के अनन्तरभावी बताया गया है। इससे यह अनुमान करना स्वाभाविक है कि श्वान्च्वांग के 'परिनिर्वाण से १००० वर्षो के भीतर' से संकेत पाँचवीं शताब्दी ई० की ओर मानना चाहिए। पक्षान्तर में छठी शताब्दी ई० के परमार्थ अपने को परिनिर्वाण से १३ वीं शताब्दी में मानते थे अतएव उनके मत से निर्वाणत: १२ वी शताब्दी के वसुबन्धु पाँचवीं शताब्दी ई० में रखे जाने चाहिए। इस प्रकार पाँचवीं शताब्दी के पक्ष में परमार्थ और श्वांच्वांग दोनों का ऐकमत्य है। 'विक्रमादित्य' और 'बालादित्य' की समकालीनता भी वसुबन्धु के पञ्चम-शतकीय होने का समर्थन करती है। विक्रमादित्य कदाचित् स्कन्दगुप्त हों और बालादित्य नरसिंह गुप्त। श्वांच्वांग ने सद्धर्म के अनुकूल बालादित्य नाम के एक गुप्त सम्राट् का उल्लेख किया है किन्तु वे मिहिरगुल के समकालिक होने के कारण परवर्ती थे। तिब्बती परम्परा वसुबन्धु को दिङ्नाग का गुरु बताती है। वसुबन्धु को पंचम शताब्दी में रखने से यह अनुश्रुति संगत हो जाती है।

दूसरी ओर एक प्रचलित अनुश्रुति वसुबन्धु को परिनिर्वाण से ९०० वर्ष पश्चात् रखती है। इसका समर्थन इस बात से होता है कि कुमारजीव (ई० ३४४-४१३) ने अपने गुरु (?) सूर्यसोम से वसुबन्धु-रचित 'सद्धर्मपुण्डरीककोपदेश' प्राप्त किया था। वसुबन्धु कृत आर्यदेव के **शतशास्त्र** की व्याख्या का कुमारजीव ने ४०४ ई० में चीनी अनुवाद प्रस्तुत किया था एवं वसुबन्धु कृत बोधिचित्तोत्पादनशास्त्र का अनुवाद उन्होंने ४०५ ई० में किया। बोधिरुचि ने वसुबन्धु के वज्रच्छेदिका **प्रज्ञापारमिताशास्त्र** की वज्रर्षि-कृत व्याख्या का ५३५ ई० में चीनी अनुवाद करते हुए वसुबन्धु को २०० वर्ष प्राचीन बताया है। इन साक्ष्यों से एक महायान-ग्रन्थों के रचयिता वसुबन्धु का समय चौथी शताब्दी ईसवीय प्रमाणित होता है। ये साक्ष्य निर्विवाद नहीं हैं तथा चौथी शताब्दी के इस वसुबन्धु को यशोमित्र ने स्पष्ट ही कोशकार से भिन्न माना है।

७—वाटर्स, जि० १, पृ० २१०–११, ३५५–५८।

अभिधर्मकोश में आठ कोशस्थान हैं एवं सम्पूर्ण ग्रन्थ ६०० कारिकाओं में निबद्ध है। वसुबन्धु ने स्वयं ही इन कारिकाओं पर भाष्य भी लिखा था। मूल संस्कृत ग्रन्थ की एक पाण्डुलिपि राहुल सांकृत्यायन अपने साथ तिब्बत से लाये थे, किन्तु वह अप्रकाशित है। आठ कोशस्थानों के विषय इस प्रकार हैं—धातु, इन्द्रिय, लोक-धातु, कर्म, अनुशय, आर्यपुद्गल, ज्ञान एवं ध्यान। इनके अतिरिक्त पुद्गलवाद के खण्डन के लिए एक अतिरिक्त कोशस्थान की भी परिशिष्ट के रूप में रचना की गयी थी।

अभिधर्मकोश बौद्धधर्म का विख्याततम एवं सर्वाधिक उपयोगी आकर-ग्रन्थ है। यशोमित्र-कृत इसकी **स्फुटार्था** नाम की व्याख्या संस्कृत में उपलब्ध है।[८] वसुबन्धु का झुकाव सौत्रान्तिक मत की ओर था। उनके खण्डन के लिए संघभद्र नाम के सुप्रसिद्ध वैभाषिक आचार्य ने दो ग्रन्थ रचे—**न्यायानुसारशास्त्र** एवं **अभिधर्म-कोश-शास्त्र-कारिका-विभाष्य**। पीछे यशोमित्र के अतिरिक्त गुणमति, पूर्णवर्धन, शमथदेव एवं स्थिरमति ने कोश पर व्याख्याएँ प्रस्तुत कीं। छठीं शताब्दी के प्रारम्भ में गुणमति ने नालन्दा में लक्षणानुसार-शास्त्र की रचना की। पीछे गुणमति वलभी चले गये जहाँ स्थिरमति उनके शिष्य हुए। स्थिरमति ने पूर्णवर्धन को शिक्षा दी और पूर्णवर्धन ने जिनमित्र और शीलेन्द्रबोधि को। यह स्मरणीय है कि वसुवर्मा का चतुस्सत्य शास्त्र पाँचवीं शताब्दी में रचा गया था।

सर्वास्तिवाद-विस्तार और आगम—श्वांच्वांग ने सातवीं शताब्दी में सर्वास्तिवादियों को अनेक स्थानों में पाया। उन्होंने सर्वास्तिवादी सम्प्रदाय के स्यालकोट के निकट तमसा वन में ३०० भिक्षु, मतिपुर में ५००, कन्नौज के निकट नवदेव कुल में ५००, हयमुख में २००, वाराणसी में २,०००, नालन्दा के निकट २००, हिरण्यपर्वत में १,००० एवं भिनमल में १०० भिक्षु पाये थे। भारत की सीमा के बाहर भी कराशहर में २,०००, कुचा में ५,०००, बाह्लीक में १,०००, बलख और बामियान के बीच ३००, कबंध में ५०० और बु-सा में १,००० और काशगर में १,००० सर्वास्तिवादी भिक्षु उन्हें मिले थे। श्वांच्वांग ने कश्मीर में १०० विहारों में ५,००० सर्वास्तिवादी भिक्षुओं को पाया था। और भी अनेक स्थलों पर उनके बताये हुए विहारों में सर्वास्तिवादी अवश्य रहे होंगे। उड्डियान और गन्धार में जोकि पहले सर्वास्तिवादियों के प्रधान प्रदेश थे और अब उजड़े हुए थे, श्वांच्वांग ने २५०० विहारों के अवशेष देखे जहाँ कि पहले प्रायः लगभग ३०,००० भिक्षु रहते थे। सातवीं शताब्दी के अन्त में इ-चिं ने

८—रोमन लिपि में सम्पादित, वोगिहारा, टोकियो, १९३२।

सर्वास्तिवादियों का भौगोलिक विवरण इस प्रकार दिया है—'उत्तर अथवा कश्मीर और उसके निकटवर्ती प्रदेश विशेष रूप से उन्हीं के हैं। मगध में वे प्रचुर हैं और पूर्व की ओर अन्य संप्रदायों के साथ-साथ उनका भी परिचय प्राप्त होता है। उनके कुछ प्रतिनिधि गुजरात, मालवा और दक्षिण में भी पाये जाते हैं। दक्षिण चीन में उनका महत्त्व है और चंपा में भी वे मिलते हैं[९]। तारानाथ के अनुसार पाल साम्राज्य काल में मूलसर्वास्तिवादियों का अस्तित्व था।

कुछ उत्तरकालीन ग्रन्थों के अनुसार सर्वास्तिवादी राहुलभद्र को अपना प्रधान आचार्य मानते थे[१०]। उनकी भाषा संस्कृत थी, उनके चिह्न उत्पल, पद्म, मणि और पर्ण थे। उनके नाम प्रायः मति, श्री, प्रभा, कीर्ति और भद्र में समाप्त होते थे। उनकी संघाटी में वैशिष्ट्य का उल्लेख किया गया है। उनके वस्त्र काले अथवा गाढ़े लाल रग के होते थे। इ-चिं के अनुसार उनकी संघाटी का निचला भाग एक सीधी रेखा में कटा होता था। वे भिक्षा को सीधे हाथ में ले लेते थे।

सर्वास्तिवादियों का त्रिपिटक इस प्रकार है[११]—विनय-पिटक, जिसमें प्रातिमोक्ष, सप्तधर्म, अष्टधर्म, क्षुद्रक-परिवर्त, भिक्षुणी-विनय, एकोत्तरधर्म, उपालिपरिपृच्छा, एवं कुशलपरिवर्त संगृहीत हैं; सूत्र-पिटक, प्रचलित परम्परा के अनुसार पहले तीन पादों की रचना शारिपुत्र और मौद्गल्यायन ने बुद्ध के जीवन-काल में की थी। चौथे पाद की रचना परिनिर्वाण से सौ वर्ष बाद हुई थी, पाँचवें और छठे की तथा ज्ञानप्रस्थान की परिनिर्वाण से ३०० वर्ष बाद जिसमें दीर्घागम, मध्यमागम, संयुक्तागम एवं एकोत्तरागम है; तथा अभिधर्मपिटक जिसमें ज्ञानप्रस्थान, संगीतिपर्यायवाद, धर्मस्कन्धपाद प्रज्ञप्तिपाद, विज्ञानकायपाद, धातुकायपाद एवं प्रकरणपाद गिने गये हैं।

(१) ज्ञानप्रस्थानसूत्र की रचना आर्यकात्यायनीपुत्र ने की थी[१२]। शेष ६ ग्रन्थ इसके 'पाद' माने गये हैं। ज्ञानप्रस्थान आठ खण्डों में और ४४ वर्गों में इस प्रकार विभक्त है—(१) संयुक्तग्रन्थ—लौकिकाग्र वर्ग (लोकोत्तर), ज्ञान०, पुद्गल०,

९—दे०—नीचे।

१०—बुदोन, जि० २, पृ० १००।

११—सर्वास्तिवादियों के साहित्य पर द्र०—ए० सी० बनर्जी, सर्वास्तिवाद लिटरेचर, तकाकुसु, जे० पी० टी० एस० १९०५, पृ० ६७ प्र०।

१२—तु०—स्फुटार्था, पृ० ११।

श्रद्धा०, अह्रीकता०, रूप० आदि; (२) संयोजन; (३) ज्ञान-शैक्ष और अशैक्ष, सम्यक् और मिथ्यादृष्टि, अभिज्ञा, आर्यसत्य, आर्यपुद्गल; (४) कर्म-अकुशल, हिंसा, विज्ञप्ति एवं अविज्ञप्ति आदि; (५) चतुर्महाभूत०; (६) इन्द्रिय—२२ इन्द्रियाँ, त्रैधातुक, आदि; (७) समाधि; (८) दृष्टि-स्मृत्युपस्थान, काम, संज्ञा आदि। कात्यायनीपुत्र परिनिर्वाण के ३०० वर्ष वाद वताये गये हैं।

(२) कहा जाता है कि संगीतिपर्यायपाद की रचना महाकोष्ठिल ने द्वितीय संगीति के अनन्तर की थी। इसकी तुलना दीघ-निकाय की संगीति एवं दसुत्तर सुत्तन्त से की गयी है। इसके विषय इस प्रकार हैं—(१) निदान—ग्रन्थ का उपोद्घात, (२) एक धर्म, (३) द्विधर्म—(११) दशधर्म, (१२) उपसंहार—ग्रन्थ-स्तुति।

(३) धर्मस्कन्ध को सर्वास्तिवादी अभिधर्म का प्रधानतम ग्रन्थ कहा गया है। इसके २१ विभागों में मुख्यतया आध्यात्मिक प्रगति के मार्ग और उससे सम्बन्ध रखनेवाले धर्मों का विवरण है। इसकी विसुद्धिमग्ग से तुलना सुझायी गयी है।

(४) प्रज्ञप्तिशास्त्र महामौद्गल्यायन की रचना वतायी जाती है। इसके तिव्वती अनुवाद के तीन भाग हैं—लोकप्रज्ञप्ति, कारण-प्रज्ञप्ति और कर्म-प्रज्ञप्ति।

(५) विज्ञानकायपाद के विषय में कहा गया है कि उसकी रचना परिनिर्वाण के १०० वर्ष बाद श्रावस्ती के निकट अर्हत् देवशर्मा ने की थी। ग्रन्थ ६ भागों में विभक्त है। पहले भाग में अतीत और अनागत धर्मों की सत्ता के विषय मे मौद्गल्यायन के मत का खण्डन किया गया है। यह मौद्गल्यायन कदाचित् मौद्गलीपुत्र रहे हों। ऐसी स्थिति में इस ग्रन्थ का समय अशोक के अनति दूर मानना चाहिए। दूसरे में पुद्गल और शून्यता का आलोचन है, तीसरे में हेतुप्रत्यय का, चौथे में आलम्बन प्रत्यय का, पाँचवें में विविध विषय हैं, छठे में अर्हत् के चित्त के विषय में चर्चा है।

(६) धातुकाय की रचना परिनिर्वाण के ३०० वर्ष बाद वसुमित्र के द्वारा बतायी गयी है। यशोमित्र और बुदोन ने पूर्ण को ही इसका रचयिता कहा है। वस्तुतः यह ग्रन्थ वसुमित्र के प्रकरणपाद के चतुर्थ भाग का विस्तार है। पालि की धातुकथा से भी इसकी तुलना की गयी है। इसके दो खण्डों में मुख्यतया चैतसिक धर्मों का विवेचन है।

(७) प्रकरणपाद की वसुमित्र ने पुष्करावती में रचना की थी। वसुमित्र कनिष्क के समकालीन थे। कदाचित् इस ग्रन्थ का मूल नाम अभिधर्म-प्रकरण था। इसके आठ भाग हैं। पहले में रूप, चित्त, चित्तधर्म, चित्तविप्रयुक्त संस्कार, एवं असंस्कृतधर्म का विवरण है, दूसरे में दस ज्ञानों का, तीसरे में आयतनों का, चौथे में धातु, आयतन, स्कन्ध, एवं चैतसिकों का पाँचवें में अनुशयों का, छठे में विज्ञेय, अनुमेय आदि धर्मों का, सातवें

में शिक्षापद, श्रामण्यफल आदि पर अनेक प्रश्नों का, तथा आठवें में उपसंहृत संक्षेप है। प्रकरणपाद की तुलना थेरवादी अभिधर्म के विभंग से की गयी है।

पालि के खुद्दक-निकाय में संगृहीत अनेक ग्रन्थों को सर्वास्तिवादियों ने त्रिपिटक के अन्दर नहीं रखा है। जातक, अवदान, धर्मपद एवं उदानवर्ग सर्वास्तिवादियों के निकट भी विदित थे यद्यपि उन्हें त्रिपिटक के बाहर रखा गया है। व्याख्या-साहित्य भी इस सम्प्रदाय में प्रभूत मात्रा में रचा गया, इनकी विनय की व्याख्या संक्षिप्त है, पर अभिधर्मपिटक की दो विभाषाएँ उपलब्ध हैं। इनमें से विपुलतर आकार की विभाषा वस्तुतः ज्ञान-प्रस्थानशास्त्र का भाष्य है जो कि सर्वास्तिवादियों के विभिन्न सम्प्रदायों और सिद्धान्तों का एक विशाल कोष है। इनके अतिरिक्त सर्वास्तिवादियों के साहित्य में अनेक प्रकरण ग्रन्थ भी सम्मिलित हैं। इनमें प्राचीनतम **पंचवस्तु** अथवा **पंचधर्म** नाम के तीन संदर्भ हैं जिनकी रचना धर्मत्रात और दो अन्य आचार्यों के द्वारा मानी गयी है। इनमें से प्राचीनतम दूसरी शताब्दी की रचना है। इस ग्रन्थ में समस्त धर्मों को पंचधा विभाजित किया गया है—चित्त, चैत्त, चित्तविप्रयुक्त रूप, एवं असंस्कृत। एक दूसरा ग्रन्थ-समूह धर्मश्री, उपशान्त एवं धर्मत्रात के द्वारा रचित **अभिधर्मसार** अथवा **अभिधर्महृदय** से बनता है। इनमें से प्रत्येक में दस अध्याय हैं जिनमें कि धातु, संस्कार, कर्म, अनुशय, आर्यचरित, ज्ञान, समाधि, सुत्र, संयुक्त एवं शास्त्र की चर्चा है। इन दो ग्रन्थ-समूहों के अतिरिक्त तीन अन्य विशिष्ट ग्रन्थ हैं—वसुमित्र की अभिधर्म सम्बन्धी कृति, घोष का अभिधर्मामृतरस, एवं संघभद्र के आचार्य स्कन्धिल का **अभिधर्मावतारप्रकरण**। इनके अतिरिक्त एक अन्य प्राचीन ग्रन्थ लोकप्रज्ञप्ति है जिसमें बौद्ध-दृष्टि से विश्व-वर्णन किया गया है और अनेक जनपद, नगर, आदि का उल्लेख है। वसुबन्धु एवं संघभद्र की रचनाओं का ऊपर उल्लेख किया गया है।

सर्वास्तिवाद का मूलसिद्धान्त—वैभाषिक और सौत्रांतिक व्याख्या—'वैभाषिकों का अभ्युपगम है कि अतीत और अनागत धर्म द्रव्यसत् हैं। किन्तु संस्कृत-लक्षणों के योग के कारण संस्कृत-धर्मों का शाश्वतत्व प्रसक्त नहीं होता[१३]। संस्कृत-लक्षण चार हैं।—उत्पाद, स्थिति, व्यय, एवं निरोध अथवा अनित्यता। आपाततः विरुद्ध-कारी होने पर भी ये वस्तुतः सहयोगपूर्वक एक साथ व्यापार करते हैं। भविष्य से भूत की ओर जाता हुआ समय का मार्ग जिस वर्तमान के मोड़ पर प्रकट होता है वहीं ये चार लक्षण बटमारों के समान नित्य-संबद्ध रहते हैं। उत्पाद-लक्षण कालाध्वा

१३—कोश, ५ पृ० ५० प्र०; तु०—श्चेरवात्स्की, सेन्ट्रल कन्सेप्शन, पृ० ६२ प्र०।

के यात्री धर्म को अनागत से खींच कर वर्तमान में लाता है, स्थिति-लक्षण उसे पकड़े रहता है, व्यय-लक्षण उसे मारता है एवं निरोध-लक्षण उसे अतीत में डाल देता है।

धर्मों की त्रैयध्विक सत्ता को प्रमाणित करने के लिए वसुबन्धु ने चार युक्तियों की चर्चा की है—(१) आगम में अतीत और अनागत धर्मों की उक्ति है। संयुक्तागम में कहा गया है—'रूपमनित्यमतीतमनागतम्। कः पुनर्वादः प्रत्युत्पन्नस्य। एवं दर्शी श्रुतवान् आर्यश्रावकोऽतीते रूपेऽनपेक्षको भवति। अनागतं रूपं नाभिनन्दति। प्रत्युत्पन्नस्य रूपस्य निर्विदे विरागाय निरोधाय प्रतिपन्नोभवति। अतीतं चेद्भिक्षवो रूपं नाभविष्यन्न श्रुतवानार्यश्रावको—[14]।' यह तो अतीतानागत धर्मों के अस्तित्व की कण्ठतः उक्ति है[15]। अर्थतः भी इसका अभिधान किया गया है—'द्वयं प्रतीत्य विज्ञानम् उत्पद्यते। कतमद् द्वयम्? चक्षुरिन्द्रियं च प्रतीत्य रूपं च —मनश्च धर्मांश्च[15]। मनोविज्ञान के विषय अतीत और अनागत धर्म होते हैं। यदि उनकी सत्ता न होती तो वे मनोविज्ञान के आलम्बन-प्रत्यय किस प्रकार हो सकते थे; (३) यह अनुमानतः भी सिद्ध है कि अतीतानागत-विषयक विज्ञान के आलम्बन होने के कारण अतीतानागत धर्मों का अस्तित्व स्वीकार्य है। (४) अतीत धर्मों की सत्ता उनके विपाक से भी प्रकट होती है। कर्म अतीत होने पर भी अपना फल प्रदान करते हैं। अतएव उनका अस्तित्व मानना होगा।

सर्वास्तिवादी समस्त अतीत और अनागत धर्मों का द्रव्यतः अस्तित्व मानते थे। कुछ अन्य सम्प्रदायों में यह सिद्धान्त अंशतः अभ्युपगत था—वे अतीत धर्म अस्तित्वयुक्त हैं जिनका विपाक शेष है। इन्हें विभज्यवादी कहा गया है। काश्यपीय सम्प्रदाय का भी यही मत था।

यद्यपि धर्मों की द्रव्यतः सत्ता त्रैयध्विक है तथापि तीनों अध्वा विविक्त हैं, एवं धर्मस्वभाव के त्रैकालिक होते हुए भी अध्व-भेद के अनुसार धर्मों का अस्तित्व-भेद अवश्य स्वीकार्य है। इस प्रश्न परजोकि कालतत्व का मर्मोद्घाटन चाहता है, कनिष्ककालीन संगीति के विभिन्न मतों का इस प्रकार संग्रह किया गया है—"चतुर्विधाः॥ एते भाव-लक्षणावस्था-न्यथा-न्यथिका ह्वयाः॥ तृतीयः शोभनोऽध्वानः कारित्रेण व्यवस्थिताः।[16]।" भावान्यथात्व भदन्त धर्मत्रात का मत था। इसके अनुसार भूत-भविष्य-वर्तमान का भेद द्रव्य-भेद न होकर भाव-भेद है। उदाहरण के लिए स्वर्णपात्र का भंग अथवा दुग्ध

१४—कोश, ५, पृ० ५१।
१५—वही।
१६—कोश, ५, पृ० ५२।

का दधिभाव लिये जा सकते हैं। पहले में संस्थानभेद हो जाता है, वर्ण-भेद नहीं, दूसरे में गुण-भेद हो जाता है, वर्णभेद नहीं। तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार उन उदाहरणों में द्रव्य-भेद न होते हुए भी आकृति, गुण आदि के भेद से भाव-भेद हो जाता है, ऐसे ही धर्मों का अध्व-संक्रमण में अनागत-भाव, प्रत्युत्पन्न-भाव एवं अतीतभाव बदल जाते हैं, किन्तु द्रव्यतः अस्तित्व नहीं बदलता।

भदन्त घोषक ने लक्षणान्यथात्व का समर्थन किया है। इसके अनुसार प्रत्युत्पन्न होने में धर्म प्रत्युत्पन्नलक्षण से युक्त होता है, किन्तु अनागत-लक्षण अथवा अतीत-लक्षण से अवियुक्त नहीं होता। ऐसे ही अनागत अथवा अतीत होने में लक्षणान्तर से अवियोग स्वीकार्य है। उदाहरण के लिए यदि एक स्त्री में पुरुष अनुरक्त हो तो वह अन्य स्त्रियों में विरक्त नहीं माना जाता। जो धर्म अनागत है वही प्रत्युत्पन्न एवं अतीत होता है। अध्व-भेद में केवल विभिन्न लक्षण वृत्तिलाभ करते हैं यद्यपि लक्षणान्तर अविद्यमान नहीं होते।

भदन्त वसुमित्र अवस्थान्यथात्व के प्रतिपादक थे। जैसे इकाई, दहाई आदि के स्थानों पर रखी हुई 'गुलिका' एक, दस आदि हो जाती है, ऐसे ही धर्म अवस्थान्तर प्राप्त कर अध्वभेद सम्पादित करते हैं। भदन्त बुद्धदेव ने अन्यथान्यथात्व अथवा अपेक्षान्यथात्व का समर्थन किया। अतीत, अनागत आदि भेद ऐसे ही आपेक्षिक हैं जैसे एक ही स्त्री परापेक्षया दुहिता अथवा माता होती है। अतीत आदि का भेद किसकी अपेक्षा रखता है, इस पर दो व्याख्याएँ इस मत की प्रस्तुत की गयी हैं। एक के अनुसार अतीत आदि प्रत्युत्पन्न एवं अनागत आदि की अपेक्षा रखते हैं, दूसरी के अनुसार पूर्ववर्ती की अपेक्षा अनागत की प्रसिद्धि होती है, परवर्ती की अपेक्षा अतीत की। पहली व्याख्या संघभद्र के अनुसार है। दूसरी विभाषा में उल्लिखित है।

सर्वास्तिवाद के इन चार मुख्य आचार्यों के मत विभाषा में वर्णित हैं। वसुबन्धु भावान्यथात्ववाद को एक प्रकार का प्रच्छन्न सांख्य परिणामवाद बताते हैं। लक्षणान्यथात्व और अपेक्षान्यथात्व मानने में अध्व-संकर अनिवार्य है। अतः वसुमित्र का मत ही श्रेष्ठ है। अध्वभेद का आधार अवस्था अथवा कारित्र है। जो धर्म अभी कार्यशील नहीं है वह अनागत है। जो कार्यशील है वह प्रत्युत्पन्न है। जो कार्यशाली होकर कार्य-विरत है वह अतीत है।

वैभाषिकों के द्वारा सर्वास्तिवाद की इस प्रकार व्याख्या सौत्रान्तिकों की अभिमत नहीं थी। धर्मों के स्वभाव को नित्य तथा उनके भाव को अनित्य नहीं माना जा सकता। कारित्र का आविर्भाव और तिरोभाव दुर्बोध है। 'किं विघ्नं तदपि कथं नान्यदध्वा न

युज्यते। तथा सन् किमजो नष्टो गम्भीरा जातु धर्मता ॥"[17]। वैभाषिकों को कहना पड़ता है कि धर्मता गम्भीर है। वस्तुतः सौत्रान्तिकों के अनुसार सर्वास्तिवाद की दूसरी व्याख्या करनी चाहिए। 'सर्व' शब्द से तात्पर्य द्वादश आयतनों से है। 'सब्बं वुच्चति द्वादसायतनानि।'[18] इन आयतनों की ही सत्ता स्वीकार्य है, किन्तु यह सत्ता अनित्य है। धर्म न होकर उत्पन्न होते हैं एवं निरुद्ध होकर पुनः अभावकोटि में गिरते हैं।

सर्वास्तिवाद की इस प्रकार दो प्रमुख व्याख्याएँ थीं—वैभाषिक और सौत्रांतिक। वैभाषिक त्रिकाल-भेद मानते हुए और धर्मों का अनित्यत्व स्वीकार करते हुए भी धर्म-स्वभाव को नित्य एवं त्रैकालिक मानते थे। द्रव्यतः धर्मों का अस्तित्व सदा बना रहता है। किन्तु इनके भाव, लक्षण अथवा अवस्था या कारित्र में भेद हो जाता है। सौत्रान्तिक इसे शाश्वतवाद बताते हुए बाह्य और आध्यात्मिक आयतनों की सत्ता के स्वीकार को ही वास्तविक सर्वास्तिवाद कहते थे। वैभाषिक मत प्राचीनतर प्रतीत होता है। यह सम्भवतः सांख्य के परिणामवाद से प्रभावित था। सौत्रान्तिक मत अधिक सूक्ष्म और विकसित लगता है। ब्राह्मण ग्रन्थों में सर्वास्तिवाद की सौत्रांतिक व्याख्या ही विदित होती है।

ब्राह्मण ग्रन्थों में सर्वास्तिवादियों को योगाचार एवं शून्यवाद से 'बाह्यार्थवादी' होने के कारण भिन्न माना गया है। **सर्वदर्शनसंग्रह** में कहा गया है—'ते च माध्यमिकयोगाचारसौत्रांतिक वैभाषिकसंज्ञाभिः प्रसिद्धा बौद्धाः यथाक्रमं सर्वशून्यत्वबाह्यार्थशून्यत्व बाह्यार्थानुमेयत्वबाह्यार्थप्रत्यक्षत्ववादानातिष्ठन्ते'[19]। अर्थात् जहाँ वैभाषिक बाह्यार्थों की प्रत्यक्षगम्य सत्ता मानते थे, सौत्रांतिक उन्हें केवल अनुमानगम्य मानते थे। शंकराचार्य का कहना है—'तत्रैते त्रयो वादिनो भवन्ति। केचित् सर्वास्तित्ववादिनः केचिद् विज्ञानास्तित्वमात्रवादिनः अन्ये पुनः सर्वशून्यत्ववादिन इति। तत्र ते सर्वास्तित्ववादिनो बाह्यमान्तरं च वस्त्वम्युपगच्छन्ति भूतं भौतिकं च चित्तं चैत्तं च[20]।' यहाँ स्पष्ट ही 'सर्वमस्ति' में 'सर्व' के अर्थ किये गये हैं—बाह्य और आन्तर दोनों प्रकार के पदार्थ[21]। इस व्याख्या के अनुसार सर्वास्तिवादियों का मुख्य तात्पर्य विज्ञानवाद एवं शून्यवाद के

१७—कोश, ५ पृ० ५६—५७।

१८—वही, पृ० ६४, विशेषतः, पादटिप्पणी, २।

१९—सर्वदर्शनसंग्रह (पूना, १९२८), पृ० ७।

२०—ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्य (बम्बई, १९२७), पृ० २३९।

२१—तु० भामती—"यद्यपि वैभाषिक सौत्रान्तिकयोरवान्तरमतभेदोऽस्ति तथापि सर्वास्तिता यामस्ति सम्प्रतिपत्तिरित्ये की कृत्योपन्यासः।"

विरुद्ध सर्वार्थास्तित्व का प्रतिपादन करना था। किन्तु यह स्मरणीय है कि जिस समय सर्वास्तिवाद का प्रथम अभ्युदय हुआ उस समय बौद्धों में बाह्यार्थनिषेधक 'विज्ञानवाद' का किसी निकाय में पता नहीं चलता। अतएव सर्वास्तिवाद को भी बाह्यार्थवाद की घोषणा नहीं माना जा सकता। इसके विपरीत कुछ विद्वानों की यह व्याख्या भी स्मरणीय है कि बौद्धों में अनुभव-निरपेक्ष 'बाह्य' वस्तु की सत्ता किसी भी सम्प्रदाय में स्वीकार्य नहीं है। सर्वत्र अनुभव-प्रवाह के अन्तर्भूत धर्मों का ही विश्लेषण अभिप्रेत है। इस दृष्टि से सद्धर्ममात्र एक प्रकार से 'प्रतिभासवाद' (फ़ेनोमेनलिज्म) सिद्ध हो जाता है[२२]।

वैभाषिक अभिधर्म—ऊपर कहा गया है कि सर्वास्तिवाद का मूल अभिप्राय अतीत और अनागत धर्मों के अस्तित्व-स्वीकार में था। इस मत का उद्‌गम इस प्रकार विभावनीय है—धर्मों की पारमार्थिकता स्वीकार करने पर उनके क्षणिकत्व के साथ उसके विरोध-परिहार के लिए यह कल्पना सुलभावकाश है कि धर्मों का स्वभाव त्रिकालवर्ती है, यद्यपि अध्वभेद अवश्य सम्पन्न होता है। प्रत्येक वस्तु के चार संस्कृत-लक्षण हैं—उत्पाद, स्थिति, व्यय और अनित्यता। ये एक साथ ही वस्तु को धर दबाते हैं और वह इनके कारण अध्व-संक्रमण करती है—अनागत से प्रत्युत्पन्न, प्रत्युत्पन्न से अतीत। किन्तु तीनों अध्वों में उसका प्रतिविशिष्ट स्वभाव अपनाया रहता है। वैभाषिकों के स्थिर-स्वभाव धर्म सांख्यों के तत्त्वों के समान प्रतीत होते हैं।

सर्वास्तिवादी अभिधर्म में ७५ धर्मों की सत्ता स्वीकार की गयी है। उनका प्रदर्शन अधोलिखित प्रकार से हो सकता है—
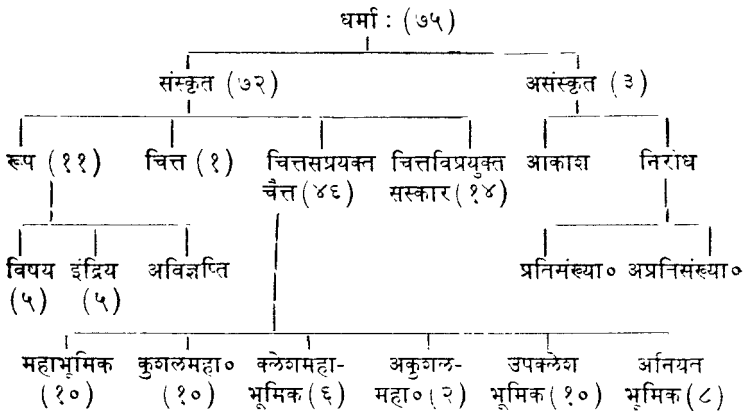
२२—इसका विस्तृत प्रतिपादन, रोजेनबर्ग, दी प्रोब्लेम देर बुद्धिस्तिशेन फिलोज़ोफी।

रूप, चित्त, चैत, चित्तविप्रयुक्त, एवं असंस्कृत, इन्हें पंच धर्म कहा जाता था। इनका स्कन्ध, धातु और आयतनों से सम्बन्ध इस प्रकार दिखाया जा सकता है--

पंचधर्म	५ स्कन्ध	१२ आयतन	१८ धातु
(१) रूप =	रूप-स्कन्ध =	५ इन्द्रियाँ ५ विषय =	५ इन्द्रिय-धातु ५ विषय-धातु
(२) चित्त =	विज्ञानस्कन्ध =	मन-आयतन =	५ इंद्रिय-विज्ञानधातु मनो-धातु मनो-विज्ञान-धातु
(३) चैत	(वेदनास्कन्ध) (संज्ञास्कन्ध) (संस्कारस्कन्ध)	=धर्मायतन	=धर्म-धातु
(४) चित्त-विप्रयुक्त (५) असंस्कृत			

प्रकारान्तर मे धर्मों को सास्रव एवं अनास्रव बताया गया है। मार्ग-वर्जित संस्कृत-धर्म सास्रव कहलाते हैं। अनास्रव-धर्मों मे मार्ग-सत्य और त्रिविध असंस्कृत धर्मों का संग्रह किया गया है। ऊपर निर्दिष्ट तीन असंस्कृतों का अभ्युपगम सर्वास्तिवाद का प्रसिद्ध वैशिष्ट्य है। अभिधर्मकोश के प्रारम्भ में ही वसुबन्धु ने अभिधर्म की परिभाषा की है--'प्रज्ञामला सानुचराभिधर्मः' अर्थात् सानुचर अमला प्रज्ञा ही अभिधर्म है। अमला प्रज्ञा के अर्थ हैं अनास्रवप्रज्ञा। प्रज्ञा का अर्थ है धर्म-प्रविचय। पुष्पों के समान व्यवकीर्ण धर्मों को चुन-चुन कर विभजित और संगृहीत करना ही धर्म-प्रविचय है। प्रज्ञा के अनुचर से तात्पर्य प्रज्ञा के सहभू अनास्रवधर्मों से है। यह परिभाषा पारमार्थिक अभिधर्म की है। इस विमल प्रज्ञा की प्राप्ति के लिए जो लौकिक प्रज्ञा एवं शास्त्र आवश्यक हैं वे भी सांकेतिक एवं सांव्यवहारिक रूप से अभिधर्म कहलाते हैं। धर्म का लक्षण स्वलक्षण-धारण बताया गया है। यह स्मरणीय है कि बौद्ध दृष्टि से गुण और गुणी का भेद अपारमार्थिक है एवं वस्तुओं के प्रतिविशिष्ट लक्षणों को ध्यान में रखते हुए उनके नानात्व और पृथक्त्व का प्रतिपादन किया गया है।

आकाश अनावरण स्वभाव है अर्थात् आकाश किसी के रोध अथवा बाधा का कारण नहीं बनता। आकाश मे रूप का अबाध संचार होता है। आकाश रूप से न आवृत होता है, न आगत। सौत्रान्तिकों का मत भिन्न था। वे आकाश को रूपाभाव-मात्र मानते थे और उसे अवस्तु मानते थे। दो निरोध--प्रतिसंख्या-निरोध एवं अप्रतिसंख्या-निरोध हैं। पृथक्-पृथक् विसंयोग को प्रतिसंख्या-निरोध कहा गया है। यहाँ पर

सास्रव धर्म से विसंयोग अभिप्रेत है। यह विसंयोग वास्तविक धर्म है एवं नित्य है। प्रतिसंख्या अथवा सत्य के साक्षात्कार से इसकी 'प्राप्ति' होती है। यही नित्यनिरोध निर्वाण कहा जाता है। इस प्रकार प्रतिसंख्या-निरोध वस्तुतः ज्ञान के द्वारा साक्षात्कृत निर्वाण का ही दूसरा नाम है। अप्रतिसंख्या-निरोध से तात्पर्य उस निरोध से है जो कि उत्पाद का अत्यन्त विघ्नभूत है। इसकी प्राप्ति सत्य के साक्षात्कार से न होकर प्रत्यय-वैकल्य से होती है। उदाहरण के लिए जब आँखें और मन किसी एक रूप में आसक्त होते हैं उस समय अन्य रूप, शब्द, गन्ध आदि का ग्रहण नहीं होता अर्थात् वे वर्तमान काल का अतिक्रमण कर अतीत हो जाते हैं। उनकी उत्पत्ति हो सकती थी, किन्तु प्रत्यय-वैकल्य के कारण नहीं हो सकी। यही अप्रतिसंख्या-निरोध है।

जिन संस्कृत धर्मो का ऊपर उल्लेख किया गया है, उनमें रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार एवं विज्ञान––ये पाँच स्कन्ध संगृहीत हैं। इनके अन्य नाम हैं अध्व, कथावस्तु, सनिस्सार एवं सवस्तुक। अध्व शब्द से त्रिविध काल का संकेत होता है। कथावस्तु से तात्पर्य वाक्य-विषय से है। सनिस्सार के अर्थ हैं जिनसे निस्सरण होता है। सवस्तुक के तात्पर्य हैं सहेतुक। इन आख्याओं से संस्कृत-धर्मो की कालिकता, वाक्य-विषयता, हेयता एवं कारणनियम सूचित होते हैं। इन उपादान-स्कन्धों को सरण, दुःखसमुदय, लोक, दृष्टिस्थान और भव भी कहा जाता है। पाँच स्कन्धों में पहला रूप है। रूप के द्वारा पाँच इन्द्रियाँ, उनके पाँच विषय एवं अविज्ञप्ति का ग्रहण होता है। पाँच इन्द्रियाँ एवं उनके विषय सुविदित हैं। इन विषयों के विज्ञानों के आश्रय, चक्षु आदि पाँच इन्द्रियाँ रूपप्रसाद कही गयी हैं। रूपप्रसाद से तात्पर्य सूक्ष्म एवं अतीन्द्रिय रूप अथवा भौतिक धातु से है। इसको मणि-प्रभा के सदृश कहा गया है, अच्छेद्य, अदाह्य, गुरुत्व-हीन। 'जिस पुद्गल का चित्त विक्षिप्त है अथवा जो अचित्तक है उसका महाभूत-हेतुक कुशल और अकुशल प्रवाह अविज्ञप्ति कहलाता है'। अचित्तक से तात्पर्य उनसे है जो असंज्ञि-समापत्ति एवं निरोध-समापत्ति में समापन्न है। अविज्ञप्ति कायिक और वाचिक कर्म के सदृश रूप-स्वभाव और क्रिया-स्वभाव हैं, किन्तु उससे कुछ विज्ञापित एवं सूचित नहीं होता। समासतः विज्ञप्ति और समाधि से संभूत कुशल और अकुशल रूप अवि-ज्ञप्ति हैं। इसकी तुलना 'अदृष्ट' से करनी चाहिए। सौत्रान्तिक अविज्ञप्ति को स्वीकार नहीं करते और न थेरवादी उसे मानते हैं। संघभद्र के अनुसार वसुबन्धु ने अविज्ञप्ति के वैभाषिक लक्षण का ठीक निरूपण नहीं किया है।

रूप-स्कन्ध में संगृहीत इन्द्रियाँ, उनके विषय, एवं अविज्ञप्ति, सब चार महाभूतों पर आश्रित भौतिक धर्म हैं। इनमें पाँच विषय प्रत्यक्ष ग्राह्य हैं, शेष अनुमेय हैं। महा-

भूत ही मूल रूपधर्म हैं, शेष उनसे उद्भूत 'उपादाय रूप' हैं। इस प्रकार रूप भूत और भौतिक धर्मों की ओर सकेत करता है। 'रूप' का अर्थ है जो रूपित अर्थात् भिन्न बाधित या पीड़ित हो। निरुक्ति की दृष्टि से यह सन्दिग्ध है क्योंकि 'रूप' भिन्न है 'रूप्' अथवा 'लुप्' भिन्न। 'रूप्यते इति रूपं' नतु रुप्यत इति लुप्यते इति वा। पालि में अवश्य यह 'रूप'–भेद 'लुप्त' हो गया है। रूप का बाधन विपरिणाम अथवा विक्रिया से बताया गया है। मतान्तर से रूप का लक्षण सप्रतिघत्व अथवा प्रतिघात है। प्रतिघात का अर्थ है स्थान घेरना ('यद्देशमावृणोति'), अपने स्थान पर दूसरे की उत्पत्ति का प्रतिबन्धक होना 'स्वदेशे परस्योत्पत्तिप्रतिबन्धः' तीन प्रकार के प्रतिघात बताये गये हैं—आवरण-प्रतिघात, विषय-प्रतिघात, आलम्बन-प्रतिघात। इनमें पहला पूर्वोक्त दैशिक प्रतिबन्ध है। दूसरा इन्द्रियों पर उनके विषयों का 'निपात' है जिससे इन्द्रियाँ व्यापारित होती हैं। तीसरा चित्त-चैत्त पर उनके आलम्बन का आघात है। सप्रतिघत्व की विलक्षण परिभाषा दी है—जिन वस्तुओं से एकाधिक की समान देश में स्थिति अकल्पनीय हो वे सप्रतिघ हैं। 'यत्रोत्पित्सोर्मनसः प्रतिघातः शक्यते (परैः) कर्तुम्। तदेव स प्रतिघं तद्विपर्ययादप्रतिघमिष्टम्।' एक अन्य निर्वचन के अनुसार 'तत्रेदमिहामुत्रेति निरूपणाद्रूपम्।' संघभद्र के अनुसार पूर्व-कर्म के निरूपण के कारण 'रूप' यह संज्ञा होती है।

अविज्ञप्ति में रूप के बाधन अथवा प्रतिघात (=देशावरण)—रूप लक्षण साक्षात् व्याप्त नही होते, किन्तु अविज्ञप्ति महाभूतों पर आश्रित है और अतएवरूप है।

भूत और भौतिक परमाणु-निर्मित हैं। चार महाभूतों के पृथक्-पृथक् परमाणु हैं, रूप-प्रसाद के पृथक् जिन्हें पंचविध कहा गया है, एवं पाँच विषयों के पृथक्। परमाणु दिग्भेद-हीन एवं निरवयव होते हैं। वे एक दूसरे का स्पर्श नहीं कर सकते अथवा उनका परस्पर लय अथवा सावयवत्व मानना होगा। उन्हें सान्तर भी नहीं माना जा सकता, अन्यथा आन्तरालिक आकाश में उनकी गति एवं परस्पर उपसर्पण दुर्विवार होगा। दूसरी ओर उनका निरन्तरत्व सान्निध्यमात्र का द्योतक है। इन स्थिति में उनकी पृथक् अवस्थिति उनके सप्रतिघात से नियत रहती है। किन्तु ये परमाणु एकैकशः उपलब्ध नहीं होते। चार महाभूतों के परमाणु शब्दवर्जित चार बाह्य आयतनों के परमाणुओं के साथ एक संघाताणु का निर्माण करते हैं और कामधातु में यही आठ परमाणुओं का समूह उपलभ्य अणुओं में न्यूनतम है। इस संघाताणु को अष्टद्रव्यक परमाणु भी कहा गया है। यह सूक्ष्मतम वस्तु न होकर सूक्ष्मतम रूप-संघात है। कायेन्द्रिय का परमाणु जुड़ने से नव-द्रव्यक कायेन्द्रिय द्रव्य सम्पन्न होता है। अन्य

इन्द्रियाँ दश-द्रव्यक होती है क्योंकि वे कायेन्द्रिय प्रतिबद्ध हैं। शब्द की उत्पत्ति के लिए एकादश द्रव्यक संघाताणु आवश्यक है। रूप-धातु में गन्ध और इसके अभाव के कारण वहाँ के परमाणु षट्-सप्त-अष्टद्रव्यक है।

पृथ्वी, जल, तेज और वायु के लक्षण क्रमशः कठिनत्व, द्रवत्व, उष्णत्व, एवं ईरणा अथवा गति हैं। इनका अविनिर्भाग होता है अर्थात् इनके परमाणु सदा साथ विद्यमान रहते हैं। औरों के साथ रहते हुए भी जो पटुतम होता है उसकी उपलब्धि होती है। अनुपलब्ध भूतों की सत्ता अनुमेय है। सौत्रांतिकों के अनुसार अनुपलब्ध महाभूत केवल बीजतः होते हैं, कार्यतः नहीं।

वेदना-स्कन्ध से तात्पर्य सुख, दुःख एवं अदुःखासुख अनुभवों से है। संज्ञा निमित्तोद्ग्रहणात्मिका है। निमित्त से वस्तु की विभिन्न अवस्थाएँ सूचित की जाती हैं। उद्-ग्रहण का अर्थ परिच्छेद है। रूप, विज्ञान, वेदना और संज्ञा के अतिरिक्त सब संस्कार संस्कारस्कन्ध में संगृहीत हैं। प्रत्येक विषय की विज्ञप्ति विज्ञान कहलाती है। इसके स्पष्ट ही छः भेद हैं जोकि पाँच इन्द्रियों से और मन से सम्बन्ध रखते हैं। इन छः विज्ञानों के अतिरिक्त किसी मन की सत्ता नहीं है, किन्तु जो-जो विज्ञान समनन्तर-निरुद्ध होता है वही मनोधातु की आख्या प्राप्त करता है। जैसे, पुत्र ही पिता बन जाता है। पाँच विज्ञानों के आश्रय पाँच रूपी इन्द्रियाँ हैं। मनोविज्ञान का आश्रय हृदय-वस्तु-सदृश कोई रूपी इन्द्रिय नही है। अनन्तरातीत विज्ञान ही उसका आश्रय है एवं इस आश्रय की प्रसिद्धि के लिए ही उसका पृथक् नाम मनोधातु दिया जाता है।

संस्कार-स्कन्ध के दो भाग हैं—चित्त-सम्प्रयुक्तसंस्कार, एवं चित्त-विप्रयुक्त-संस्कार। वेदना-स्कन्ध और संज्ञा-स्कन्ध चित्त-सम्प्रयुक्त संस्कारों में संगृहीत हैं। चित्त-विप्रयुक्त अथवा चैत्त धर्म ४६ हैं—(१) १० चित्त–महाभूमिक-धर्म, (२) १० कुशल-महाभूमिक-धर्म, (३) ६ क्लेश-महाभूमिक-धर्म, (४) २ अकुशल-महा-भूमिक-धर्म, (५) १० उपक्लेश-भूमिक-धर्म, (६) ८ अनियत-भूमिक-धर्म। इनका विवरण निम्नोक्त है—

(१) चित्तमहाभूमिक-धर्म—वेदना, संज्ञा, चेतना, स्पर्श, छन्द, प्रज्ञा, स्मृति, मनसिकार, अधिमोक्ष एवं समाधि।

(२) कुशल-महाभूमिक-धर्म—श्रद्धा, वीर्य, उपेक्षा, ह्री, अपत्रपा, अलोभ, अद्वेष, अहिंसा, प्रश्रब्धि, एवं अप्रमाद।

(३) क्लेश-महाभूमिक-धर्म—मोह, प्रमाद, कौसीद्य, अश्रद्धा, स्त्यान, औद्धत्य।

(४) अकुशलमहाभूमिक-धर्म—अह्री, अनपत्रपा।

(५) उपक्लेश-भूमिक-धर्म—क्रोध, म्रक्ष, मात्सर्य, ईर्ष्या, प्रदाम, विहिंसा, उपनाह, माया, शाठ्य एवं मद।

(६) अनियत-भूमिक-धर्म—कौकृत्य, मृद्ध, वितर्क, विचार, राग, द्वेष, मान, एवं विचिकित्सा। वितर्क और विचार मनोजल्प-रूप हैं। वैभाषिक सब चित्तों में वितर्क मानते थे और उसे स्वभाव-विकल्प कहते थे। वसुबन्धु सर्वथा निर्विकल्प विज्ञान स्वीकार करते हैं।

चित्त-विप्रयुक्त-संस्कार १४ हैं—प्राप्ति, अप्राप्ति (ये दोनों स्वसन्तान-गत धर्मों की तथा दो निरोधों की होती है।), निकायसभागता (जो 'जाति' अथवा 'सामान्य' से तुलनीय है) आसंज्ञिक (आसंज्ञि सत्त्वों में उपपत्या चित्त-चैत्त का निरोध), असंज्ञि-समापत्ति, निरोध-समापत्ति, जीवित, जाति, स्थिति, जरा, अनित्यता (ये चार 'संस्कृत-लक्षण' कहलाते हैं) नाम-काय, पद-काय, एवं व्यंजन-काय।

सर्वास्तिवादी कार्य-कारण-भाव के विश्लेषण के द्वारा ४ प्रत्यय, ६ हेतु, एवं ५ फलों का अस्तित्व निर्धारित करते हैं। हेतु-प्रत्यय, समनन्तर-प्रत्यय, आलम्बन-प्रत्यय, एवं अधिपति-प्रत्यय—ये चार प्रत्यय हैं। हेतु-प्रत्यय पंचविध हैं—सहभू-हेतु, सम्प्रयुक्त-हेतु, सभाग-हेतु, सर्वत्रग-हेतु, एवं विपाक-हेतु। चार महाभूत साथ ही रहते हैं, अतः वे सहभू-हेतु हैं। सहभू-हेतु परस्पर फलोत्पादक होते हैं। चित्त और चैत्त, लक्षण और लक्ष्य का भी यही सम्बन्ध है। चित्त और चैत्त, धर्मों का विशेष घनिष्ठ सम्बन्ध 'सम्प्रयुक्तहेतु' से द्योतित होता है। सदृश-धर्म सभाग-हेतु होते हैं। सर्वत्रग-हेतु क्लेश-गत होता है, विपाक-हेतु कर्म-गत। अव्यव हित-पूर्ववर्ती चित्त समनन्तर-प्रत्यय कहलाता है। विज्ञान के विषय आलम्बन-प्रत्यय बनते हैं। अधिपति-प्रत्यय नियतपूर्ववर्ती होता है। पूर्वोक्त पाँच हेतुओं के अतिरिक्त कारण-हेतु को सम्मिलित कर छः हेतुओं का परिगणन होता है। पाँच फल हैं—पुरुषकार-फल, निष्पन्द-फल, विपाक-फल, अधिपति-फल, एवं विसंयोग-फल।

यह स्मरणीय है कि कारण-हेतु में कारणों का सामान्यतः निर्देश है। सभी संस्कृत और असंस्कृत धर्म किसी-न-किसी प्रकार से कारण-हेतु होते हैं। कारण-हेतु में समनन्तर, आलम्बन, एवं अधिपति प्रत्यय संगृहीत हैं। कारण-हेतु का फल अधिपति-फल कहलाता है। सहभू और सम्प्रयुक्त हेतुओं के फल पुरुषकार-फल कहे जाते हैं। सभाग-हेतु का फल निष्यन्द-फल होता है। ऐसे ही सर्वत्रग-हेतु का फल भी निष्यन्द-

फल कहा जाता है। विपाक-फल विपाक-हेतु से उत्पन्न होता है। विसंयोग-फल वास्तव में निर्वाण ही है। यह उत्पन्न नहीं होता। इसकी केवल प्राप्ति होती है।

इन प्रत्ययों, हेतुओं और फलों का इस प्रकार प्रदर्शन किया जा सकता है--

प्रत्यय	हेतु	फल
हेतु-प्रत्यय	सहभू-हेतु	—पुरुषकार-फल
	सम्प्रयुक्त-हेतु	
	सभाग-हेतु	— निष्यन्द-फल
	सर्वत्रग-हेतु	
	विपाक-हेतु	— विपाक-फल
आलम्बन-प्रत्यय समनन्तर-प्रत्यय अधिपति-प्रत्यय	—कारण-हेतु	—अधिपति-फल विसंयोग-फल

सर्वास्तिवादी अभ्युपगम (वैभाषिक)

'सर्वम् अस्ति' अर्थात् अतीत और अनागत धर्मों की भी वस्तुतः सत्ता है, सर्वास्तिवादियों का यह मूल सिद्धान्त है[२३]। वसुमित्र एवं भव्य के द्वारा उनका मत-विस्तर इस प्रकार निर्दिष्ट है[२४]—

नाम और रूप में सब कुछ संगृहीत है। रूप का लक्षण है स्थूलता। नाम में चार स्कन्ध और असंस्कृत गिने जाते हैं। ये सूक्ष्म और दुर्बोध हैं।[२५]

समस्त धर्मायतन ज्ञेय, विज्ञेय एवं अभिज्ञेय हैं।

संस्कारस्कन्ध में जाति, व्यय, स्थिति और अनित्यता के लक्षण तथा चित्तविप्रयुक्त धर्म संगृहीत हैं। संस्कृत पदार्थ त्रिविध हैं, अतीत अनागत एवं प्रत्युत्पन्न। असंस्कृत भी त्रिविध हैं—प्रतिसंख्या-निरोध, अप्रतिसंख्या-निरोध, एवं आकाश। संस्कृत-लक्षण

२३—तु०—मिलिन्द, पृ० ५५—५६।

२४—द्र०—मसुदा, पूर्व०; वालेज़ेर, पृ० ३८—४३, ८४—८५; बारो, पृ० १३७—४५।

२५—तु०—मिलिन्द, पृ० ५१।

विभिन्न है एवं सत् है। संस्कृत-लक्षण चार हैं—उत्पाद, स्थिति, व्यय, अनित्यता अथवा निरोध। निरोध-सत्य असंस्कृत है, शेष तीन संस्कृत।

आर्य-सत्यों का अभिसमय आनुपूर्वी से होता है। शून्यता, एवं अप्रणिहित के सहारे सम्यक्त्व-नियाम में प्रवेश किया जा सकता है। काम का ध्यान करते हुए सम्यक्त्व-नियाम में प्रवेश हो सकता है। सम्यक्त्व-नियाम में प्रवेश करते समय पहले पन्द्रह चित्तोत्पादों में प्रतिपन्न आख्या होती है, सोलहवें चित्तोत्पाद में स्थिति-फल का नाम दिया जाता है। लौकिकाग्र-धर्म एकक्षणिक-चित्त है। वे नियत एवं परिहाणि-वर्जित है। स्रोतआपन्न के लिए गिरना संभव नहीं है, किन्तु अर्हत् गिर सकता है। सब अर्हतों को अनुत्पाद-ज्ञान प्राप्त नहीं होता है। पृथग्जन काम और व्यापाद छोड़ सकते हैं।

तीर्थिक पाँच अभिज्ञाएँ प्राप्त कर सकते हैं।

देवलोक में ब्रह्मचर्य संभव है।

सात समापत्तियों में बोध्यंग प्राप्त हो सकते हैं, शेष में नहीं। सब ध्यान स्मृत्युप-स्थानों में पूर्णतः संगृहीत हैं। ध्यान का सहारा लिये बिना सम्यक्त्व-नियाम में प्रवेश एवं अर्हत्व-फल की प्राप्ति हो सकती है।

यदि रूप धातु अथवा आरूप्य-धातु की काय का आश्रय ग्रहण किया गया हो तो अर्हत्त्व फल के साक्षात्कार होते हुए भी सम्यक्त्व-नियाम में प्रवेश नहीं हो सकता। दूसरी ओर यदि काम-धातु की देह स्वीकार की गयी हो तो न केवल सम्यक्त्व-नियाम में प्रवेश सम्भव है, प्रत्युत अर्हत्त्व फल का साक्षात्कार भी।

उत्तर-कुरु में विराग सम्भव नहीं है और न आर्य वहाँ उत्पन्न होते हैं।

चार श्रामण्य-फल नियम से अनुपूर्व प्राप्त नहीं होते। सम्यक्त्व-नियाम में यदि प्रतिष्ठा है तो लौकिक मार्ग से सकृदागामी एवं अनागामी के फलों का साक्षात्कार हो सकता है। चार स्मृत्युपस्थान सब धर्मों का संग्रह कर सकते हैं।

सब अनुशय, चैत्त, चित्त संप्रयुक्त एवं सालंबन है। सब अनुशय पर्यवस्थानों में संगृहीत हैं, किन्तु सब पर्यव-स्थान अनुशयों में संगृहीत नहीं है।

प्रतीत्यसमुत्पाद के अंगों का भाव नियत रूप से संस्कृत है। प्रतीत्यसमुत्पाद के अंग अर्हत् में भी सव्यापार रहते हैं।

पुण्यधर्मों की अर्हतों में भी वृद्धि होती है।

अन्तराभव केवल काम-धातु, और रूप-धातु में होता है।

पाँच विज्ञान सराग और अराग होते हैं। पाँच विज्ञान केवल स्वलक्षण का ग्रहण करते हैं, किन्तु निरूपण-विकल्प अथवा अनुस्मरण-विकल्प नहीं कर सकते।

चित्त और चैत्त धर्म वस्तुसत् है, सालम्बन है, उनका स्वभाव स्वभाव-विप्रयुक्त है। चित्त चित्त-विप्रयुक्त है।

लौकिक सम्यक् दृष्टि की भी सत्ता होती है।

श्रद्धा आदि पाँच इन्द्रिय लौकिक एवं लोकोत्तर दोनों हैं।

अव्याकृत धर्मों की भी सत्ता है।

अर्हतों के नव शैक्ष-नाशैक्ष धर्म भी है। ये सास्रव धर्म है। अर्हत् अपने पूर्व-कर्मों का विपाक प्राप्त करता है। कुछ पृथक्जन कुशलचित्त के साथ मरते हैं। समाहित अवस्था में मृत्यु नहीं हो सकती।

बुद्ध और उनके शिष्यों की विमुक्ति अभिन्न है, किन्तु तीनों यानों के अपने पृथक् लक्षण हैं।

बुद्ध की मैत्री, करुणा आदि के आलम्बन सत्त्व नहीं है।

भव-राग के होते हुए विमुक्ति नहीं मिल सकती। बोधिसत्त्व पृथग्जन है, किन्तु उनके संयोजन प्रहीण नहीं हुए हैं। सम्यक्त्व-नियाम में जब तक वे प्रवेश नहीं करते, उनके द्वारा पृथग्जन-भूमि का समतिक्रमण नहीं माना जा सकता।

सत्त्व केवल भव-संतति पर आश्रित प्रज्ञप्ति-मात्र है।

सब संस्कार क्षणिक-निरुद्ध है।

इस लोक से परलोक को कोई संक्रमण नहीं करता। पुद्गल के संक्रमण की कथा केवल वाग्-व्यवहार है।

प्राण रहते हुए संस्कार जुड़े रहते हैं। अशेष-निरोध होने पर स्कन्धों का परिणाम निरुद्ध हो जाता है।

लोकोत्तर ध्यान की सत्ता होती है।

वितर्क अनास्रव हो सकता है।

कुशलकर्म भवहेतु होते हैं।

समाधि में शब्दोच्चारण नहीं होता।

अष्टांगिक आर्य-मार्ग ही धर्मचक्र है।

बुद्ध एक स्वर (=शब्द) से सब धर्मों की शिक्षा नहीं दे सकते। समस्त बुद्धवचन यथार्थ नहीं है। समस्त बुद्धदेशित सूत्र नीतार्थ नहीं है। बुद्ध ने नेयार्थ सूत्र भी कहे हैं।

सौत्रान्तिक अभ्युपगम—सौत्रांतिक और संक्रांतिवादियों को सभी प्राचीन आकर सर्वास्तिवादियों से निकले मानते हैं। उनकी उत्पत्ति चतुर्थ बुद्धाब्द-शती में रखी

गयी है। शारि-पुत्र-परिपृच्छा-सूत्र एवं दीपवंस में सौत्रांतिक और संक्रांतिवादियों का भेद किया गया है, किन्तु अन्यत्र उनको अभिन्न माना गया है। परमार्थ के अनुसार वे स्कन्धों का एक जन्म से दूसरे जन्म में संक्रमण मानते थे जिससे उनका नाम संक्रांतिक पड़ा। केवल मार्ग-भावना से ही यह संक्रमण निरुद्ध हो सकता है। दूसरी ओर केवल सूत्रपिटक का प्रामाण्य स्वीकार करने से उनको सौत्रांतिक कहा जाता है। यशोमित्र का कहना है—'कः सौत्रन्तिकार्थः। ये सूत्रप्रामाणिका न तु शास्त्रप्रामाणिकास्ते सौत्रान्तिकाः' (स्फुटार्था, पृ० ११)। श्वांच्वांग द्वारा वसुमित्र के अनुवाद के अनुसार वे आनन्द को अपना आचार्य मानते थे। भव्य के अनुसार उनके मूल आचार्य का नाम उत्तर था (वालेज़ेर, पृ० ८७)। तिब्बती परम्परा के अनुसार इसी कारण उनका नाम उत्तरीय बताया गया है। भव्य भी इसका समर्थन करते हैं। श्वांच्वांग ने कुमारलब्ध (=कुमार-लाभ, कुमरलात) को सौत्रान्तिक सम्प्रदाय का प्रवर्तक बताया है (द्र०—वाटर्स, जि० १, पृ० २४५; जि० २, पृ० २८६-८९)। कुमारलब्ध तक्षशिलावासी थे, तथा अश्वघोष, आर्यदेव एवं नागार्जुन के समकालीन होने के नाते 'चार भास्वर सूर्यों में से एक थे।' तारानाथ ने भी सौत्रान्तिक आचार्य कुमारलाभ का उल्लेख किया है (पृ० ७८)।

तारानाथ संक्रांतिवाद, उत्तरीय, और ताम्रशाटीय को एक ही सम्प्रदाय बताते हैं। यह भी प्रतिपादित किया गया है कि विभाषा में खंडित दार्ष्टान्तिक कदाचित् सौत्रांतिक ही थे। श्वान-च्वांग ने इस सम्प्रदाय को सुघ्न में पाया था। उनका साहित्य उपलब्ध नहीं होता। वसुमित्र और भव्य सौत्रान्तिकों के सिद्धान्तों को सर्वास्तिवादियों के सन्निकट बताते हैं, किन्तु उनका संक्षिप्त विवरण देते हैं[२६]। इनके सिद्धान्तों का विशेष परिचय वसुबन्धु के कोश से प्राप्त होता है[२७]।

यह कहा जा चुका है कि इस संप्रदाय में पंच स्कन्धों की संक्रांति स्वीकार की जाती है और मार्ग के अतिरिक्त स्कन्ध-निरोध नहीं माना जाता। पुद्गल को परमार्थसत् नहीं स्वीकार किया जाता[२८]। स्कन्धों का मूल और अन्त माना जाता है और उनको एक-रस भी कहा गया है। एक सूक्ष्म मनोविज्ञान निरन्तर बना रहता है। इसी से स्कन्ध-सन्तति सम्भव होती है। यही उसका मूल और अन्त है, एवं उसे एकरसता प्रदान करता है।

२६—द्र०—वालेज़ेर, पृ० ४८, ८७।

२७—बारो में सूचीकृत संग्रह द्रष्टव्य—पृ० १५६–५८।

२८—वसुमित्र ने विपरीत बताया है—द्र०—वालेजेर, पृ० ४८।

उनके अनुसार पृथग्जनों में भी आर्य-धर्म सम्भव है।

चार स्कन्ध अपने स्वभाव में नियत है।

स्कन्ध मूल-आपत्ति संप्रयुक्त है।

सब अनित्य है।

असंस्कृत वस्तुसत् नहीं है।—वे केवल अभाव में हैं, आकाश स्प्रष्टव्य का, प्रतिसंख्या निरोध प्रज्ञा के द्वारा प्राप्त अनुशय और भव का, अप्रतिसंख्या निरोध प्रत्यय-वैकल्य से अनागत धर्मों की उत्पत्ति का।

अतीत और अनागत धर्म वस्तुसत् नहीं हैं।

प्राप्ति वस्तुसत् नहीं है।

कर्मफल बीज के सिद्धान्त के द्वारा अवबोध्य है।

अविज्ञप्ति वस्तुसत् नहीं है।

जीवितेन्द्रिय भी वस्तुसत् नहीं है, और न कायकर्म।

चक्षु रूपों को नहीं देखती।

चित्त और इन्द्रिय-संप्रयुक्त काय परस्पर बीज है।

सहभू-हेतु नहीं होते।

असंस्कृत हेतु नहीं बनते।

बुद्ध का सर्वज्ञान सब धर्मों का साक्षात्कार है, उसमें अतीत और अनागत का बोध सम्मिलित है। वह अनुमान अथवा सम्भावना से उत्पन्न नहीं है।

अरूपी सत्वों के चित्त और चैत्त संतान का आश्रय स्व-बाह्य नहीं होता है।

संस्थान केवल प्रज्ञप्ति है, द्रव्यान्तर नहीं है।

चेतना मानसकर्म नहीं है।

परमाणु में दिग्भेद और दिग्विभाग होता है तथा परमाणु प्रमृत है। परमाणु परस्पर स्पर्श करते हैं और उनमें प्रतिघात प्राप्त होता है। आलम्बन-प्रत्यय संघटित-परमाणु हैं।

चार लक्षण क्षण और संतत अवस्था अथवा प्रवाह के लिए मानने चाहिए।

प्रवृत्ति-विज्ञान बीज है। सूक्ष्म मनोविज्ञान निरोध-समापत्ति में शेष रहता है। पाँच विज्ञानों का सहभू-आश्रय नहीं होता।

असंज्ञि-देवताओं में आत्मग्राह नहीं होता, किन्तु उसका बीज रहता है।

समाधि एकालम्बन चित्त-संतति है।

सौत्रान्तिकों के चिन्तन में, अपने नाम के विरुद्ध, आगमानुसारिता के स्थान पर प्रबल न्यायानुसारिता दृष्टिगोचर होती है और यह सुविदित है कि इन्हीं की सरणि पर पिछले बौद्ध न्याय का विकास हुआ। दूसरी ओर सौत्रान्तिकों की स्थापनाएं माध्यमिक विज्ञानवाद की अवतारणा में भी सहायक मानी जा सकती हैं। वैभाषिक दर्शन पर सांख्य और न्याय-वैशेषिक की छाया संलक्ष्य है। सौत्रान्तिकों ने अपनी तार्किक आलोचना से बौद्धदर्शन को पुनः अपनी मूल प्रवृत्ति की ओर खींचा।

हीनयान के सम्प्रदाय : महासांघिक और वात्सीपुत्रीय

महासांघिक और उनके प्रभेद

महासांघिक—महासांघिकों में बुद्ध की अलौकिकता के सिद्धान्त का विशेष प्रतिपादन हुआ। सम्भवतः यही धारा पीछे महायान में परिणत हो गयी। तथागत को अलौकिक मानने पर उनके लौकिक जीवन की प्रतीति को मायिक प्रतीति मानना अनिवार्य हो जाता है। ऐसी ही एक प्रवृत्ति ईसाई धर्म के प्रारम्भिक विकास में भी देखी गयी थी जिसे 'डोसेटिज़्म' कहा गया है। बौद्ध 'डोसेटिज्म' अथवा लोकोत्तरवाद के आविर्भाव में अनेक कारणों ने सहयोग दिया[1]। प्रारम्भ में तथागत को मानव के रूप में समझा जाता था, किन्तु श्रद्धातिशय तथा उनके प्रत्यक्ष-दृष्ट अपूर्व गुणों के दर्शन करके उनके व्यक्तित्व का अलौकिक समझा जाना आश्चर्यजनक न था। नाना कथाएँ और अनुश्रुतियाँ उनके जीवन के सम्बन्ध में प्रचलित हो गयीं। लौकिकता को उनके लिए एक दोष समझा जाने लगा। तथागत सब प्रकार से निर्दोष थे, अतएव साधारण जीवन की सीमाएँ उनको वस्तुतः छू नहीं सकी थी। इसीलिए उनके जन्म के सम्बन्ध में विशेष रूप से कल्पनाएँ की गयी हैं और उन्हें अलौकिक रूप से संसार में अवतीर्ण माना गया। जहाँ भगवान् बुद्ध की सर्वथा विशुद्ध-सत्वता के लिए उनके जन्म के सम्बन्ध में अपूर्वत्व की कल्पना आवश्यक थी, वहीं मृत्यु के पश्चात् तथागत रहते हैं अथवा नहीं रहते, यह भी प्रारम्भ से ही एक रहस्य माना गया था। यदि साधारण मनुष्य की तरह से मृत्यु के पश्चात् उनके बारे में कुछ कहा नहीं जा सकता, तो क्या जीवन-काल में ही उनके विषय में निश्चित रूप से कुछ कहा जा सकता है? इस दिशा में स्वाभाविक था कि चिन्तन मध्यम-मार्ग के अनुकूल हो।

महावस्तु से ज्ञात होता है कि महासांघिक लोकोत्तरवादी बोधिसत्त्व को उपपादुक अर्थात् स्वतः, न कि माता-पिता से, उत्पन्न मानते थे[2]। बोधिसत्त्व की गर्भावक्रान्ति

१–तु०—आनेसाकि, ई० आर० ई०, बौद्ध डोसेटिज्म पर।

२–द्र०—महावस्तु, जि० १, पृ० १६७–७०; महासांघिकों और उनकी शाखाओं के सिद्धान्तों पर द्र०—मसुदा, पृ० १८ प्र०, वालेजेर, पृ० २४ प्र०, बारो, पृ० ५ प्र०; कथावत्थु—१०.१–२, ४, ६–१०; ११.१–२, ५; १२.१–४; १४.१; १५.१–२, ६.१६–१।

'निर्मित' श्वेत-गज के रूप में होती है और उनकी देह का विकास गर्भ की साधारण अवस्थाओं से नहीं होता। गर्भ में भी बोधिसत्त्व पर्यंकबद्ध आसन में बैठे हुए नाना देवताओं को उपदेश देते हैं। गर्भ में होते हुए भी वे उसके मल से अस्पृष्ट रहते हैं, और गर्भ से बाहर वे उसकी दायीं ओर से बिना भेद किये हुए निकलते हैं। बोधिसत्त्व सर्वथा निष्काम हैं, अतएव यदि उनकी सन्तान होती है तो उसे भी उपपादुक मानना चाहिए। इस प्रकार राहुल को भी उपपादुक कहा गया। सम्यक्-संबुद्ध का कोई भी धर्म लौकिक धर्मों के सदृश नहीं है। उनका स्वभाव लोकोत्तर है[3]। न केवल उनका आध्यात्मिक साधन अथवा पुण्य और गुण अलौकिक है, उनकी शारीरिक क्रियाएं, चलना-फिरना, बैठना, देखना, कपड़े पहिनना, सभी कुछ अलौकिक मानना चाहिए। लोकानुवर्तन के लिए वे ईर्यापथ प्रदर्शित करते हैं। शरीर वस्तुतः निरन्तर विमल होते हुए भी वे लोक-प्रदर्शन के लिए उसका प्रक्षालन करते हैं। वस्त्रादि की देह-रक्षा के लिए आवश्यकता न रहते हुए भी उनका धारण करते हैं, रोग न होते हुए भी वे औषध का प्रयोग करते हैं। यह कहा गया है कि महासांघिकों के अनुसार बुद्ध एक साथ ही अनेक लोकों में प्रकट होते हैं[4]। वसुमित्र के विवरण में बुद्ध की लोकोत्तरता तथा अनेक अन्य महासांघिक सिद्धान्त निर्दिष्ट है। बुद्ध सब धर्मों को एक क्षण में ही जानते हुए सर्वज्ञ होते हैं[5]। तथागत सास्रव धर्मों से असंस्पृष्ट हैं। जिन १८ धातुओं से उनकी देह का निर्माण होता है वे सब अशुद्धियों से वियुक्त हैं एवं उनका आस्रवों से न संप्रयोग है न सम्बन्ध। तथागत अपने सब वचन से धर्मचक्र का प्रवर्तन करते हैं। एक शब्द से वे समस्त धर्म का आख्यान करते हैं। उनके वचन में अयथार्थ भी नहीं होता। तथागत की रूप-काय वस्तुतः अनन्त है, उनका प्रभाव भी अनन्त है एवं उनकी आयु भी अनन्त है। बुद्ध न सोते हैं, न स्वप्न देखते हैं, वे प्रश्नों का बिना वितर्क-विचार के उत्तर देते हैं। बुद्ध कभी एक शब्द भी नहीं कहते हैं क्योंकि वे शाश्वत समाधि में स्थित होते हैं

३–"नहिकिंचित् सम्यक् सम्बुद्धानां लोकेन समम्। अथ खलु सर्वमेव महर्षीणां लोकोत्तरम्।" (वही १.१५९); द्र०—वसुमित्र (अनु० मसुदा) पृ० १८–१९।

४–अभिधर्मकोश, जि० ३, पृ० १९८–२०१, यह मत स्पष्ट ही सूत्रविरुद्ध है, (वही, पृ० १९८) किन्तु महासांघिकों का कहना था कि नाना लोकधातुओं में सत्त्वानुग्रह के लिए अनेक बुद्धों का एक साथ आविर्भाव मानना चाहिए तु०—कथावत्थु, २१.६।

५–कोश, जि० ५, पृ० २५४; वसुमित्र (अनु० मसुदा), पृ० २१।

किन्तु जीवगण सोचते हैं कि उन्होंने शब्द कहे। परिनिर्वाण में प्रवेश करने तक बुद्ध भगवान् का क्षय-ज्ञान एवं अनुत्पाद-ज्ञान अविराम प्रवृत्त रहता है। बुद्ध सब दिशाओं में स्थित होते हैं।

सत्त्वों के परिपाचनार्थ बोधिसत्त्व दुर्गति में पुनर्जन्म-धारण का प्रणिधान करते हैं और उनका जन्म उनकी इच्छा पर निर्भर करता है। बुद्ध अनेक रूप में सत्त्वों का बोधन और श्रद्धापन करते हैं।

महासांघिकों को स्वीकार्य महादेव की पाँच वस्तुओं से यह स्पष्ट है कि मूल महासांघिक अर्हत्व को मुक्ति की अवस्था नहीं मानते थे, किन्तु कुछ बाद के महासांघिक और शैल-शाखाएँ भिन्न मत की थीं।

महासांघिक अनुशयों को अनालंबन और चित्तविप्रयुक्त मानते थे। सत्य का अभिसमय उनके मत से एक बार में ही होता है न कि क्रमिक रूप से। महासांघिक लोकोत्तर धर्मों का जरा-मरण भी अलौकिक मानते थे।

पञ्च विज्ञानकाय सराग और विराग होते हैं। षड्विज्ञानकाय रूप और अरूप धातुओं में भी सकल पाये जाते हैं; चित्त में भी रूप होता है। पाँचों रूपेन्द्रिय केवल मांसपिण्ड हैं, प्रत्यक्ष उनसे नहीं, विज्ञान से होता है।

समाहित पुरुष भी शब्दोच्चारण कर सकता है।

कृतकृत्य होने पर किसी धर्म का आदान नहीं होता। स्रोतआपन्न के चित्त और चैतसिक धर्म अपने स्वभाव के परिज्ञान में समर्थ है। दुःख मार्ग की ओर ले जाता है, एवं दुःख वचन इसमें सहायक होते हैं। प्रज्ञा से दुःख का नाश और सुख की प्राप्ति होती है। दुःख एक प्रकार का आहार है। अष्टमक भूमि में चिर-काल तक रहा जा सकता है। गोत्रभूमि में धर्म परिहाणि की सम्भावना रहती है। स्रोतआपन्न के लिए विनिवर्तन सम्भव है, अर्हत् के लिए नहीं। सम्यग् दृष्टि एवं श्रद्धेन्द्रिय अलौकिक है। कोई धर्म अव्याकृत नहीं है अर्थात् सब कुशल अथवा अकुशल में संगृहीत हैं। सम्यक्त्वनियाम की प्राप्ति से सब संयोजन क्षीण हो जाते हैं। पाँच आनन्तर्यों को स्रोतआपन्न नहीं कर सकता है।

सब सूत्र नीतार्थ हैं।

असंस्कृत धर्म नौ है—प्रतिसंख्यानिरोध, अ०, आकाश, आकाशानन्त्यायतन, विज्ञानानन्त्यायतन, आकिञ्चन्यायतन, नैवसंज्ञायतन, प्रतीत्यसमुत्पादाङ्गस्वभाव एवं आर्यमार्गाङ्ग-स्वभाव। वसुमित्र के तिब्बती अनुवाद के अनुसार अष्टम असंस्कृत है प्रतीत्यसमुत्पाद, नवम प्रकृतिभास्वर चित्त (द्र०—वालेजेर, पृ० २३)।

चित्त स्वभावतः भास्वर है एवं उपक्लेशों तथा 'आगन्तुक-रज' से मलिन होता है। अनुशय न चित्त है, न चैतसिक और न चित्त का आलम्बन बनते हैं। वे अव्याकृत और अन्हैतुक है। अनुशय और पर्यवस्थान भिन्न हैं—अनुशय चित्तविप्रयुक्त होते है, जब कि पर्यवस्थान चित्त-सम्प्रयुक्त।

न अतीत धर्मो की सत्ता होती है, न अनागत।

स्रोत-आपन्न ध्यान-प्राप्त होते हैं।

अन्तराभाव नहीं होता।

महासांघिकों के उपर्युक्त अभ्युपगम वसुमित्र से ज्ञात होते हैं, **कथावत्थु** से उनके कुछ अन्य सिद्धान्तों का पता चलता है—

मार्ग समङ्गी का रूप भी मार्ग है। यहाँ सम्यग्वाक्, सम्यक्कर्मान्त एवं सम्यगाजीव की ओर संकेत है जो कि मार्ग के अन्तर्गत है और 'रूप' अथवा भौतिक भी है। पञ्चविज्ञानसमङ्गी होते हुए मार्ग-भावना की जाती है। मार्गसमङ्गी दो शीलों से समन्वागत होता है—लौकिक और लोकोत्तर। शील अचैतसिक और अ-चित्तानुपरिवर्ती है। समादानहेतुक शील की बढ़ती होती है। विज्ञप्ति शील है, अविज्ञप्ति दौश्शील्य अज्ञान के विगत होने पर एवं चित्त के ज्ञानविप्रयुक्त रहने पर उसे ज्ञानी नहीं कहना चाहिए।

ऋद्धि-बल में समन्वागत होने पर एक कल्प तक रहा जा सकता है।

इन्द्रियों का संवर और असंवर कर्म है। सब कर्म सविपाक है। शब्द विपाक है। षडायतन विपाक है। अकुशल-मूल और कुशल मूल का अन्योन्य-प्रतिसन्धान होता है।

प्रत्ययता व्यवस्थित है। संस्कार अविद्या-प्रत्यय है, किन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि अविद्या संस्कार-प्रत्यय है।

एक दूसरे का चित्त-निग्रह कर सकता है।

अर्हत्त्व की प्राप्ति होने पर भी अविद्या और विचिकित्सा रूप कुछ संयोजन शेष रह जाते हैं।

पाँच विज्ञान साभोग है। यह उल्लेख्य है कि श्वांनच्वांग की **विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि** (पूसें, पृ० १७८-७९) के अनुसार महासांघिक यह मानते थे कि –

चक्षुर्विज्ञान आदि का आश्रयभूत एक मूल-विज्ञान है जैसे कि वृक्ष-मूल पत्रादि का आश्रय होता है। यह सौत्रान्तिकों के मन से एवं परवर्ती आलयविज्ञान' से तुलनीय है।

वसुमित्र के अनुसार कुछ बातों पर उत्तरकाल में महासांघिक, एकव्यावहारिक, लोकोत्तरवादी एवं कौक्कुटिकों ने भिन्न मत प्रकट किये—[illegible] के अनुसार अभिसमय में भेद होता है।

कुछ धर्म स्वयंकृत हैं, कुछ परकृत, कुछ उभयकृत एवं कुछ प्रतीत्यसमुत्पन्न।

दो चित्त एक साथ उत्पन्न हो सकते हैं।

मार्ग और क्लेश एक साथ रह सकते हैं।

कर्म और विपाक साथ-साथ होते हैं।

बीज का ही अंकुर में परिणाम नहीं होता है अर्थात् [illegible] अस्वीकार्य है।

रूपेन्द्रिय-गत महाभूतों का परिणाम होता है, किन्तु [illegible] का नहीं।

चित्त समस्त काय को व्याप्त करता है एवं अपने आश्रय और विषय के अनुसार संकुचित तथा प्रसारित होता है।

यह स्मरणीय है कि महासांघिकों के त्रिपिटक का [illegible] कालान्तर में संयुक्त-पिटक नाम से चतुर्थ पिटक हो गया। श्वाच्वांग के अनुसार उनका एक पाँचवाँ धारणीपिटक भी था।[6]

महासांघिक

लोकोत्तरवाद—वसुमित्र के अनुसार बुद्धाब्द के [illegible] शतक में एकव्यावहारिकों एवं गोकुलिकों के साथ लोकोत्तरवादियों का भी महासांघिकों के मध्य में आविर्भाव हुआ।[7] थेरवादी और सम्मतीय परम्पराओं में केवल एकव्यावहारिकों एवं गोकुलिकों का उल्लेख है। विनीतदेव में केवल लोकोत्तरवादियों का उल्लेख है। भव्य की महासांघिकों सूची में केवल महासांघिकों और गोकुलिकों का उल्लेख है। तारानाथ के अनुसार लोकोत्तरवादी गोकुलिकों से पृथक् नहीं थे, और एकव्यवहारिक महासांघिकों से[8]। बारो के सुझाव के अनुसार लोकोत्तरवादी एकव्यवहारिकों से पृथक् नहीं थे[9]। लोकोत्तरवादियों का अभद-चैत्यकों से भी स्थापित किया गया है (दत्त, जि० २, पृ० ५१)।

६—वाटर्स, जि० २, पृ० १६०—६१।

७—मसुदा, पृ० १५।

८—तारानाथ, पृ० २७३।

९—बारो, पृ० ७५—७६।

वसुमित्र की व्याख्या में परमार्थ ने महासांघिकों के अभ्यन्तर भेद की उत्पत्ति 'महायानसूत्रों' के प्रामाण्य पर विवाद के कारण बतायी है[१०]। श्वान्-च्वांग ने लोकोत्तर-वादियों के विहार बामियान में पाये थे।[११] तारानाथ ने उनकी पाल-युग में सत्ता की सूचना दी है।[१२] महावस्तु नाम से उनके विनयपिटक का पहला भाग प्राकृतमिश्र संस्कृत में उपलब्ध है।

लोकोत्तरवादियों के नाम से ही सूचित होता है कि बुद्ध और बोधिसत्त्व की लोकोत्तरता का सिद्धान्त उन्हें विशेष रूप से मान्य था। महावस्तु से इसका समर्थन होता है। निदानकथा के समान महावस्तु में बुद्ध-चरित का तीन विभागों में विवरण दिया गया है। पहले में दीपंकर बुद्ध के समय की बोधिसत्त्वचर्या का वर्णन है, दूसरे में तुषित स्वर्ग और बोधिसत्त्व की गर्भावक्रान्ति से लेकर सम्बोधि तक वर्णन है, तीसरे में धर्म-चक्र-प्रवर्तन एवं संघ के अभ्युदय का महावग्ग से तुलनीय वर्णन है। नाना जातकों अवदानों, सूत्रों और गाथाओं के समावेश ने इस ग्रन्थ को विपुलाकार बना दिया है। बोधिसत्त्व की लोकोत्तरता एवं उनके आध्यात्मिक विकास की भूमियों का इसमें वर्णन किया गया है। दूसरी शताब्दी ईसा पूर्व से लेकर चतुर्थ शताब्दी के बीच में इस ग्रन्थ की रचना पूरी हुई होगी।

परमार्थ के अनुसार लोकोत्तरवादी लौकिक धर्मों को वास्तविक नहीं मानते थे क्योंकि वे कर्म से उत्पन्न होते हैं और कर्म स्वयं विपर्यय से उत्पन्न होता है। लोकोत्तर-धर्म पारमार्थिक है। मार्ग और मार्ग-फल पारमार्थिक है। मार्ग-फल में दो शून्यताएँ संगृहीत हैं। दो शून्यताओं के अभिसमय तक पहुँचाने वाली प्रज्ञा ही मार्ग है। शून्यता ही परमार्थ है और उसका बोध भी।[१३]

वसुमित्र, भव्य और विनीतदेव में लोकोत्तरवादियों के अन्य सिद्धान्त महासांघिकों के सदृश ही है।

एकव्यावहारिक—परमार्थ के अनुसार एकव्यावहारिक संप्रदाय में सब धर्म-संसार और निर्वाण, लोकधर्म और लोकोत्तरधर्म—प्रज्ञप्ति मात्र एवं अवस्तु मात्र माने जाते थे। इस समानवाचक पद का सब धर्मों में अभेद व्यवहार मानने के कारण

१०—वहीं।
११—वाटर्स, जि० १, पृ० ११६।
१२—तारानाथ, पृ० २७४।
१३—बारो, पृ० ७६।

वे एकव्यावहारिक कहे जाते थे। भव्य के अनुसार, तथागत एक चित्त से एक क्षण में सब धर्म जानते हैं—इस मत को स्वीकार करने के कारण इस समुदाय को 'एकव्यावहारिक' कहते थे।[१४]

कौक्कुटिक—इस सम्प्रदाय का नाम कौक्कुटिक, कोक्कुलिक अथवा गोकुलिक था। कुक्कुल के अर्थ 'राख' होते हैं एवं 'कुक्कुल-कथा' के कारण उन्हें 'कौक्कुलिक' कहा गया है। यह सम्भव है कि कुक्कुटाराम से सम्बन्ध होने के कारण वे कौक्कुटिक कहे गये हों। **कौक्कुटिक** यह मानते थे कि पिटकों में केवल अभिधर्म ही तथागत की वास्तविक देशना है। सूत्र और विनय केवल उपाय मात्र है। अतएव इस निकाय के अनुयायी अपने को विनय के अनुशासन से मुक्त समझते थे। सूत्रपरिशीलन को भी वे अनावश्यक मानते थे और कहते थे कि इस प्रकार का अध्ययन मुक्ति के मार्ग में बाधक होता है। धर्म-देशना की ओर भी वे उदासीन थे और केवल ध्यान को महत्त्व देते थे।[१५]

बुद्धघोष के अनुसार (**कथा**, २.६ पर) वे समस्त संस्कारों को कुक्कुल-मात्र मानते थे और इस मत के समर्थन में आदीप्तपर्याय का उद्धरण करते थे।

बहुश्रुतीय—अभिलेखों से गन्धार और अन्ध्र में बहुश्रुतीयों की स्थिति ज्ञात होती है।[१६]। परमार्थ के अनुसार अर्हत् याज्ञवल्क्य उनके प्रवर्तक थे और उन्होंने सूत्रों में नीतार्थ और नेयार्थ का भेद माना। हरिवर्मन् का **सत्य-सिद्धि-शास्त्र** भी इसी सम्प्रदाय से सम्बन्ध रखता था। इस शास्त्र में पाँच पिटकों का उल्लेख मिलता है—सूत्र०, विनय०, अभिधर्म०, संयुक्त० एवं अभिधर्म०। वसुमित्र के अनुसार **बहुश्रुतीय** संप्रदाय में बुद्ध के 'पाँच स्वर' देशना की पाँच वस्तुएँ शान्त या लोकोत्तर माने जाते थे—अनित्यता, दुःख, शून्यता, अनात्म्य और निर्वाण। ये वस्तुएँ नैर्याणिक हैं और विमुक्ति-मार्ग में पहुँचाती हैं। देशना की शेष बातें लौकिक हैं। महादेव की अर्हत्-विषयक पाँच वस्तुएँ इस संप्रदाय में स्वीकृत थीं।[१७] भव्य के अनुसार[१७क] नैर्याणिक मार्ग इनके मत में निर्विचार है। दुःखसत्य, संवृतिसत्य, एवं आर्यसत्य सत्य है। समापत्ति का लाभ संस्कार-दुःखता के बोध से होता है, दुःख-दुःखता और परिणाम-दुःखता के बोध से नहीं। संघ लोकोत्तर है।

१४—वालेज़ेर, पृ० ७९।

१५—तु०—बारो, पृ० ७९-८०।

१६—द्र०—लामॉत, इस्त्वार दु बुद्धीज्म आंदां, पृ० ५८०।

१७—वालेज़ेर, पृ० ३०; बारो, पृ० ८२।

१७क—भव्य के विवरण के लिए द्र०—वालेज़ेर, पृ० ८३।

प्रज्ञप्तिवाद—परमार्थ के अनुसार प्रज्ञप्तिवाद का जन्म बहुश्रुतीयों के अभ्यन्तर सुधार से हुआ।[१८]। इसी कारण उन्हें बहुश्रुतीय-विभज्यवादी भी कहा जाता था। महाकात्यायन इस सम्प्रदाय के प्रवर्तक कहे गये हैं। भव्य के अनुसार **प्रज्ञाप्तिवादियों** के विवरण में १८ क दुःख स्कन्ध नहीं है। बारह आयतन परिनिष्पन्न अर्थ नहीं हैं (**कथावत्थु** २३.५ तुलनीय है)। संस्कार अन्योन्य-परतन्त्र हैं (और वसुमित्र के अनुसार प्रज्ञप्ति मात्र एवं दुःख हैं) १८ ख दुःख परमार्थतः सत्य है (तु०—**कथा**, २३.५)। चैतसिक प्रज्ञप्तिमार्ग नहीं हैं। अकाल मरण नहीं होता। पुरुष कर्ता नहीं है। सब दुःख का कारण पूर्व-कर्म है)।

वसुमित्र के अनुसार, पुण्य से आर्यमार्ग की प्राप्ति होती है, मार्ग भावयितव्य नहीं है, और न भंगयोग्य है।[१८ख]

महासांघिक : 'चैत्यक', 'शैल', एवं 'आन्ध्रक' शाखाएँ—

चैत्यशैल, अपरशैल और उत्तरशैल सम्प्रदायों का जन्म महासांघिकों के अभ्यन्तर से द्वितीय महादेव के कारण बनाया गया है।[१९]।

वसुमित्र के चीनी अनुवाद के अनुसार चैत्य-निकायों में बोधिसत्व के लिए स्वेच्छया दुर्गतिप्राप्ति सम्भव है, स्तूप की पूजा से महाफल नहीं होता, तथा पहले महादेव की पाँच वस्तुएँ स्वीकार की जाती हैं।[२०]

बुद्धघोष के विवरण में पूर्वशैल, अपरशैल, राजगिरिक और सिद्धार्थिक निकायों को अंधक अथवा अन्ध्रक कहा गया है (तु०—बारो, पृ० ८८)। **कथावत्थु** में उनके अनेक मतों का निर्देश है—सब धर्म स्मृति-प्रस्थान के विषय हैं (कथा०, १.९)।

अतीत अनागत, प्रत्युत्पन्न, रूप, अन्य स्कन्ध, सब धर्म सचमुच में हैं और नहीं हैं। वे स्वरूपतः हैं, पर-रूपतः नहीं हैं (कथा. १.१०)।

१८—बारो, पृ० ८४।

१८क—वालेज़र, पृ० ८३।

१८ख—वहीं, पृ० ३०।

१९—बारो, पृ० ८७; वालेज़र, पृ० ३१, पा० टि० ४३; वहीं, पृ० ८; अमरावती, नागार्जुनिकोण्ड आदि के अभिलेखों में 'चेतिकीय', 'चैत्यक', 'चैत्य', 'शैलीय', 'अपर महावनशैलीय', 'महावनशैलीय', 'पूर्वशैली' और 'अपरशैल', निकायों के नाम मिलते हैं; —लामॉत, इस्त्वार दु बुद्धीज्म आंद्या, पृ० ५८०—८१।

२०—वालेज़र, पृ० ३१।

चित्त एक दिन या अधिक रहता है (कथा, २.७)।

अभिसमय अनुपूर्व होता है (कथा, २.९)।

बुद्ध भगवान् का व्यवहार लोकोत्तर है (कथा, २.१०)।

दो निरोध हैं जोकि असंस्कृत हैं (कथा, २.११)।

तथागत का बल श्रावक-साधारण है (कथा, ३.१)।

तथागत का बल, जो कि स्थानास्थान का यथाभूत ज्ञान है, आर्य है अर्थात् तथागत के दश बल यथाभूत प्रज्ञात्मक और आर्य हैं (कथा, ३.२)।

सराग चित्त ही विमुक्त होता है (कथा, ३.३)।

अष्टमक पुद्गल के दृष्टिपर्यवस्थान और विचिकित्सा-पर्यवस्थान प्रहीण है। अष्टमक पुद्गल के न श्रद्धेन्द्रिय है, न वीर्येन्द्रिय न स्मृतीन्द्रिय, न समाधीन्द्रिय, न प्रज्ञेन्द्रिय, किन्तु उसके पास श्रद्धा है, वीर्य है, स्मृति है, समाधि है, और प्रज्ञा है (कथा, ३.५-६)।

दिव्य-चक्षु धर्म से उपस्तब्ध मांसचक्षु है (कथा, ३.७)।

असंज्ञि-सत्त्वों में भी संज्ञा होती है। यह नहीं कहा जा सकता कि नैवसंज्ञानासंज्ञायतन में संज्ञा होती है (कथा, ३.११-१२)।

बोधिसत्त्व शाक्यमुनि का ब्रह्मचर्य, एवं नियाम में अवक्रान्ति, काश्यपबुद्ध के प्रवचन के अनुभाव से सम्पन्न हुई (कथा, ४.८)।

अर्हत्त्व-प्रतिपन्न पुद्गल पिछले तीन फलों से समन्वागत होता है। अर्हत्त्व सब संयोजनों का प्रहाण है (कथा, ४.९-१०)।

जिसे विमुक्ति-ज्ञान है वह विमुक्त है (कथा, ५.१)।

पृथ्वी-कृत्स्न (कसिण) पर आधारित समापत्ति विपरीत ज्ञान पैदा करती है (कथा, ५.३)।

सब ज्ञान प्रतिसंभिदा है (कथा, ५.५)।

यह नहीं कहा जा सकता कि संवृत्ति-ज्ञान का आलंबन सत्य है, अथवा असत्य (कथा, ५.७)।

पर-चित्त के साक्षात् ज्ञान का आलम्बन चित्त है न कि उसका विषय। अनागत का ज्ञान होता है, प्रत्युत्पन्न का भी ज्ञान होता है (कथा, ५.७-९)।

श्रावकों में फल-ज्ञान होता है (कथा, ५.१०)।

नियाम असंस्कृत है, निरोध समापत्ति भी असंस्कृत है (कथा, ६.१.५)।

आकाश सनिदर्शन है, पृथ्वी-धातु, जल धातु, तेजो-धातु और वायु-धातु सब सनिदर्शन अथवा दृश्य हैं (कथा, ६.७-८)।

पृथ्वी कर्मविपाक है, जरामरण भी विपाक हैं। आर्य धर्म का विपाक नहीं है। विपाक विपाक-धर्म-धर्म है (कथा, ७. ७-१०)।

गतियाँ छः हैं (कथा, ८.१)।

रूप धातु रूपी-धर्मों से निर्मित है। रूप-धातु में आत्मभाव षडायतनिक है। अरूप में भी रूप है। क्योंकि अरूप-भव में विज्ञान-प्रत्यय नामरूप होते हैं और अतएव औदारिक रूप में अनिश्रित एक सूक्ष्म रूप की सत्ता माननी होगी (कथा, ८.५, ७-८)।

आनिशंस-दर्शी संयोजन छोड़ देता है (कथा, ९.१)।

अनुशय अनालंबन है, (अर्हत् का) ज्ञान अनालंबन है (कथा, ९. ४-५)।

अतीत और अनागत से वैसे ही समन्वागति होती है जैसे प्रत्युत्पन्न से (कथा, ९.१२)

उपपत्तिगवेषी पञ्चस्कन्धी के अनिरुद्ध रहते हुए ही पांच क्रियास्कन्ध उत्पन्न होते हैं (कथा, ९.१३)।

'इदं' दुःखम्' यह कहते हुए 'इदं दुःखम्' यह ज्ञान उत्पन्न होता है (कथा, ११.४)।

धर्मस्थितता परिनिष्पन्न है। अनित्यता, जरा एवं मरण परिनिष्पन्न है (कथा, ११.७-८)।

समापन्न (पुरुष) आस्वादन का अनुभव करता है, ध्यान—काम होता है और ध्यानालंबन होता है (कथा, १३.७)।

अनुशय अन्य है, पर्यवस्थान अन्य पर्यवस्थान चित्तविप्रयुक्त है (कथा, १४.५-६)।

रूप-राग रूपधातु में अनुशयित है और रूप—धातु-पर्यापन्न है। ऐसे ही अरूप-राग, अरूप-धातु से सम्बद्ध है। (कथा, १४.७)।

दृष्टिगत अव्याकृत है (कथा, १४.८)।

कर्म पृथक् है, कर्म का उपचय पृथक् (कथा, १५.११)।

रूप कर्मविपाक है। रूपावचर में रूप होता है और ऐसे ही अरूपावचर में भी। अर्हतों का पुण्योपचय होता है (कथा, १६. ८-९, १७.१)।

तथागत के उच्चार और प्रस्राव अन्य गंन्धों का अतिशायन करते हैं (कथा, १८.४)।

एक ही मार्ग में चारों श्रामण्य-फलों का साक्षात्कार होता है। कुछ के मत से एक ध्यान से दूसरे ध्यान में साक्षात् (बिना उपचार-प्रवृत्ति के) संक्रमण होता है। अन्य के मत से ध्यानान्तरिक अवस्थाएँ होती हैं (कथा, १८. ५-७)।

शून्यता संस्कार-स्कन्ध-पर्यापन्न है (कथा, १९.२)।

निर्वाण धातु कुशल है (कथा, १९.६)।

निरय में निरयपाल नहीं है, देवलोक में पशु होते हैं जैसे ऐरावत (कथा, २०.३-४)।

बुद्ध में अथवा श्रावकों में 'अधिप्पाय इद्धि' होती है। बुद्धों में हीनातिरेकता होती है (कथा, २१.४-५)।

सब धर्म नियत हैं, सब कर्म नियत हैं। अर्हत् के परिनिर्वाण में भी कुछ संयोजन अप्रहीण होते हैं क्योंकि वे बुद्ध के समान सर्वज्ञ नहीं होते (कथा, २१.७-८; २२.१)।

एकाधिप्राय से मैथुन धर्म प्रतिसेवितव्य है। अर्थात् कारुण्यपूर्वक अथवा स्त्रीके साथ बुद्ध-पूजा के अनन्तर संसार में साहचर्य की प्रणिधिपूर्वक मैथुन किया जा सकता है (कथा, २३.१)।

ऐश्वर्य कामना के कारण बोधिसत्त्व का विनिपात होता है (कथा, २३.३)।

अराग में राग-सादृश्य होता है, जैसे मैत्री, करुणा, एवं मुदिता में (कथा, २३.४)।

पूर्वशैलीय—पूर्वशैल सम्प्रदाय को बुद्धघोष ने (अन्धकों की) परवर्ती शाखा माना है[21]। कदाचित् वसुमित्र एवं परमार्थ के विवरण में उत्तरशैल के नाम से यही सम्प्रदाय विवक्षित है[22]। लगभग अशोक के समय में इसका उद्भव हुआ। अन्ध्र-देश में इसका विकास हुआ, किन्तु श्वांच्वांग के समय तक यह सम्प्रदाय उत्सन्नप्रांय था[23]।

वसुमित्र से ज्ञान होता कि, पूर्वशैलीयों के अनुसार बोधिसत्त्व को दुर्गति से विमुक्त नहीं माना जा सकता है।

स्तूप-पूजा अथवा चैत्य-पूजा को महाफल नहीं स्वीकार किया जा सकता है।

अर्हतों में शुक्र-विसृष्टि, अज्ञान, विचिकित्सा, परवितारणा, एवं 'वाक्भेद' के द्वारा समापति, स्वीकार करनी चाहिए।

कथात्थु से पूर्वशैलों के अन्य सिद्धान्त प्रकट होते हैं—

दुःखाहार मार्ग का अंग है और मार्गपर्यापन्न है (कथा, २.६)।

प्रतीत्यसमुत्पाद असंस्कृत है। चार सत्य भी असंस्कृत है (कथा, ६.२-३)।

२१—लॉ० (अनु०), डिबेट्स कमेन्टरी, पृ० ५।

२२—बारो, पृ० ९९; इसके विरुद्ध पूर्वशैलों को परवर्ती शैल सम्प्रदायों से भिन्न किन्तु 'चैत्यकों' से अभिन्न कहा गया है। दत्त, मौनेस्टिक बौद्धिज्म, जि० २, पृ० १०५।

२३—वाटर्स, जि० २, पृ० २१७।

अन्तराभव की सत्ता स्वीकार्य है (कथा ८.२)।

पाँच कामगुण कामधातु-सम्बन्धी है। पांचों आयतनों को काम बनाया गया है (कथा, ८.३-४)।

जीवितेन्द्रिय को रूप नहीं माना गया है (कथा, ८-१०)।

अर्हत् अपने कर्म के कारण अर्हत्त्व से गिर सकता है (कथा. ८.११)।

अमृतालंबन भी सयोजन हो सकता है (कथा, ९.२)।

वितर्क और विचार करते हुए वितर्क का विस्फार शब्द है (कथा, ९-९)।

वाणी यथाचित्त नहीं होती है। कायकर्म यथाचित्त नहीं होता है (कथा, ९.१०-११

ज्ञान चित्तविप्रयुक्त है (कथा, ११.३)।

दृष्टिसम्पन्न पुद्गल भी जान-बूझकर घात कर सकता है (कथा, १२.७)।

जो नियत है वह नियाम मे अवतरण करता है (१३.४)।

धर्मतृष्णा अव्याकृत है। धर्मतृष्णा दुःख-समुदय नहीं है (१३.९-१०)।

षडायतन मातृ-गर्भ से एक साथ ही उत्पन्न होते हैं (१४.२)।

दृष्टिगत लोक मे पर्यापन्न नही है (कथा, १४.९)।

सम्यक् अधिगत करने पर मनसिकार होता है (कथा, १६.४)।

समापन्न शब्द सुनता है (१८.८)।

श्रामण्य-फल असंस्कृत है। प्राप्ति भी असंस्कृत है (कथा, १९.३-४)।

लोकोत्तर ज्ञान द्वादशवस्तुक है (कथा, २०.६)।

सब धर्म एक चित्त-क्षणिक है (कथा, २०.८)।

अपरशैल—अपरशैल सम्प्रदाय भी अन्धकों (अन्ध्रकों) की एक शाखा थी। नागार्जुनिकोण्ड के अभिलेखों मे उनके दीघनिकाय, मज्झिम, संयुक्त, एवं 'पचमातुक, का उल्लेख प्राप्त होता है।[24] वसुमित्र के अनुसार अपरशैलीय सम्प्रदाय मे बोधिसत्त्व को दुर्गति से अमुक्त कहा गया है, स्तूप और चैत्यों की पूजा महाफल नहीं मानी गयी है और अर्हतो मे शुक्र-विसर्ग अज्ञान, विचिकित्सा, परवितारणा, या 'वचीभेद' स्वीकार किया गया है[25]। कथावत्थु मे अन्य मत सूचित किये गये है—नियत का नियाम मे अवतरण स्वीकार किया गया है और यह भी माना गया है कि षडायतन का एक साथ

२४—एपिग्राफिया इण्डिका, जि० २०, १९२९–३०, पृ० १७, २०।

२५—बारो, पृ० १०५; तु०—वालेजेर, पृ० ३१।

गर्भ में जन्म होता है। लोकोत्तर ज्ञान की द्वादशवस्तुकता एवं सब धर्मों की एक-चित्त-क्षणिकता भी अपरशैलों को स्वीकार्य है।

राजगिरिक—अन्धकों की एक और शाखा राजगिरीय संप्रदाय में[२६] सब धर्मों को परस्पर असंगृहीत अथवा विजातीय स्वीकार किया गया है। कोई भी धर्म दूसरे से सम्प्रयुक्त नहीं है।

चैतसिक धर्मों की सत्ता का प्रत्याख्यान किया गया है क्योंकि वे चित्त से भिन्न, किन्तु चित्त-सम्प्रयुक्त होंगे।

दान को चैतसिक धर्म बताया गया है। परिभोगमय दान में पुण्य बढ़ता है।

ये तीनों सिद्धान्त परस्पर विरुद्ध प्रतीत होते हैं—चैतसिक धर्म है ही नहीं तो दान कैसे चैतसिक धर्म होगा ? और यदि दान चैतसिक धर्म है तो परिभोगमय दान का वैशिष्ट्य निर्मूल है।

दान के द्वारा इह और परत्र काम चलता है।

जिसे एक कल्प तक ठहरना है वह एककल्प तक ठहर सकता है।

जो संज्ञावेदित-निरोध को समापन्न है वह मर सकता है। अकाल मृत्यु अर्हतों में नहीं होती।

सब कुछ कर्म के द्वारा प्रवर्तित है।

राजगिरीयों से सिद्धार्थिकों[२७] का घनिष्ठ सम्बन्ध था। दोनों के विश्वास अभिन्न बताये गये हैं।

वैतुल्यक—वैतुल्यकों के अनुसार[२८] यह नहीं कहा जा सकता कि संघ दक्षिणा का प्रतिग्रह करता है। वास्तविक संघ मार्ग और फलों में ही निष्पन्न होता है। इनके अतिरिक्त और कोई संघ परमार्थभूत नहीं है। यह भी नहीं कहा जा सकता कि संघ दक्षिणा का विशोधन करता है और न यह कि संघ खाता है, पीता है या चबाता या आस्वादन करता है।

२६–तु०—लूदर्स, १२२५, १२५०, उनके सिद्धान्तों के लिए द्र०—कथा, ७.१–६; १३.१; १७.२–३।

२७–तु०—लूदर्स, १२८१; बारो, पृ० १०१।

२८–द्र०—कथा, १७.६–१०; १८.१–२; २३.१; वैतुल्यकों का सम्बन्ध कदाचित् "वैपुल्य" एवं 'वज्र' से था और अतएव महायान एवं वज्रयान से—तु०—बारो,

संघ के विषय में वैतुल्यकों के ये तीन सिद्धान्त संघ का एक नया आध्यात्मिक रूप प्रतिपादित करते हैं। वे यह भी मानते थे कि संघ को दान देने का कोई महान् फल नहीं होता है और यह भी कि बुद्ध को दान देने का ही बड़ा फल होता है।

उनके अनुसार यह नहीं कहना चाहिए कि बुद्ध भगवान् मनुष्यलोक में सचमुच रहते थे। वस्तुतः केवल उनका एक निर्मित रूप ही लोक में आकर देशना करके तुषित लोक लौट गया था। यह भी नहीं कहना चाहिए कि बुद्ध भगवान् ने धर्म को देशना की थी। वे स्वयं तुषित लोक में ही स्थित थे और वहाँ से उन्होंने धर्मदेशना के लिए एक अभिनिर्माण प्रेषित किया था। इस द्वार से धर्मदेशना प्राप्त कर आनन्द ने धर्म की देशना की थी।

एकाधिप्राय से मैथुन धर्म प्रतिसेवितव्य है। बुद्धघोष के अनुसार एकाधिप्राय से तात्पर्य कारुण्य से था। जैसे कि स्त्री के साथ बुद्ध-पूजा करने के बाद यह प्रणिधान किया जाय कि 'हम संसार में एक साथ रहें।

वात्सीपुत्रीय और उनके प्रभेद

वात्सीपुत्रीय—वात्सीपुत्रीयों का उद्भव निर्वाण से २०० वर्ष पश्चात् हुआ। उनके अभिधर्म के नौ भाग थे और उसका नाम शारिपुत्राभिधर्म या धर्मलक्षणाभिधर्म था। वसुमित्र, भव्य एवं कथावत्थु से ज्ञात होता है कि इस सम्प्रदाय के अनुसार[२९] पुद्गल की साक्षात्कृत-परमार्थ रूप से उपलब्धि होती है। न तो पुद्गल एकस्कन्धात्मक है, न स्कन्धों से भिन्न, न वह स्कन्धों में अवस्थित है, न उनसे अलग। जो कुछ उपादानीय अथवा स्कन्ध, धातु और आयतन पर निर्भर है, वह प्रज्ञप्ति है। पुद्गल के अतिरिक्त और कोई अन्य धर्म इस लोक से परलोक को संक्रमण नहीं करता।

सब संस्कृत वस्तुएँ एकक्षणिक हैं।

पाँच विज्ञान न सराग है, न विराग।

पाँच अभिज्ञा प्राप्त हुए तीर्थिक लोग भी हैं।

काम-धातु के संयोजनों का प्रहांण जो कि भावना से प्राप्य है उसी को विराग कहा जाता है। यह दर्शन-प्रहातव्य संयोजनों के प्रहांण से भिन्न है।

२९-द्र०—कथा, १.१-०; कोश, ९; स्फुटार्था, पृ० ६९७ प्र०; वालेज़र, पृ० ६० प्र०, मसुदा, पृ० १६.५६ आदि; बारो, पृ० ११४ प्र०; दत्त—मौनेस्टिक बुधिज्म, जि० २, पृ० १७६ प्र०।

क्षान्ति, नाम, आकार और लौकिकाग्रधर्म सम्यक्त-नियाम तक पहुँचाने वाली चार अवस्थाएँ हैं। दर्शन-मार्ग में ऐसे बारह चित्तक्षण हैं जहाँ प्रतिपन्न की अवस्था होती है। तेरहवें क्षण में स्थिति फल का अभिधान होता है।

यह नहीं कहा जा सकता कि निर्वाण धर्मों से भिन्न अथवा अभिन्न है। यह भी नहीं कहा जा सकता कि निर्वाण वस्तुतः सत्तावान् है अथवा सत्ताहीन।

अर्हत्त्व से अर्हत् गिर सकता है (कथा, १.२)।

वात्सीपुत्रीयों से सम्मतीयों का एक पृथक् सम्प्रदाय के रूप में उद्भव कदाचित् ईसापूर्व अथवा ईसवीय पहली शताब्दी में हुआ हो। क्रमशः वे ही वात्सीपुत्रीयों में प्रधान हो गये। इनसे आवन्तक एवं कुरुकुल्लक सम्प्रदायों का उद्भव हुआ था। सम्राट् हर्षवर्धन की वहिन राज्यश्री सम्मतीय निकाय में श्रद्धालु थी[३०]। एवं श्वांच्वांग के विवरण से उनका महत्त्व सूचित होता है। उनके साहित्यमें से इस समय केवल सम्मतीय निकायशास्त्र एवं एक विनय पर ग्रन्थ, चीनी अनुवादों में अवशेष हैं। वसुमित्र के अनुसार वात्सीपुत्रीयों का अवान्तर-भेद एक गाथा की व्याख्या से हुआ जिसका आशय था—'विमुक्त होने पर पुनः परिहाणि होती है, लोभ से गिरता है, पुनरागमन होता है, सुख-पद प्राप्त कर भोग करता है, अभीष्ट उत्तम पद प्राप्त करता है। सम्मतीय इसमें चार फलों से अभिसम्बद्ध छ पुद्गलों का संकेत मानते थे—स्रोतआपन्न, कुलंकुल, सकृदागामी, एकवीचिक, अनागामी और अर्हत्। धर्मोत्तरीय इसमें तीन प्रकार के अर्हतों का संकेत पाते थे। भद्रयाणीय श्रावक, प्रत्येकबुद्ध और बुद्ध का। भव्य के अनुसार उनका मूल सिद्धान्त था कि भवनीय और भव, निरोद्धव्य और निरुद्ध, जनितव्य और जात, मरणीय और मृत, कृत्य और कृत, भोक्तव्य और भुक्त, गन्तव्य और गामी, विज्ञेय और विज्ञान—इनकी सत्ता है[३१]। **कथावत्थु** उनके अन्य सिद्धान्त बताती है—पुद्गल की उपलब्धि साक्षात् परमार्थतः होती है और पुद्गल स्कन्धों से न भिन्न है न अभिन्न (कथा०, १.१)।

अर्हत्त्व से अर्हत् के लिए गिरना सम्भव है (१.२)।

देवलोक में ब्रह्मचर्यवास असंभव है (१.३)।

क्लेशों का क्रम से प्रहांण होता है (१.४)।

पृथग्जन काम, राग और व्यापाद छोड़ सकते हैं (१.५)।

अभिसमय अनुपूर्व अथवा क्रमिक होता है (२.७)।

३०—वाटर्स, जि० १, पृ० ३४६।

३१—वालेजेर, पृ० ८८।

अष्टमक पुद्गल दृष्टि-पर्यवस्थान से प्रहीण होता है (३.५)।

दिव्य-चक्षु धर्मोपष्टब्ध मांसचक्षु है (३.७)।

परिभोगमय पुण्य बढ़ता है (७.५)।

अन्तराभव होता है (८.२)।

रूप-धातु में षडायतनिक आत्मभाव होता है (८.७)।

कुशल-चित्त से समुत्थित कायकर्म कुशल रूप है। रूप कर्म है (८.९)।

जीवितेन्द्रिय रूपमय नहीं है (८.१०)।

कर्म के कारण अर्हत् अर्हत्व से गिरता है (८.११)।

मार्ग-समंगी का रूप मार्ग है। विज्ञप्ति शील है (१०. १.९)।

अनुशय अव्याकृत है, अहेतुक है और चित्तविप्रयुक्त है। रूप-धातु में अनुशयित रूपराग रूप-धातु-पर्यापन्न है। ऐसे ही अरूप-राग अरूप-धातु पर्यापन्न है (११.१; १४.७)।

कर्म कर्मोपचय से अन्य है (१५.११)।

रूप कुशल अथवा अकुशल है। रूप विपाक है (१६. ७-८)।

ध्यान में आन्तरालिक अवस्थाएँ होती है (१८.७.)।

धर्मोत्तरीय, भद्रयाणीय, षण्णगरिक—सभी परम्पराओं में धर्मोत्तरीयों को वात्सीपुत्रीयों से निकली पहली शाखा माना गया है। भव्य के अनुसार वे कहते थे कि 'जाति में अविद्या और जाति है, निरोध में अविद्या और निरोध'[३२]। पूर्वोक्त गाथा में अर्हत् की परिहाणि, स्थिति और समापत्ति का संकेत पाते थे। भद्रयाणीयों के द्वारा इस गाथा की व्याख्या का ऊपर उल्लेख किया गया है। कथावत्थु में इनका एक सिद्धान्त उल्लिखित है—चार सत्यों का और फलों का अभिसमय अनुपूर्व होता है[३३]। षण्णगरिक सम्प्रदाय में अर्हतों के छः भेद माने जाते थे, जिनके लक्षण है—परिहाणि, चेतना, अनुरक्षणा, स्थिति, प्रतिवेधना और अकोप्य।

३२–वारो, पृ० १२७; तु०—लूदर्स, १०९४–९५, ११५२ जिनसे इनकी अपरान्त में स्थिति सूचित होती है।

३३–कथा, २.९, तु०—लूदर्स, ९८७, १०१८, ११२३–२४।

अध्याय ८

महायान का उद्गम और साहित्य

(१) महायान—हीनयान से सम्बन्ध, उद्गम और विकास-क्रम

महायान और हीनयान—आध्यात्मिक प्रगति का साधन होने के कारण 'मार्ग' एवं 'यान' के रूप में धर्म की कल्पना प्राचीन है। कठोपनिषद् में (१.३.३-९) रथ का रूपक प्रस्तुत किया गया है तथा उपनिषदों मे अन्यत्र 'पितृयाण' एवं 'देवयान' तथा 'देवपथ' और 'ब्रह्मपथ' का उल्लेख प्राप्त होता है[१]। प्राचीन बौद्ध साहित्य में भी रथ का रूपक मिलता है[२]। चीनी संयुक्तागम में अष्टाङ्गिक मार्ग के लिए 'सद्धर्म-विनय-यान', 'देवयान', एवं 'ब्रह्मयाल', इन शब्दों का प्रयोग उपलब्ध होना है।[३] पालि-संयुक्त-निकाय में भी अष्टांगिक मार्ग के लिए 'ब्रह्मयान' एवं 'धर्मयान' की कल्पना मिलती है[४]। मुत्तनिपात में मार्ग को 'देवयान' कहा गया है।[५] प्रज्ञापारमिता, सद्धर्मपुण्डरीक आदि 'महायान' सूत्रों में सर्वप्रथम यान के रूप में कल्पित धर्म का द्विविध भेद, हीन और

१—देवयान ब्रह्मतक ले जाता है—छा० ५.१०। देवयान ब्रह्मलोक ले जाता है, फिर पुनरावृत्ति नहीं होती, "य एतौ पन्थानौ न विदुस्ते कीटाः पतंगा यदिदं दन्दशूकम्"—बृ० ६.२.१५–१६। तु०—गीता ८.२३–२७, जहाँ इन्हें जगत् की शाश्वत "शुक्ल और कृष्ण गतियाँ" कहा गया है। इस प्रसंग में अग्नि और धूम का उल्लेख हैराक्लितस के दो मार्गों का स्मरण दिलाता है। छा० ४,१५.६—("स एनान्ब्रह्म गमयत्येष देवपथो ब्रह्मपथ एतेन प्रतिपद्यमाना इमं मानवमावर्तं नावर्तन्ते···।"

२—यथा, संयुत्त (रो०), जिल्द ५, पृ० ६।

३—द्र०—किमुर, ऑरिजिन् ऑव् महायान, पृ० १२१ (जे० डी० एल्०, जि० १२)।

४—संयुत्त, (रो०) जि० ५, पृ० ६।

५—खुद्दक (ना०) जि० १, पृ० २८९।

महान्, प्रकट होता है तथा नागार्जुन, असंग आदि के रचित शास्त्रों में इसका विस्तरशः प्रतिपादन मिलता है। इन ग्रन्थों के अनुसार भगवान् बुद्ध ने अपने श्रोताओं के प्रवृति-भेद एवं विकास-भेद को देखते हुए मुख्यतः दो प्रकार के धर्म का उपदेश किया—हीनयान एवं महायान। हीनयान को श्रावकयान भी कहा गया है।[६] महायान के अन्य नाम है—एकयान, अग्रयान, बोधिसत्त्वयान तथा बुद्धयान।[७] समस्त अठारह सम्प्रदायों में विभक्त बौद्ध धर्म हीनयान के अन्तर्गत है। इसके सहारे श्रावक-गण देह और चित्त में आत्म-बुद्धि छोड़ कर राग, द्वेष एवं मोह के परे अर्हत्त्व के मार्ग पर अग्रसर होते हैं। श्रावकोपयोगी होने के कारण यह श्रावकयान कहलाता है तथा श्रावकों के 'हीनाधिमुक्त' होने के कारण इसकी आख्या हीनयान है।[८] तथागत ने इसका उपदेश अपने उपाय-कौशल्य के कारण किया था। उनका वास्तविक तात्पर्य दूसरा था। वे चाहते थे कि अधिकार-सम्पन्न होने पर सब बुद्धत्व के मार्ग पर प्रतिष्ठित हों। इस मार्ग के पथिक बोधिसत्त्व कहलाते हैं। हीनयान के उपायमात्र होने के कारण यह बुद्धयान अथवा बोधिसत्त्वयान ही एकमात्र वास्तविक यान अथवा एकयान है।[९] इस यान

६—श्रावकयान और प्रत्येकबुद्धयान, दोनों हीनयान में संगृहीत हैं—द्र०—ई० आर० ई० जि० ८, पृ० ३३१।

७—द्र०—किमुर, पूर्वोद्धृत, पृ० १२३-२५, १४६-४७। वसुबन्धु के 'सद्धर्मपुण्डरीकसूत्रोपदेश' में महायान के १७ विभिन्न नाम दिये गये हैं। ये द्र०—वहीं, पृ० ६२।

८—द्र०—सूत्रालंकार, १.१८, सद्धर्मपुण्डरीक, अधिमुक्तिपरिवर्त।

९—उदाहरणार्थ, सद्धर्मपुण्डरीक, पृ० ३२—"अहमपि शारिपुत्र···सत्त्वानां नानाधात्वाशयानामाशयं विदित्वा धर्मं देशयामि। अहमपि शारिपुत्र-कमेव यानमारभ्य सत्त्वानां धर्मं देशयामि यदिदं बुद्धयानं···अपितु खलु पुनः शारिपुत्र : यदा···सम्यक्सम्बुद्धाः कल्पकषाये वोत्पद्यन्ते सत्त्वकषाये वा क्लेशकषाये वा दृष्टिकषाये वायुष्कषाये वोत्पद्यन्ते। एवंरूपेषु कल्पसंक्षोभकषायेषु बहुसत्त्वेषु लुब्धेष्वल्पकुशलमूलेषु तदा···सम्यक्सम्बुद्धा उपायकौशल्येन तदेवैकं बुद्धयानं त्रियाननिर्देशन निर्दिशन्ति।" यहाँ वैयक्तिक प्रकृतिभेद के अतिरिक्त युग-भेद का उल्लेख विचारणीय है। अधिकार के एक सहज क्रम के निर्देश के लिए सूत्रालंकार का यह उद्धरण भी स्मरणीय है—"उक्तं भगवता श्रीमालासूत्रे। श्रावको भूत्वा प्रत्येकबुद्धो भवति पुनश्च बुद्ध इति।" (पृ० ७०)

में आकाश के समान अनन्त सत्त्वों के लिए अवकाश है, अतएव इसे महायान कहते हैं[10]। हीनयान और महायान दोनों ही बुद्ध शासन हैं एवं निर्वाण की ओर ले जाते हैं।[11] किन्तु हीनयान अपेक्षाकृत निम्नकोटिक अधिकारियो के लिए तात्कालिक उपायमात्र था, महायान शास्ता का स्वानुभव एवं वास्तविक अभीष्ट।

महायानसूत्रों के अनुसार तथागत ने हीनयान का उपदेश पाँच परिव्राजकों के समक्ष सारनाथ के प्रसिद्ध धर्म-चक्रप्रवर्तन के द्वारा किया था, किन्तु महायान का उपदेश उन्होंने राजगृह के गृध्रकूट-पर्वत पर बोधिसत्त्वों की विपुल और विलक्षण सभा में किया।[12] अमितार्थ सूत्र के अनुसार सम्बोधि के ४० वर्ष अनन्तर तथागत ने अमितार्थसूत्र का प्रकाशन किया।[13] महायान-सूत्रों और परम्परा के आधार पर चीन के प्राचीन बौद्ध विद्वानों ने तथागत की धर्म-देशना के काल को तीन विभागों में बाँटा है। पहले काल-विभाग में, जो कि सम्बोधि के तीन सप्ताह अनन्तर प्रारम्भ होता है, तथागत ने अवतंसक सूत्रों का उपदेश किया, किन्तु उन्होंने जनता को इन सूत्रों के अवबोध में अक्षम पाया। दूसरे काल विभाग में उन्होंने 'चार आगमों' की देशना की। यह वस्तुतः उनका 'उपायोपदेश' था। अन्ततः देशना के तीसरे काल में तथागत ने सद्धर्मपुण्डरीक, प्रज्ञा-पारमिता, महायान-महापरिनिर्वाण-सूत्र, एवं महावैपुल्य-सूत्रों का प्रकाश किया[14]। तिब्बती परम्परा के अनुसार गृध्रकूट का द्वितीय धर्मचक्रप्रवर्तन सम्बोधि के १६ वर्ष पश्चात् हुआ था।[15]

१०–अष्टसाहस्रिका, पृ० २४—"यथाकाशो अप्रेयमाणामसंख्येयानां सत्त्वानामवकाशः एवमेव भगवन्नस्मिन् याने··", पुनश्च द्र०—सूत्रालंकार, प्रथमाधिकार।

११–तकाकुसु, इ-चिंग, पृ० १५।

१२–यथा, सद्धर्मपुण्डरीक, पृ० ४४–४५, ५२–५३,
"धर्मचक्र प्रवर्तेसि लोके अप्रतिपुदगल।
वाराणस्यां महावीर स्कन्धानामुदयं व्ययम्॥
प्रथमं प्रर्वाततं तत्र द्वितीयमिह नायक।"

१३–किमुर, पूर्वोद्धृत, पृ० ५७–५८।

१४–वही, पृ० ६३–६४।

१५–तु०—बुदोन, जि० २, पृ० ४६–५२; तु०—इलियट, हिन्दुइज्म एण्ड बुद्धिज्म, जि० ३, पृ० ३७४।

महायान सूत्रों के अनुसार परिनिर्वाण के अनन्तर चार शताब्दियां बीतने पर नागार्जुन के द्वारा महायान का प्रकाश मानना चाहिए।[१६] नागार्जुन के अनुसार बुद्ध देशना द्विविध है—गुह्य, एवं व्यक्त। पहली बोधिसत्त्वों के लिए दी गयी थी, दूसरी अर्हद्विषयक थी।[१७] यही भेद महायान और हीनयान के रूप में प्रकट होता है। हीनयान के सूत्रों में जिस धर्मतथता का संकेतमात्र है, प्रज्ञापारमिता में उसका विस्तृत विवरण है।[१८] श्रावकयान में केवल पुद्गलशून्यता का उपदेश है, बुद्धयान में धर्मशून्यता का भी। बुद्धयान सर्वार्थ है, श्रावकयान केवल स्वार्थ। महायान महाकरुणा से प्रेरित है एवं सब के निर्वाण को अपना लक्ष्य मानता है। हीनयान में दुःख, अनित्य एवं अनात्म के लक्षणों का महत्त्व है, महायान में शून्यता का।

असंग ने महायान और हीनयान के पाँच पारस्परिक भेद बताये हैं—आशय, उपदेश, प्रयोग, उपस्तम्भ, एवं काल "आशयस्योपदेशस्य प्रयोगस्य विरोधतः। उपस्तम्भस्य कालस्य यत् हीनं हीनमेवतत्। 'श्रावकयानेह्यात्मपरिनिर्वाणायैवाशयस्तदर्थमेववोपदेशस्तदर्थमेव प्रयोगः परिनश्चपुण्यज्ञानसंभारसंगृहीत उपस्तम्भः कालेन चान्येन तदर्थ यावत्रिभिरपि जन्मभिः। महायाने तु सर्व विपर्ययेण। तस्मादन्योन्यविरोधाद्यधानं हीनं हीनमेव तत्। न तन्महायानं भवितुमर्हति।"[१९] हीनयान में पुद्गलनैरात्म्य के बोध के द्वारा क्लेशावरण का क्षय होता है एवं अर्हत्त्व की प्राप्ति होती है। प्रत्येक अपने लिए पृथक् प्रयास करता है। श्रावक स्वय दूसरों से उपदेश प्राप्त करते हैं एवं दूसरों को स्वयं उपदेश करते हैं। प्रत्येक बुद्ध न किसी के शिष्य होते हैं, न गुरु। इस मुख्य भेद

१६–ई० आर० ई०, जि० ८, पृ० ३३५; लंकावतार, पृ० २८६—.

"दक्षिणापथवैदल्यां भिक्षुः श्रीमान्महायशाः।
नागाह्वयः स नाम्नातुसदसत्पक्षदारकः॥
प्रकाश्यलोके मयानं महायानमनुत्तरम्॥"

तु०—लामॉत, लत्रेते, भूमिका, पृ० ११।

१७–किमुर, पूर्वोद्धत, पृ० ५७।

१८–नागार्जुन के अनुसार प्रज्ञापारमिता में 'ति इ श्युतन् श्यङ्०' (पारमार्थिक सिद्धान्त लक्षण) का उपदेश है—द्र०—ता चि तु लुन् (महाप्रज्ञापारमिता-शास्त्र), चीनी त्रिपिटक, ताइशो संस्करण, जि० २५, पृ० ५९, स्तम्भ २, पंक्ति १८)।

१९–सूत्रालंकार, पृ० ४।

के अतिरिक्त श्रावक और प्रत्येकबुद्ध, दोनों ही हीनयान के अन्तर्गत हैं। महायान में धर्म-नैरात्म्य अथवा शून्यता के बोध से ज्ञेयावरण का क्षय होने पर बुद्धपदवी अथवा सर्वज्ञता की प्राप्ति होती है।[२०] इस यान पर आरूढ़ बोधिसत्त्व सब सत्त्वों को निर्वाण में प्रतिष्ठित करने का व्रत स्वीकार करते हैं। पारमिताओं के साधन के द्वारा नाना भूमियाँ पार करते हुए बोधिसत्त्वयान की यात्रा सम्पन्न होती है। महायान में असंख्य बुद्ध और बोधिसत्त्व माने जाते हैं तथा उनके स्वरूप एवं महात्म्य की कल्पना बहुधा नितान्त देवोपम है।[२१] इन बुद्धों और बोधिसत्त्वों की पूजा और भक्ति का महायान में बहुत बढ़ा स्थान है।[२२] इ-चिङ का कहना है कि 'जो बोधिसत्त्वों को पूजते हैं एवं महा-

२०—उदाहरणार्थ द्र०—बोधिचर्यावतार, ९.५५—

"क्लेशज्ञेयावृतितमःप्रतिपक्षो हि शून्यता।
शीघ्रसर्वज्ञताकामो न भावयति तां कथम्॥"

२१—द्र०—अधः।

२२—उदा० द्र०—शिक्षासमुच्चय, परिच्छेद १७; "आर्यमहाकरुणापुण्डरीकसूत्र" के अनुसार बुद्ध के लिए आकाश में भी एक फूल चढ़ाने का फल अनन्त और निर्वाणपर्यवसायी है (वहीं, पृ० ३०९)। "आर्यश्रद्धा-बलाधानावतार-मुद्रासूत्र" के अनुसार चित्रलिखित बुद्ध के देखने का पुण्य भी प्रत्येक बुद्धों को दिये हुए असंख्य दान से अधिक है, "कः पुनर्वादो योऽञ्जलिप्रग्रहं वा कुर्यात् पुष्पं वा दद्यात् धूपं वा गन्धं वा दीपं वा दद्यात्··" (वहीं, पृ० ३११)। बोधिसत्त्व बनने के लिए वस्तुतः मानसपूजा ही अपेक्षित है (बोधिचर्यावतार, द्वितीय परिच्छेद)। सब कुछ शून्य मानने वाले माध्यमिक-गण भी व्यवहार के स्तर पर बुद्धपूजा का फल मानते थे—

"चिन्तामणिः कल्पतरुर्यथेच्छापरिपूरणा।
विनेयप्रणिधानाभ्यां जिनबिम्बं तथेक्ष्यते॥
यथा गारुड़िकः स्तम्भं साधयित्वा विनश्यति।
स तस्मिंश्चिरनष्टेऽपि विषादीनुपशामयेत्॥
बोधिचर्यानुरूपेण जिनस्तम्भोऽपि साधितः।
करोति सर्वकार्याणि बोधिसत्त्वेऽपि निर्वृते॥"

(बोधिचर्या ९.३६–३८)

यान सूत्रों को पढ़ते हैं वे महायानी कहलाते हैं, ऐसा न करने वाले हीनयानी।[२३] उन्होंने यह भी कहा है कि महायानियों का अपना पृथक् विनय नहीं था तथा उनके दर्शन की दो मुख्य शाखाएँ थीं—विज्ञानवाद, एवं शून्यवाद।[२४] परवर्ती ब्राह्मण-ग्रन्थों में भी महायान के इन्हीं दो प्रमुख दार्शनिक प्रस्थानों का उल्लेख मिलता है।[२५]

ऊपर के विवरण से स्पष्ट होगा कि–(१) महायान और हीनयान का भेद महायान सूत्रों से आविर्भूत एवं महायान शास्त्रों में सविस्तर प्रतिपादित हुआ, (२) महायानियों के अनुसार महायान तथागत की वास्तविक देशना है जो कि गुह्य उपदेश के रूप में उन्होंने अपने जीवनकाल में विशिष्ट अधिकारियों को दी थी तथा जिसका अनुकूल समय आने पर प्रचार और व्याख्यान हुआ, (३) हीनयान और महायान का भेद मूलतः अधिकार भेद एवं लक्ष्य-भेद पर आश्रित है (४) महायान के सिद्धान्त-पक्ष में बुद्धत्व, शून्यता, एवं चित्तमात्रता का स्थान मुख्य है, (५) महायान का साधनपक्ष वोधिसत्त्व-चर्या है जिसमें पारमिताएँ एवं भूमियाँ सर्वाधिक महत्त्व रखती हैं एवं शील और ज्ञान के साथ 'भक्ति' का स्थान सुरक्षित है।

महायान का उद्गम—महायान के उद्भव के विषय में महायान-सूत्रों में प्रकाशित मत ऐतिहासिक दृष्टि से स्वभावतः सन्देह उत्पन्न करता है। महायान सूत्र अपने को बुद्ध प्रोक्त बताते हैं, किन्तु उनकी भाषा एवं शैली उनकी परवर्तिता सूचित करती है। कदाचित् अष्टसाहस्त्रिका प्रज्ञापारमिता ही महायान-सूत्रों में प्राचीनतम है। इसका लोकरक्ष ने चीनी में १४८ ई० में अनुवाद किया था।[२६] कनिष्क के समकालीन नागार्जुन ने पञ्चविंशति-साहस्रिका प्रज्ञापारमिता पर व्याख्या लिखी थी।[२७] इससे प्रज्ञापारमिता-साहित्य की परिणति ईसवीय दूसरी शताब्दी से प्राचीनतर अवश्य सिद्ध होती है, किन्तु इस प्रकार के अनुमान से उसका मूल अधिकाधिक ईसा पूर्व दूसरी शताब्दी से प्राचीन नहीं माना जा सकता। जब स्वयं ये 'महायान' सूत्र ही बुद्ध के युग से पर्याप्त

२३–तकाकुसु, इ-त्सिंग, पृ० १४–१५।

२४–वहीं।

२५–यथा, सर्वदर्शनसङ्ग्रह, पृ० ७ इत्यादि।

२६–द्र०—दत्त, महायान, पृ० ३२३, पादटिप्पणी, १, तु०—विन्तरनित्स, जि० २, पृ० ३१४ इत्यादि।

२७–द्र०—लामॉत, लत्रेते, भूमिका, पृ० १०, तु०—विन्तरनित्स, जि० २, पृ० ३४२, ३४८।

परवर्ती, एवं सन्दिग्ध-प्रामाण्य (एपोक्रिफ़ल) हैं तो इनमें प्रतिपादित महायान की मूल संलग्न प्राचीनता सुतराम् असिद्ध हो जाती है। इस कारण ऐतिहासिक दृष्टि में महायान को सद्धर्म का विपरिवर्तित अथवा विकृत रूप मानने की सम्भावना प्रस्तुत होती है।[२८] इस विपरिवर्तन का प्रधान कारण सद्धर्म का प्रसार और उसके साथ सम्बद्ध ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक प्रभाव प्रतीत होते हैं।[२९] यह स्वाभाविक है कि सद्धर्म के प्रसार की गति अशोक के समान श्रद्धालु और प्रतापी सम्राट् के संरक्षण एवं साहाय्य से तथा तत्कालीन संघ के प्रयत्नों से विशेष तीव्र हुई हो।[३०] यह निस्सन्देह है कि इसी समय से सद्धर्म भारतीय प्रास्तरिक वास्तुकला तथा मूर्तिकला की एक प्रधान प्रेरणा के रूप में प्रकट होता है एवं जातकों का महत्त्व विशेष वृद्धि प्राप्त करता है।[३१] ईसापूर्व दूसरी शताब्दी से ईसवीय दूसरी शताब्दी तक भारतीय संस्कृति का एक संक्रमण काल है जब

२८–रीज डेविड्स, हिस्टरी एंड लिटरेचर ऑव् बुद्धिज्म (प्र० सुशीलगुप्त) पृ० १३७ प्रभृति, तु० इलियट, हिन्दुइज्म, एण्ड बुद्धिज्म, जि० २, पृ० ६६–६८।

२९–टॉइनबी ने अपनी 'ए स्टडी ऑव हिस्टरी' में यह मत प्रस्तुत किया है कि महायान की उत्पत्ति ग्रीक सभ्यता और भारतीय सभ्यता के गन्धार में सम्पर्क से हुई। स्पष्ट ही इस मत का मूलाधार वी० ए० स्मिथ आदि के द्वारा समर्थित 'गान्धार-कला'—विषयक प्रसिद्ध मत है। गन्धारकला पर द्र०—ऊपर। राहुल सांकृत्यायन ने भी ग्रीक-दर्शन का बौद्धदर्शन पर प्रभाव कल्पित किया है (दर्शन-दिग्दर्शन)।

३०–सद्धर्म के लिए अशोक के प्रयत्नों पर द्र०—भण्डारकर, अशोक पृ० १३९ प्रभृति, अशोक के प्रयत्नों के परिणाम पर द्र०—भंडारकर, पूर्व, पृ० १५९ प्रभृति, रायचौधरी, पी० एच० ए० आइ० पृ० ६१४–१७, तु०—राइ डेविड्स, बुधिस्ट इण्डिया, पृ० २९८–९९, इस प्रसंग में कन्धार के अशोक की नवोपलब्ध ग्रीक प्रशस्ति उल्लेखनीय है, द्र०—ईस्ट एण्ड वेस्ट, सेप्टेम्बर, पृ० १८५–९१, अशोक के धार्मिक प्रयत्नों के मूल्यांकन में एक मौलिक कठिनाई बनी ही रहती है—अशोक ने जिस "धर्म" का समर्थन किया क्या वह 'सद्धर्म' था अथवा 'साधारण धर्म' मात्र ? तत्कालीन संघ के प्रयत्नों पर द्र०—उपरि।

३१–दे० ऊपर।

जब अनेक विदेशी जातियाँ भारत में उत्तरपश्चिम से आयीं और उनपर भारतीय संस्कृति ने अपना प्रभुत्व स्थापित किया और उत्तरपश्चिमी मार्गों से मध्य एशिया तथा चीन तक अपने प्रभाव का विस्तार किया। कुषाण-साम्राज्य में यह सांस्कृतिक आत्मसात्करण तथा प्रसार की प्रक्रिया विशेष रूप से लक्षित होती है।[32] बौद्ध धर्म ने इस प्रक्रिया में महत्त्वपूर्ण भाग ग्रहण किया।[33] इसके परिणामत: बौद्ध धर्म जहाँ एक ओर एशियाव्यापी प्रभाव बन गया, दूसरी ओर उसका आवश्यक रूपान्तर सम्पन्न हुआ। हीनयान में विभिन्न प्रादेशिक आवासों की स्थापना ने निकाय-भेद के क्रम को अग्रसर होने में सहायता दी थी।[34] इनमें महासांघिक सम्प्रदाय ने बुद्ध और बोधिसत्त्वों को देवोपम लोकोत्तर रूप में चित्रित किया एवं गन्धार तथा मथुरा में ग्रीक और भारतीय कला के सम्पर्क तथा भक्ति के आग्रह से बुद्ध प्रतिमा का आविर्भाव हुआ।[35] लोकोत्तर बुद्ध और बोधिसत्त्व, उनकी भक्ति और प्रतिमाएँ, इन नवीन तत्त्वों ने सद्धर्म को एक जन-सुलभ, सुबोध और सुन्दर रूप प्रदान किया। प्रारम्भिक बौद्ध धर्म एवं हीनयान में साधना अपेक्षाकृत दुष्कर है। प्रत्येक व्यक्ति को सर्वथा अपने प्रयत्न के और पुरुषकार के द्वारा सांसारिक सुखों को छोड़ कर ही दु:ख से छुटकारा प्राप्त करना होता है। बुद्ध केवल मार्ग का उपदेश करते हैं, धर्म प्रत्यात्मवेदनीय है।[36] साधारण मनुष्य के लिए अपने सहारे अपने बन्धनों को काटना कठिन होता है। महायान में बुद्ध और बोधिसत्त्व नाना प्रकार से मार्ग में सहायक बन जाते हैं। अवलोकितेश्वर के नाम लेने से ही मनुष्य नाना कठिनाइयों से मुक्ति पा सकता है।[37] मूर्तियों के सहारे बुद्ध और बोधिसत्त्व बौद्धों के समक्ष प्रत्यक्षवत् समुपस्थित हो उठते हैं। वे सर्वज्ञ, शक्तिसम्पन्न तथा परम कारुणिक हैं। उनके अर्चन और अनुग्रह के द्वारा मुक्ति का मार्ग केवल अपने पुरुषकार की अपेक्षा अधिक प्रशस्त प्रतीत होता है। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि अशोक के समय से सद्धर्म के प्रचार के लिए विशेषत: प्रत्यन्तिम जनपदों में, उसे एक सरल और

३२–उदा० द्र० काम्प्रिहेन्सिव हिस्टरी, जि० २, पृ० ४५८, ६५५ आदि।

३३–तु०—सी० आइ० आइ०–जि० २, बौद्ध सांस्कृतिक प्रसार पर दे०—ऊपर।

३४–फ्राउवाल्नर, अर्लियस्ट विनय, पृ० ६, प्रभृति, तु०—बारो, ले सेक्तन, पृ० ४९, न० दत्त, अर्ली मोनेस्टिक बुधिज्म, जि० २, पृ० १२ प्रभृति।

३५–दे०—नीचे।

३६–दे०—ऊपर।

३७–द्र०—सद्धर्मपुण्डरीक, समन्तभद्रपरिवर्त।

मूर्त रूप देने का जो प्रयास जारी था उसने क्रमशः महायान को जन्म दिया। इस परिणाम-क्रम में नाना सम्प्रदायों, धर्मों और जातियों के प्रभाव से महायान में विभिन्न तत्त्वों का समावेश हुआ।[३८] हीनयान ही मूल और प्रारम्भिक बुद्ध-शासन था जिसके वाङ्मय की प्राचीनता निस्सन्देह है।[३९] हीनयान मुख्यतया भिक्षुओं का धर्म है एवं उपासकों को गौण स्थान देता है। हीनयानी भिक्षुओं का जीवन और साधन कठोर अनुशासन से परिगत एवं निवृत्ति-परक हैं। महायान परवर्ती और विपरिवर्तित बौद्ध धर्म है जिसने प्राचीन साहित्य के अभाव में नवीन 'प्रक्षिप्त 'सूत्रों की रचना की। यदि हीनयान कृच्छ्रसाध्य है तो महायान सर्व-जनसुलभ है। हीनयान प्राचीन और विशेषतया भिक्षु-धर्म है। महायान विपरिवर्तित और 'प्रचलित' सद्धर्म है।

महायान के आचार्यों ने स्वयं महायान की अप्रामाणिकता के निरास का बहुधा प्रयत्न किया है। इस प्रसंग में महायानसूत्रालंकार एवं बोधिचर्यावतार में अनेक युक्तियाँ प्रस्तुत की गयी हैं जिनमें अनेक स्पष्ट ही प्राचीनतर सूत्रों पर आश्रित हैं। महायान को बुद्धवचन सिद्ध करने के लिए असंग ने महायानसूत्रालंकार में कहा है—'आदावव्याकरणात्समप्रवृत्तेरगोचरात्सिद्धेः। भावाभावेऽभावात्प्रतिपक्षत्वादुतान्यत्वात्॥ (१.७) यदि सद्धर्म के अन्तराय के रूप में किसी ने महायान को पीछे उद्भावित किया होता तो इस आशंका का तथागत ने अनागतभयों के सदृश पहले ही व्याकरण किया होता। वस्तुतः श्रावकयान और महायान की समकालिक प्रवृत्ति उपलब्ध होती है। न महायान के सदृश उदार और गम्भीर धर्म तार्किकों का गोचर है, जो कि तीर्थिक शास्त्रों में महायान के अनुपलम्भ से विदित होता है। न औरों के द्वारा महायान का व्याख्यान युक्त है। अन्य भाषित होने पर उसमें विश्वास उत्पन्न नहीं हो सकेगा। यदि यह कहा जाय कि किसी अन्य ने सिद्धिपूर्वक अर्थात् अभिसम्बोधिपूर्वक महायान का प्रतिपादन किया है तो महायान का बुद्धवचनत्व सिद्ध ही हो गया। जो बोधिपूर्वक उपदेश करता है वही बुद्ध है। बिना महायान के बुद्धों की उत्पत्ति ही न

३८—औपनिषद अद्वैतवाद का माहायानिक अद्वयवाद से निकट सम्बन्ध है, दे०—नीचे। महायान सूत्रों की भक्ति और बुद्ध विषयक धारणाएँ यदि गीता से सर्वथा अप्रभावित थीं तो आश्चर्यजनक होगा। महायान और ईसाईधर्म के सम्बन्ध पर, दे०—ऊपर। ईरानी प्रभाव की सम्भावना भी तिरस्कार्य नहीं है।

३९—श्रीमती राइज़ डेविड्स प्रभृति कुछ विद्वानों ने हीनयान के वाङ्मय की प्राचीनता एवं मौलिकता पर सन्देह प्रकट किया है।

होगी, अतएव श्रावकयान भी न होगा। सब निर्विकल्प ज्ञान का आश्रय होने के कारण महायान क्लेशों का प्रतिपक्ष है, अतः बुद्धवचन है।"[४०]

कहीं श्रावकयान ही महायान न हो, इस शंका के निराकरण में, असंग का कहना है, 'वैकल्यतो विरोधादनुपायत्वात्तथाप्यनुपदेशात्। न श्रावकयानमिदं भवति महायानधर्माख्यम् ॥' (वहीं १.९) श्रावकयान में केवल अपने वैराग्य और मुक्ति का उपदेश है, उसमें परार्थ का उपदेश है ही नहीं। अतः श्रावकयान से बुद्धत्व कभी प्राप्त नहीं हो सकता। वस्तुतः जैसा ऊपर कहा जा चुका है महायान और श्रावकयान में पाँच प्रकार के विरोध है।

महायान के बुद्धवचन होने में एक शंका यह प्रकट की गयी है—'बुद्धवचनस्येदं लक्षणं यत्सूत्रेऽवतरति विनये सन्दृश्यते धर्मतां च न विलोमयति। न चैवं महायानं..." (वही। पृ० ४–५) इसके निवारण के लिए असंग की उक्ति है—'स्वकेऽवतारात्स्वस्यैव विनये दर्शनादपि। औदार्यादपि गाम्भीर्यादविरुद्धैव धर्मता।' (वही, १.११.)।

महायान के अपने सूत्र हैं तथा धर्मता की वास्तविक अनुकूलता उसी में है। हीनयान में भी अनेक सम्प्रदाय हैं, तथा उनमें ग्रन्थ प्रामाण्य पर ऐकमत्य नहीं है।[४१] स्वयं हीनयान के द्वारा स्वीकृत आगमों से यह ज्ञात होता है कि भगवान् बुद्ध ने सम्बोधि के अनन्तर विनेय जनता में अधिकार भेद देखा तथा 'आशयानुशय' के अनुसार धर्म की देशना की। उन्होंने स्वोपलब्ध धर्म को अत्यन्त गम्भीर एवं दुर्बोध बताया और यह शंका प्रकट की कि साधारण जनता उसे न समझ पायेगी।[४२] इससे महायान का यह मत समर्थित होता है कि तथागत ने सबको एक ही धर्म की शिक्षा नहीं दी[४३]। गम्भीरतम

४०–सूत्रालंकार, पृ० ३।

४१–तु०—बोधिचर्यावतारपञ्जिका, पृ० ४३४–३५।

४२–द्र०—ऊपर, विनय ना०, महावग्ग, पृ० ६, मज्झिम (ना०), जि० २, पृ० ३३३, संयुत्त, १.६ आयाचन सुत्त।

४३–तु०—बोधिचित्तविवरण—"देशना लोकनाथानां सत्त्वाशयवशानुगाः।
भिद्यन्ते बहुधा लोका उपायैर्बहुभिः पुनः ॥
गम्भीरोत्तानभेदेन क्वचिच्चोभयलक्षणा।
भिन्ना हि देशनाऽभिन्ना शून्यताद्वयलक्षणां।"
(उद्धृत, सर्वदर्शनसंग्रह, पृ० १८, भामती, ब्रह्मसूत्र, २.२.१८ पर) तु०—श्री शंकराचार्य, शारीरकभाष्य (निर्णयसागर) पृ० ४५०।

धर्म की देशना उन्होंने विशिष्ट अधिकारियों को ही दी। यही महायान का वास्तविक उद्गम है।

कुछ आधुनिक विद्वानों ने भी इस प्रकार के मत का समर्थन किया है। जापानी विद्वान् श्री किमुरा के अनुसार भगवान् बुद्ध की देशना द्विविध थी—(१) प्रत्यग्दर्शनात्मक (introspective) अथवा तात्त्विक (ontological), (२) प्रतिभासविषयक (phenomeological) अथवा सांव्यवहारिक महायान पहले प्रकार की देशना का विकसित रूप है।[४४]

वस्तुतः महायान को केवल मूल बुद्धशासन अथवा उसका विशुद्ध विकास या विकृत रूप मात्र मानना युक्तियुक्त नहीं प्रतीत होता। न तो हीनयान के सब शास्त्रों और सिद्धान्तों को मूल बुद्ध-शासन समझा जा सकता है, न महायान के। मूल बुद्धोपदेश अवश्य ही शिष्यों के अधिकार-भेद से विविध था और उसमें हीनयान तथा महायान दोनों के बीज विद्यमान होते हुए भी इनका स्पष्ट भेद नहीं किया गया था। काल-क्रम से मूल देशना परवर्ती व्याख्या-कान्तार तथा प्राक्षिप्त-सन्दर्भ-राशि में अधिकाधिक दुर्लभ हो गयी। हीनयान के १८ सम्प्रदायों में बुद्धोपदेश को भिक्षुओं के समान विहारवासी बना दिया गया। विशाल विश्व के जीवन और ज्ञान-विज्ञान का त्याग कर भिक्षु को अपने विहार के सीमित संसार में आत्म-कल्याण साधना चाहिए। इसके लिए कौन-से 'धर्म' हेय हैं, कौन-से उपादेय, इसकी चर्चा विपुलाकार अभिधर्म पिटकों में की गयी। ये पिटक और इनकी व्याख्याएँ बुद्धवचन न होते हुए भी कल्पना-प्राचुर्य तथा आग्रह के द्वारा इनका भगवान् बुद्ध से सम्बन्ध जोड़ा गया।[४५] यह स्पष्ट है कि 'हीनयान' को मूल बुद्ध-शासन न मानकर उसका एक साथ ही विपरिवर्तित अथच विकसित रूप मानना चाहिए। यही दशा महायान की है। महायान भी वस्तुतः 'संकीर्ण' अथवा 'मिश्रित' है। उसके कुछ अंश हीनयान से विकसित हुए हैं, कुछ मूल शासन के पुनर्व्याख्यान के द्वारा प्रतिष्ठित हुए हैं, तथा कुछ अनेक भौगोलिक, सांस्कृतिक एवं मतान्तरीय प्रभाव से उत्पादित हैं। यह सत्य है कि महायान सूत्र हीनयान के आगमों से परवर्ती हैं और यह भी सत्य है कि हीनयान में स्वीकृत सूत्रों से ही मूल-शासन का पता चल सकता है, किन्तु तो भी यह मानना होगा कि अंशतः महायान मूल-शासन का पुनरु-

४४–किमुर, पूर्वोद्धृत, पृ० ५४ प्रभृति।

४५–तु०—अट्ठसालिनी, पृ० १२–१३, अभिधर्मकोशव्याख्या, (सं० एन० एन० लॉ०) पृ० १२–१३।

द्वार है। साथ ही, महायान का बहुत-सा भाग प्रचार-सौविध्य एवं नाना 'बाह्य' प्रभावों का परिणाम है।

शाक्य मुनि ने सम्बोधि अथवा प्रज्ञा के द्वारा ही बुद्ध-पद का लाभ किया, एवं करुणा से प्रेरित होकर सम्बोधि में अधिगत 'धर्म' का विनेय भेद के अनुसार जनता में विविध उपदेश किया जिसका बौद्ध आगमों में केवल एकदेशी और प्रक्षेपभूयिष्ठ संग्रह प्राप्त होता है[४६]। इन संगृहीत उपदेशों में अधिकांश भिक्षुओं के जीवन और संगठन से संबंध रखते हैं। भिक्षुओं के लिए आवश्यक था कि वे संसार के दुःख, अनित्यता, एवं अनात्मता का बार-बार स्मरण कर वैराग्य का साधन एवं शान्ति की उपलब्धि करें। इसी दृष्टि से प्रथम संगीति में स्थविरों ने बुद्धवचन का संग्रह तथा उत्तर काल में 'समुपबृंहण' किया है। बुद्ध-देशना के इस पक्ष का दार्शनिक मर्म अश्वजित ने शारिपुत्र से प्रकट किया था। एक ओर हेतु-प्रभव धर्म है, दूसरी ओर उनका निरोध है। बुद्धोपदिष्ट मार्ग एक से दूसरे तक ले जाता है। नाम-रूप स्कन्ध, धातु, आयतन, आदि विभाजनपूर्वक धर्मों के लक्षण एवं उनके हेतुफल-सम्बन्ध के विश्लेषण की अवतारणा 'सूत्रों' में तथा परवर्ती विश्रान्ति अभिधर्म में हुई, जो कि हीनयान का चरम उत्कर्ष है। किन्तु, यह भी निस्सन्देह है कि तथागत ने सम्बोधि में अधिगत धर्म को अतर्क्य, दुर्बोध एवं गंभीर कहा। इस धर्म को निर्वाण एवं प्रतीत्यसमुत्पाद, अथवा केवल प्रतीत्यसमुत्पाद या मध्यम धर्म की उन्होंने आख्या दी। निर्वाण को औपनिषद ब्रह्म के समान ज्योतिर्मय चित्त की अनिर्वचनीय, अद्वैत एवं नित्य और अनन्त स्थिति संकेतित किया।[४७] प्रतीत्यसमुत्पाद में सब धर्मों के पारतन्त्र्य का संकेत है। व्यावहारिक स्तर पर यह कार्य-कारण नियम का द्योतक होते हुए भी वस्तुतः उनकी स्वतन्त्र सत्ता के अभाव का इंगित है। यदि निर्वाण ब्रह्मावस्था से तुलनीय है तो प्रतीत्यसमुत्पाद माया से। न संसार का स्वरूप और न निर्वाण का स्वरूप अस्ति-नास्ति आदि कोटियों में संग्राह्य है। यही मध्यम धर्म अथवा मध्यमा प्रतिपद है। परमार्थ की अतर्क्यता एवं अनिर्वचनीयता को तथागत ने मौन के द्वारा भी सूचित किया। शिंशपापर्णों की उपमा[४८] तथा धर्मोपदेश के प्रति बुद्ध का प्रारम्भिक संकोच भी इसी दिशा में संकेत करते हैं। यह स्पष्ट है कि बुद्ध के निजी अनुभव एवं अभिमत में चित्तकी एक विलक्षण अद्वैत अवस्था का, परमार्थ तत्त्व

४६–द्र०––ऑरिजिन्स ऑव् बुद्धिज्म, जहाँ इसका विस्तृत प्रतिपादन है।

४७–दे०––वही, पृ० ४९४, पा० टि० २४४।

४८–संयुत्त, सच्च०, सुत्त, ३१।

की चतुष्कोटिविनिर्मुक्तता का, तथा सब पदार्थों की स्वातन्त्र्य-शून्यता का समर्थन उपलब्ध होता है। अतएव यह मानना होगा कि हीनयान के अतिरिक्त भी महायान का दार्शनिक मूल यथार्थतः बुद्ध देशना में ही है। व्यावहारिक दृष्टि से वासनाक्षय के लिए धर्म-प्रविचय का उपदेश देते हुए[४९] तथागत ने स्वानुभूत अनिर्वचनीय और अद्वय परमार्थ दर्शन की भी सूचना दी। उनकी देशना के ये ही दोनों पक्ष हीनयान और महायान के रूप में क्रमशः विकसित हुए।

बुद्ध के जीवनकाल में मगध, कोशल आदि जनपदों में विकल्पजालग्रस्त ब्राह्मण और श्रमण एक ओर स्वर्ग के लिए यज्ञादि कर्मकाण्ड का तथा दूसरी ओर संसार से मुक्ति के लिए वैराग्य और तप का उपदेश करते थे। कुछ ब्रह्मवादियों को स्वरूपबोध की अनिर्वचनीय एवं अद्वैत स्थिति का आभास था, किन्तु ये अत्यन्त विरल थे। मथुरा एवं पश्चिम की ओर 'भगवान्', 'अवतार', एवं 'भक्ति' की धारणाएँ उदित हो रही थीं, किन्तु इनका स्पष्ट आविर्भाव देशतः और कालतः तथागत के आसन्न नहीं है। ऐसी स्थिति में तथागत ने गृहस्थों के लिए यज्ञादि के स्थान पर उनका सदाचार रूप आध्यात्मिक संस्करण प्रस्तुत किया।[५०] किन्तु गृहस्थों के लिए दिये गये तथागत के उपदेशों का भिक्षुओं के द्वारा संगृहीत 'वाणी' में अधिक स्थान नहीं है।

यह स्मरणीय है कि बुद्ध ने स्वयं गृहस्थ जीवन व्यतीत किया था और जैसा पहले प्रतिपादित किया जा चुका है, यह नहीं माना जा सकता कि उनके जीवन का यह भाग उनकी आध्यात्मिक साधना के बहिर्भूत है[५१]। शैशव से ही वे ध्यान के अभ्यास से परिचित थे एवं अभिनिष्क्रमण के पहले उन्होंने विविध आध्यात्मिक सम्पदा का क्रमिक

४९–तु०—विधुशेखर भट्टाचार्य, बेसिक कन्सेप्शन्स ऑव् बुद्धिज़म; तु०—बोधिचर्यावतारपञ्जिका, पृ० ४४०–४१ जिसके अनुसार हीनयान से वास्तविक वासनाक्षय सम्भव नहीं है। तु०—गोपीनाथ कविराज, 'बौद्धधर्म दर्शन' की भूमिका, पृ० १४–१५।

५०–उपासक-धर्म पर तु०—दत्त, अर्ली मोनेस्टिक बुधिज़म, जि० २, पृ० २०७ प्रभृति, भंडारकर, अशोक, पृ० १२२ प्रभृति, राइज़ डेविड्स, बधिज़्म, पृ० १३७, प्रभृति।

५१–दे०—ऊपर।

अर्जन किया होगा[५२]। इस दृष्टि से सद्धर्म में गार्हस्थ्य का स्थान हीनयान का अपरिचित नहीं है, किन्तु महायान में ही इस तत्त्व को उचित स्थान दिया गया है। संन्यास के प्रति नातिस्पृहयालु जनता में धर्म-प्रचार के प्रसंग में भगवान् बुद्ध के जीवन पर मनन से महायान का यह पक्ष विकसित हुआ मानना तर्कानुकूल प्रतीत होता है।

बुद्ध स्वयं संन्यासी थे एवं संन्यास की दीक्षा देते थे, किन्तु प्रचलित 'श्रामण्य' के विरोध में उन्होंने भिक्षुओं के लिए आवासिक जीवन एवं नाना सुविधाओं की अनुमति दी। चातुर्दिश संघ के रूप में उन्होंने एक विशुद्ध आध्यात्मिक समाज की कल्पना की। अपने दृष्टान्त और उपदेश से उन्होंने धर्म को 'सर्व-सत्त्व-हित' प्रतिपाद्य बताया। फलतः तथागत की संन्यास-दीक्षा का वास्तविक अभिप्राय केवल अपना अध्यात्मिक 'स्वार्थ' साधन नहीं माना जा सकता। आध्यात्मिक 'पदार्थ' के इस तत्त्व का समुचित बोध ही महायान की प्रधान प्रेरणा है। सम्बोधि के अनन्तर ब्रह्मायाचन के वृत्तान्त की समुचित व्याख्या इसी दिशा में संकेत करती है। सम्बोधि अथवा प्रज्ञा के शिखर पर आरूढ़ होकर लोक की ओर दृष्टिपात करने से भगवान् बुद्ध ने करुणा की प्रेरणा का अनुभव किया तथा विश्व-कल्याण के लिए देशना का कार्य-भार स्वीकार किया। प्रज्ञा और करुणा ही महायान की अधिष्ठात्री शक्तियाँ हैं।

इस विवरण से यह प्रकट होगा कि तथागत की देशना का पारमार्थिक अंश आगमों अथवा निकायों के कतिपय स्थलों में संकेतित है। हीनयान में ये स्थल और उनका अभिप्राय उपेक्षित रहे, किन्तु इनके पुनरुद्धार के द्वारा ही महायान ने प्रतिष्ठालाभ किया। बुद्धिजगत् में विचारों की एक स्वारसिक विकासोन्मुख गति होती है[५३]। लक्षण और प्रमाण की खोज और परिष्कार, तथा शंकाओं की उद्भावना एवं परिहार

५२—इस दृष्टि की विस्तृत अभिव्यक्ति महावस्तु तथा निदानकथा में द्रष्टव्य है—जातकट्ठकथा, जि० १, पृ० १५ प्र०, तु०—जोन्स (अनु०) महावस्तु, जि० १, भूमिका, पृ० १४।

५३—इसका हेगेल कृत प्रतिपादन सुविदित है। यह सही है कि हेगेलीय द्वन्द्वात्मकता विशुद्ध न्याय-भूमि में कथंचित् मान्य होते हुए भी यथार्थता की भूमि में विचारों की उत्पत्ति का कालिक-क्रम निरपवाद रूप से द्योतित नहीं करती। हेगेल के 'दर्शन के इतिहास' में 'वैचारिक द्वन्द्वात्मकता' की इस ऐतिहासिक सीमा की अवहेलना से अनेकत्र भ्रान्ति हो गयी है। तु०—क्रोचे, वट इज लिविंग एण्ड वट इज डेड इन हेगेल्स फिलॉसोफी; मेक्टेगर्ट, स्टडीज इन हेगेलियन डायलेक्टिक।

के द्वारा दार्शनिक सिद्धान्तों का नैसर्गिक विकास होता है। इसी प्रवृत्ति ने प्राचीन बुद्ध-शासन के अन्तराल से एक ओर आभिधर्मिक दर्शन को जन्म दिया, दूसरी ओर माध्यमिक दर्शन को।[५४] एक ओर धर्म-प्रविचय की प्रवृत्ति सर्वास्तित्व के सिद्धान्त में पर्यवसित हुई, दूसरी ओर मध्यमा प्रतिपद् एवं नैरात्म्य के सिद्धान्त व्यापक रूप से गृहीत होकर सर्वशून्यत्व के सिद्धान्त में लीन हो गये। वैभाषिकों का अत्यन्त 'यथार्थ-वाद' तथा माध्यमिकों का शून्यवाद, ये ही हीनयान एवं महायान के दार्शनिक शीर्ष-बिन्दु हैं। यह उल्लेखनीय हैं कि हीनयान की दृष्टि में ही महायान का बीज सन्निहित है। सूक्ष्म तार्किक आलोचन से यह मानना अनिवार्य है कि हीनयान के द्वारा स्वीकृत 'प्रतीत्यसमुत्पाद' एवं 'नैरात्म्य' सर्वथा संगत नहीं हैं प्रत्युत उनका विचार-विशरारु कलेवर अगत्या माहायानिक रूपान्तर धारण करता है। हीनयान में प्रतीत्यसमुत्पाद पृथक्-पृथक् सत्तावान् धर्मों का कार्यकारण भाव के द्वारा पारतन्त्र्य द्योतित करता है। किन्तु यदि धर्म पृथक् अस्तित्वशाली हैं तो उनके पारतन्त्र्य की कथा अपार्थक है, और यदि परतन्त्र होकर ही उनका भाव सिद्ध होता हैं तो उन्हें परमार्थतः स्वभाव-शून्य मानना चाहिए। इसी प्रकार हीनयान में नैरात्म्य केवल पुद्गल-नैरात्म्य सूचित करता है। किन्तु यदि देह और चित्त में आत्मा की प्रतीति भ्रान्त है, तो देह और चित्त के घटकभूत धर्मों में पृथक्-पृथक् स्वभाव या सत्त्व देखना भी भ्रान्त है। इस प्रकार तर्क की अनिवार्य प्रेरणा को ही महायान का एक उद्भावक-हेतु मानना चाहिए।

बौद्धिक और वैचारिक जगत् में परिणति की ओर गतिस्वारस्य के अतिरिक्त आध्यात्मिक अनुभूति के क्षेत्र में भी परम्परा के क्रम से अभिवृद्धि की सम्भावना अस्वीकार नहीं की जा सकती[५५]। यह सच है कि मानव-परम्पराओं में विकास अथवा ह्रास

५४-तु०—मूर्ति, सेन्ट्रल फिलोसोफी ऑव बुद्धिज्म, पृ० ४०-४१, ५६-५७।

५५-तु०—सद्धर्मपुण्डरीक, पृ० ३२, ५३ प्र०। 'धर्म' अथवा आध्यात्मिक सत्य के विषय में प्रायः तीन मत उपलब्ध होते हैं—(१) एकांशवादी, जिसके अनुसार एक विशिष्ट धार्मिक मतवाद सत्य है, शेष मिथ्या, (२) समन्वयवादी जिसके अनुसार सब धर्म बराबर सत्य हैं और उनमें केवल नाम तथा आकार का भेद ही प्रधान है, (३) वैकासिक जिसके अनुसार नाना धर्मों अथवा मतों में एक सत्य का तारतम्य है। तु०—प्रत्यभिज्ञादर्शन, जहाँ विभिन्न दार्शनिक प्रस्थानों को विभिन्न तत्त्वों के अनुभव के साथ सम्बद्ध किया गया है।

म० म० गोपीनाथ कविराज का भारतीय दर्शन के 'समन्वयात्मक तारतम्य" का मत उल्लेखनीय है।

स्वभाव-नियत नहीं है, किन्तु वे सम्भाव्य सदैव रहते हैं। आर्य-मार्ग पर प्रतिष्ठित साधक पहले जिन भूमियों में पहुँच कर सन्तुष्ट हो जाते थे, कालान्तर में उनसे सन्तोष न होकर उच्चतर भूमियों के लिए प्रयास स्वाभाविक था। श्रावक गण अर्हत्त्व से सन्तुष्ट होते हैं, प्रत्येकबुद्ध केवल अपने बुद्धत्व से, बोधिसत्त्व सबको बुद्धत्व में प्रतिष्ठित करना चाहते हैं, अर्हत्त्व में क्लेश-क्षय-पूर्वक दुःख क्षय अवश्य हो जाता है, किन्तु सब अज्ञान नहीं हटता। विश्व-कल्याण के लिए सब अज्ञान हटना आवश्यक है। तथागत ने स्वयं सर्वज्ञता प्राप्त की थी। उनका प्रदर्शित आदर्श ही अनुकरणीय है। अतः माहायानिक बोधिसत्त्व का लक्ष्य उत्कृष्टतर है एवं हीनयान तथा महायान में आध्यात्मिक अनुभव की दृष्टि से एक तारतम्य स्वीकार करना होगा जो कि परम्पराक्रमेण विकास सूचित करता है।

महायान का विकास-क्रम—महायान की प्रधान प्रेरणा बुद्ध की जीवनी थी। बुद्धत्व की प्राप्ति के लिए बोधिसत्त्व के द्वारा आश्रित 'यान' ही वास्तविक महायान है। महायानिक साधक ठीक उसी मार्ग और लक्ष्य का पथिक है जिसके शाक्यमुनि स्वयं थे। पहले कहा जा चुका है कि मूल विनय के सम्पादन में तथागत की एक प्राचीन जीवनी भी संगृहीत थी जो सम्भवतः उनके बोधिसत्त्व-काल का विवरण भी प्रस्तुत करती थी[५६]। महासांघिकों से विरोध होने पर स्थविरों ने इस जीवनी के कुछ अंश को विशेषतः उसके पूर्वभाग को, स्थानान्तरित एवं संक्षिप्त कर दिया प्रतीत होता है।[५७] दूसरी ओर महासांघिकों में इस परम्परा ने और पुष्टि पायी। स्थविर, बोधिसत्त्व एवं बुद्ध को महापुरुष, किन्तु मनुष्यमात्र मानते थे, जिनके उपदेशों का अनुसरण उपयोगी है, जीवन का अनुकरण अथवा भक्ति की भावना कम। महासांघिकों में बुद्ध को लोकोत्तर अवधारित किया गया तथा बोधिसत्त्व की भी अलौकिकता स्थापित की गयी। बुद्ध के सर्वज्ञत्व, करुणा आदि गुण अर्हतों में नहीं पाये जाते प्रत्युत उनमें अनेक दोष सम्भाव्य रहते हैं। अतएव बुद्ध और अर्हत् के पूर्व-जीवन और साधन में भी भेद होना चाहिए। बुद्धत्व पर जितना ही मनन किया गया उतनी ही बुद्ध और बोधिसत्त्व की अलौकिकता अधिकाधिक प्रकट हुई। बुद्ध की रूपकाय अथवा भौतिक देह को अनास्रव अथवा विशुद्ध मानना होगा। अतः उनका जन्म भी साधारण जन्म से भिन्न और अलौकिक होना चाहिए। अन्ततोगत्वा महासांघिकों ने बुद्ध के लौकिक जीवन को उनकी मायिक

५६—दे०—ऊपर।

५७—द्र०—फ्राउवाल्नर, पूर्वोद्धृत, पृ० ४६ प्र०।

लीलामात्र माना।[५८] बुद्ध वस्तुतः तुषितलोक में ही नित्य-प्रतिष्ठित हैं।[५९] केवल उनके निर्माण काय ने ही लोक में प्रकट होकर लोकानुग्रह किया।

महासांघिकों का बुद्ध और बोधिसत्त्व की अलौकिकता का यह सिद्धान्त उनकी ओर भक्ति-भाव से अविनाभूत है तथा महायान से साक्षात् सम्बन्ध रखता है। माहायानिक त्रिकायवाद एवं भक्ति का मूल माहासांघिक सिद्धान्तों में ही खोजना चाहिए। प्रकारान्तर से भी महासांघिकों में महायान की अवतारणा देखी जा सकती है। अनास्रव-रूप-काय की कल्पना को ही बुद्ध-प्रतिमा के आविर्भाव मे प्रधान कारण मानना चाहिए। प्रचलित अंग-विद्या में चक्रवर्ती महापुरुषों के लक्षण संगृहीत किये गये थे। इस अंग-विद्या का उद्गम और प्रारम्भिक विकास सम्भवतः ईसापूर्व पाँचवीं से तीसरी शताब्दी के अन्तराल में सम्पन्न हुआ जब शाखामनी साम्राज्य के प्रसार काल में 'बावेरू' से भारत का सम्पर्क बढा तथा ब्राह्मण-साहित्य में आभासित 'चक्रवर्ती सम्राट्' का आदर्श समकालीन राजनीतिक घटनाओं, अर्थशास्त्र, एवं महाभारत के प्रभाव से जन-चेतना में विरूढ़ हुआ।[६०] चक्रवर्ती के ३२ लक्षण और ८० अनुलक्षण परिगणित किये गये।[६१] इसी काल में बुद्ध को धार्मिक चक्रवर्ती के रूप में कल्पित किया गया। महापरिनिर्वाण सूत्र के सम्पादन और समुपबृंहण में इस धारणा का प्रभाव देखा जा सकता है।[६२] अशोक की धर्म-विजय के पीछे भी 'चक्रवर्तिसिंहनाद-सूत्र' आदि आगमिक सन्दर्भों का प्रभाव संलक्ष्य है।[६३] फलतः चक्रवर्ती के लक्षणों के अनुसार भगवान् बुद्ध की रूप-काय अथवा भौतिक

५८—उदा० द्र०—बारो, ले संक्त, पृ० ५७ प्र०।

५९—डिबेट्स कमेन्टरी, पृ० २११।

६०—अंगविद्या का प्राचीन बौद्ध और जैन साहित्य में अनेकत्र तिरस्कारपूर्वक उल्लेख मिलता है, द्र०—अंगविज्जा, भूमिका, पृ० ३६, जैन अंगविज्जा में इस शास्त्र का मूल 'दिट्ठिवाय' में कहा गया है (वही, पृ० १) जो श्रद्धेय नहीं प्रतीत होता। तु०—सुत्तनिपात, नालक सुत्त, जहाँ 'असित ऋषि' को 'लक्खणमन्त-पारगू' कहा गया है।

६१—चक्रवर्ती पर दे०—दीघनिकाय के चक्कवत्तिसुत्त तथा लक्खणसुत्त, जिनके अनुसार बत्तीस लक्षण सम्पन्न महापुरुष या चक्रवर्ती धर्मराज होता है, या सम्यक् सम्बुद्ध (दीघ (ना०), जि० ३, पृ० ११०), तु०—भंडारकर अशोक, पृ० २३३।

६२—तु०—प्रिलुस्कि, जे० ए० १९१८, जि० ११, पृ० ५०८ आदि।

६३—भंडारकर, अशोक, पृ० २३३ प्र०।

देह की भी कल्पना की गयी। हीनयान के स्थविर-सम्प्रदायों के लिए भी 'बुद्धानुस्मृति' एक महत्त्वपूर्ण आध्यात्मिक साधन था।[६४] जातक कथाओं के प्रचार, पूर्व-बुद्ध एवं बोधिसत्त्वों की कल्पना तथा लोकोत्तरवाद ने बुद्ध-विषयक अनुस्मृति एवं भक्ति को बढ़ावा दिया। दीघनिकाय में छः बुद्धों का उल्लेख प्राप्त होता है, जिसमें बुद्ध की जीवनी एक अनिवार्य धर्मता का अंग बन गयी, तथा भावी बुद्ध 'मैत्रेय' का भी उल्लेख उपलब्ध होता है।[६५] अशोक ने कोणागमन नाम के बुद्ध का उल्लेख किया है।[६६] यह स्पष्ट है कि अशोक के पूर्व ही बौद्धों में एक प्रकार की तीर्थ-यात्रा का महत्त्व प्रचलित हो गया था। जातक-कथाएँ चार आगमों अथवा निकायों में भी पायी जाती हैं तथा कुछ सम्प्रदायों के विनय मे भी इनका विशेष महत्त्व था।[६७] तथागत की तीन विद्याओं' में 'पूर्व निवासानुस्मृति' अत्यन्त प्राचीन काल से परिगणित थी।[६८] यही जातक-कथाओं का वास्तविक मूल है। अवश्य ही इस प्रसंग में प्रचलित लोक कथाओं का सहारा लिया गया और अनेक जातक-कथाओं का परिनिर्वाण के दो सौ वर्षो के अन्दर विनय और चार आगमों मे समावेश हुआ। जातकों का विकास बोधिसत्त्व की महिमा की वृद्धि प्रदर्शित करता है। बोधिसत्त्व के द्वारा नाना पारमिताओं के साधन की कथाएँ भी बाहुल्यप्राप्त हुई जैसा चर्यापिटक एवं महावस्तु से उदाहृत होता है। ईसा पूर्व दूसरी शताब्दी में जातक और बुद्ध जीवनी को प्रस्तर कला ने मूर्त रूप देना आरम्भ किया। किन्तु इस कला में बुद्ध की रूप-काय का प्रदर्शन न कर उसे केवल सांकेतिक रूप से ही आलिखित किया जाता था। इसका कारण कदाचित् यह धारणा थी कि बुद्ध की रूप-काय सास्रव एवं मर्त्य है जबकि उनका बुद्धत्व अमूर्त तथा बुद्धिमात्रगम्य है। किन्तु पक्षान्तर में अंगविद्या के अनुसार बुद्ध का कायिक रूप निर्धारित हो चुकने पर श्रद्धाभक्ति पूर्वक अनुस्मृति के प्रसंग में उनकी मानसिक प्रतिमा का निर्माण और पूजन सिद्ध ही था। महासांघिकों ने रूप की अनास्रवता की सम्भावना दिखलाकर इस

६४—बुद्धानुस्मृति पर दे०—बुद्धघोस, विसुद्धिमग्गो, पृ० १३३ प्र०।

६५—दीघ (ना०), जि० २, पृ० ४ प्र०, वही, जि० ३, पृ० ६०।

६६—द्र०—निगाली सागर स्तम्भ अभिलेख।

६७—जातकों पर द्र०—राइज़ डेविड्स, बुधिस्ट इण्डिया, प्र० १८९ प्र०, विन्टरनित्स, जि० २, पृ० ११५ प्र०, गाइगेर, पालि लिटरेचर एण्ड लैंग्वेज, पृ० २१—२२।

६८—उदा० मज्झिम (ना०), जि० १, पृ० ३०, जातकट्ठकथा, जि० १, पृ० ६६, बुद्धचरित, १४, २—६।

मानसिक प्रतिमा की भौतिक अभिव्यक्ति का मार्ग निष्कण्टक कर दिया। वस्तुत: निर्माण-काय एवं निर्माण-चित्त के अभेद के कारण यह कहा जा सकता है कि जो बुद्ध की देह लोक-लोचन-समक्ष भौतिक प्रतीत होती है वह वास्तव मे निर्माण-चित्त और प्रभास्वर विमल सत्त्व ही है। इसके अतिरिक्त बुद्ध की लोकोत्तरता एवं दिव्यता स्वयं देवान्तरवत् उनके प्रतिमा-निर्माण की माँग करती है। मथुरा में यक्ष-प्रतिमाएँ तथा गन्धार में 'अपोलो' की प्रतिमाएँ इस मूर्त-रूप-विधान में सहायक दृष्टान्त के रूप में पहले से ही विद्यमान थीं।[६९]

चित्त की स्वाभाविक प्रभास्वरता एवं विमलता प्राचीन सूत्रों मे सकेतित है। महासांघिकों ने इस तत्त्व को स्वीकार कर उद्घोषित किया तथा यही माहायानिक विज्ञानवाद का बीज है। दूसरी ओर कुछ महासांघिक सम्प्रदायों ने सब लौकिक धर्मों को प्रज्ञप्तिमात्र बताकर मांहायानिक मायावाद एव शून्यवाद की भूमिका प्ररतुत की। महासांघिकों की वेतुल्यक शाखा को तो बुद्धघोष ने महाशून्यवादी बताया है।[७०] कुछ अन्य हीनयानी सम्प्रदायों ने भी महायान के विकास में योगदान किया। इस प्रसंग में सर्वास्तिवादी और धर्मगुप्त सम्प्रदाय विशेष रूप से उल्लेखनीय है।[७१]

हरिवर्मा के सत्यसिद्धि सम्प्रदाय को अर्ध-महायानिक तथा हीनयान और महायान के बीच का संक्रम कहा गया है।[७२] सत्यसिद्धि शास्त्र स्वयं महायान-सूत्रों से परवर्ती है, यह सम्भव है कि सम्प्रदाय के मूल-भूत ग्रन्थ प्राचीनतर रहे हैं।[७३]

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि महायान के विकास में निम्नोक्त कारणों को उत्तरदायी ठहराना चाहिए—बुद्ध देशना के पारमार्थिक अंश एवं बुद्ध-जीवनी पर मनन और ध्यान; दार्शनिक विचार एवं आध्यात्मिक अनुभव की सहज वैकासिक गति, अनेक हीनयानी सम्प्रदायों के सिद्धान्त और साहित्य, विशेषत: महासांघिकों के; प्रचार

६९—बुद्ध-प्रतिमा पर द्र०—कुमारस्वामी, ए फिगर ऑव् स्पीच ऑर फिगर ऑव थॉट; पक्षान्तर में द्र०—फूशेर, लार ग्रेकोबुद्धीक दु गन्धार, ग्रूनवेदेल, बुधिस्ट आर्ट इन इण्डिया।

७०—द्र०—डिबेट्स कमेन्टरी, पृ० २०६ प्र०।

७१—तु०—दत्त, महायान, पृ० २६ प्र०, बारो, ले सेक्त, पृ० २९६ प्र०।

७२—बारो, पूर्वोद्धृत, १०८१ प्र०, सोगेन, सिस्टम्ज ऑव् बुधिस्ट थॉट, पृ० १७२ प्र०।

७३—तु०—दत्त, पूर्वोद्धृत, पृ० ६५। सत्यसिद्धि सम्प्रदाय पर द्र०—सोगेन, वहीं।

एवं प्रसार के प्रसंग में धर्म को जनाकर्षक और मूर्त रूप देने का प्रयत्न विशेषतः प्रत्यन्तिम जनपदों में। यह संभव है कि महायान के इस उद्गम में ब्राह्मण-धर्म का प्रभाव भी लक्षित करना चाहिए। जिस प्रकार आभिधर्मिक चिन्तन में सांख्य और सम्भवतः वैशेषिक दर्शनों का प्रभाव प्रतीत होता है, वैसे ही महायान पर औपनिषद अनिर्वचनीय ब्रह्मवाद एवं मायावाद का तथा भागवत धर्म के अवतारवाद एवं भक्ति के तत्त्वों का प्रभाव कदाचित् स्वीकार करना चाहिए। कुछ विद्वानों ने वैदेशिक धर्मों का प्रभाव भी सुझाया है। किन्तु वह सम्भाव्य होते हुए भी प्रमाणित नहीं माना जा सकता।[७४]

महायान की उत्पत्ति के देशकाल को निर्धारित करने के लिए पहले यह अवधेय है कि दूसरी संगीति के समय हम वैशाली के 'प्राचीनक' भिक्षुओं को प्राची की प्रशंसा में यह कहते पाते हैं कि इसी भूभाग में तथागत जन्म ग्रहण करते हैं।[७५] विनय में शिथिल और अर्हतों के आलोचक ये भिक्षु महासांघिक नाम से प्रसिद्धि पाकर पहले वैशाली और पाटलिपुत्र मे केन्द्रित थे, पीछे अनेक शाखाओं में विभक्त होकर मुख्य रूप से अन्ध्रापथ में तथा गौण रूप से सुदूर उत्तर पश्चिम में प्रसारित हुए। कथावत्थु के सर्वाधिक पीछे के भाग में महासांघिकों की परिणततम वैतुल्यक शाखा के मत का उल्लेख है, किन्तु महायान का उल्लेख नहीं है। महाशून्यतावादी वैतुल्यक महायान के आसन्नतम है। कथावत्थु का समय शेष पालि त्रिपिटक के साथ प्रथम शताब्दी ईसापूर्व से पहले का मानना चाहिए तथा मोद्गलिपुत्त के द्वारा प्रारम्भ में रचित होने के कारण अशोक के बाद। फलतः वैतुल्यकों को ईसा पूर्व दूसरी शताब्दी में मानना उचित होगा। अन्ध्रक महासांघिकों की एक शाखा पूर्वशैलीय थे। कहा जाता है कि इनके पास प्राकृत-निबद्ध प्रज्ञापारमिता-सूत्र थे।[७६] इस प्राकृतमयी प्रज्ञापारिमिता का इस समय कोई पता नहीं चलता, किन्तु एतद्विषयक उल्लेख महत्त्वहीन नहीं है, विशेषतः यदि हम अष्टसाहस्रिका प्रज्ञा पारमिता की यह उक्ति स्मरण करें कि प्रज्ञापारमिता का उद्भव दक्षिणापथ में होगा, जहाँ से वह पूर्वदिशा को प्राप्त होगी और अन्ततः उत्तर में समृद्धि प्राप्त करेगी।[७७] अष्टसाहस्रिका का लोकरक्ष ने चीनी में १४८ ई० में अनुवाद कर दिया था।[७८] इन सब

७४—दे०—ऊपर।
७५—विनय (ना०) चुल्लवग्ग, पृ० ४२५।
७६—ई० आर० ई० जि० ८, पृ० ३३५।
७७—अष्टसाहस्रिका, पृ० २२५—२६।
७८—दे०—ऊपर।

तथ्यों का निर्गलितार्थ यह प्रतीत होता है कि अन्ध्रदेशीय महासांघिकों की पूर्वशैलीय एवं वैतुल्यक शाखाओं में ईसा पूर्व पहली शताब्दी में महायान का जन्म हुआ। भागवतोक्त भक्ति के जन्म के सदृश महायान के दाक्षिणात्य जन्म के समर्थन में यह स्मरणीय है कि महायान के अधिकांश प्रधान आचार्य दाक्षिणात्य ही थे।[७९] एक बौद्ध अनुश्रुति के अनुसार 'सद्धर्म' के लोपाभिमुख होने पर शातवाहन नाम का दाक्षिणात्य नरेश महायान के वैपुल्य सूत्रों का प्रचार तथा धर्म-रक्षा करेगा।[८०] अन्ध्रापथ से महायान ने मगध की यात्रा की। मगध महासांघिकों का प्राचीन केन्द्र था। पुनश्च अन्ध्र और मगध दोनों ही उस समय बौद्ध तीर्थयात्रा के विशेष प्रदेश थे एवं अन्ध्र से उत्तरगामी मार्ग-पद्धति मगधाभिमुख थी।[८१] मगध से महायान की यात्रा परिचित व्यापार-पद्धति से उत्तरापथ की ओर सम्पन्न हुई। यह स्मरणीय है कि उत्तरापथ से मगध का मार्ग बौद्ध यात्रियों से सुसेवित था क्योंकि सभी समुदायों के भिक्षु एवं श्रद्धालु उपासक भगवान् बुद्ध की लीला-भूमि के दर्शनार्थी रहते थे। उत्तरापथ में उड्डियान एवं बामियान तक लोकोत्तरवादियों के आवास पाये जाते थे। पहली शताब्दी ईसवीय के समाप्त होते-होते महायान सुदूर उत्तर-पश्चिम में भारत की सीमा का अतिक्रमण कर चुका था तथा दूसरी शताब्दी से सुग्ध, पर्थव और खोतनी भिक्षुओं के सहारे महायान मध्य एशिया तथा चीन में प्रसारित हुआ।

यह कहा गया है कि कनिष्ककालीन संगीति में वसुमित्र के साथ ५०० बोधिसत्त्वों का उल्लेख महायानियों की उपस्थिति सूचित करता है।[८२] दूसरी ओर यह भी कहा गया है कि अभिधर्ममहाविभाषा में महायान के सिद्धान्तों का अनुल्लेख यदि गज-निमीलिका नहीं तो अवश्य ही महायान का गन्धार और कश्मीर में तत्कालीन अप्रचार

७९—द्र०—बारो, लेसेक्त, पृ० २९७-९८।

८०—नागार्जुन और शातवाहन पर द्र०—लेवि, जे० ए० १९३६ (जन०-मार्च) पृ० ६१-१२१ तु०—कॉम्प्रिहेन्सिव हिस्टरी, जि० २, पृ० ३७७।

८१—य्वान-च्वाङ् कलिंग से दक्षिण-कोशल और वहाँ से अन्ध्र पहुँचा था, बील, ट्रेवेल्स, जि० ४, पृ० ४१४, ४२०, तु०—रघुवंश, सर्ग ४ में रघु का मार्ग, प्रयाग-प्रशस्ति में समुद्रगुप्त का मार्ग।

८२—द्र०—काम्प्रिहेन्सिव हिस्टरी, पृ० ३७३, इसके विरोध में तु०—तकाकुसु जे० आर० ए० एस० १९०५।

अथवा अल्प-प्रचार सूचित करता है।[८३] इस प्रसंग में यह स्मरणीय है कि महायान का प्रारम्भ न किसी स्वतन्त्र विनय को लेकर हुआ था, न उसके अपने पृथक् आवास थे। इसी परिस्थिति का बहुत पीछे इ-चिंग ने उल्लेख किया है।[८४] महायानसूत्रों में किसी दर्शन अथवा सिद्धान्त का एक स्वतन्त्र शास्त्रीय प्रस्थान के रूप में प्रतिपादन नहीं है, प्रत्युत बुद्ध, बोधिसत्त्व और प्रज्ञा का प्रचलित ढंग से अर्चन-साधन-प्रधान विवरण है। अतएव यह सम्भव है कि कनिष्क के समय में इन सूत्रों के अभिमत का प्रसिद्ध महासांघिक लोकोत्तरवादी अभिमत से वैशिष्ट्य प्राचीन वैभाषिकों ने ठीक-ठीक हृदयंगम न किया हो। पृथक् शास्त्र के रूप में महायान की स्थापना, नागार्जुन, असंग आदि आचार्यों के कार्य से ही सम्पन्न हुई। हीनयानी वसुबन्धु, संघभद्र आदि के ग्रन्थों में महायान के अनुल्लेख के विषय में यह स्मरणीय है कि कोशकार ने अपने को सम्भवतः विभाषा के ही विचार-जगत् में सीमित रखा है और उनके खण्डन-मण्डन-परायण परवर्ती व्याख्याकारों ने कोश की प्रशस्त चहारदीवारी के भीतर ही अपने बौद्धिक अभियान तथा प्रत्यभियान किये हैं।

महायान के इतिहास के इस प्रकार तीन युग निर्धारित किये जा सकते हैं—(१) बीज-काल : तथागत की सम्बोधि से वैतुल्यको तक (२) सूत्र-काल : ई० पू० १ ली शताब्दी से ई० ३ री शताब्दी तक, (३) शास्त्र-काल : नागार्जुन से परवर्ती।

(२) महायान-सूत्र—पूर्वरूप

'अतिरिक्त' पिटक—ऊपर कहा जा चुका है कि महायानियों का यह अभ्युपगम कि उनके सूत्र बुद्धोपदिष्ट हैं, स्वीकार नहीं किया जा सकता। इस प्रसंग में असंग, शान्तिदेव, मञ्जुघोष-हास-वज्र आदि की युक्तियों से[८५] केवल इतना प्रमाणित होता है कि महायान में विस्तारित सिद्धान्तों का सूक्ष्म मूल सम्भवतः प्राचीन सूत्रों में उपलब्ध है तथा हीनयानी सम्प्रदायों के साहित्य के कतिपय अंश महायान साहित्य के पूर्व रूप समझे जा सकते हैं। बुद्धाब्द की पहली शती में सूत्र और विनय ही बुद्धवचन के नाम से प्रसिद्ध थे। इसके अनन्तर परिनिर्वाण से दूसरी और तीसरी शताब्दियों में नाना हीनयानी सम्प्रदायों के विकास के साथ सूत्रपिटक और विनयपिटक के अतिरिक्त

८३—बारो, पूर्व० पृ० २९९-३००।
८४—तकाकुसु, इ-चिंग, पृ० ७, १४-१५।
८५—द्र०—ऊपर, तु०—इ० आर० ई० जि० ८, पृ० ३२५।

अभिधर्मपिटक, 'संयुक्तपिटक', 'बोधिसत्त्वपिटक', एवं 'धारणीपिटक' का अभ्युदय हुआ।[८६] अभिधर्मपिटक वस्तुतः 'अपोक्रिफल' (apocryphal, अप्रामाणिक) होते हुए भी प्रामाणिक माना गया। कुछ सम्प्रदायों में केवल अभिधर्म ही प्रामाणिक समझा गया। कौक्कुटिकों के अनुसार सूत्र और विनय की देशना उपायमात्र है।[८७] सर्वास्तिवादी वैभाषिकों ने स्पष्टतः यह न कहकर व्यवहार में अभिधर्म पर ही अपने विशिष्ट अभिमत आधारित किये, यहाँ तक कि उनके विरोध में सौत्रान्तिकों को पुनः सूत्रों की दुहाई देनी पड़ी। अभिधर्म की प्रामाणिकता सिद्ध करने के लिए स्थविरों को भी तथागत के एक प्रकार से 'गुह्योपदेश' और उसकी अपनी विलक्षण परम्परा की कल्पना करनी पड़ी जैसी कि महायानियों ने अपने साहित्य के विषय में की है।[८८]

महासांघिकों की बहुश्रुतीय शाखा के साहित्य में अभिधर्मपिटक के अतिरिक्त 'बोधिसत्त्वपिटक' एवं 'संयुक्तपिटक' भी संगृहीत थे।[८९] धर्मगुप्तक सम्प्रदाय में त्रिपिटक के अतिरिक्त 'बोधिसत्त्वपिटक' तथा 'धारणीपिटक' अथवा 'मन्त्रपिटक' भी विदित था।[९०] यह स्मरणीय है कि महाव्युत्पत्ति में भी 'बोधिसत्त्वपिटक' का उल्लेख प्राप्त होता है। यह सम्भवतः तन्नामक उस ग्रन्थ का निर्देश करता है जो चीनी त्रिपिटक में उपलब्ध है एवं महायान की महारत्नकूट कोटि का है।[९१] किन्तु महासांघिकों का बोधिसत्त्वपिटक सम्भवतः यह एकमात्र ग्रन्थ न होकर एक सन्दर्भराशि थी। वैतुल्यको 'वैतुल्य' का ही रूपान्तर मानने पर महायान के 'वैपुल्य-सूत्रों' का महासांघिक वैतुल्यकों से साक्षात् सम्बन्ध स्थापित हो जाता है।[९२, ९३]

८६–बारो, ले० सेक्त, पृ० २९६।

८७–वही, पृ० ७९।

८८–द्र०—अट्ठसालिनी, पृ० १२–१५।

८९–बारो, ले सेक्त, पृ० ८१, तु० श्वानच्वांग, ऊपर उद्धृत।

९०–बारो, पूर्व, पृ० १९०, वाटर्स, श्वानच्वांग, ऊपर उद्धृत।

९१–तु०—नन्ज्यो, केटेलोग, स्तम्भ १३, संख्या १२।

९२–तु०—लॉ, डिबेट्स कमेन्टरी, भूमिका, पृ० ६; जे० आर० ए० एस० १९०७।

९३–तु०—शान्ति भिक्षु, महायान, पृ० १०। 'निकायसंग्रह' से पता चलता है कि वैपुल्यवादियों ने वैपुल्यपिटक, अन्धकों ने रत्नकूट, सिद्धार्थकों ने गूढ़ वेस्सन्तर राजगिरिकों ने अंगुलिमालपिटक (? अंगुलिमाल सूत्र, नंज्यो ४३४), पूर्व-शैलियो ने राष्ट्रपालगर्जित (? राष्ट्रपालपरिपृच्छा नन्ज्यो ८७३), की रचना की।"

पूर्वशैलीय तथा अपरशैलीय सम्प्रदायों की प्राकृत प्रज्ञापारमिता का ऊपर उल्लेख किया जा चुका है। आरम्भ में पारमिताओं की सामान्यतः प्रशंसा और उनके साधन की ओर प्रेरणा एक प्रकार के कथा-साहित्य में प्रकाशित हुई। इसी युग में प्रज्ञारूप पारमिता के दार्शनिक प्रतिपादन की आवश्यकता का भी अनुभव हुआ होगा।

द्वादश अंग—पारमिताओं की महिमा सर्वप्रथम 'जातकों' में प्रकट होती थी। जातक पहले सूत्रान्तों से अभिन्न थे। पीछे उनका पृथक् संग्रह और संख्यावृद्धि सम्पन्न हुई।[९४] सर्वास्तिवादियों और महासांघिकों ने सूत्र, गेय, व्याकरण, गाथा, उदान, इति-वृत्तक, अद्‌भुतधर्म, जातक और वैतुल्य नाम के नवाङ्गों के अतिरिक्त अन्य तीन अंगों का आविष्कार किया—निदान, अवदान, और उपदेश।[९५] कुछ विद्वानों को 'वैदल्य' का 'वैपुल्य' से तादात्म्य अभीष्ट है।[९६] निदान साहित्य में पारमिताओं की भावना के द्वारा बोधिसत्त्व की चर्या का उल्लेख विवक्षित होना चाहिए जैसा जातक ठवण्णना की निदानकथा में उदाहृत है, किन्तु वस्तुतः 'निदान' का औपोद्घातिक विवरण के अर्थ में व्यापक प्रयोग उपलब्ध होता है। अवदान (पालि, 'अपदान') से बोधिसत्त्व अथवा विशिष्ट बौद्ध गण के चरित से सम्बन्ध रखनेवाली कथाएँ विवक्षित हैं। इनका एक विशाल साहित्य आविर्भूत हुआ जिसका एक डग हीनयान में है तो दूसरा महायान में। इस प्रसंग में अवदानशतक और दिव्यावदान उल्लेखनीय है। अवदानशतक की रचना सम्भवतः दूसरी शताब्दी ईसवीय में हुई थी।[९७] दिव्यावदान वर्तमान रूप में और भी उत्तरकालीन प्रतीत होता है, किन्तु इसके कुछ अंश विशेष प्राचीन हैं। दिव्यावदान

९४–द्र०—राइज डेविड्स, बुधिस्ट इण्डिया, पृ० १८९ प्र०, विन्टरनित्स, जि० २, पृ० ११५ प्र०, तु०—दत्त, महायान, पृ० ७ प्र०।

९५–द्वादशांग—"सूत्रं गेयं व्याकरणं गाथोदानावदानकम्।
इतिवृत्तकं निदानं वैपुल्यं च सजातकम्।
उपदेशाद्भुतौ धर्मौ द्वादशाङ्गमिदं वचः॥"
(हरिभद्र, आलोक पृ० ३५), तु०—पूसे, कोश, ५–६, पृ० १९४, दत्त, महायान, पृ० ९।

९६–केर्न, मैन्युएल ऑव् बुधिज्म।

९७–तीसरी शताब्दी ई० में अवदानशतक का चीनी अनुवाद हो गया था—नन्जियो, केटलॉग, ३२४।१, दूसरी ओर दीनार का उल्लेख (वैद्य (सं०) अवदानशतक, पृ० २०७) पहली शताब्दी से अर्वाचीनता द्योतित करता है। तु०—विन्टरनित्स, जि० २, पृ० २७९।

का मूल सर्वास्तिवादियों का विनयपिटक है, पर इसमें अनेक स्थलों पर महायान का संकेत है।[९८]

पहले कहा जा चुका है कि मूल-विनय में बुद्ध की जीवनी के अंश संगृहीत थे। महासांघिकों में बुद्ध-जीवनी का महत्त्व विशेष रूप से माना गया। लोकोत्तरवादियों के विनयपिटक का एक अंश महावस्तु के नाम से शेष है।[९९] इसमें बुद्ध की जीवनी का प्राधान्य है तथा इसे 'अर्धमाहायानिक' अथवा हीनयान और महायान के बीच की साहित्यिक कड़ी माना जा सकता है। सर्वास्तिवादी सम्प्रदाय में एक बुद्ध की जीवनी जो 'विद्वानों' में परिगणित थी पीछे विस्तृत और परिवर्तित होकर महायान का प्रसिद्ध वैपुल्य सूत्र 'ललितविस्तर' बन गया।[१००] धर्मगुप्तक सम्प्रदाय में बुद्ध की एक जीवनी "अभिनिष्क्रमण-सूत्र' के नाम से प्रसिद्ध थी। इसका तीसरी शताब्दी ईसवीय में चीनी में अनुवाद सम्पन्न हुआ।[१०१] स्थविरवादियों की जातकट्ठकथावण्णना की 'निदान कथा' भी इस प्रसंग में उल्लेखनीय है। इसका मूल सम्भवतः उस अट्ठकथा की परम्परा में था जो पालि त्रिपिटक के साथ भारत से सिंहल पहुँची।[१०२]

महावस्तु—महावस्तु अपने को मध्यदेशीय महासांघिक लोकोत्तरवादियों का विनयपिटक घोषित करता है।[१०३] इस विशालकाय ग्रन्थ के तीन भाग हैं। पहले में दीपंकर आदि नाना अतीत बुद्धों के समय में बोधिसत्त्व की चर्या का वर्णन है। दूसरे में तुषित लोक में बोधिसत्त्व के जन्म-ग्रहण से प्रारम्भ कर सम्बोधि-लाभ तक का विवरण

९८–एक ओर शार्दूलकर्णावदान का चीनी अनुवाद ई० २६५ में सम्पन्न हो गया था, दूसरी ओर दिव्यावदान में कुमारलात की 'कल्पनामण्डितिका' का प्रचुर उपयोग है—तु०—विन्टरनित्स, जि० २, पृ० २८४, प्र०, वैद्य, (सं०), दिव्यावदान, भूमिका, पृ० ९–१२।

९९–द्रे०—नीचे।

१००–तु०—ललितः १–१३—"तद्भिक्षवो मे शृणुतेह सर्वे वैपुल्यसूत्रं हि महानिदानम्।" तु०—विन्टरनित्स, जि० २, पृ० २४८, चीनी अनुवादों पर नन्जियो, केटेलाग, संख्या १५९, १६०, तु०—वैद्य, ललित०, भूमिका, पृ० ११।

१०१–विन्टरनित्स, पूर्व० स्थल।

१०२–तु०—फ्राउवाल्नर, पूर्व पृ० १५५ प्र०।

१०३–सेनार (Senart) ने महावस्तु का ३ जिल्दों में सम्पादन किया था (पेरिस, १८८२–९७)। अंग्रेजी अनुवाद, जे० जे० जोन्स, जि० १, लण्डन, १९४९, जि० २, वही, १९५२, जि० ३।

किया गया है। तीसरे भाग में 'महावग्ग' के सदृश संघ के प्रारम्भिक उदय का वर्णन है। किन्तु इस मूल विवरण सूत्र में विविध और बहु-संख्यक जातक, अवदान आदि प्रतिविद्ध एवं प्रक्षिप्त मिलते हैं यहाँ तक कि बहुधा मूल सूत्र खोजना दुष्कर ही रहता है। महावस्तु 'बौद्ध संस्कृत' अर्थात् प्राकृत-प्रभाव से भ्रष्ट संस्कृत में लिखा हुआ है।[१०४] इसकी रचना समुपबृंहण एवं प्रक्षेप के द्वारा अनेक शताब्दियों में सम्पन्न हुई। 'होरा-पाठकों' तथा हूण और चीनी लिपियों के उल्लेख से ग्रन्थ की वर्तमान रूप में समाप्ति गुप्तकालीन सूचित होती है। किन्तु इसका प्रारम्भ कम-से-कम अर्धसहस्राब्दी पहले रखना होगा।[१०५] अनेक स्थलों में महावस्तु के सन्दर्भ पालि त्रिपिटक के अत्यन्त सन्निकट हैं, और मूल परम्परा से अपना सम्पर्क प्रकट करते हैं।[१०६] यह उल्लेखनीय हैं कि महावस्तु में दो शैलियों का भेद आविष्कृत किया गया है।[१०७] जिससे भी महावस्तु का अंशतः प्राचीनत्व समर्थित होता है।

महावस्तु को 'हीनयान और महायान के मध्य में पुल' बताया गया है[१०८] बोधिसत्त्व और बुद्ध की लोकोत्तरता का सिद्धान्त इसमें स्पष्ट प्रतिपादित है।[१०९] अतीत और प्रत्युत्पन्न बुद्धों की कल्पनातीत संख्या वृद्धि में असंकोच भी 'माहायानिकता' का प्रदर्शन करता है, यद्यपि अनेक अतीत बुद्धों की सत्ता स्थविरवादियों ने भी स्वीकार की है, तथा सर्वास्तिवादियों ने अनेक बुद्धों की विभिन्न क्षेत्रों में समकालिक सत्ता सिद्धान्तित की है।[११०] बुद्धत्व-प्राप्ति के लिए बोधिसत्त्वों की दस भूमियों का उल्लेख महायान के अत्यन्त निकट

१०४–बौद्ध संस्कृत पर एजर्टन का कार्य उल्लेख्य है।

१०५–तु०—विन्टरनित्स, जि० २, पृ० २४६–४७, हरप्रसाद शास्त्री, आइ० एच० क्यू० १९२५, सेनार, (सं०) महावस्तु।

१०६–विन्दिश, दी कम्पोजित्सियॉन देस महावस्तु, पूसे, ई० आर० ई० जि० ८, पृ० ३२९, जोन्स (अनु०) महावस्तु में पालि-अभिसम्बन्ध बहुधा प्रदर्शित है।

१०७–तु०—विमला चरन लॉ, ए स्टडी ऑव् दि महावस्तु, कोष्ठका 'ए नोट' इत्यादि, पृ० ७ प्र० जहाँ ओल्डेनबर्ग और विन्दिश के विवेचन पर संक्षिप्त टिप्पणी है।

१०८–पूसें, ई० आर० ई० पूर्व० स्थल।

१०९–विशेषतः द्र०—जोन्स (अनु०) महावस्तु जि० १, पृ० ११२–५१, सेनार (सं०) महावस्तु, जि० १, पृ० १४२–९३।

११०–ई० आर० ई० जि० ८, पृ० ३२९।

है।[१११] इस प्रसंग में यह कहा गया है कि बुद्धत्व के प्रार्थियों के लिए ही इस 'दशभूमिक' का उपदेश करना चाहिए।[११२] दूसरी ओर महावस्तु में अवलोकितेश्वर, अमिताभ, आदि का परिचय नहीं है तथा उसका 'कथासाहित्य' एवं प्रमुख सिद्धान्त हीनयान के मण्डल के अन्तर्गत है।[११३]

ललितविस्तर—ऊपर कहा जा चुका है कि अपने को 'वैपुल्य-सूत्र' स्थापित करते हुए भी 'ललितविस्तर' मूलतः सर्वास्तिवादियों की बुद्ध-जीवनी थी।[११४] यह सम्भव है कि कभी इसका आधार भी प्राकृत-निबद्ध परम्परा थी। प्राकृत का प्रभाव 'ललित-विस्तर' की पद्य-गाथाओं में स्पष्ट संलक्षित किया जा सकता है। गद्य के प्राचीनतर अंशों में भी इस प्रकार का प्रभाव अलक्ष्य नहीं है। ये अंश बहुधा पालि त्रिपिटक के प्राचीन अंशों से आश्चर्यजनक सामञ्जस्य प्रदर्शित करते हैं।[११५] ऐसा अनुमान युक्त प्रतीत होता है कि पालि और ललितविस्तर की परम्पराएँ किसी एक समान मूल की ऋणी हैं।

ललितविस्तर का प्रारम्भ और उपसंहार स्पष्ट रूप से महायानिक है। ग्रन्थ के प्रारम्भ में ललितविस्तर नाम के वैपुल्य-सूत्र के उपदेश के लिए बुद्ध से सहस्रों भिक्षुओं और बोधिसत्त्वों की परिषद् में नाना देवताओं की अभ्यर्थना तथा मौन के द्वारा उसका बुद्ध से स्वीकार वर्णित है। अन्त में 'ललितविस्तर' का माहात्म्य गान किया गया है। बीच में तुषित लोक से बोधिसत्त्व के बहुत विमर्श के अनन्तर मातृ-गर्भ में अवतार से आरम्भ कर सम्बोधि के अनन्तर धर्मचक्र प्रवर्तन तक का वृत्तान्त निरूपित किया गया है। प्राचीन विवरण से अधिकांश स्थलों में विशेषतः अभिनिष्क्रमण के अनन्तर मेल

१११—महावस्तु, जि० १, पृ० ६४ प्र०, महावस्तु (अनु० जोन्स) जि० १, पृ० ५३ प्र०, तु०—दत्त, महायान, पृ० २८६ प्र०, वहाँ इन दस भूमियों की अन्य सूचियों से तुलना प्रदर्शित करने का यत्न किया गया है।

११२—महावस्तु, जि० १, पृ० १९३, वही, (अनु० जोन्स), जि० १, पृ० १५१।

११३—वही, पृ० ३३०, तु०—जोन्स, पूर्व, जि० १, भूमिका, पृ० १३ प्र०।

११४—ललितविस्तर, सम्पादित, राजेन्द्र लाल मित्र द्वारा, १८७७, (अशुद्ध संस्करण), लेफमान द्वारा, १९०२, १९०८, प० वैद्य द्वारा, १९५८।

११५—द्रष्टा० तु०—ललित०, पृ० १८१-१८४, और मज्झिम (ना०), जि० १, पृ० २९९-३०२।

खाते हुए भी अनेक नवीन उद्भावनाएँ की गयी हैं।[११६] वर्णन शैली में एक व्यापक माहायानिक 'वैपुल्य' अथवा विस्तार की प्रवृत्ति देखी जा सकती है।

महायानसूत्र—विस्तार और परिचय

जैसा ऊपर देखा गया है, हीनयान का आगम अपेक्षाकृत सीमित और परिगणित है तथा उसका स्थविरवादी संस्करण अपने मूल रूप में प्रायः सम्पूर्णतया रक्षित है। महायान के सूत्रों और शास्त्रों का विपुल विस्तार इस समय काल-महिम्ना संस्कृत में अधिकांशतः उपलब्ध न होते हुए भी उसके अनेक संकेत प्राप्त होते हैं। अपने मूल रूप में अवशिष्ट महत्त्वपूर्ण माहायानिक सूत्रों और शास्त्रों की संख्या दो दर्जन से विशेष अधिक नहीं है।[११७] कुछ ग्रन्थों का इधर चीनी अथवा तिब्वती अनु-

११६-तु०—ललित, भूमिका (वैद्य), पृ० १०, विन्टरनित्स, जि० १, पृ० २५१-५२।

११७-मूलरूप में उपलब्ध मुख्य महायान सूत्र—प्रज्ञापारमिताएँ : शतसाहस्रिका (अपूर्ण, सं० बिब०, इन्ड० १९०२-१४), पञ्चविंशतिसाहस्रिका (अपूर्ण, सं० न० दत्त, लन्दन, १९३४), अष्टसाहस्रिका (बिब० इन्ड० १८८८ वोगिहारा का "अभिसमयालङ्कारालोक" का संस्करण, टोकियो, १९३२-३५), प्रज्ञापारमिताहृदय (सं० मैक्समूलर और नन्जियो, १८८४), सप्तशतिका (सं० तुचि०, रोम, १९२३; सं० मसुदा, जे० टी० यू०, १९३०), दशसाहस्रिका (अपूर्ण, सं० कौनो, ऑस्लो, १९४१); अर्धशतिका (सं० लोइमान, स्त्रासबुर्ग, १९१२; कियोटो, १९१७), सुविक्रान्तविक्रामिपरिपृच्छा प्रज्ञा० (सं०, मत्सुमोटो; सं० हिकाटा, १९५८); समाधिराज (गिलगित मैनस्क्रिप्ट्स), आर्यमैत्रेयव्याकरण (वही, जि० ४), वज्रच्छेदिका (सं०, मैक्समूलर, १८८८; गिलगित मैनस्क्रिप्ट्स, जि० ४, कलकत्ता, १९५९); सद्धर्मपुण्डरीक (पीटर्सबर्ग, १९०८ प्र०); करुणापुण्डरीक (कलकत्ता, १८९८); कारण्डव्यूह (कलकत्ता, १८७३); सुखावतीव्यूह (ऑक्सफोर्ड, १८८३); सुवर्णप्रभास (कलकत्ता, १८९८; कियोटो, १९३१); राष्ट्रपालपरिपृच्छा (पीटर्सबर्ग, १९०१); काश्यपपरिवर्त (खंडित, शंघाई, १९२९); लंकावतार (कियोटो, १९२३); दशभूमिकसूत्र (यूट्रेक्ट, १९२६); गण्डव्यूह (सं० इजुमि, ओटानि विश्वविद्यालय, कियोटो)। मूल में उपलब्ध मुख्य महायान शास्त्र—नागार्जुन, मध्यमककारिका (प्रसन्नपदा के साथ सं०, पीटर्सबर्ग, १९०३ प्र०); मैत्रेयनाथ, अभिसमया-

वादों से "उद्धार" भी किया गया है।[118] दूसरी ओर 'शिक्षासमुच्चय' में प्रायः १०० सूत्र-ग्रन्थों से उद्धरण उपलब्ध होते हैं।[119] महाव्युत्पत्ति में १०५ सूत्रों के नाम संकीर्तित

लंकार (लेनिनग्राड, १९२९, टोकियो, १९३२–३५), इस पर हरिभद्र का आलोक, बड़ौदा, १९३२; असंग, महायानसूत्रालंकार (पेरिस, १९०७); योगाचारभूमिशास्त्र (अंशतः प्रकाशित, कलकत्ता, १९५७); वसुबन्धु, विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि (पेरिस, १९२५); दिङ्नाग, न्यायप्रवेश (बड़ौदा, १९३०), धर्मकीर्ति, प्रमाणवार्तिक (इलाहाबाद, १९४४; पटना, १९५३; रोम, १९६०), न्यायबिन्दु (चौखम्बा सं० सी०; पटना, १९५५); शान्तिदेव, बोधिचर्यावतार (बिब० इन्ड्र, १९०१–१४; दरभंगा, १९६०), शिक्षासमुच्चय (पीटर्सबर्ग, १९०२), शान्तिरक्षित, तत्त्वसंग्रह (कमलशील की पंजिका के साथ, बड़ौदा, १९२६)।

११८–यथा आर्यदेव, चतुःशतक (अपूर्ण, विश्वभारती, १९३१; मूल के कुछ अंश, मेम० एशियाटिक सो० बं०, कलकत्ता, १९१४), चित्तविशुद्धिप्रकरण (पटेल, विश्वभारती)।

११९–शिक्षासमुच्चय में उद्धृत महायानसूत्रों की सूची—

(१) अक्षयमतिसूत्र
(२) अङ्गुलिमालिक
(३) अध्याशयसंचोदनसूत्र
(४) अनन्तमुखनिर्हारधारणी
(५) अपूर्वसमुद्गतपरिवर्त (सूत्र ?)
(६) अपरराजाववादकसूत्र
(७) अवलोकनासूत्र
(८) अवलोकितेश्वरविमोक्ष
(९) आकाशगर्भसूत्र
(१०) आर्यसत्यकपरिवर्त (सूत्र?)
(११) उग्रपरिपृच्छा या उग्रदत्त०
(१२) उदयनवत्सराजपरिपृच्छा
(१३) उपायकौशल्यसूत्र
(१४) उपालिपरिपृच्छा
(१५) कर्मावरणविशुद्धिसूत्र
(१६) कामापवादक सूत्र
(१७) काश्यपपरिवर्त
(१८) क्षितिगर्भसूत्र
(१९) गगनगंजसूत्र
(२०) गण्डव्यूह
(२१) गोचरपरिशुद्धिसूत्र
(२२) चतुर्धर्मकसूत्र
(२३) चन्द्रप्रदीपसूत्र
(२४) चन्द्रोत्तरादारिकापरिपृच्छा
(२५) चुन्दाधारणी
(२६) जम्भलस्तोत्र
(२७) ज्ञानवतीपरिवर्त
(२८) ज्ञानवैपुल्यसूत्र

(२९) तथागतकोशसूत्र
(३०) तथागतगुह्यसूत्र
(३१) तथागतबिम्बपरिवर्त
(३२) त्रिसमयराज
(३३) त्रिस्कन्धक
(३४) दशधर्मसूत्र
(३५) दशभूमिकसूत्र
(३६) दिव्यावदान
(३७) धर्मसंगीतिसूत्र
(३८) नारायणपरिपृच्छा
(३९) नियतानियतावतारमुद्रासूत्र
(४०) निर्वाण (?—सूत्र?)
(४१) पितापुत्रसमागम
(४२) पुण्यकूटधारणी
(४३) प्रज्ञापारमिता—"महती", अष्टसाहस्रिका,
(४४) प्रव्रज्यान्तरायसूत्र
(४५) प्रशान्तविनिश्चयप्रातिहार्यसूत्र
(४६) प्रातिमोक्ष
(४७) बृहत्सागरनागराजपरिपृच्छा
(४८) बोधिचर्यावतार
(४९) बोधिसत्वपिटक
(५०) बोधिसत्त्व प्रातिमोक्ष
(५१) बुद्धपरिपृच्छा
(५२) भगवती
(५३) भद्रकल्पिकसूत्र
(५४) भद्रचरीप्रणिधानराज
(५५) भिक्षुप्रकीर्णक
(५६) भैषज्यगुरुवैडूर्यप्रभसूत्र
(५७) मञ्जुश्रीबुद्धक्षेत्रगुणव्यूहालंकारसूत्र
(५८) मञ्जुश्रीविक्रीडितसूत्र
(५९) महाकरुणापुण्डरीकसूत्र
(६०) महामेघ
(६१) महावस्तु
(६२) मारीची
(६३) मालासिंहनाद
(६४) मैत्रेयीविमोक्ष
(६५) रत्नकरण्डसूत्र
(६६) रत्नकूट
(६७) रत्नचूडसूत्र
(६८) रत्नमेघ
(६९) रत्नराशिसूत्र
(७०) रत्नोल्काधारणी
(७१) राजाववादकसूत्र
(७२) राष्ट्रपालपरिपृच्छा
(७३) लङ्कावतारसूत्र
(७४) ललितविस्तर
(७५) लोकनाथव्याकरण
(७६) लोकोत्तरपरिवर्त
(७७) वज्रच्छेदिका
(७८) वज्रध्वजपरिणामना
(७९) वासनोपासिकाविमोक्ष
(८०) विद्याधरपिटक
(८१) विमलकीर्तिनिर्देश
(८२) वीरदत्तपरिपृच्छा
(८३) शालिस्तम्बसूत्र
(८४) शूरङ्गमसूत्र
(८५) श्रद्धाबलाधानावतारमुद्रासूत्र
(८६) श्रावकविनय

है जिनमें अधिकांश महायान के है।[१२०] पर महायान-साहित्य की वास्तविक विपुलता चीनी और तिब्बती त्रिपिटकों तथा चीनी और तिब्बती यात्रियों एवं इतिहासकारों की कृतियों को देखने से ही विदित होती है।

(८७) श्रीमालासिंहनादसूत्र
(८८) सद्धर्मपुण्डरीक
(८९) सद्धर्मस्मृत्युपस्थान
(९०) सप्तमैथुनसंयुक्तसूत्र
(९१) समाधिराज (चन्द्रप्रदीप)
(९२) सर्वधर्मवैपुल्यसंग्रहसूत्र
(९३) सर्वधर्माप्रवृत्तिनिर्देश
(९४) सर्ववज्रधरमन्त्र
(९५) सागरमतिपरिपृच्छा
(९६) सिंहपरिपृच्छा
(९७) सुवर्णप्रभासोत्तमसूत्र
(९८) हस्तिकक्ष्यसूत्र

१२०—महाव्युत्पत्ति की सूची में त्रिपिटक, सूत्र, अभिधर्म, विनय आदि नाम हीनयान के साहित्य का संकेत करते हैं। स्पष्टतः हीनयानी ग्रन्थों को छोड़कर इस सूची में निम्नोक्त ग्रन्थराशि का परिचय दिया गया है—शतसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता, पंचविंशतिसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता, अष्टसाहस्रिका, सप्तशतिका प्रज्ञापारमिता, पंचशतिका प्रज्ञापारमिता, त्रिशतिका प्रज्ञापारमिता, अवतंसक, बोधिसत्त्वपिटक, ललितविस्तर, समाधिराज, पिता-पुत्र समागम, लोकोत्तरपरिवर्तन, सद्धर्मपुंडरीक, गगनगंज, रत्नमेघ, लंकावतार, सुवर्णप्रभास, विमलकीर्ति निर्देश, गंडव्यूह, घनव्यूह, आकाशगर्भ, अक्षमितिनिर्देश, उपायकौशल्य, धर्मसंगीति, सुविक्रांतविक्रामी, महाकरुणापुण्डरीक, रत्नकेतु, दशभूमिक, तथागतमहाकरुणानिर्देश, द्रुमकिन्नरराजपरिपृच्छा, सूर्यगर्भ, बुद्धभूमि, तथागताचिन्त्यगुह्यनिर्देश, शुरंगमसमाधिनिर्देश, सागरनागराजपरिपृच्छा, अजातशत्रु-कौकृत्य-विनोदन, संधिनिर्मोचन, बुद्धसंगीति, राष्ट्रपाल-परिपृच्छा, सर्वधर्माप्रवृत्तिनिर्देश, रत्नचूडपरिपृच्छा, रत्नकूट, महायान-प्रसाद-प्रभावन, महायानोपदेश, आर्य ब्रह्मविशेष-चिन्तापरिपृच्छा, परमार्थ-संवृत्ति-सत्य-निर्देश, मंजुश्री-विहार, महापरिनिर्वाण, अवैवर्त-चक्र, कर्म-विभंग, रत्नोल्का, गोचर-परिशुद्ध, प्रशांतविनिश्चय-प्रातिहार्य-निर्देश, तथागतोत्पत्ति-संभव-निर्देश, भवसंक्रांति, परमार्थधर्म-विजय, मंजुश्री-बुद्धक्षेत्र-गुणव्यूह, बोधिपक्ष-निर्देश, कर्मावरण-प्रतिप्रश्रब्धि, त्रिस्कन्धक, सर्ववैदल्यसंग्रह, संघाटसूत्र, तथागत-ज्ञान-मुद्रा-समाधि, वज्रमेरु-शिखरकूटागारधारणी, अनवतप्त-नागराज-परिपृच्छा, सर्वबुद्धविषयावतारज्ञानालोकालंकार, व्यासपरिपृच्छा, सुबाहुपरिपृच्छा,

नन्जियो के द्वारा संगृहीत चीनी त्रिपिटक की सूची[१२१] में सूत्र-पिटक अथवा सूत्र-काण्ड के अभ्यन्तर ५४१ महायान-सूत्रों का उल्लेख है। ये सूत्र सात वर्गों में विभक्त हैं—(१) पन्-ञो अथवा प्रज्ञापारमिता, (२) पाओ-चि, अथवा रत्नकूट, (३) ता-चि, अथवा महासन्निपात, (४) ह्वा-येन, अथवा अवतंसक, (५) न्ये-पन्, अथवा परिनिर्वाण, (६) वु-ता-पु-वाइ-चुं-ई-चि, अथवा इन पाँच वर्गों के बाहर विविध अनूदित सूत्र, (७) तन्-इ-चि, अथवा अन्य सकृद् अनूदित सूत्र। पहले वर्ग में एकाधिक प्रज्ञापारमिता सूत्र संगृहीत है, दूसरे में ४९ सूत्र हैं जिनमें बृहत् सुखावतीव्यूह भी सम्मिलित है, तीसरे में चन्द्रगर्भ, क्षितिगर्भ, आकाशगर्भ आदि सूत्र संकलित है, चौथे में अवतंसक सूत्र के दो अनुवाद तथा उसके अनेक खण्ड पृथक् रूप से उपलब्ध होते हैं, पाँचवें में परिनिर्वाण सम्बन्धी अनेक सूत्र है, छठें में सद्धर्मपुण्डरीक, सुवर्णप्रभास, ललितविस्तर, लङ्कावतार आदि सूत्र हैं, तथा सातवें में शूरङ्गम, महावैरोचन आदि सूत्रों का संग्रह है।

नन्जियों की सूची के विनयपिटक में उल्लिखित महायान ग्रंथों में सर्वाधिक महत्त्वशाली एक 'ब्रह्मजालसूत्र' है जिसका दीघनिकाय के ब्रह्मजाल से कोई सम्बन्ध नहीं है। चीनी ब्रह्मजालसूत्र एक प्रकार से महायान का विनय है। 'नन्जियो की सूची में 'अभिधर्मपिटक' के अन्तर्गत महायान-ग्रन्थों में नागार्जुन, असङ्ग आदि के विरचित शास्त्र संगृहीत हैं। कंजूर और तंजूर नाम के तिब्बती संग्रहों में[१२२] चीनी संग्रह से अनेक अंशों

सिंह-परिपृच्छा, महासाहस्रप्रमर्दन, उग्रपरिपृच्छा, श्रद्धाबलाधान, अंगुलिमालीय, हस्तिकक्ष्य, अक्षयमति-परिपृच्छा, महास्मृत्युपस्थान, शालिस्तम्भ, मैत्री-व्याकरण, भैषज्य-गुरुवैदूर्यप्रभ, अर्थविनिश्चय, महाबलसूत्र, वीरदत्त-गृहपति-परिपृच्छा, रत्नकरंडक, विकुर्वाणराजपरिपृच्छा एवं ध्वजाग्रकेयूर।

इनमें ९ ग्रन्थ विशेष रूप से पूजनीय माने जाते हैं। ये सब "वैपुल्य सूत्र" कहे जाते हैं एवं इनके नाम इस प्रकार हैं—अष्ट-साहस्रिका, प्रज्ञापारमिता, सद्धर्मपुण्डरीक, ललितविस्तर, लंकावतार, सुवर्णप्रभास गंडव्यूह, तथागतगुह्यक, समाधिराज एवं दशभूमीश्वर।

१२१—बी० नन्जियो, ए कैटेलॉग ऑव दि चाइनीज ट्रैन्सलेशन ऑव दि बुधिस्ट त्रिपिटक (ऑक्सफोर्ड, १८८३)।

१२२—कंजूर में ११०८ तथा तंजूर में ३४५८ ग्रन्थ संगृहीत हैं। इनके "जाइलोग्रैफ" (Xylograph) पहले तिब्बत में अनेकत्र, तथा पीकिंग में तैयार होते थे। कंजूर तथा तंजूर के पीकिंग संस्करण का सम्पूर्ण संग्रह पेरिस और ओटानी विश्वविद्यालय, जापान, में उपलब्ध है। ओटानी विश्वविद्यालय ने इस संस्करण को विशाल पुस्तकराशि के रूप में मुद्रित कर दिया है।

में सादृश्य है। प्रज्ञापारमिता, रत्नकूट अवतंसक, परिनिर्वाण आदि दोनों में उपलब्ध है, किन्तु तिब्बती संग्रह में चीनी की अपेक्षा प्राचीन सूत्र कम है, तन्त्र तथा व्याख्या-साहित्य अधिक।

ऊपर के विवेचन से तथा चीनी अनुवादों की तिथियों से प्रतीत होता है कि महायानसूत्रों का रचनाकाल सामान्यतः पहली शताब्दी ईसा-पूर्व से चौथी शताब्दी तक मानना चाहिए।[१२३] यद्यपि ये सूत्र कहे जाते हैं तथापि शैली में पुराणों के निकट है। विस्तार से प्रतिपादन एवं एक ही बात को बारबार दुहराना इनकी विशेषता है। सब प्रकार की अतिशयोक्ति भी इन ग्रन्थों में प्रचुरमात्रा में उपलब्ध होती है। बहुधा दीर्घ समासों का प्रयोग भी प्राप्त होता है। पिछले हीनयान के पिटक का ज्ञान भी इनमें पुरस्कृत है। प्रायः हीनयानसम्मत नाना धर्मों की अपारमार्थिकता का द्योतन ही इन ग्रन्थों का लक्ष्य है जिसके साथ शून्यता का प्रतिपादन एवं बुद्ध तथा बोधिसत्त्वों की अलौकिक महिमा का ख्यापन अभेद्य रूप से जुड़े हुए हैं।

प्रज्ञापारमिता सूत्र

प्रज्ञापारमिता सूत्रों के अनेक छोटे-बड़े संस्करण प्राप्त होते हैं और ये महायान सूत्रों में कदाचित् सबसे प्राचीन है। इनमें शून्यता का अनेकधा प्रतिपादन किया गया है। बुद्ध एवं उनके किसी शिष्य विशेषतः सुभूति के परस्पर संवाद के आधार पर इन सूत्रों की रचना हुई है। इन सूत्रों की प्राचीनता का संकेत इससे उपलब्ध होता है कि नन्जियों के अनुसार १४८ ई० के लगभग ही लोकरक्ष ने 'दशसाहस्रिका' प्रज्ञापारमिता का चीनी में अनुवाद कर दिया था।[१२४] नागार्जुन के द्वारा प्रज्ञापारमिताशास्त्र की व्याख्या से भी इन सूत्रों की प्राचीनता सिद्ध होती है। नागार्जुन की व्याख्या पञ्चविंशति० की बतायी गयी है, किन्तु कदाचित् अष्टसाहस्रिका की रही हो।[१२५] अष्टसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता में कहा गया है कि पारमिताओं का उपदेश करनेवाले ये सूत्रांत तथागत के निर्वाण के अनन्तर दक्षिण में तथा वहाँ से पूर्व की ओर प्रचारित होंगे

१२३–चीनी, अनुवादों पर द्र०—नन्जियो, पूर्व०; बागची, ल कानों बुद्धीकआंशीन, जि० (पेरिस, १९२७, १९३८), विन्टरनित्स, पूर्व०, बहुत्र।

१२४–अष्टसाहस्रिका, द्र०—दत्त, महायान, पृ० २२३–२५; तु०—एडवर्ड कोन्ज, दि प्रज्ञापारमिता लिटरेचर (१९६०), पृ० २६, ५०–५१।

१२५–लामोत, लत्रेते, भूमिका; दत्त, वहीं।

एवं पूर्व से उत्तर की ओर उनका प्रचार होगा।[126] तारानाथ के अनुसार प्रज्ञापारमिता का महापद्म के अनन्तर उड़ीसा (ओडिविश) में आविर्भाव हुआ।[127] पूर्वशैलीयों की प्राकृत प्रज्ञा का ऊपर उल्लेख किया जा चुका है।[128] श्वांच्वांग ने बारह विभिन्न प्रज्ञापारमिताओं का अनुवाद किया था जिसमें शतसाहस्रिका से लेकर सार्धशतिका तक संगृहीत है। ऊपर कहा जा चुका है कि चीनी त्रिपिटक के पहले वर्ग में विभिन्न प्रज्ञापारमिताएँ सन्निविष्ट है। कंजूर में भी शतसाहस्रिका, पंचविंशति साहस्रिका, अष्टादशसाहस्रिका, दशसाहस्रिका, अष्टसाहस्रिका, अष्टशतिका, सप्तशतिका, पंचशतिका, वज्रच्छेदिका, अल्पाक्षरा एवं एकाक्षरी प्रज्ञापारमिता का संग्रह है। संस्कृत में शतसाहस्रिका, पंचविंशति, अष्टसाहस्रिका, सार्धद्विसाहस्रिका, सप्तशतिका, वज्रच्छेदिका, अल्पाक्षरा, एवं प्रज्ञापारमिताहृदय-सूत्र उपलब्ध होते हैं।[129] यह प्रायः स्वीकृत किया जाता है कि इन सब में अष्टसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता प्राचीनतम है। तारानाथ के अनुसार इसका पहले मंजुश्री ने प्रचार किया।[130] इसी के विस्तार एवं संक्षेप के द्वारा विपुलतर एवं अल्पतर प्रज्ञापारमितासूत्रों की उत्पत्ति माननी चाहिए।[131] सम्भोगकाय एवं भूमियों

१२६–अष्टसाहस्रिका, पृ० २२५—"इमे खलु पुनः शारिपुत्र षट्पारमिताप्रतिसंयुक्ताः सूत्रान्तास्तथागतस्यात्ययेन दक्षिणापथे प्रचरिष्यन्ति दक्षिणापथात् पुनरेव वर्तन्यां प्रचरिष्यन्ति वर्तन्याः पुनरुत्तरापथे प्रचरिष्यन्ति—"। इसके विपरीत नागार्जुन के महाप्रज्ञापारमिताशास्त्र के अनुसार बुद्ध ने प्रज्ञापारमिता का पूर्व में अर्थात् मगध में उपदेश किया, उनके निर्वाण के अनन्तर प्रज्ञा० ने दक्षिणापथ का अवलम्बन किया, वहाँ से उसकी पश्चिम यात्रा सम्पन्न हुई, तथा अन्ततः बुद्धाब्द की पञ्चशती होने पर प्रज्ञा० उत्तरापथ पहुँची—द्र०—लामात लत्रेते, जि० १, पृ० २४–२५।

१२७–तारानाथ, पृ० ५८ सौत्रान्तिकों के अनुसार यह अष्टसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता थी (वहीं)।

१२८–द्र०—कौन्ज, पूर्व, पृ० ९।

१२९–प्रज्ञापारमिता सम्बन्धी साहित्य का 'विस्तृत निर्देश—कौन्ज, पूर्व० पृ० ३७–११७।

१३०–तारानाथ, वहीं।

१३१–अन्य मत (क) मूल प्रज्ञापारमिता के संक्षेप के द्वारा अल्पतर प्रज्ञाओं की क्रमिक उत्पत्ति, यथा नेपाली परम्परा जो मूल प्रज्ञापारमिता को सवा लाख

के विषय में मौन भी अष्टसाहस्रिका को शत० और पंचविंशति० से प्राचीन सिद्ध करता है।[132]

अष्टसाहस्रिका में ३२ परिवर्त अथवा विवर्त हैं। गृध्रकूट पर्वत पर विहार करते हुए भगवान् बुद्ध के अनुभाव से स्थविर सुभूति को महाप्रज्ञापारमिता का प्रतिभान हुआ और उन्होंने शारिपुत्र को एक अद्‌भुत सर्वसंहारी मायावाद एवं अद्वयवाद का उपदेश किया जिसमें समस्त सूत्र का सार संगृहीत है। परमार्थतः सभी कुछ शून्य है। 'प्रज्ञापारमिता' एवं 'बोधिसत्त्व' इन शब्दों का भी कोई वास्तविक अर्थ नहीं है। भावना करने वाला चित्त स्वयं अचित्त एवं भास्वर है। निर्विकारता एवं निर्विकल्पता ही अचित्तता है[133]। कोई भी 'धर्म'—प्रज्ञापारमिता तक—स्वभाव-संयुक्त नहीं है। स्वभाव भी निःस्वभाव है। अविद्यमान धर्मों की विद्यमानतया प्रतीति ही अविद्या है। न महायान और न बुद्ध वास्तविक है। सब धर्मों का अनुत्पाद और अद्वैत ही सत्य है। अतएव सभी धर्मों में अनिश्चय ही प्रज्ञापारमिता का मर्म है।

शतसाहस्रिका में ७२ परिवर्त्त हैं। इसका भी गृध्रकूट में तथागत की सभा से प्रारम्भ होता है। किन्तु अष्टसाहस्रिका की अपेक्षा इसमें अतिशयोक्ति और वर्णाढ्यता अत्यधिक है। अधिकांश में अष्टसाहस्रिका का विस्तार होते हुए भी इसमें कुछ नवीन विकास द्रष्टव्य है। पंचविंशतिसाहस्रिका अपने मूल रूप में लुप्त हो चुकी है, किन्तु मैत्रेयनाथ ने इसका सार 'अभिसमयालंकार' में संगृहीत किया था एवं पीछे 'अभिसमया-लंकार' के अनुसार संशोधित एक संस्करण पंचविंशति० का प्रस्तुत हुआ था[134]। यह 'संशोधित' संस्करण मूल रूप में उपलब्ध है। अष्टादशसाहस्रिका एवं दश० भी मूल रूप में लुप्त है। वज्रच्छेदिका उपलब्ध है और स्वल्पाकार है। इसमें कहा गया है—'योऽसौ तथागतेन धर्मोऽभिसम्बुद्धो देशितः अग्राह्यः सोऽनभिलाप्यः न स धर्मोनाधर्मः'[135]।

श्लोकों का बताती है (द्र०—विन्टरनित्स, जि० २, पृ० ३१४) (ख) अथवा संक्षेप मूल प्रज्ञापारमिता के संमुपबृंहण से विपुलतर प्रज्ञाओं का आविर्भाव तथा तुलि, सप्तशतिका, भूमिका। तु०—मत्सुमोटो, डी प्रज्ञा-पारमिता लितेरातूर, कौन्ज, पूर्व०, पृ० १७–१८, दत्त, महायान, ३२८–३२।

१३२–समुचित विवेचन द्र०—दत्त०, पूर्व०पृ०, ३२५—८।

१३३–अष्ट०, पृ० ४–६; तु०—शत०, पृ० ४९५।

१३४–हरिभद्र अथवा सिंहभद्र के द्वारा धर्मपाल के समय में—द्र०—तारानाथ, पृ० २१९; तु०—बुदोन, जि० २, पृ० १५६–६०।

१३५–गिलगित मैनस्क्रिप्ट्स, जि० ४, पृ० १४६।

अवतंसकसूत्र के नाम से चीनी त्रिपिटक और 'कंजूर' में विपुलाकार सूत्र उपलब्ध होते हैं। चीनी त्रिपिटक में अवतंसकसूत्र तीन शाखाओं में मिलता है जो कि क्रमशः ८०,६० और ४० चीनी जिल्दों में सम्पन्न है। पहली दो शाखाओं के संस्कृत मूल अप्राप्य हैं। तीसरी को **'गण्डव्यूह-महायानसूत्र'** का अनुवाद बताया गया है। **बुदोन के अनुसार अवतंसक** में मूलत: १००,००० अध्याय थे जिनमें से केवल ४० शेष रहे[१३६]। **गण्डव्यूहमहायानसूत्र** में सुधन नाम के कुमार का बोधिसत्त्व मंजुश्री की प्रेरणासे सम्बोधि की खोज में परिभ्रमण वर्णित किया गया है[१३७]। अन्त में समन्तभद्र अथवा अमिताभ बुद्ध की कृपा से उसकी लक्ष्यपूर्ति होती है।

यह स्मरणीय है कि इन सूत्रों के आधार पर ही चीन में 'अवतंसक' एवं जापान में 'के-गान' सम्प्रदाय प्रवृत्त हुए जिनमें मंजुश्री का विशेष महत्त्व है। तथागत की सागरमुद्रा से अवतंसक-सिद्धान्त का जन्म माना जाता है। अनुश्रुत्या इस सिद्धान्त का उपदेश भगवान् बुद्ध ने सम्बोधि के समनन्तर ही दिया था, किन्तु उस समय लोग उसे समझ नहीं पाये। धर्मकाय, धर्मतथता अथवा बुद्धस्वभाव को ही परमार्थ माना गया है। सब धर्मों में व्यावहारिक नानात्व, किन्तु सम्भेद होते हुए भी पारमार्थिक समता है। इस सिद्धान्त को योगाचार का एक विकास मानना चाहिए।

दशभूमिक-सूत्र अथवा **दशभूमीश्वर-सूत्र** भी कभी-कभी अवतंसक का अंग माना जाता है। इसमें बोधिसत्त्व वज्रगर्भ के द्वारा बुद्धत्वप्राप्ति की भूमियों अथवा अवस्थाओं का उपदेश किया गया है। यह स्मरणीय है कि **महावस्तु** एवं **शतसाहस्रिका** में भी भूमि-विवरण मिलता है, किन्तु यहाँ अधिक विकसित और परिष्कृत है। इस सूत्र का प्राचीनतम चीनी अनुवाद धर्मरक्ष के द्वारा २९७ ई० में हुआ था।

चीनी और तिब्बती त्रिपिटकों में 'रत्नकूट' नाम से ४९ सूत्रों का संग्रह उपलब्ध होता है। तारानाथ के अनुसार 'रत्नकूट-धर्म-पर्याय' का कनिष्क के पुत्र के समय में आविर्भाव हुआ एवं उसमें १००० काण्ड थे[१३८]। असंग तथा शान्तिदेव के द्वारा 'रत्नकूट'

१३६—बुदोन, जि० २, पृ० १६९।

१३७—सुजुकि और इजुमि (सं०), गण्डव्यूहसूत्र (नवीन संशोधित संस्करण), उदा० प्रारम्भिक गाथाएं, ६–७; तु०—दिव्यावदान—सुधन कुमारावदान।

१३८—तारानाथ, पृ० ६३।

के उद्धरण प्राप्त होते हैं[139]। बुदोन के अनुसार 'रत्नकूट' के मूलतः १००,००० अध्याय थे जिनमें से केवल ४९ शेष हैं[140]। (बृहत्) सुखावतीव्यूह, अक्षोभ्य-व्यूह, मंजुश्री-बुद्ध-क्षेत्र-गुण-व्यूह। बोधिसत्त्व-पिटक, पिता-पुत्र-समागम, काश्यप-परिवर्त, तथा "राष्ट्रपाल-परिपृच्छा, उग्रपरिपृच्छा, अक्षयमतिपरिपृच्छा" आदि अनेक 'पृच्छाएँ' 'रत्नकूट' में संगृहीत हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि मूलतः रत्नकूट नाम का एक धर्म-पर्याय-विशेष था, कालान्तर में वही नाम एक सूत्र-संग्रह पर संक्रान्त कर दिया गया। कदाचित् काश्यपपरिवर्त ही मूल रत्नकूट था[141]। चीनी में एक अल्पाकार रत्नकूट-सूत्र भी है जिसमें रत्नकूटसमाधि का विवरण है।

संस्कृत में सुखावती-व्यूह के नाम से दो ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं, एक बृहत् और एक संक्षिप्त[142]। दोनों में अमिताभ बुद्ध का गुणगान है, किन्तु बृहत्-सुखावती में कर्म का महत्त्व अक्षुण्ण है जब कि संक्षिप्त सुखावती में मृत्यु के समय अमित का नाम-चिन्तन-मात्र बुद्ध-क्षेत्र में उपपत्ति के लिए पर्याप्त समझा गया है[143]। बृहत्-सुखावती का प्राचीनतम चीनी अनुवाद ई० १४७-८६ के बीच सम्पन्न हुआ था। संक्षिप्त-सुखावती का प्राचीनतम अनुवाद कुमारजीव ने ४०२ ई० में किया था। ऐसा प्रतीत होता है कि सुखावती-व्यूह को 'अमितायुससुत्र' अथवा 'अमितायुर्व्यूह-सूत्र' भी कहा जाता था। ये सूत्र जापान के 'जोड़ो' अथवा चीनी 'चि' एवं 'शिन' सम्प्रदाय के प्रधान ग्रन्थ हैं। इस सम्प्रदाय के विश्वास के अनुसार तथागत ने सुखावती व्यूह का लोक में प्रकाश अपने परिनिर्वाण के कुछ ही पहले किया था। काश्यप-परिवर्त अंशतः अंगुत्तर-निकाय की याद दिलाता है। अन्यत्र बोधिसत्त्वों के गुणों का निरूपण है तथा शून्यता को नाना उपमाओं से समझाया गया है। उग्रपरिपृच्छा का १८१ ई० में चीनी अनुवाद हो गया था। राष्ट्रपालपरिपृच्छा का अनुवाद ई० ५८९ तथा ई० ६१२ के बीच हुआ।

१३९—सूत्रालंकार, पृ० १६५, शिक्षा, पृ० ५२, ५. आदि।

१४०—बुदोन, वहीं।

१४१—फोन-श्तेल होल्स्ताइन के द्वारा मूल किन्तु खण्डित रूप में संपादित, शंघाई, १९२६।

१४२—दोनों मैक्समूलर द्वारा सम्पादित (एनेक्डोटा आक्सोनियन्सिया, आर्यन सीरिज, जि० १, भा० २, १८८३)।

१४३—सुखावतीव्यूह, पृ० १४—२१।

इसमें अनेक जातक-कथाओं के उल्लेख के अतिरिक्त तत्कालीन धार्मिक ह्रास का सजीव चित्रण किया गया है।

सुखावती-व्यूह और अमितायुर्ध्यान-सूत्र में[१४४] कुछ बुद्ध अमिताभ के साथ बोधिसत्त्व अवलोकितेश्वर का गुण-कीर्तन किया गया है। अनुवाद-मात्र-रक्षित **अक्षोभ्य-व्यूह** में अक्षोभ्य बुद्ध के क्षेत्र का विवरण है। **कारण्डव्यूह** में[१४५] अवलोकितेश्वर की महिमा का विस्तार है। **कारण्डव्यूह** अथवा **अवलोकितेश्वर-गुण-कारण्ड-व्यूह** का एक प्राचीनतर गद्यमय रूप है तथा दूसरा अपेक्षाकृत उत्तरकालीन पद्यमय रूप है। पद्यात्मक कारण्डव्यूह में एक प्रकार का ईश्वरवाद वर्णित है क्योंकि उसमें 'आदिबुद्ध' को ही ध्यान के द्वारा जगत्स्रष्टा कहा गया है[१४६]। आदिबुद्ध से ही अवलोकितेश्वर का आविर्भाव हुआ तथा अवलोकितेश्वर की देह से देवताओं का। गद्यात्मक **कारण्डव्यूह** में आदिबुद्ध का उल्लेख नहीं है। यहाँ अवलोकितेश्वर की करुणा का प्रभूत विस्तार है। उनकी कृपा से अवीचि नरक का दिव्य रूपान्तर हो जाता है तथा प्रेत भूख-प्यास से मुक्त हो जाते हैं। अवलोकितेश्वर पंचाक्षरी विद्या—ॐ मणिपद्मे हुं—को धारण करते हैं।

करुणापुण्डरीक नाम का[१४७] सूत्र भी यहाँ उल्लेख्य है जिसमें पद्मोत्तर बुद्ध के पद्म-नामक लोक का वर्णन है। अवलोकितेश्वर की महिमा **शूरंगमसूत्र** (नंजियो, संख्या ३९९) में भी देखी जा सकती है। योगाचार की दृष्टि से यह बहुत महत्त्वपूर्ण है। इसका निदान अंशतः **शार्दूलकर्णावदान** के सदृश है। प्रथम अध्याय में सुकराती ढंग के प्रश्नोत्तर के द्वारा प्रभास्वर और विमल चित्त की पारमार्थिकता का प्रतिपादन है। वही तथागतगर्भ अथवा आलयविज्ञान है जिससे परिकल्पित आवरण के द्वारा संसार की प्रवृत्ति होती है। कहा जाता है कि सुवर्णप्रभाससूत्र[१४८] का चीन में काश्यप मातंग ने मिंग-ति (ई० ५८-७५) के शासन-काल में व्याख्यान किया था। धर्मरक्ष ने उसका चीनी अनुवाद ४१२-२६ ई० में प्रस्तुत किया जो संस्कृत मूल के सदृश है। ई० ७०३ में इ-त्सिंग ने भारत से आनीत मूल का ३१ परिवर्तों में अनुवाद किया जब कि धर्मरक्ष के अनुवाद में १८ परिवर्त हैं। इस सूत्र के खोतनी और उइगुर अनुवादों का पता

१४४—द्र०—एस० बी० ई० जि० ४९, भाग २।

१४५—सं० सत्यव्रत सामश्रमी, कलकत्ता, १८७३।

१४६—तु०—सूत्रालंकार, ९, ७७।

१४७—प्रकाशित, कलकत्ता, १८९८।

१४८—सं० इजुमि, कियोटो, १९३१।

चलता है। **सद्धर्मपुण्डरीक** तथा **प्रज्ञापारमिता** का **सुवर्णप्रभास** के वर्तमान रूप पर प्रभाव स्पष्ट है। निदानपरिवर्त को छोड़ कर पहले छः परिवर्त ही कदाचित् मौलिक हैं। सर्षपमात्र भी बुद्ध धातु असम्भव कही गयी है क्योंकि तथागत की धर्मकाय अमर है और लोक में केवल उनकी निर्मितकाय का परिनिर्वाण देखा जाता है[१४९]।

योगाचार के लिए **लंकावतारसूत्र** अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। गुप्तों के उल्लेख के कारण अपने वर्तमान रूप में यह सूत्र चतुर्थ शताब्दी के पूर्व का नहीं हो सकता। ४४३ ई० में इसका पहला चीनी अनुवाद हुआ था जिसमें प्रथम, नवम और दशम परिवर्त उपलब्ध नहीं होते। नवम धारणीपरिवर्त है, दशम सगाथक, जिसमें ८०० से अधिक श्लोक हैं। स्पष्ट ही ये अंश मूल सूत्र के अभ्यन्तर नहीं थे। सूत्र का दार्शनिक कलेवर दूसरे से सातवें परिवर्त तक विशेष रूप से विस्तृत है। पाँचवाँ और सातवाँ परिवर्त अल्पाकार हैं, चौथे में बोधिसत्त्वभूमियों की चर्चा है। फलतः दूसरा, तीसरा और छठाँ परिवर्त ही ग्रन्थ के मुख्य भाग हैं। इस मुख्यांश को असंग और वसुबन्धु के पूर्व का मानना चाहिए। इस प्रकार **लंकावतार** की रचना को दूसरी से पाँचवीं शताब्दियों के अन्तराल में रखना चाहिए। यह उल्लेख्य है कि इस सूत्र में तथागतगर्भ के सिद्धान्त को भी एक प्रकार का उपायकौशल ही कहा है। सब कुछ प्रतिभासात्मक अथवा विकल्पात्मक भ्रान्तिमात्र है, केवल निराभास एवं निर्विकल्प चित्त ही सत्य है, यही **लंकावतार** का मुख्य प्रतिपाद्य है।

समाधिराज अथवा **चन्द्रप्रदीपसूत्र** का आशय सदृश है। इसमें सर्वधर्मसमता का सर्वप्रथम अनुवाद कदाचित् अन-शिकाओ ने ई० १४८ में किया था। इसमें तीन संगीतियों का उल्लेख भी मिलता है।

महायानसूत्रों में एक ओर शून्यता के प्रतिपादन के द्वारा विशुद्ध निर्विकल्पज्ञान का उपदेश किया गया है; दूसरी ओर, बुद्ध की महिमा और करुणा के प्रतिपादन के द्वारा भक्ति उपदिष्ट है। दूसरी कोटि में **सुखावतीव्यूह कारण्डव्यूह** आदि सूत्र अन्तर्गत हैं। इनमें सर्वाधिक महत्त्व **सद्धर्मपुण्डरीकसूत्र** का है। इसमें गद्य और गाथाएँ मिले-जुले रूप में उपलब्ध हैं। प्रायः गाथाओं की भाषा प्राचीनतर प्रतीत होती है और सम्भवतः पधानसुत्त अथवा पब्बज्जसुत्त के समान मूल **सद्धर्मपुण्डरीक** गाथामय रहा हो जिसमें व्याख्या के रूप में गद्य का समावेश और बृद्धि कल्पनीय है। २१ वें से २६ वें परिवर्त तक अपेक्षाकृत परवर्ती भाग प्रतीत होता है जिसमें गाथाएँ बहुत कम मिलती हैं।

१४९–सुवर्णप्रभास, पृ० १३–१४।

नागार्जुन ने इस सूत्र का उल्लेख किया है तथा २२३ ई० मे इसका चीनी अनुवाद हुआ था। इसका रचनाकाल सम्भवतः ईसवी सन् के आरम्भ के निकट मानना चाहिए। पाण्डुलिपियों और चीनी अनुवादों को देखने से सूझता है कि कदाचित् इस सूत्र की दो शाखाएँ थी जिनमें एक अपेक्षाकृत स्वल्पाकार थी।

निदानपरिवर्त में **सद्धर्म०** को वैपुल्यसूत्रराज कहा गया है। 'उपायकौशल' में कहा है कि आपाततः तीन यान हैं जबकि अन्ततः एक बुद्धयान ही मानना चाहिए। श्रावक और प्रत्येक बुद्ध तथागत का आशय ठीक समझने के अधिकारी नहीं है, अतएव उनके लिए निर्वाण का मार्ग प्रदर्शित किया गया। अनेक परिवर्तो में इसका विस्तार एवं उदाहरण दिये गये है। मार्गभेद वास्तविक नहीं, उपायमात्र है, हीनयान का लक्ष्य है एक विश्राममात्र।

अध्याय ९

बुद्ध और बोधिसत्त्व का रूपान्तर

बुद्ध की विभूति—त्रिकायवाद का वास्तविक मूल

भगवान् बुद्ध के समसामयिक उन्हें मरणधर्मा मनुष्य ही मानते थे। उनके शिष्य उन्हें सिद्ध, बुद्ध, महापुरुष समझते हुए भी उनके जन्म, शैशव, दार-परिग्रह, सन्तानोत्पत्ति, रोग, जरा एव मरण को अन्य मनुष्यों के सदृश और वास्तविक मानते थे। जन्म से मरण तक ये सब धर्म भौतिक देह के नियत अनुबन्धी हैं। भौतिक देह कर्मजन्य है, कर्ममय है—यह उपनिषदों में, प्राचीन बौद्धों में तथा अन्य परिव्राजकों में अभ्युपगत था। शाक्यमुनि के अन्तिम जन्म के पहले अनादि संसार-प्रवाह में उनके असंख्य पूर्व-जन्म स्वीकार करने होंगे। इन पूर्वजन्मों के कर्म ने ही उन्हें अन्तिम जन्म की साधना के योग्य देह प्रदान की जो महापुरुषों के लक्षणों से समन्वित थी। सम्बोधि में अशेष कर्मबीजों के दग्ध हो जाने से 'परिनिर्वाण' के साथ ही देह से उनकी अत्यन्त-निवृत्ति सम्पन्न हो गयी।

तथागत के मूल शिष्यों में एवं स्थविरवादियों में यही धारणा प्रचलित रही है। किन्तु इसमें अनेक कारणों से सन्देह का उत्पन्न होना स्वाभाविक था। संसारवादियों में प्रायः भौतिक देह के अतिरिक्त एक अभौतिक जीव अथवा आत्मा स्वीकार किया जाता था। इस जीव अथवा आत्मा के ही देह से संयोग अथवा वियोग होने पर जन्म, मृत्यु अथवा मोक्ष निष्पन्न होते हैं। बुद्ध-वचन में आत्म-सत्ता मौन-कवलित है। अतः देह का प्रतियोगी तत्त्व चित्त ही माना जाता था। ऐसी स्थिति में यह प्रश्न उठना स्वाभाविक था कि निर्वाण में देह और चित्त-सन्तति का अत्यन्त निरोध होने पर क्या शेष रहता है? कुछ शेष रहता है, यह निश्चित है क्योंकि तथागत ने उच्छेदवाद का स्पष्ट निषेध किया था। परिनिर्वाण के अनन्तर यदि तथागत की सत्ता अवर्णनीय है तो परमार्थतः जीवन-काल में भी वैसी ही मानना युक्त होगा। देहात्मक उपाधि से निर्दिष्ट सत्ता प्रज्ञप्तिमात्र, संवृतिमात्र है। तथागत की प्रातिभासिक सत्ता लोकवत् काय-चित्त-प्रतिसयुक्त है, उनकी पारमार्थिक सत्ता अवर्णनीय है। पहले यह कहा जा चुका है कि इस पारमार्थिक सत्ता के स्वरूप का मूल बुद्धवाणी में कुछ-कुछ वैसा ही संकेत है जैसा

उपनिषदों के अद्वैतपरक वचनों में आत्मा अथवा ब्रह्म का। सम्बोधि अथवा निर्वाण में द्वैताश्रित तर्क अथवा वाणी अवगाहन नहीं करती। इसी कारण सम्बुद्ध को 'ब्रह्मभूत' 'धर्मभूत', तथा 'धर्मकाय' कहा गया है। सम्बोधि में 'धर्म' की ही अधिगति होती है। 'धर्म' ही बुद्ध का वास्तविक स्वरूप, वास्तविक बुद्ध है। प्रकारान्तर से इसे द्वैतातीत चित्त अथवा विज्ञान कहा जा सकता है—'अप्रतिष्ठित', 'विसंस्कारगत, ' 'अनन्त', 'सर्वतः-प्रभ'। इसे सम्बोधि अथवा प्रज्ञा से भिन्न नहीं किया जा सकता। बुद्ध के सम्बोधिसार पारमार्थिक स्वरूप को दृष्टि में रखते हुए उन्हें मनुष्य अथवा देवता, मार अथवा ब्रह्मा सबसे विलक्षण मानना चाहिए[1]। ये सब त्रिलोकी के अन्तःपतित हैं, बुद्ध तदुत्तीर्ण। यही धारणा महायान में बुद्ध की 'स्वाभाविक-काय' अथवा 'धर्म-काय' का प्राचीन आधार है। वेदान्त के निर्विशेष सद्रूप निर्गुण ब्रह्म अथवा निर्विशेष चिद्रूप आत्म-तत्त्व से इसका दृष्टिभेद एवं साधन-भेद के कारण प्रतिपत्तिभेद होते हुए भी पारमार्थिक अभेद है।

प्राचीन काल से ही योगियों में यह परम्परा प्रचलित रही है कि योगाभ्यास से नाना सिद्धियों का लाभ होता है जिनमें भौतिक देह का रूपान्तर एक विशेष स्थान रखता है। **श्वेताश्वतरोपनिषद्** में कहा गया है 'न तस्य रोगो न जरा न मृत्युः—प्राप्तस्य योगाग्निमयं शरीरम्।" इस प्रकार की 'योगाग्निमय' अथवा 'सिद्ध' देह को साधारण पार्थिव देह कैसे माना जाय? जो योगी यथेष्ट रूप धारण कर सकता है, यथेष्ट जन्म-ग्रहण कर सकता है, जरा-मरण का वर्जन कर सकता है, यहाँ तक कि देहान्तर का यथेष्ट निर्माण कर सकता है, उसकी अपनी अजर, अमर, इच्छानुरूप देह को ऐश्वर्य-सम्पत्ति अथवा शक्तिमात्र के अतिरिक्त और क्या कहा जा सकता है? यही ऐश्वर्य-विग्रह महायान में सम्भोग-काय के नाम से प्रसिद्ध हुआ। इस रूप में बुद्ध ईश्वर-तुल्य प्रतीत होते हैं।

साधकों और सिद्धों के जीवनचरित के पर्यालोचन से यह निस्सन्देह प्रतीत होता है कि उनमें वैराग्य, शान्ति, अथवा शुद्धि समान रूप से होते हुए भी ज्ञान और ऐश्वर्य में भेद बना रहता है। इस कारण जहाँ अर्हत् और बुद्ध का भेद करना स्वाभाविक था, वहीं यह प्रश्न भी अनिवार्य था कि क्या बुद्ध-सदृश ऐश्वर्यशाली महापुरुष को कभी भी वस्तुतः अज्ञानी अथवा असमर्थ माना जा सकता है? क्या यह मानना ठीक नहीं होगा कि उनका लोक-जीवन केवल अनुग्रह के लिए प्रकाशित एक प्रकार की लीलामात्र

१—तु०—अंगुत्तर (रो०), जि० २, पृ० ३८।

है ? यदि कोई मनुष्य साधना के द्वारा ईश्वरत्व प्राप्त करता देखा जाता है तथा अनेक अन्य मनुष्य आपाततः उसी साधना से समान फल नहीं प्राप्त करते, तो यह मानना उचित होगा कि वह मनुष्य वस्तुतः 'ईश्वर' का ही 'अवतार' है। 'ईश्वर' ही अपनी 'माया' अथवा अचिन्त्य-शक्ति से लोक में अवतीर्ण होते हैं तथा लोकसंग्रह के लिए 'कर्म' करते हैं। लौकिक बुद्ध को भी ऐश्वर्यशाली अलौकिक बुद्ध का 'अवतार' अथवा 'निर्माण' मानना चाहिए। बौद्धों के निर्माण-काय को ही योगदर्शन में निर्माण-चित्त कहा गया है[2]। बाहर से कायवत् प्रतीत होते हुए भी यह वस्तुतः चित्त ही है। कर्मजन्य न होने के कारण शुद्ध और अभ्रान्त उपदेश का माध्यम यही हो सकता है। कपिल ने इसी के सहारे पञ्चशिख को उपदेश किया था। एक प्राचीन बौद्ध सन्दर्भ में भी 'मनोमय काय' के द्वारा साक्षात् उपदेश का उल्लेख है।

इस प्रकार यह देखा जा सकता है कि तथागत का अद्वय-ज्ञान और अलौकिक योग-बल ही महायान के 'त्रिकाय'—धर्मकाय, सम्भोगकाय, तथा निर्माणकाय—का वास्तविक मूल हैं। इन तीन कायों की तुलना क्रमशः 'ब्रह्म', 'ईश्वर' तथा 'अवतार' से की जा सकती है।

रूपकाय और धर्मकाय—हीनयानी सम्प्रदायों में तथा प्रारम्भिक महायान-सूत्रों में केवल दो कायों की ही चर्चा है—रूपकाय तथा धर्मकाय। अलग-अलग सन्दर्भों में इन दोनों शब्दों का भी नाना विभिन्न अर्थों में प्रयोग किया गया है। पीछे, विशेषतः विज्ञानवादी ग्रन्थों में, त्रिकायवाद का स्पष्ट और उपर्युक्त शब्दों में विवरण उपलब्ध होता है।

अपने दर्शनार्थी वक्कलि से तथागत की उक्ति—'अलं वक्कलि किं ते पूतिकायेन दिट्ठेन। यो खो वक्कलि धम्मं पस्सति सो मं पस्सति। यो मं पस्सति सो धम्मं पस्सति[3]।' —में उनकी भौतिक देह को 'पूतिकाय' कहा गया है तथा धर्म को ही उनकी वास्तविक देह बताया गया है। यहाँ धर्म से तात्पर्य सम्भवतः देशना अथवा शासन से है। अन्यत्र धर्म-शासन को ही बुद्धस्थानीय मानकर उनके अनन्तर शास्तृपद पर प्रतिष्ठित किया गया है। परवर्ती स्थविरवादी आचार्यों ने बुद्ध की रूप-काय एवं धर्मकाय के भेद का उल्लेख

२—योगसूत्र, ४.४; द्र०—म० म० गोपीनाथ कविराज, निर्माणकाय, सरस्वती भवन स्टडीज़, जि० १।

३—संयुत्त (ना०) जि० २, पृ० ३४१।

किया है।[४] रूप-काय भौतिक देह है, महापुरुष-लक्षण, व्यञ्जनानुव्यञ्जन-प्रतिमण्डित। धर्म-काय उनका उपदिष्ट धर्म है अथवा उनकी विशुद्ध पुण्य-गुण-राशि है जिसमें शील, समाधि, प्रज्ञा, विमुक्ति, एवं विमुक्तिज्ञानदर्शन नाम के पाँच स्कन्ध संगृहीत हैं। यह विचारणीय है कि यहाँ धर्म-काय का **दो भिन्न प्रकार** से निरूपण किया गया है। **अट्ठसालिनी** में 'निर्मित' बुद्धों का उल्लेख है तथा अभिधर्म का परामर्श करते हुए बुद्ध की देह से छः वर्णों की रश्मियों के निर्गमन का भी उल्लेख है।[५] ये दोनों बातें सम्भवतः महायान-सूत्रों का प्रभाव द्योतित करती हैं।

सर्वास्तिवाद में बुद्ध—सर्वास्तिवादियों के आगमों में देशित-धर्म-राशि के रूप में बुद्ध की धर्म-काय का विवरण मिलता है। **दिव्यवदान** में भी रूप-काय और धर्म-काय का भेद उल्लिखित है। श्रोण कोटिकर्ण की उक्ति है—'दृष्टो मयोपाध्यायानुभावेन स भगवान् धर्मकायेन, नोतु रूपकायेन[६]।' स्थविर उपगुप्त की भी ऐसी ही उक्ति दी गयी है—'यदहं वर्षशतपरिनिर्वृते भगवति प्रव्रजितः, तद्धर्मकायो मया तस्य दृष्टः। त्रैलोक्यनाथस्य काञ्चनाद्रिनिभस्तस्य न दृष्टो रूपकायो मे[७]।' रूप-काय अनित्य है, किन्तु मृन्मयी देव-प्रतिमा के समान उसकी आकृति भी पूजनीय है। यह दृष्टिकोण ऊपर उल्लिखित 'किं ते पूतिकायेन दिट्ठेन' से बहुत भिन्न है। पहले केवल धर्मकाय अथवा धर्म-शासन पर आग्रह था, यहाँ रूप-काय अनित्य होते हुए भी दर्शनीय तथा अर्चनीय मानी गयी है। यह दृष्टि-भेद एवं भक्ति का उदय ही बुद्धप्रतिमा के आविर्भाव का प्रधान कारण था।

अभिधर्मकोश में बुद्ध-सम्बन्धी सर्वास्तिवादी विचारों का चरमोत्कर्ष उपलब्ध होता है। कोश के प्रारम्भ में ही कहा गया है कि केवल बुद्ध ही सर्वज्ञ हैं। प्रत्येक बुद्ध और श्रावक क्लिष्ट-सम्मोह से मुक्त होते हुए भी अक्लिष्ट-सम्मोह से अत्यन्त-विनिर्गत नहीं होते। वे आवेणिक आदि बुद्ध-धर्मों को नहीं जानते, देशतः और कालतः अति-विप्रकृष्ट अर्थों का ज्ञान नहीं रखते, तथा रूपादि धर्मों के भी अनन्त-प्रभेदों के ज्ञान से रहित हैं। इसके समर्थन में यशोमित्र एक सूत्र से उद्धृत करते हैं—"जानीषे त्वं शारिपुत्र तथागतस्य शीलस्कन्धं समाधिस्कन्धं प्रज्ञास्कन्धं विमुक्तिस्कन्धं विमुक्तिज्ञानदर्शन-

४–द्र०—विसुद्धिमग्गो, सद्धम्मसंगहो; तु०—दत्त, महायान, पृ० १०१-२।

५–द्र०—ऊपर।

६–दिव्यावदान (ना०), पृ० ११।

७–वही, पृ० २२५।

स्कन्धमिति भगवता पृष्टेन स्थविरशारद्वतीपुत्रेणोक्तं नोहीदं भगवन्निति।"[8] अपनी ज्ञानमहिमा के कारण केवल बुद्ध ही सब जीवों में कुशल-मूल पहिचान सकते हैं एवं जगत् का दुःख-पंक से उद्धार कर सकते हैं।[9]

आवेणिक धर्म—बुद्ध के अपने आवेणिक (असामूहिक, पृथक्, विशिष्ट) धर्म १८ हैं—दश बल, चार वैशारद्य, तीन स्मृत्युपस्थान, एवं महाकरुणा। यशोमित्र इसे वैभाषिकों का मत बताते हैं। अन्य आचार्यों के अनुसार आवेणिक धर्म इस प्रकार है—'नास्ति तथागतस्य स्खलितं नास्ति रवितं(=सहसा क्रिया), नास्ति द्रवता(=क्रीडाभिप्रायता), नास्ति नानात्वसंज्ञा (=सुखदुःखादुःखासुखेषु विषयेषु रागद्वेषमोहतो नानात्वसंज्ञा), नास्त्यव्याकृतमनः, नास्त्यप्रतिसंख्यायोपेक्षा, नास्त्यतीतेषु प्रतिहतं ज्ञानदर्शनम्, नास्त्यनागतेषु प्रतिहतं ज्ञानदर्शनं, नास्ति प्रत्युत्पन्नेषु प्रतिहतं ज्ञानदर्शनम्, सर्व कायकर्म ज्ञानानुपरिवर्ति, सर्वं वाक्कर्म ज्ञानानुपरिवर्ति, सर्व मनस्कर्म ज्ञानानुपरिवर्ति, नास्ति छन्दहानिः, नास्ति वीर्यहानिः, नास्ति स्मृतिहानिः, नास्ति समाधिहानिः, नास्ति प्रज्ञाहानिः, नास्ति विमुक्तिज्ञानदर्शनहानिः[10]।' महाव्युत्पत्ति में भी इनका अल्प-भेद के साथ उल्लेख है। निर्देश का क्रम भिन्न है, एवं 'नास्ति द्रवता' के स्थान पर 'नास्ति मुषितस्मृतिता' है, तथा 'नास्त्यव्याकृतमनः' के स्थान पर 'नास्त्यसमाहितचित्तम्' है। **महावस्तु**, तथा पालि **अभिधानप्पदीपिका** एवं **जिनालंकार** में भी सदृश आवेणिकसूचियाँ दी गयी हैं। माहायानिक बोधिसत्त्वभूमि में आवेणिक १४० कहे गये हैं—३२ लक्षण, ८० अनुलक्षण, ४ सर्वाकारविशुद्धि, १० बल, ४ वैशारद्य, ३ स्मृत्युपस्थान, ३ आरक्षण, महाकरुणा, असम्प्रमोष धर्मता, वासना-समुद्घात, तथा सर्वाकार-वर-ज्ञान। यह विचारणीय है कि इस सूची में 'रूप-काय' के लक्षण भी आवेणिक-धर्मों में संगृहीत हैं। शेष सूचियों में केवल 'धर्म-काय' के ही लक्षण परिगणित हैं।

दस बल—तथागत के दस बलों के **पटिसम्भिदामग्ग** और **विभङ्ग** में, तथा **महावस्तु** में प्राचीन उल्लेख मिलते हैं। **महाव्युत्पत्ति** में इनकी सूची इस प्रकार दी हुई है—स्थानास्थानज्ञानबल, कर्मविपाकज्ञानबल, नानाधिमुक्तिज्ञानबल, नानाधातुज्ञानबल, इन्द्रियपरापरज्ञानबल, सर्वत्रगामिनी-प्रतिपज्ज्ञानबल, सर्व-ध्यान-विमोक्ष-समाधि-समापत्ति-संक्लेश-व्यवदान-व्युत्थान-ज्ञान-बल, पूर्वनिवासानुस्मृतिज्ञानबल, च्यत्युप-

८—स्फुटार्था, पृ० ४–५।

९—स्फुटार्था, वहीं।

१०—वही, पृ० ६४०–४१।

पत्तिज्ञानबल, आस्रवक्षयज्ञानबल। कुछ क्रम-भेद से यही कोश में कहा गया है[११]—यशोमित्र ने इस प्रसंग में एक प्राचीन सूत्र का विस्तृत उद्धरण दिया है[१२]। यह स्मरणीय है कि महावग्ग में बुद्ध को 'दशबल' कहा है। **संयुत्तनिकाय** में एक संयुत्त ही 'दसबल संयुत्त' कहा गया है। स्थानास्थानज्ञानबल का अर्थ है—सम्भव और असम्भव का ज्ञान। यह विषयभेद से दशविध है। इसके दस विषय इस प्रकार हैं—चित्तसम्प्रयुक्त-कामधातुक-संस्कृत-धर्म,चित्त-सम्प्रयुक्त-रूप-धातुक—,—अरूप—,—अनास्रव—; चित्त-विप्रयुक्त-कामधातुक—, चित्तविप्रयुक्त-रूपधातुक—, —अरूप—, —अनास्रव—, कुशलासंस्कृत, अव्याकृतासंस्कृत। कर्म और कर्म-फल का ज्ञान अष्टविध है। नानाधिमुक्तिज्ञान से तात्पर्य विभिन्न सत्त्वों की विविध रुचि एवं अभीप्सा के ज्ञान से है। इस प्रसंग में 'धातु' का अर्थ है—'पूर्वाभ्यासवासनासमुदागतः आशयः' अर्थात् पूर्व अभ्यास से उत्पादित स्वभाव। बुद्ध सत्त्वों के विविध वासनात्मक स्वभाव को जानते हैं। इन्द्रियपरापरज्ञान का अर्थ है नाना सत्त्वों की श्रद्धा, वीर्य और इन्द्रियों की समर्थता अथवा असमर्थता का बोध। सर्वत्रगामिनी प्रतिपदाएँ निरयादिगामिनी हैं। ध्यान चार हैं, विमोक्ष आठ, समाधि तीन, समापत्ति असंज्ञि० और निरोध तथा नौ अनुपूर्व विहारसमापत्तियाँ हैं। पूर्वनिवास तथा च्युत्युपपाद का ज्ञान संवृत्तिज्ञान है।

ये दसबल चैतसिक हैं। इनके अनुरूप बुद्ध का शरीर-बल भी विपुल अथवा अप्रमाण है, यह कायिक बल स्प्रष्टव्य आयतन के अन्तर्गत है। इसका प्रमाण विविध रूप से निर्धारित किया गया है। एक मत से बुद्ध का कायिक बल एक 'नारायण' के समान है। एक प्राकृतहस्ती से दस गुना बल गन्धहस्ती में होता है, उससे दसगुना महानग्न में, महानग्न से दस गुना प्रस्कन्दी में, प्रस्कन्दी से वराङ्ग में, वराङ्ग से चाणूर और चाणूर से नारायण में। एक अन्य मत से दस चाणूर केवल अर्धनारायण के बराबर होते हैं। मतान्तर से बुद्ध-काय की १८ सन्धियों में से प्रत्येक में इतना बल है। बुद्ध के शरीर की अस्थि सन्धियाँ 'नागग्रन्थि' अथवा 'नागपाश' कही जाती हैं। प्रत्येक बुद्ध की देह में शङ्कला-सन्धियाँ होती हैं, चक्रवर्ती की शङ्कुसन्धियाँ होती हैं। दार्ष्टान्तिक आचार्य के मत से बुद्ध का कायबल भी उनके मानस बल के समान अनन्त है। इस काय-बल को महाभूत-विशेष अथवा भौतिक कहा गया है। किन्तु यह भौतिक

११—कोश, ७.२८—२९।

१२—स्फुटार्था, पृ० ६४१।

(अथवा उपादाय रूप) प्रसिद्ध सप्तविध भौतिकों से अपने श्लक्ष्णत्व आदि के कारण विलक्षण है।

चार वैशारद्य—तथागत के चार वैशारद्य इस प्रकार हैं—(१) सर्व-धर्माभिसम्बोधिवैशारद्य, (२) सर्वास्रवक्षयज्ञानवैशारद्य, (३) अन्तरायिकधर्मव्याकरण वैशारद्य, (४) नैर्याणिक प्रतिपद्व्याकरण वैशारद्य। इनमें पहला वैशारद्य स्थानास्थानज्ञानबल से सम्बन्ध रखता है, दूसरा आस्रवक्षयज्ञानबल से, तीसरा कर्मविपाकज्ञानबल से, तथा चौथा सर्वत्रगामिनीप्रतिपज्ज्ञानबल से।

वैशारद्य के अर्थ हैं 'निर्भयता' अथवा भरोसा। 'निर्भयता हि वैशारद्यम्'। वैभाषिकों के मत से 'इन ज्ञानों से निर्भय होते हैं', अतएव ज्ञान ही वैशारद्य हैं। वसुबन्धु के मत से 'ज्ञानकृतं तु वैशारद्यं न ज्ञानमेवेति।' ज्ञानरूप चैतसिक-धर्म भयरूप चैतसिक धर्म का प्रतिपक्षभूत है। ज्ञान हेतु है, निर्भयता फल। अतः दोनों भिन्न हैं।

स्मृत्युपस्थान स्मृतिसम्प्रज्ञानात्मक हैं। सूत्र के अनुसार स्मृत्युपस्थान तीन हैं—शुश्रूषमाण शिष्यों को उपदेश देते हुए बुद्ध को नन्दि, सौमनस्य अथवा चित्त का उत्प्लव नहीं होता; अशुश्रूषमाण शिष्यों को उपदेश देने में उन्हें अक्षान्ति, अप्रत्यय अथवा चित्त की अनभिराद्धि नहीं होती, शुश्रूषु और अशुश्रूषु शिष्यों की मिश्र-परिषद् में भी वे उपेक्षक और स्मृतिमान् रहते हैं। इस प्रकार की उपेक्षा अंशतः बुद्ध के श्रावकों में भी होते हुए भी मानना होगा कि शुश्रूषा के विषय में नन्दि-द्वेष का सवासन-प्रहाण बुद्ध के लिए ही सम्भव है।

महाकरुणा—बुद्ध की महाकरुणा साधारण श्रावक की करुणा से विभिन्न है[१३]। महाकरुणा संवृति की प्रज्ञा है, करुणा अद्वेष है। पुण्य और ज्ञान के महान् सम्भार से महाकरुणा का समुदागम होता है। तीन दुःखताओं को महाकरुणा लक्षित करती है, करुणा केवल दुःखदुःखता को ही आकारित करती है। तीनों धातुओं के सत्व महाकरुणा के आलम्बन हैं। यह स्मरणीय है कि वसुमित्र के अनुसार सर्वास्तिवादियों के मत से बुद्ध की करुणा का आलम्बन 'सत्त्व' नहीं होते क्योंकि वे स्कन्ध-सन्ततियों पर आरोप-मात्र हैं। महाकरुणा सब सत्त्वों के हित-सुख में समत्व-पूर्वक व्यापृत है एवं समस्त अन्य करुणा से अधिमात्र है। प्रज्ञास्वभाव होने के कारण ही महाकरुणा संस्कार-दुःखताकार एवं तीक्ष्णतर हैं।

करुणा अद्वेष है, महाकरुणा अमोह। करुणा दुःख का एक आकार ग्रहण करती

१३—कोश, ७.३३।

है, महाकरुणा तीन। करुणा कुछ लोगों को आलम्बन बनाती है, महाकरुणा सब को। करुणा की भूमि ध्यानचतुष्टय है, महाकरुणा की चतुर्थध्यान। करुणा पृथग्जन, श्रावक एवं प्रत्येक बुद्धों में आश्रय पाती है, महाकरुणा बुद्ध में। करुणा कामधातु विषयक वैराग्य से उत्पन्न होती है, महाकरुणा भवाग्रविषयक वैराग्य से। करुणा परित्राण नहीं करती, महाकरुणा परित्राण करती है। 'करुणया श्रावकादयः करुणायन्त एव केवलम् अनुग्ल्यायन्त्येवेत्यर्थः। न संसारभयात् परित्रायन्ते।' करुणा केवल दुःखितों की ओर अभि-मुख है, महाकरुणा सब की ओर।

बुद्ध केवल जम्बूद्वीप में ही हो सकते हैं। अनेक बुद्धों की सत्ता हीनयान-सम्मत थी। **सर्वास्तिवादी** विभिन्न बुद्धों की नाना क्षेत्रों में[१४] समकालिक सत्ता भी स्वीकार करते थे। **विभाषा** के अनुसार समस्त बुद्धों की संख्या गंगा-तीर के सैकत-कणों से भी अधिक है। सब बुद्धों की सम्भार, धर्मकाय, जाति और शरीर के प्रमाण आदि में समता नहीं है। स्थविरवादी भी शरीर, आयु एंव प्रभा में बुद्धों की वैमात्रता अथवा भेद स्वीकार करते थे।

यशोमित्र के अनुसार 'अनास्रवधर्मसम्भार-सन्तानो धर्मकायः आश्रयपरिवृत्तिर्वा।' आश्रय-परिवृत्ति का अर्थ है नाम-रूप का परिवर्तन अर्थात् विशुद्ध नव-निर्माण। बोधि-कारक अशैक्ष धर्म ही बुद्ध का धर्मकाय है। इन धर्मों में क्षयज्ञान, अनुत्पाद-ज्ञान, सम्यग्दृष्टि तथा उनके परिवारभूत पाँच अनास्रव स्कन्ध संगृहीत हैं। बुद्ध की धर्मकाय ही शरण्य है। बुद्ध की रूप-काय अन्ततः बोधिसत्त्व की रूप-काय से अभिन्न है। यह लक्षणों और अनुव्यञ्जनों से युक्त, नारायण-बल से समन्वित, आभ्यन्तर अवलोकन में वज्रसारास्थिशरीरतासम्पद् से सम्पन्न, तथा बहिर्धा अवलोकन में रश्मि-प्रभास्वर है।

यह स्पष्ट है कि सर्वास्तिवादी मत में बुद्ध को अद्भुत शक्तिशाली विलक्षण पुरुष स्वीकार किया गया है जिसकी देह भौतिक है, चित्त सर्वज्ञ। बुद्ध महाकारुणिक हैं और उनके प्रति भक्ति स्वाभाविक है।

महासांघिक मत—महासांघिकों में बुद्ध की रूप-काय को अनन्त और अनास्रव माना जाता था। अनेक कल्पों में पुण्य के प्रभाव से उन्हें यह शरीर प्राप्त हुआ था। परमार्थ के अनुसार यह अनन्तता त्रिविध है—आकार-कृत, संख्या-कृत, एवं हेतु-कृत।[१५] बुद्ध बड़े-छोटे नाना आकारों में, एवं यथेष्ट संख्या के शरीरों में प्रकट होते हैं तथा असंख्य कुशल-मूलों से उत्पादित धर्मों से उनकी काय घटित है। लोक में दृश्य

१४—तु०—कोश, ३.९६।
१५—बारो, पूर्व, पृ० ५९।

उनकी काय वास्तविक न होकर केवल निर्माण-काय है। उनकी वास्तविक रूप-काय अमर है और उनकी आयु अनन्त। अनन्त करुणा को चरितार्थ करने के लिए अनन्त आयु चाहिए ही। जन्म, बोधि, निर्वाण आदि की विभिन्न लीलाओं को बुद्ध निर्माण अथवा मायिक सृष्टि की तरह प्रदर्शित करते हैं। वस्तुतः वे अपनी पूर्व-जन्मार्जित 'सम्भोग-काय' में स्थित रहते हैं। यह स्मरणीय है कि 'सम्भोग-काय' का उल्लेख वसुमित्र में न होकर उसकी परवर्ती व्याख्या में उपलब्ध होता है। बुद्ध नित्य समाधिस्थ हैं। एक ही क्षण में उनका चित्त सब कुछ जान सकता है। उनके क्षय-ज्ञान और अनुत्पाद-ज्ञान के प्रवाह में कोई विच्छेद नहीं होता। बुद्ध सब दिशाओं में स्थित और सब द्रव्यों में विद्यमान हैं। विना कुछ कहे ही वे धर्म-देशना करते हैं।

महासांघिक मत में बुद्ध लोकोत्तर घोषित किये गये हैं, क्योंकि वे अनास्रव और अमर हैं। उनकी एक मायिक निर्माणकाय है, एक वास्तविक रूप-काय जो माहायानिक सम्भोग-काय से तुलनीय है। रूप -काय का अर्थ यहाँ सर्वथा विलक्षण है। बुद्ध की सिद्धि तथा विशुद्धि उन्हें महादेवोपम बना देती है। बुद्ध की रूपकाय विपाकजन्य थी अथवा नहीं, इस पर हीनयानी सम्प्रदायों में मत-भेद था। सर्वास्तिवादियों में उसे विपाकज माना जाता था जैसा कि **विभाषा, कोश** और **व्याख्या** से स्पष्ट है[16]। देवदत्त-कृत सघभेद तथा बुद्ध-लोहितोत्पाद को शाक्य-मुनि के पूर्व-कर्म का विपाक बताया गया है। **मिलिन्दपञ्ह** में एक विलक्षण मत की उद्भावना की गयी है। पूर्व-कर्म के अतिरिक्त अनेक अन्य कारणों से भी, तात्कालिक भोग का बहुधा प्रादुर्भाव होता है। इन्हीं बाह्य एवं आगन्तुक कारणों से बुद्ध के रोग, क्षत आदि उत्पन्न हुए थे। यह स्मरणीय है कि इस मत का बीज प्राचीन है एवं आगमों में उपलब्ध होता है[17]।

महासांघिक बुद्ध एवं बोधिसत्त्व को 'उपपादुक' मानते थे, सर्वास्तिवादी जरायुज। 'उपपादुक', 'औपपादुक', 'औपपातिक', अथवा 'उपपत्तिक' सत्त्वों की बौद्ध साहित्य में अनेकत्र चर्चा उपलब्ध होती है। जो सत्त्व सकृत् उत्पन्न होते हैं, जिनकी इन्द्रियाँ अविकल और अहीन हैं और जो सर्व अंग-प्रत्यंग से उपेत हैं, इन्हें उपपादुक कहते हैं क्योंकि वह उपपादन-कर्म में प्रवीण हैं, क्योंकि वह सकृत्(कलिलादि अनुक्रम से नहीं, शुक्र-शोणित उपादान के बिना) उत्पन्न होते हैं। देव, नारक, अन्तराभव ऐसे सत्त्व हैं[18]।

१६—द्र० दत्त, महायान, पृ० १०९।

१७—मिलिन्द, पृ० १३७—४०।

१८—कोश, ३, पृ० २७—२८।

सर्वास्तिवादियों के अनुसार चरमभविक बोधिसत्त्व को उपपत्तिवशित्व प्राप्त होता है, किन्तु तब भी वह जरायुजोपपत्ति पसन्द करते हैं। इसके दो कारणों का निर्देश किया गया है। यह देखकर कि मनुष्य होकर भी बोधिसत्व ने सिद्धि प्राप्त की है, मनुष्यों का उत्साह बढ़ता है। यदि बोधिसत्त्वों की जरायुजोपपत्ति न होती तो लोगों को उनके कुल का ज्ञान न होता और वे कहते 'यह मायावी कौन है, देव या पिशाच ?" वैसे भी अन्य तीर्थिक तथागत को मायावी बताते हैं। दूसरे, बोधिसत्त्व जरायुजयोनि से इसलिए उत्पन्न होते हैं कि निर्वाण के अनन्तर उनकी शरीर-धातु का अवस्थापन हो सके। इन शरीर-धातुओं की पूजा से हजारों मनुष्य तथा अन्य सत्व स्वर्गापवर्ग का लाभ करते हैं। यह स्मरणीय है कि औपपादुक सत्त्वों का शरीर बाह्य बीज के अभाव से मृत्यु के पश्चात् निरवशेष लुप्त हो जाता है।

संक्षेपतः यह कहा जा सकता है कि सभी हीनयानी यह मानते थे कि साधकों की तीन कोटियाँ हैं—श्रावक, प्रत्येक-बुद्ध, तथा बोधिसत्त्व। श्रावक पुण्यात्मा पुरुष हैं जो बुद्ध का उपदेश प्राप्त कर अर्हत्त्व तक प्रगति करते हैं। प्रत्येक बुद्ध बोधि प्राप्त करते हैं, किन्तु वे न शिष्य होते हैं, न गुरु। बोधिसत्त्व अनेक जन्मों में अर्जित पुण्य और ज्ञान के सहारे अपनी परमभविक विशिष्ट रूप-काय प्राप्त करते हैं तथा सम्यक् सम्बुद्ध हो कर अपने विलक्षण ज्ञान, बल, महाकरुणा आदि के द्वारा अर्हत् और प्रत्येक-बुद्ध से विशिष्ट होते हैं। स्थविरवादी और सर्वास्तिवादी बुद्ध की एक मनुष्योचित्त, जरायुज और विपाकज 'रूप-काय' अथवा भौतिक देह मानते थे तथा उसके अतिरिक्त एक 'धर्म-काय' जो कि तथागत की उपदेश-राशि अथवा उनके विशुद्ध गुणों का नाम था। महासांघिक बुद्ध और बोधिसत्व को सर्वथा लोकोत्तर उपपादुक एवं अधिष्ठानऋद्धि सम्पन्न मानते थे और उनकी लोक-दृष्टि देह को मायिक अथवा 'निर्मित' तथा उनकी वास्तविक 'रूप-काय' को माहायानिक 'सम्भोग-काय' के सदृश अनन्त और अमर मानते थे।

महासांघिक 'रूप-काय' पूर्व-पुण्यों का परिणाम, अत्यन्त विशुद्ध, अनन्त प्रभामय, तथा आधिष्ठानिक ऋद्धि के द्वारा यथेष्ट स्थान पर यथेष्ट रूप-धारण में समर्थ है। यही माहायानिक 'सम्भोग-काय' का पूर्व-रूप है। **ललितविस्तर, सद्धर्मपुण्डरीक** आदि सूत्रों में इसका नामतः उल्लेख नहीं है, किन्तु बुद्ध-काय की समस्त लोक-धातुओंको आलोकित करनेवाली प्रभास्वरता का इनमें बहुधा वर्णन किया गया है। महासांघिक 'निर्माणकाय' का महायान में सर्वथा स्वीकार कर लिया गया है। 'धर्म-काय' का 'धर्म' के साथ महायान में पुनर्व्याख्यान हुआ। 'धर्मता' या परमार्थ को ही अन्ततः 'स्वाभाविक-काय' अथवा धर्म-काय कहा गया।

महायान-सूत्र और शास्त्र

सद्धर्मपुण्डरीक के 'तथागतायुष्प्रमाण' नाम के पन्द्रहवें परिवर्त में तथागत बोधिसत्त्वों से कहते हैं—"तेन हि कुलपुत्राः शृणुध्वमिदमेवरूपं ममाधिष्ठानबलाधानं यदयं कुलपुत्राः सदेवमानुषासुरो लोक एवं संजानीते। साम्प्रतं भगवता शाक्यमुनिना तथागतेन शाक्यकुलादभिनिष्क्रम्य गयाह्वये महानगरे बोधिमण्डवराग्रगतेनानुत्तरा सम्यक्सम्बोधिरभिसम्बुद्धेति। नैवं द्रष्टव्यम्। अपि तु खलु पुनः कुलपुत्राबहूनि मम कल्पकोटिनयुतशतसहस्राण्यनुत्तरां सम्यक्सम्बोधिमभिसम्बुद्धस्य—यतः प्रभृत्यहं कुलपुत्रा अस्यां सहायां लोकधातौ सत्वानां धर्मं देशयाम्यन्येषु च लोकधातुकोटिनयुतशतसहस्रेषु। ये च मया कुलपुत्रा अत्रान्तरा तथागता अर्हन्तः सम्यक्सम्बुद्धाः परिकीर्तिताः दीपंकरतथागतप्रभृतयस्तेषां च तथागतानामर्हतां सम्यक्सम्बुद्धानां परिनिर्वाणानि मयैव तानि कुलपुत्रा उपायकौशल्यधर्मदेशनाभिनिर्हारनिर्मितानि। तावच्चिराभिसम्बुद्धो परिमितायुष्प्रमाणस्तथागतः सदा स्थितः। अपरिनिर्वृतस्तथागतः परिनिर्वाणमादर्शयति वैनेयवशेन[१९]।"

अर्थात् असंख्य कल्प पहले ही बुद्ध ने बुद्धत्व प्राप्त कर लिया था। उनकी आयु अपरिमित है तथा उन्होंने वस्तुतः अभी परिनिर्वाण में प्रवेश नहीं किया है। अथवा यह कहा जाय कि उन्होंने संसार और परिनिर्वाण के भेद से व्यतीत सत्य का साक्षात्कार किया है। तथापि वे नानारूपों में प्रकट होकर लोक-हित के लिए उपदेश करते हैं। यह मत पूर्वोक्त महासांघिक मत का अनुवाद-सा प्रतीत होता है। 'एतादृशं ज्ञानबल ममेदं प्रभास्वरं यस्य न कश्चिदन्तः आयुश्च मे दीर्घमनन्तकल्पं समुपार्जितं पूर्व चरित्व चर्याम्[२०]॥'

सुवर्णप्रभास-सूत्र में भी कहा गया है कि अर्चा के लिए बुद्ध के शरीर की सरसों भर भी धातु प्राप्त नहीं हो सकती क्योंकि उनकी देह मानव-देह नहीं है। बुद्ध की केवल धर्म-काय वास्तविक है, लोक-समक्ष प्रकाशित उनका शरीर निर्माण-काय है[२१]। यह स्मरणीय है कि सुवर्णप्रभास के इ-चिंग के अनुवाद में तथा उइगुरी अनुवाद में तीनों कायों पर एक अध्याय उपलब्ध होता है[२२]।

१९—सद्धर्मपुण्डरीक (कलकत्ता, १९५३), पृ० २०६-७।
२०—वहीं, पृ० २१३।
२१—दे०—ऊपर।
२२—त्रिकाय पर द्र०—नोबेल, सुवर्ण प्रभासोत्तमसूत्र, (लाइडेन, १९५८), जि० १, पृ० ४१ प्र०।

पहले कहा जा चुका है कि प्रज्ञापारमिता-सूत्रों में प्राचीनतम **अष्टसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता** है। इसमें केवल रूप-काय तथा धर्म-काय का उल्लेख मिलता है। रूप-काय पूर्व-कर्म का विपाक है, किन्तु विशिष्ट-गुण-शाली है। नागार्जुन के **प्रज्ञापारमिता शास्त्र** में भी दो कायों का उल्लेख है। रूप-काय मानव-काय है जो शाक्य-कुल में उत्पन्न हुई थी। धर्म-काय का आविर्भाव राजगृह में हुआ था[२३]। चीनी **परिनिर्वाणसूत्र** या **सन्धिनिर्मोचन** सूत्र में नागार्जुन की प्रदर्शित दिशा का ही अनुसरण किया गया है। यह सम्भव है कि नागार्जुन के 'सत्य-द्वय' की दृष्टि से रूप-काय और सम्भोग-काय का भेद अनुल्लेख्य है। **पञ्चविंशतिसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता** के आधार पर उसके विशद प्रतिपादन के लिए **'अभिसमयालङ्कारकारिका'** की रचना हुई थी। पीछे पञ्चविंशति-साहस्रिका स्वयं इन कारिकाओं के अनुसार 'संशोधित' की गयी। यह संशोधित संस्करण ही इस समय संस्कृत में उपलब्ध होता है। इसमें बुद्ध की अनन्त ज्योतिर्मय देह का 'आसेचनक आत्मभाव' के नाम से वर्णन किया गया है। पञ्चविंशति-साहस्रिका में 'साम्भोगिक-काय' का पीछे संयोजित उल्लेख प्राप्त होता है। इसके अनुसार बोधिसत्त्व बोधि के अनन्तर व्यञ्जनानुव्यञ्जन-युक्त भास्वरकाय के सहारे बोधिसत्त्वों को महायान का उपदेश देते हैं जिससे उनकी धर्म में अभिरुचि हो। यही सम्भोग-काय है।

मैत्रेयनाथ की **अभिसमयालंकारकारिका** में चार कायों का वर्णन है—स्वाभाविक-काय जो पारमार्थिक है, धर्म-काय जो बुद्धोंकी अपने लिए काय है, सम्भोग-काय जो समुन्नत बोधिसत्वों के उपदेश के लिए हैं, तथा निर्माण-काय जो श्रावकों के उपदेश के लिए है[२४]। इनमें पिछली तीन काय सांवृत हैं। बोधिसत्व की समस्त चर्या निर्माण-काय के द्वारा सम्पन्न होती है। यह निर्माण-काय वस्तुत: धर्म-काय से भिन्न नहीं है।

लंकावतार सूत्र में धर्मता बुद्ध, निष्यन्दबुद्ध, तथा निर्माणबुद्ध का उल्लेख प्राप्त होता है[२५]। यहाँ कहा गया है कि चित्तमात्रता का बोध होने पर निर्माणकाय का लाभ होता है। निर्माणकाय कर्म-प्रभव नहीं है और न उसमें क्रिया अथवा संस्कार हैं। निर्माणकाय वल, अभिज्ञा, एवं वशित्व से युक्त है। निर्माणकाय के द्वारा ही बुद्ध देशना-रूप तथागत-कृत्य सम्पादित करते हैं। इस निर्माणकाय की योगि-गण-प्रसिद्ध निर्माण-चित्त से तुलना करनी चाहिए। 'निर्माणचित्तान्यस्मितामात्रात्' इस योग-सूत्र पर

२३—द्र०—पूसें, सिद्धि, जि० २, पृ० ७८४–८५।
२४—अभिसमयालंकारालोक, पृ० ५२३ प्र०।
२५—लंकावतार, पृ० २८, ३४, ५७।

व्यास-भाष्य में कहा गया है—'अस्मितामात्रं चित्तकारणमुपादाय निर्माणचित्तानि करोति ततः सचित्तानि भवन्ति।' इसके विवरण में तत्त्ववैशारदी में उद्धृत पुराण-वाक्य दर्शनीय है—"एकस्तु प्रभुशक्त्या वै बहुधा भवतीश्वरः। भूत्वा यस्मात्तु बहुधा भवत्येकः पुनस्ततः॥ तस्माच्च मनसो भेदा जायन्ते चैत एव हि। एकधा स द्विधा चैव त्रिधा च बहुधा पुनः॥ योगीश्वरः शरीराणि करोति विकरोति च। प्राप्नुयाद्विषयान् कैश्चित्कैश्चिदुग्रं तपश्चरेत्॥ संहरेच्च पुनस्तानि सूर्यो रश्मिगणानिव॥" सांख्य-परम्परा के अनुसार निर्माणचित्त के अधिष्ठान के द्वारा ही कपिल ने ज्ञान का उपदेश किया। वार्तिककार ने विष्णु आदि के अंशावतारों को निर्माणचित्त कहा है। योग-शास्त्र में पाँच प्रकार के निर्माण-चित्तों का उल्लेख है जिनमें ध्यानजन्य निर्माण-चित्त कर्माशयहीन होते हैं। सम्भोगकाय के स्थान पर लंकावतार में निष्यन्दबुद्ध अथवा धर्मतानिष्यन्द बुद्ध का उल्लेख है। इस देह का उपयोग परिकल्पित लक्षण तथा परतन्त्र-लक्षण के उपदेश में होता है। सब पदार्थों की स्वप्नवत्ता समझाने तथा प्रज्ञापारमिता अथवा सद्धर्मपुण्डरीक के उपदेश के लिए बुद्ध इस देह का आश्रय करते हैं। इस उल्लेख से निष्यन्दबुद्ध का ज्योतिर्मय, आसेचनक काय से सम्बन्ध स्पष्ट हो जाता है। इस देह को 'विपाकज' माना जाता है। बोधिसत्त्वों के पूर्व पुण्यों से यह अर्जित है। इसी कारण इसका नाम सम्भोगकाय प्रसिद्ध हुआ। **महायानसूत्रालंकार** के अनुसार बुद्ध-काय त्रिविध है। 'स्वाभाविकधर्म-काय आश्रयपरावृत्तिलक्षण है। साम्भोगिक (काय) जिससे (बुद्ध) परिषद्-मण्डलों में धर्म-सम्भोग करते हैं। नैर्माणिक जिस निर्माण से (बुद्ध) सत्त्व-हित करते हैं। इनमें साम्भोगिक (काय) सब लोक-धातुओं में परिषद्-मण्डल, बुद्ध-क्षेत्र, नाम, शरीर और धर्मसम्भोग-क्रिया के द्वारा विभिन्न है। स्वाभाविक (काय) सब बुद्धों की निर्विशेषक होने के कारण सम है, दुर्ज्ञेय होने के कारण सूक्ष्म है, तथा साम्भोगिक-काय से सम्बद्ध होकर सम्भोग-विभुत्व एवं यथेष्ट भोग-दर्शन में हेतु है। नैर्माणिक-काय बुद्ध-निर्मित है तथा उसके अप्रमेय-प्रभेद है। साम्भोगिक स्वार्थसम्पत्तिलक्षण है, नैर्माणिक परार्थसम्पत्तिलक्षण। इस प्रकार स्वार्थ और परार्थ दोनों का सम्पन्न होना यथाक्रम साम्भोगिक और नैर्माणिक कायों में प्रतिष्ठित है। निर्माण-काय वीणा-वादन आदि शिल्प, जन्म (परिग्रह), सम्बोधि निर्वाण आदि के प्रदर्शन के द्वारा शिष्यों को मुक्त करने का महान् उपाय है। इन तीन कायों से बुद्धों का सर्व-काय-संग्रह मानना चाहिए। इनसे स्वार्थ, परार्थ और उनका आश्रय निर्दर्शित हो जाता है। ये तीनों काय आश्रय, आशय और कर्म से निर्विशेष हैं। धर्म धातु से अभिन्न होने के कारण उनका आश्रय समान है। पृथक् बुद्धाशय का अभाव है। कर्म तीनों के साधारण हैं। इन तीन कायों में तीन प्रकार की नित्यता समझनी चाहिए

जिसके कारण तथागत नित्य-काय कहलाते हैं। स्वाभाविक काय की स्वभाव से नित्य होने के कारण प्रकृति से नित्यता है, साम्भोगिक की धर्म-सम्भोग के अविच्छेद के कारण असंसनतः (अच्युतितः) नित्यता है, नैर्माणिक की अन्तर्व्यय में पुनः-पुनः निर्मिति दृष्ट होने के कारण प्रबन्ध-नित्यता है[२६]।

विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि में वसुबन्धु का कहना है[२७]—'स एवानास्रवोधातुरचिन्त्यः कुशलोध्रुवः। सुखो विमुक्तिकायोऽसौ धर्माख्योऽयं महामुनेः'॥ धर्मकाय अनास्रव धातु है, अचिन्त्य, कुशल ध्रुव, सुख, विमुक्तिकाय। यह परिनिष्ठित और अनास्रव-धातु आश्रयपरावृत्ति का फल है। बोधिसत्त्व के बुद्ध बनने में अनित्य और सास्रव स्कन्धों की परावृत्ति होकर प्रबन्धनित्य, अनास्रव स्कन्धों की प्राप्ति होती है। यही तथागत की सुवर्ण-काय है। 'आश्रयस्य परावृत्तिः सर्वसङ्कल्पवर्जिता। ज्ञानं लोकोत्तरं चैतद्धर्मकायो महामुनेः॥' काय त्रिविध अर्थ का संकेत करता है—स्वभाव, आश्रय, तथा सञ्चय। धर्मकाय में पाँच धर्म संगृहीत हैं—अनास्रव धर्म-धातु तथा चार ज्ञान। स्वाभाविक-काय सब धर्मों का सम स्वभाव है, शान्त और प्रपञ्चातीत तथा अन्य कायों का आश्रय। इसे धर्मकाय भी कहा गया है। सम्भोग-काय द्विविध है—स्व-सम्भोग-काय तथा परसम्भोगकाय। स्व-सम्भोग-काय तीन असंख्येय कल्पों में अर्जित पुण्य और ज्ञान के सम्भार से निर्वर्तित अनन्त भूत-गुण-सम्पन्न शुद्ध, नित्य और व्यापक रूप-काय है। सन्तति-रूप होने के कारण यह स्वाभाविक-काय से भिन्न है। यह विपुल धर्म-सुख का शाश्वत भोग करती है। समता-ज्ञान में तथागत पर-सम्भोग-काय को दस भूमियों के बोधिसत्त्वों के लिए प्रकट करते हैं। यह विभूतियाँ प्रकाशित करती हैं, धर्म-चक्र प्रवर्तित करती हैं, और संशय-सूत्र छिन्न करती है कि बोधिसत्त्व धर्म-सुख का सम्भोग करें। कृत्यानुष्ठानज्ञान के मध्य में तथागत असंख्य और विविध निर्माण-काय प्रतिभासित करते हैं। ये काय अलब्ध-भूमिक बोधिसत्त्व तथा दोनों यानों के पृथग्जनों को उनके आशय के अनुकूल धर्म-देशना से हित-सुख पहुँचाते हैं।

दोनों ही सम्भोग-काय रूप-काय हैं। यह रूप अत्यन्त सूक्ष्म, विशुद्ध और सीमाहीन होते हुए भी सप्रतिघ है। दोनों कायों में वर्ण-रूप-संस्थान तथा शब्द है। किन्तु स्व-सम्भोग-काय में महापुरुष लक्षण नहीं है। परसम्भोगकाय में निर्माणकाय के समान चित्त अपना वास्तविक नहीं है। स्वसम्भोगकाय में चित्त, चैत्त, और रूप तीनों वास्तविक

२६—सूत्रालंकार, पृ० ४५–४६।

२७–३०—लेवि, विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि, पृ० ४३–४४, पूसें, सिद्धि, जि० २, पृ० ६९६ प्र०।

हैं। चैत्त यहाँ पर चार ज्ञान हैं—आदर्श-ज्ञान, समताज्ञान, प्रत्यवेक्षणाज्ञान, तथा कृत्यानुष्ठानज्ञान[२८]।

बोधिसत्त्व—हीनयान में और महायान में

'बोधिसत्व' शब्द का 'भावी बुद्ध' के लिए प्रयोग प्राचीन पालि साहित्य में, बहुत स्थानों पर उपलब्ध होता है। ऐसा प्रतीत होता है कि पहले इसका प्रयोग केवल सम्बोधि से पूर्व शाक्यमुनि को सूचित करने के लिए ही होता था। शाक्यमुनि के असंख्य पूर्व-जन्मों की जातक-साहित्य के द्वारा प्रसिद्धि होने पर बोधिसत्त्व-चरित भी विस्तृततर हो गया। साथ ही शाक्यमुनि के अतिरिक्त अन्य अतीत बुद्धों की कल्पना के कारण सम्बोधि से पूर्व अवस्था में उनके लिए भी बोधिसत्त्व शब्द का प्रयोग हुआ। प्राचीन पालि सन्दर्भों में सात बुद्धों के नाम मिलते हैं—विपस्सी, सिखी, वेस्सभू, ककुसन्ध, कोनागमन, कस्सप, और गोतम। दीघनिकाय के महापदानसुत्तन्त में इन बुद्धों के विषय में सूचना दी गयी है तथा उनके उत्पाद का समय और उनकी जाति, गोत्र, आयु, बोधि-वृक्ष, श्रावक-युग, श्रावक-सन्निपात, अग्र-उपस्थाता, माता-पिता तथा जन्म-स्थान का उल्लेख है। इसके अनन्तर विपस्सी बुद्ध का जीवन-चरित विस्तार से बताया गया है जो कि सभी मुख्य बातों में शाक्यमुनि के सदृश है। यह कहा गया है कि सभी बुद्धों की जीवनी समान होती है, केवल विस्तर-भेद ही उनमें पाया जाता है। बुद्धों के जीवन की यह व्यापक समानता 'धम्मता' (=धर्मता) कही गयी है। यह धर्मता है कि बोधिसत्त्व तुषित-लोक से च्युत होकर स्मृति-सम्प्रजन्य युक्त अवस्था में ही मातृ-कुक्षि में प्रवेश करते हैं। अन्य निर्दिष्ट धर्मताएँ इस प्रकार हैं—बोधिसत्त्व के मातृ-कुक्षि में प्रवेश के समय समस्त लोकों में सहसा अनन्त प्रकाश फैल जाता है, चार देवपुत्र गर्भ में बोधिसत्त्व की रक्षा करते हैं। उस समय उनकी माता शील का पालन करती है, काम-राग से मुक्त होती है, और सब प्रकार से सुखी तथा नीरोग होती है। गर्भस्थ बोधिसत्व को उनकी माता स्पष्ट देख पाती है। बोधिसत्त्व के जन्म के सप्ताह के अनन्तर उनकी माता का देहान्त हो जाता है और वह तुषित-लोक में उत्पन्न होती है। बोधिसत्त्व का जन्म ठीक दस मास गर्भ में रहकर होता है तथा उनके प्रसव के समय उनकी माता खड़ी रहती है। प्रसव के अनन्तर बोधिसत्त्व का पहले देवता और पीछे मनुष्य प्रतिग्रहण करते हैं। नव-जात बोधिसत्त्व को चार देवपुत्र उनकी माता के सामने स्थापित करते हैं। जब बोधि-सत्त्व का जन्म होता है उन पर और उनकी माता पर अन्तरिक्ष से दो उदक-धाराएँ

२८—पूसें, सिद्धि, जि० २, पृ० ७०५ प्र०।

गिरती हैं—एक शीत और एक उष्ण। तत्काल उत्पन्न बोधिसत्त्व सात पग धरते हैं तथा वाग् उच्चारित करते हैं 'मैं लोक में श्रेष्ठ हूँ, यह अन्तिम जन्म है, अब पुनर्भव नहीं होगा।' उनके जन्म के समय पुनः अनन्त ज्योति प्रकट होती है। खुद्दकनिकाय के अन्तर्गत बुद्धवंस में शाक्यमुनि के पूर्व चौवीस बुद्धों का वर्णन किया गया है। नये नाम इस प्रकार हैं—दीपंकर, कोण्डञ्ज, मंगल, सुमन, रेवत, सोभित, अनोमदस्सी, पदुम, नारद, पदुमुत्तर, समेध, सुजात, पियदस्सी, अत्यदस्सी, धम्मदस्सी, सिद्धत्थ, तिस्स और फुस्स।

बुद्धघोष की जातकट्ठवण्णना की निदानकथा में वोधिसत्त्व की चर्या का वर्णन उस समय से किया गया है जब सुमेध ब्राह्मण ने दीपंकर बुद्ध के युग में बुद्धत्व के लिए संकल्प (अभिनीहार) किया। बुद्धत्व का संकल्प सिद्ध होने के लिए आठ बातों की आवश्यकता होती है—मनुष्यत्व, पुरुपत्व, हेतु, शास्तृदर्शन, प्रव्रज्या, गुण-सम्पत्ति, अधिकार तथा छन्द। नाना जन्मों में दस पारमिताओं की भावना के द्वारा ही यह संकल्प चरितार्थ होता है। पालि 'पारमी' भाव-वाचक है और उसके अर्थ हैं 'परमत्व', श्रैष्ठ्य, पूर्णत्व। इस अर्थ में 'पारमी' शब्द का प्रयोग प्राचीन सन्दर्भों में भी उपलब्ध होता है। जातकादि साहित्य में 'दस पारमियों' (=दस पारमिताएं) का वर्णन मिलता है। ये दस पारमिता इस प्रकार हैं—दान-पारमी, सील, नेक्खम्म, पञ्ञा, विरिय, खन्ति, सच्च, अधिट्ठान, मेत्ता, उपेखा। ये ही हृदय में प्रतिष्ठित बुद्ध-कारक धर्म हैं। खुद्दकनिकाय के अन्तर्गत चरियापिटक के ३५ जातकों में पारमिताओं की भावना ही उदाहृत है।

सर्वास्तिवादी अभिधर्मकोश के अनुसार बोधिसत्त्व-सञ्ज्ञा उस समय से होती है जब से ३२ महापुरुपलक्षणों के निर्वर्तक कर्म का करना प्रारम्भ होता है। तब से बोधि-सत्व सदा उच्चकुल में उत्पन्न होता है, पूर्णेन्द्रिय होता है, पुरुष होता है, जाति-स्मर होता है, और अवैवर्तिक होता है। अन्तिम सौ कल्पों में बोधिसत्व जम्बू-द्वीप में ही होते हैं। उनकी देह के एक-एक लक्षण सौ-सौ पुण्यों से उत्पन्न होते हैं। कृपापूर्वक सबको सब कुछ देकर उनकी दानपारमिता पूरी होती है। विना कोप के अंगच्छेद भी सहने से उनकी क्षान्ति और शील की पारमिता पूरी होती है। एक पैर पर खड़े होकर सात अहोरात्र तिष्य बुद्ध की स्तुति से उनकी वीर्य-पारमिता पूर्ण होती है। इनके अनन्तर ध्यान और प्रज्ञा की पारमिताएँ उनसे भावित होती हैं। बोधिसत्त्व गर्भ में प्रवेश, स्थिति और निष्क्रमण सम्प्रज्ञानपूर्वक करते हैं। तीन 'असंख्य'-कल्पों में बुद्धत्व प्राप्त होता है।

महासांघिक लोकोत्तरवादियों ने बुद्ध के साथ बोधिसत्त्व को भी लोकोत्तर बताया। उनके मत से बोधिसत्त्व श्वेत-गज के रूप में मातृ-गर्भ में प्रवेश करते हैं, तथा जरायुजों के समान उनका गर्भ में क्रमशः विकास नहीं होता। वे पूर्णेन्द्रिय रूप में ही गर्भस्थ होते हैं तथा मातृ-कुक्षि के दाहिनी ओर से उनका प्रसव होता है। अपनी चर्या के दूसरे असंख्येय-कल्प से वे आर्यत्व प्राप्त करते हैं तथा उनमें कामसंज्ञा, व्यापाद-संज्ञा, एवं विहिंसा-संज्ञा उत्पन्न नहीं होती। सब सत्त्वों के 'परिपाचन' का प्रणिधान किये होने के कारण बोधिसत्त्व दुर्गति में भी जन्म-ग्रहण करने का संकल्प करते हैं। अपने ऐश्वर्य से वे यह संकल्प पूरा कर सकते हैं। प्रथम असंख्येय-कल्प में बोधिसत्त्व 'अनियत' होते हैं, दूसरे में 'नियत', तीसरे में 'व्याकृत'।

महावस्तु में लोकोत्तरवाद की दृष्टि से बोधिसत्त्व की चर्या का विस्तृत वर्णन किया गया है जिसमें उसकी अलौकिकता, पारमिताओं तथा 'भूमियों' का विवरण प्राप्त होता है। स्थविरवाद और सर्वास्तिवाद तथा प्राचीन आगमों में बोधिसत्त्व को विलक्षण और अद्भुत महापुरुष मानते हुए भी मनुष्य माना जाता था, किन्तु महासांघिकों ने उनका सर्वथा अलौकिक विवरण दिया है। बोधिसत्त्व औपपादुक हैं, लोकानुवर्तन के कारण ही मनुष्यवत् प्रतीत होते हैं, उनका 'रूप' 'मनोमय' है, अथवा, एकव्यावहारिकों के मत से, उनमें 'रूप' है ही नहीं। वैतुल्यकों ने यहाँ तक कह दिया कि तुषितलोक से मायादेवी के गर्भ में केवल एक निर्माण-काय का ही अवतार हुआ।

महायान में हीनयान की बोधिसत्त्व-विषयक दृष्टि का स्वाभाविक विकास पाया जाता है। हीनयान में बुद्ध और बोधिसत्त्व असाधारण माने जाते थे और उनके आदर्श तथा मार्ग का सफल अनुकरण सबके लिए सम्भव नहीं माना जाता था। दूसरी ओर असाधारण होते हुए भी बोधिसत्त्व मनुष्य-कोटि से उत्तीर्ण नहीं है। और फिर एक से अधिक बुद्ध और बोधिसत्त्व स्वीकार करते हुए भी हीनयान में अनागत बुद्धों का तथा वर्तमान बोधिसत्त्वों का स्थान नगण्य है। महायान में महासांघिक-दर्शित मार्ग से बुद्ध और बोधिसत्त्वों की असाधारणता स्पष्ट ही अलौकिकता में परिवर्तित हो गयी, किन्तु दूसरी ओर उनका आदर्श सबके लिए अनुकरणीय बताया गया। वर्तमान बोधिसत्त्व और भावी बुद्धों का ही महायान में प्राधान्य है। यह युक्तियुक्त भी लगता है कि जिस मार्ग का बुद्ध ने स्वयं अनुसरण किया उसी का उनके अनुगामी भी करें। बोधिसत्त्व-चर्या में पारमिताओं और भूमियों के सिद्धान्त का महायान में विशेष विकास हुआ।

हीनयान मुख्यतः भिक्षुओं का धर्म है। अर्हत्त्वप्रार्थी श्रावकगण प्रव्रज्या और उपसम्पदा ग्रहण कर विनय के अनुशासन का पालन करते हुए शीलविशुद्धि पूर्वक शमथ

और विपश्यना के द्वारा मार्ग में प्रवेश करते थे। उनके विकास की चार अवस्थाएँ अथवा 'भूमियाँ' प्रसिद्ध थीं—स्रोतआपन्न, सकृदागामी, अनागामी, तथा अर्हत्। प्रत्येक मार्ग के फल-प्राप्त और 'प्रतिपन्नक' में भेद करने से चार के स्थान पर आठ आर्य पुद्गल गिने जा सकते हैं।

महायान में बोधिसत्त्व-चर्या के अभिलाषी एक ओर हीनयान-प्रसिद्ध विनय के नियमों को भी प्राय: अनुपालनीय मानते थे, दूसरी ओर पारमिताओं की पूर्ति को भी, जिसका भिक्षु-जीवन से विशेष अभिसम्बन्ध नहीं है। बहुत समय तक महायान का कोई अपना विशिष्ट बोधिसत्त्व-विनय नहीं था। इ-चिंग का कहना है कि हीनयान तथा महायान का एक ही विनय है। अत: माहायानिक सूत्र और शास्त्रों में 'बोधिसत्त्वों' को कई स्थलों पर चेतावनी दी गयी है कि वे विनय को अवहेलनीय न समझें। शान्तिदेव के द्वारा **उपायकौशल्यसूत्र** से उद्धृत ज्योतिर्माणवक की कथा इस प्रसंग में स्मरणीय है। ज्योतिर्माणवक ने स्त्री पर करुणा कर अपना ४२,००० वर्ष का ब्रह्मचर्य खण्डित कर दिया। 'पश्य कुलपुत्र यदन्येषां निरयसंवर्तनीयं कर्म तदुपायकुशलस्य बोधिसत्त्वस्य ब्रह्मलोकोपपत्तिसंवर्तनीयमिति'। (शिक्षा, पृ० १६७)।

प्रारम्भ में विनय-भेद न होते हुए भी बोधिसत्त्वचर्या के आग्रह से क्रमश: महायानियों के लिए एक विशिष्ट आचरण का आदर्श अंकुरित हुआ। 'करुणा' और 'अहिंसा' का कठोर विरागता की अपेक्षा इसमें उत्कृष्टतर स्थान था। मांस-भक्षण का निषेध इसी प्रवृत्ति का फल मानना चाहिए। शान्तिदेव ने एक **बोधिसत्वप्रातिमोक्षसूत्र** को उद्धृत किया है। चीनी **बुद्धजातकसूत्र** तथा **शिक्षासमुच्चय** भी एक प्रकार से बोधिसत्त्व-विनय कहे जा सकते हैं।

महायान में उपासकों का स्थान ऊँचा उठ गया। बौद्ध विहारों में भी कदाचित् महायान की भावुकता तथा 'उपायकौशल' के सिद्धान्त से समर्थित अपवाद-परायणता के द्वारा नियम-शैथिल्य का प्रचार हुआ। कश्मीर में अनेक विहारों में भिक्षुओं के कलत्र-पुत्र आदि की चर्चा **राजतरंगिणी** में प्राप्त होती है। महायान की तान्त्रिक-शाखा के विकास से इस प्रकार की प्रवृत्ति को विशेष बल मिला।

हीनयान में चतुर्भूमिक आर्य-मार्ग प्रसिद्ध है जिसका पहले उल्लेख किया जा चुका है। महाव्युत्पत्ति में श्रावक-चर्या का प्रकारभेद तथा नाम-भेद के साथ इस प्रकार संग्रह प्रदर्शित किया है—स्रोत-आपन्न, सप्तकृद्भव-परम, कुलंकुल, सकृदागामी, एकवीचिक, अनागामी, अन्तरापरिनिर्वायी, उपपद्यपरिनिर्वायी, साभिसंस्कारपरिनिर्वायी, अनभिसंस्कारपरिनिर्वायी, ऊर्ध्वस्रोत, कायसाक्षी, श्रद्धानुसारी, धर्मानुसारी, श्रद्धा-

विमुक्त, दृष्टिप्राप्त, समयविमुक्त, असमयविमुक्त, प्रज्ञाविमुक्त, उभयतोभागविमुक्त। इसके अतिरिक्त महाव्युत्पत्ति में सात श्रावक-भूमियों का उल्लेख भी मिलता है— शुक्ल-विदर्शना-भूमि, गोत्रभूमि, अष्टमकभूमि, दर्शनभूमि, तनुभूमि, वीतरागभूमि, कृतावीभूमि। पहली भूमि स्पष्ट ही पृथग्जन-भूमि है जब कुशल-मूलों का संचय होता है। गोत्रभू की अवस्था को कहीं पृथग्जन और कहीं आर्य की अवस्था कहा गया है। तीसरी और चौथी भूमियाँ स्रोत-आपत्ति का मार्ग और फल हैं। आर्य-सत्यों के बोध के द्वारा इनका लाभ होता है। अभिधर्मकोश में इस बोध के १६ क्षण प्रतिपादित किये गये हैं। सकृदागामी की अवस्था ही राग, द्वेष और मोह की तनु-भूमि है। अनागामी की अवस्था वीतरागभूमि है तथा अर्हत् की कृतावी भूमि।

महावस्तु में, जो कि हीनयान और महायान का मध्यवर्ती है, बोधिसत्त्व की 'चार चर्यायों' और 'दस भूमियों' का निर्देश प्राप्त होता है। 'प्रकृतिचर्या' में बोधिसत्त्व के सहज गुण प्रकाशित करते हैं, 'अनुलोम चर्या' में इस संकल्प के अनुकूल वे कार्य सम्पन्न करते हैं, तथा 'अनिवर्तनचर्या' में वे उस सुदृढ़ भूमि को प्राप्त करते हैं जहाँ से पीछे लौटना नहीं होता। इसी भूमि में दीपंकर बुद्ध ने बोधिसत्त्व की भावी बुद्धत्व-प्राप्ति का 'व्याकरण' अथवा भविष्यवाणी की थी। महावस्तु में निर्दिष्ट 'दस भूमियाँ' इस प्रकार हैं—दुरारोहा, बद्धमाना, पुष्पमण्डिता, रुचिरा, चित्तविस्तरा, रूपवती, दुर्जया, जन्म-निदेश, यौवराज्य, अभिषेक। इन भूमियों का विवरण महावस्तु में स्पष्ट और सुविविक्त नहीं है। बोधिचित्त के प्रणिधान से बोधिसत्त्वों की पहली भूमि का आरम्भ होता है। उनके पिछले पाप क्षीण हो जाते हैं, किन्तु सातवीं भूमि तक वे 'पृथग्जन' ही रहते हैं। यह अवश्य है कि अपने लक्ष्य के वैशिष्ट्य के कारण उन्हें इस अवस्था में भी 'आर्य' अथवा 'प्राप्तमूल' कहा जा सकता है। पाप-कर्म की सम्भावना बोधिसत्त्व के लिए अभी भी बनी रहती है, किन्तु उनका पुण्य-साम्राज्य निरन्तर बढ़ता रहता है। आठवीं भूमि से बोधिसत्त्व के कृत्य सर्वथा विशुद्ध हो जाते हैं। आठवीं भूमि से अनिवर्तनीयता लागू होती है। अब से बोधिसत्त्व चक्रवर्ती राजा होकर धर्म का उपदेश करते हैं। अन्तिम जन्म-ग्रहण के लिए मातृ-गर्भ में प्रवेश के साथ दसवीं भूमि का आरम्भ होता है।

अष्टसाहस्रिका, पञ्चविंशतिसाहस्रिका तथा शतसाहस्रिका प्रज्ञापारमिताओं मे 'भूमियों' का विवरण कुछ अधिक परिष्कृत और विकसित प्रतीत होता है। यह उल्लेखनीय है कि शतसाहस्रिका में दस हीनयानीय भूमियों के नाम दिये गये हैं— शुक्लविदर्शनाभूमि, गोत्रभूमि, अष्टमकभूमि, तनुभूमि, वीतरागभूमि, कृतावीभूमि, प्रत्येक बुद्धभूमि, बोधिसत्त्वभूमि, बुद्धभूमि। इनमें पहली सात भूमियाँ ऊपर निर्दिष्ट

महाव्युत्पत्ति की सूची में उपलब्ध होती हैं। बोधिसत्त्व की भूमियों का परिनिष्पन्न विवरण 'दशभूमिकसूत्र' में मिलता है। इस सूत्र का चीनी अनुवाद ई० २०५-३१६ के बीच सम्पन्न हुआ था। 'बोधिसत्त्वभूमि',' सूत्रालंकार' तथा 'मध्यमकावतार' में भूमि-विवेचन 'दशभूमक सूत्र' का ऋणी है। हीनयान की साधना का पर्यवसान पुद्गल-नैरात्म्य के बोध के द्वारा अर्हत्त्व की प्राप्ति में होता है। यही हीनयान का चतुर्थ मार्ग-फल अथवा सप्तमी भूमि है। इतनी प्रगति पहली छः माहायानिक भूमियों में सम्पन्न होती है। इसके अनन्तरवर्ती चार भूमियों में महायान की धर्म-नैरात्म्य तथा बुद्धत्व की ओर विशिष्ट साधना अग्रसर होती है।

बोधिसत्त्वचर्या—बोधिसत्त्व की चर्या तीन भागों में विभक्त की जा सकती है—परिकर्म अथवा उपचार जो कि आध्यात्मिक महत्वाकांक्षा तथा तय्यारी की अवस्था है, पहली सात बोधिसत्त्व-भूमियाँ, अन्तिम तीन भूमियाँ। पहली अवस्था बोधिसत्त्व-भूमि में 'प्रकृतिचर्या' कही गयी है और द्विधा विभक्त की गयी है—गोत्रभूमि तथा अधिमुक्तिचर्या। पूर्व-कर्म के सम्पिण्डित प्रभाव से व्यवस्थित नैतिक और आध्यात्मिक स्वभाव ही 'गोत्र' कहलाता है। महायान में सम्प्रस्थित होने के लिए एक विशेष प्रकार की अभ्युन्नत आध्यात्मिक प्रवृत्ति आवश्यक है—द्वेष-पराङ्मुख, सहिष्णु, करुण, भद्रशील। असङ्ग का कहना है—'कारुण्यमधिमुक्तिश्च क्षान्तिश्चादि प्रयोगतः। समाचारः शुभस्यापि गोत्रे लिङ्गं निरूप्यते॥ चतुर्विधं लिङ्गं बोधिसत्वगोत्रे। आदि-प्रयोगत एव कारुण्यं सत्वेषु। अधिमुक्तिर्महायानधर्मक्षान्तिर्दुष्करचर्यायां सहिष्णुतार्थेन। समाचारश्च पारमितामयस्य कुशलस्येति'। (सूत्रालंकार, ३.५.) अर्थात् बोधि-सत्त्वगोत्र के चार लक्षण हैं—प्राणियों पर करुणा, महायान के प्रति स्पृहा,और उत्साह, कठोर चर्या में सहिष्णुता, पारमितारूप कुशल-कर्म का आचरण। बोधिसत्त्व-गोत्र की तुलना सोने और जवाहिरात की खान से की गयी है। जैसे सुवर्ण-गोत्र प्रभूत, प्रभा-स्वर, निर्मल और कर्मण्य सुवर्ण का आश्रय होता है, ऐसे ही बोधिसत्त्व गोत्र अप्रमेय-कुशलमूलों का, ज्ञान का, क्लेश-नैर्मल्य-प्राप्ति का, तथा अभिज्ञादिप्रभाव का आश्रय है। महारत्नगोत्र जात्य, वर्णसम्पन्न, संस्थानसम्पन्न, तथा प्रमाणसम्पन्न रत्नों का आश्रय है। बोधिसत्त्व-गोत्र भी महाबोधि, महाज्ञान, आर्यसमाधि, तथा जन-कल्याण का आश्रय है। (वही, पृ० १२-१३)।

अधिमुक्ति अथवा अध्याशय बुद्धत्व की अभीप्सा है। करुणा तथा प्रज्ञा का कुछ विकास होने पर बार-बार यह आध्यात्मिक प्रेरणा उत्पन्न होती है तथा गोत्रस्थ व्यक्ति को बोधिसत्त्वोचित कर्मों के पास ले जाती है। महाव्युत्पत्ति में अधिमुक्तिचर्याभूमि के

साथ चार अवस्थाओं का उल्लेख है—आलोकलब्ध:, आलोकवृद्धि:, तत्वार्थैकदेशनानुप्रवेश:, तथा आनन्तर्यसमाधि: ।

पहली बोधिसत्त्वभूमि शुद्धाशयभूमि अथवा 'प्रमुदिता' है। इसमें पृथग्जनत्व छूट कर आर्यत्व का प्रारम्भ होता है तथा 'नियाम' की प्राप्ति होती है। स्पष्ट ही हीनयान की स्रोत आपत्ति से यह अवस्था तुलनीय है। इसमें बोधिचित्त के उत्पाद के द्वारा साधक परमार्थतः बोधिसत्त्व तथा सम्बोधिपरायण हो जाता है। उसके पाँच भय निवृत्त हो जाते हैं तथा वह अनेक "महाप्रणिधान" करता है—(१) सब बुद्धों के सर्वथा पूजन का, (२) बुद्धशासन के परिरक्षण का, (३) तुषित-भवन-वास से लेकर महापरिनिर्वाण तक सब बुद्ध-कर्मों के 'उपसंक्रमण' का, (४) सब बोधिसत्त्वभूमियों और पारमिताओं की चर्या का, (५) सब सत्त्वों के आध्यात्मिक 'परिपाचन' (विकास में सहायता) का, (६) सब लोकधातुओं और दिग्-विभागों के विभेद के प्रत्यक्ष का, (७) सब बुद्ध-क्षेत्रों के परिशोधन का, (८) महायान में अवतरण का, (९) अमोघघोषता का, (१०) जन्म-ग्रहण से महापरिनिर्वाण तक के कर्मों के लोकोपदर्शन का। इसी भूमि से बोधिसत्त्व में भूमियों की परिशुद्धि के कारक दस-धर्मों का प्रकाश होता है—त्याग, करुणा, अपरिखेद, अमान, सर्वशास्त्राध्यायिता, विक्रम, लोकानुज्ञा, और धृति। स्थानान्तर में इन धर्मों की दूसरी सूची इस प्रकार दी गयी है—अध्याशय, सर्वसत्त्वसमचित्तता, त्याग, कल्याण-मित्र-सेवना, धर्मपर्येष्टि, अभीक्ष्ण नैष्क्रम्य, बुद्धकायस्पृहा, धर्म-विवरण, मानस्तम्भननिर्घातन, सत्यवचन। बोधिसत्त्व बुद्धों का प्रत्यक्ष तथा उनके शासन का पालन करते हैं। विभिन्न भूमियों में इनमें नाना प्रभाव अथवा यत्नों का आविर्भाव होता है—निष्क्रमण का सामर्थ्य, समाधियों का बल, बुद्धों के दर्शन की शक्ति, निर्मित-कायों का पहिचानना, लोक-धातुओं को कँपाना, अथवा अवभासित करना, निर्माण-काय प्रदर्शित करना, अनेक कल्पों तक जीवित रहना।

दूसरी भूमि 'विमला' अथवा अधिशील-विहार कही गयी है। इसमें दस चित्ताशयों के विकास से प्रतिष्ठा होती है—ऋजु, मृदु, कर्मण्य, दम, शम, कल्याण, असंसृष्ट, अनपेक्ष, उदार, और माहात्म्य। तीसरी भूमि अधिचित्त-विहार अथवा प्रभाकरी कही गयी है जिसमें भावनीय चित्ताशय इस प्रकार हैं—शुद्ध, स्थिर, निर्विद्, अविराग, अविनिवृत्, दृढ़, उत्तप्त, अतृप्त, उदार और माहात्म्य। इस भूमि में बोधिसत्त्व ध्यान, ब्रह्म-विहार, अभिज्ञा आदि का अभ्यास करते हैं। उनके अकुशलमूल तथा दृष्टिसंयोजन सर्वथा नष्ट हो जाते हैं। यह स्मरणीय है कि विसुद्धिमग्ग के अनुसार भी अधिचित्त-विहार अनागामिता को ले जाता है। पांच ओरम्भागीय संयोजनों का इस प्रकार क्षय हो जाता है।

चौथी भूमि 'अर्चिष्मती' है, पांचवीं 'सुदुर्जया', छठी अभिमुखी। ये तीनों अधिप्रज्ञ-विहार हैं। अर्चिष्मती में बोधिपाक्षिक धर्मों की भावना होती है, सुदुर्जया में आर्य-सत्यों की, अभिमुखी में प्रतीत्यसमुत्पाद की। अर्चिष्मती में प्रवेश दस 'धर्मालोकों' के द्वारा होता है। ये धर्मालोक नाना धातुओं में प्रतिवेध हैं—सत्त्वधातु, लोकधातु, धर्मधातु, आकाशधातु, विज्ञानधातु, कामधातु, रूपधातु, आरूप्यधातु, उदाराध्याश-याधिमुक्तिधातु, माहात्म्याध्याशयाधिमुक्ति धातु। इस भूमि में सत्कायदृष्टि छूट जाती है। सुदुर्जया में प्रवेश चित्ताशयविशुद्धिसमता के लाभ के द्वारा होता है। इस समता के विषय अनेक हैं—अतीतानागतप्रत्युत्पन्न बुद्धों के शासन, शील, दृष्टि-विचिकित्सा-प्रहाण इत्यादि। इस भूमि में बोधिसत्त्व गणित आदि लौकिक शास्त्रों का भी अध्ययन करते हैं। अर्चिष्मती में वीर्यपारमिता का तथा सुदुर्जया में ध्यान-पारमिता का विशेष अभ्यास सम्पन्न होता है। अभिमुखी में दस प्रकार की समता का बोध होता है—अनिमित्त, अलक्षण, अनुत्पाद, अजात, विभिक्त, आदिविशुद्ध, निष्प्रपंच, अनापूह-निर्यूह, मायास्वप्नप्रतिभासप्रतिश्रुत्कोपम, भावाभावाद्वय। इस अवस्था तक छः पार-मिताओं का अभ्यास परिनिष्ठित होता है।

सातवीं भूमि 'दूरङ्गमा' कही गयी है। इसमें पिछली भूमियों की परिणति होती है। इसमें आभोग और अभिसंस्कार शेष रहते हुए भी निर्निमित्त विहार होता है। बोधिसत्त्व को इस भूमि में सर्वथा सक्लेश अथवा अक्लेश नहीं कहा जा सकता।

'अचला' भूमि में अनुत्पत्तिकधर्मक्षान्ति का आविर्भाव होता है तथा अनाभोग-निर्निमित्त-विहार सम्पन्न होता है। स्वयं अचल होते हुए भी लोकोत्तर-वशिता से बोधिसत्त्व अप्रमाणकायविभक्ति तथा सत्वपरिपाचन करते हैं। 'साधुमती' में बोधि-सत्त्व शान्तविमोक्षों से असन्तुष्ट हो प्रतिसंविद्-विहार करते हैं। 'धर्ममेघा' नाम की दसवीं भूमि में बोधिसत्त्व का सर्वज्ञता में अभिषेक होता है। तथागत-निःसृत प्रभा से यह अभिषेक सम्पन्न होता है। इसके अनन्तर बोधिसत्त्व को इस एक प्रकार से बुद्ध अथवा तथागत कहा जा सकता है यद्यपि उनमें तारतम्य-भेद अभी बना रहता है।

असंग ने इन भूमियों के नाम इस प्रकार समझाये हैं—

"पश्यता बोधिमासन्नां सत्त्वार्थस्य च साधनं।
तीव्र उत्पद्यते मोदो मुदिता तेन कथ्यते॥
दौः शील्याभोगवैमल्याद्विमला भूमिरुच्यते।
महाधर्मावभासस्य करणाच्च प्रभाकरी॥
अर्चिर्भूता यतो धर्मा बोधिपक्षाः प्रदाहकाः।
अर्चिष्मतीति तद्योगात्सा भूमिर्द्वयदाहतः॥

सत्वानां परिपाकश्च स्वचित्तस्य च रक्षणा।
धीमद्भिर्जीयते दुःखं दुर्जया तेन कथ्यते॥
आभिमुख्याद् द्वयस्येह संसारस्यापि निर्वृतेः।
उक्ताह्यभिमुखी भूमिः प्रज्ञापारमिताश्रयात्॥
एकायनपथश्लेषाद्भूमिर्दूरंगमा मता।
द्वयसंज्ञाविचलनादचला च निरुच्यते॥
प्रतिसंविन्मतिसाधुत्वाद्भूमिः साधुमती मता।
धर्ममेघाद्वयव्याप्तेर्धर्माकाशस्य मेघवत्॥"

इस पर विचार करने से यह ज्ञात होगा कि इन भूमियों से अधिकांश के नामों में अन्वर्थता प्रस्फुट नहीं है। विमला, अचला, तथा धर्ममेघा अपवाद हैं। वस्तुतः बोधिसत्त्व-भूमियों का स्वरूपतः आविष्कार प्राचीन है, उनका इस प्रकार नामकरण उत्तरकालीन। पहले भी प्रकारान्तर से विदित होने के कारण इन भूमियों के परिष्कृत नामकरण में अन्वर्थता सदैव अपेक्षित नहीं थी।

पारमिताएँ—चन्द्रकीर्ति ने मध्यमकावतार में भूमियों का पारमिताओं के साथ इस प्रकार सम्बन्ध प्रतिपादित किया है—प्रमुदिता, दानपारमिता; विमला, शील; प्रभाकरी; क्षान्ति; अर्चिष्मती; वीर्य; सुदुर्जया; ध्यान; अभिमुखी; प्रज्ञा; दूरङ्गमा; उपायकौशलपारमिता; अचला; प्रणिधान, साधुमती; बल, धर्ममेघा; ज्ञान। महा-व्युत्पत्ति में ये दस पारमिताएँ परिगणित हैं।

यहाँ पर यह उल्लेखनीय है कि बोधिचित्तोत्पाद के साथ बुद्धों और बोधिसत्त्वों की 'अनुत्तरपूजा' का विधान था। इसमें बुद्धादि की वन्दना, पापदेशना, पुण्यानुमोदना, अध्येषणा, याचना आदि संगृहीत है। बोधिसत्त्वचर्या का एक बड़ा और महत्त्वपूर्ण भाग प्रसिद्ध छः पारमिताओं की भावना है। इनमें प्रथम और शीर्षस्थान दान अथवा करुणा का है। यही पारमिता महायान की प्रवर्तिका है। यही परम 'उपाय' और 'संग्रहवस्तु' है। बोधिचित्त का उत्पादन इसकी चरम अभिव्यक्ति है। बोधिसत्त्व को अपने कार्यों का अन्तिम नियामक करुणा की ही भावना मानना चाहिए। 'निषिद्धमप्यनुज्ञातं कृपालोरर्थदर्शिनः॥'

शील-भावना का प्रयोजन आत्मभावरक्षा है जिससे बोधिसत्त्व पर-कल्याण में समर्थ हो सके। शील अरक्षित होने पर निन्दा, अनादर, अथवा दुर्गति का कारण बन जाता है, जोकि धर्म-प्रचार को असम्भव बना देते हैं। शील निवृत्तिरूप भी है, प्रवृत्तिरूप भी। शील के मुख्य अंग हैं—अनपत्रपा, ह्री, अत्यय के पश्चात् सुधार, तथा धर्म के लिए आदर।

क्षान्ति त्रिविध है—दुःखाधिवासनाक्षान्ति, परापकारमर्षणक्षान्ति, धर्मनिध्यान-क्षान्ति। इनमें पहली क्षान्ति दुःख का सहना है, दूसरी क्षमा है, तीसरी धर्मस्वभाव का बोध है। जब उपदेश-श्रवण से धर्म-निध्यान-क्षान्ति उत्पन्न होती है, तो उसे 'घोषानुगाक्षान्ति' कहा जाता है, विचार से उत्पन्न होने पर 'आनुलोमिकी'। इसका परम रूप अनुत्पत्तिक-धर्म-क्षान्ति है।

वीर्य अथवा कुशलोत्साह के बिना बोधिचित्त का विकास ही न हो पायेगा। एतदर्थ छन्द, शुभछन्द, अथवा धर्मच्छन्द की भावना आवश्यक है। अपनी दुर्वलताओं के प्रति आत्मवशिता का भान पुरस्कृत करना चाहिए। कर्म में रति होनी चाहिए तथा अप्रमाद।

ध्यानपारमिता में परम्परागत ध्यान और समापत्तियाँ, चार अथवा दो सत्यों का अनुसन्धान, तथा स्मृत्युपस्थान संगृहीत है। शान्तिदेव ने इस प्रसंग में 'परात्मसमता' तथा 'परात्मपरिवर्तन' की भावना का वर्णन किया है।

प्रज्ञापारमिता या पारमार्थिक ज्ञान बोधिसत्त्वों में केवल बीजावस्था में ही सम्भव है। उसकी फलावस्था केवल बुद्धों में उपलब्ध होती है।

अध्याय १०

महायान का दर्शन—शून्यवाद

महायान के पूर्व शून्यता

एक प्रकार से माध्यमिक दृष्टि एवं शून्यता अथवा नैरात्म्य की धारणा प्राचीनतम काल से ही बौद्ध धर्म में उपलब्ध होती है। मूल बुद्धदेशना में सत् और असत्, दोनों का ही निराकरण किया गया है तथा परमार्थ को अनभिलाप्य बताया गया है। परमार्थ की सत् और असत् के परे अनिर्वचनीयता ही माध्यमिक दृष्टि की विशेषता है। मनुष्य की तर्कबुद्धि सत्य के सम्यक् बोध में अक्षम है क्योंकि वह सदैव अन्तग्राहिणी है। वह अपरिच्छिन्न, अनन्त सत्य को आत्मसात् नहीं कर पाती। तर्कबुद्धि के इस अस्ति-नास्ति-युक्त नाना पदार्थमय जगत् की अपारमार्थिकता उपनिषदों में कुछ स्थलों पर प्रतिपादित की गयी है, तथा प्रकारान्तर से यही परम्परा बौद्ध धर्म के अभ्यन्तर उद्गत एवं विकसित हुई। बुद्ध के मूल उपदेशों में द्वैतमय जगत् का मिथ्यात्व स्पष्टतः प्रतिपादित नहीं था। अतः प्रायः प्राचीन हीनयानी सम्प्रदायों में भी शून्यता एवं नैरात्म्य को एक सीमित अर्थ में ग्रहण किया गया है। मनुष्य एक प्रकार का 'संघात' एवं 'सन्तान' है, एक प्रवाहगत समूह। उसके विभिन्न 'स्कन्धों' में किसी स्थिर आत्मा अथवा जीव की कल्पना नहीं करनी चाहिए। देह, इन्द्रियाँ अथवा मन पृथक्-पृथक् सत्ता रखते हैं जिनकी समष्टि ही लोकप्रचलित आत्मा अथवा अहं की प्रतीति का आधार है। यही पुद्गल-नैरात्म्य कहा जाता है। स्कन्ध, धातु, आयतन आदि में किसी जीव अथवा पुद्गल का अभाव ही तद्गत शून्यता है। फलतः हीनयान में शून्यता अथवा नैरात्म्य का अर्थ प्रायः जीव अथवा आत्मा का अभाव-मात्र है।

प्रज्ञापारमिता सूत्रों में

प्रज्ञापारमिता-सूत्रों में शून्यता अथवा नैरात्म्य की इस धारणा का विस्तार किया गया है। किसी भी पदार्थ का अपना कोई स्वभाव नहीं है। यह स्वभावशून्यता ही वास्तविक शून्यता अथवा नैरात्म्य है। इस अर्थ-विस्तार से न केवल जीव अथवा आत्मा का लोप हो जाता है अपितु समस्त पदार्थों का भी। अतएव इसे 'धर्मनैरात्म्य' भी कहा

जाता है। जहाँ प्रज्ञापारमिता-सूत्रों में एक ओर अभावात्मक शून्यता का यह सर्वग्राही विराट् रूप प्रदर्शित है वहीं दूसरी ओर शून्यता को प्रज्ञापारमिता से अभिन्न प्रतिपादित किया गया है। प्रज्ञापारमिता वस्तुतः निर्विकल्पक साक्षात्कारात्मक ज्ञान है जिसमें समस्त भेद, द्वैत, प्रमेयता एवं अभिधेयता, प्रलीन हो जाती है। 'निर्विकल्पे नमस्तुभ्यं प्रज्ञापारमितेऽमिते।'

अष्टसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता के प्रारम्भ में ही सुभूति की यह अद्भुत उक्ति मिलती है कि 'तमप्यह भगवन् धर्म्मं न समनुपश्यामि यदुत प्रज्ञापारमिता नाम।' सुभूति का आशय यह है कि अस्तित्व एवं नास्तित्व पारमार्थिक बोध के बहिर्भूत है। वस्तुतः बोधिचित्त अचित्त ही है। इस 'अचित्त-चित्त' में अस्तिता एवं नास्तिता की उपलब्धि नहीं होती। यह 'अचित्तता' निर्विकार एवं निर्विकल्प है। यही वास्तविक प्रज्ञापारमिता है। इसके विपरीत अविद्या है जो अविद्यमान् धर्मों की ही सत्त्व-कल्पना करती है। साधारण लोक अविद्या में निमग्न हैं। वे अविद्यमान जगत् की कल्पना कर अस्ति और नास्ति के दो अन्तों में अभिनिविष्ट होते हैं और इस प्रकार संसारी बनते हैं। वस्तुतः सब धर्म मायामात्र है। सब धर्मों की मायोपमता का यह सिद्धान्त अत्यन्त गंभीर है तथा इससे नये बोधिसत्त्व तक उद्विग्न हो जाते हैं। शून्यता ही वास्तविक गंभीरता है। कोई भी पदार्थ वस्तुतः उपलब्ध नहीं होता, न वस्तुतः उत्पन्न होता है, न वस्तुतः निरुद्ध होता है; केवल अज्ञानयुक्तचित्त में ही नानात्व भासित होता है। समस्त व्यावहारिक जगत् विकल्प-सापेक्ष, विकल्पित है। •

प्रज्ञापारमिता सूत्रों में अनेक स्थलों पर १८ प्रकार की शून्यता का उल्लेख है—अध्यात्म-शून्यता, बहिर्धा-शून्यता, अध्यात्म-बहिर्धा-शून्यता, शून्यता-शून्यता, महा-शून्यता, परमार्थ-शून्यता, संस्कृत-शून्यता, असंस्कृत-शून्यता, अत्यन्त-शून्यता, स्वलक्षण-शून्यता, अनवराग्र-शून्यता; अनवकार-शून्यता, प्रकृति-शून्यता, सर्वधर्म-शून्यता, अनुपलम्भ-शून्यता, अभाव-शून्यता, सर्वभाव-शून्यता, एवं अभाव-स्वभाव-शून्यता। यह स्पष्ट है कि शून्यता के ये नाना प्रकार शून्यता के अभ्यन्तर किसी प्रकार का वास्तविक वर्गीकरण उपस्थित नहीं करते। यदि शून्यता को केवल अभाव कहा जाय तो प्रश्न उठता है 'किसका अभाव ?' इसके उत्तर में नाना पदार्थों का परिगणन कर उनका अभाव बताया जा सकता है। अभाव को स्वयं एक पदार्थ माननेवाले नैयायिक भी उसे भाव-सापेक्ष मानते हैं तथा नाना अभावों का उनके 'प्रतियोगियों' के उल्लेख के द्वारा पृथक् निर्देश करते हैं और ऐसा प्रतीत होता है कि भाव-जगत् की छाया के समान एक अभाव-जगत् भी कल्पनीय है। किन्तु माध्यमिकों को न अभाव की पदार्थता स्वीकार्य है, न भाव की। विभिन्न भाव-पदार्थों के अभाव को शून्यता कहने के साथ-

साथ वे अभाव एवं शून्यता की शून्यता का प्रतिपादन करते हैं तथा उसे शून्यता से अभिन्न मानते हैं। यदि किसी पूर्व अभ्युपगत स्वभाव के बिना केवल विशुद्ध अभाव निरर्थक है तो यह भी मानना होगा कि स्वभाव का निर्धारण बिना अभाव के आवरण के असम्भव है। स्वभाव-परिच्छेद स्वयं प्रतिषेधपूर्वक है—'डिटरमिनेशियो एस्ट निगेशियो (determinatio est negatio)! असत्ता की रेखा से ही अशेष सत्तामय जगत् का चित्र आलिखित होता है। यही स्वभाव-शून्यता पारमार्थिक शून्यता है।

प्रज्ञापारमिता-सूत्रों में शून्यता के सिद्धान्त का सुश्लिष्ट एवं तार्किक प्रतिपादन नहीं किया गया है। अनन्त पुनरुक्ति के द्वारा हीनयान-सम्मत विभिन्न धर्मों का मिथ्यात्व एवं विकल्पग्राही चित्त की परमार्थ में अनुपयोगिता वहाँ उद्घोषित की गयी है। उन्हें पढ़ने से पाठक के मन में बराबर यह धारणा उत्पन्न होती है कि 'स्वभाव' मिथ्या है एवं सत्य का निर्विकल्प चित्त में ही साक्षात्कार हो सकता है, यद्यपि यह साक्षात्कारात्मक बोध अनिर्वचनीय है। यहाँ तक कि स्वयं इस बोध की सत्ता के विषय में चर्चा भी इसे जागतिक एवं असत्य बना देती है। इसीलिए सुभूति ने ऊपर उद्धृत उक्ति में प्रज्ञापारमिता का भी अपलाप किया है। शून्यता सचमुच अग्निवत् सर्वग्रासिनी है, यहाँ तक कि आत्मग्रासिनी भी और उसका निष्कर्ष मौन में ही हो सकता है जैसा कि **विमलकीर्तिसूत्र** में प्रतिपादित है जहाँ बोधिसत्त्व विमलकीर्ति ने मंजुश्री आदि के द्वारा तत्त्वनिरूपण के आग्रह का उत्तर वज्रमौन के द्वारा दिया।

अन्य महायानसूत्र—जिस प्रकार **उपनिषदों** में अथवा प्राचीन हीनयानी सूत्र-साहित्य में विविध दार्शनिक बीज उपलब्ध होते हैं, उसी प्रकार महायान-सूत्रों में भी अनेक परवर्ती बौद्ध दार्शनिक परम्पराओं की मूलप्रेरणा देखी जा सकती है। इन सूत्रों के अनुसार बोद्धिसत्व को चाहिए कि वह हीनयान-प्रोक्त सब धर्मों में नैरात्म्य अथवा शून्यता की भावना करे। इस प्रकार के उपदेश की द्विधा व्याख्या की जा सकती है। एक ओर यह कहा जा सकता है कि जगत् के सभी प्रतीयमान पदार्थ, अथवा बौद्धिक विचार के द्वारा व्यवस्थापित तत्त्व, अपारमार्थिक हैं, उनमें कोई स्थिर, पृथक् स्वभाव नहीं है। यह विशुद्ध धर्म-नैरात्म्य है अथवा धर्म-शून्यता है। दूसरी ओर इसीको प्रकारान्तर से कहा जा सकता है—सब धर्म कल्पित अथवा विकल्प-सापेक्ष हैं। किन्तु ऐसा कहने पर यह ध्वनित होता है कि विकल्पात्मक चित्त ही प्रापंचिक आडम्बर का सूत्रधार है। बोधिसत्त्व की योगचर्या में भावना का स्थान तथा योगलब्ध निर्माणशक्ति चित्त के अद्भुत महत्त्व का समर्थन करते हैं। इस प्रकार बोधिसत्त्व-चर्या से सम्बद्ध धर्म-नैरात्म्य की भावना का दार्शनिक आधार द्विविध सिद्ध होता है—सब 'धर्मों' की असारता, तथा चित्त की प्रधानता। **लंकावतार, घनव्यूह, सन्धिनिर्मोचन** आदि

सूत्रों में इस चित्तवादी दूसरे पक्ष का न्यूनाधिक स्पष्टता से विवरण दिया गया है। पहले शून्यवादी पक्ष का नागार्जुन ने विस्तृत एवं युक्तियुक्त प्रतिपादन किया। दूसरे योगाचार-विज्ञानवादी-पक्ष का विस्तार सर्वप्रथम मैत्रेयनाथ ने किया। यह स्मरणीय है कि शून्यवाद तथा योगाचार-विज्ञानवाद दोनों का ही एक संयुक्त मूल है तथा उनका प्रारम्भिक विभेद अल्प था। इसके समर्थन में यह उल्लेखनीय है कि प्रसिद्ध माध्यमिक आचार्य आर्यदेव के **चतुश्शतक** को 'बोधिसत्त्व-योगाचार-शास्त्र' कहा गया है। इस पर एक ओर आचार्य वसुबन्धु ने व्याख्या लिखी थी, दूसरी ओर मैत्रेयनाथ ने नागार्जुन के '**भवसंक्रान्ति**' पर व्याख्या लिखी तथा नागार्जुन से असंग, वसुबन्धु एवं स्थिरमति में उद्धरण पाये जाते हैं। यह भी उल्लेखनीय है कि परवर्ती काल में माध्यमिक, योगाचार एवं सौत्रान्तिकों के पारस्परिक प्रभाव से अनेक 'संकीर्ण' मतों का आविर्भाव हुआ; उदाहरणार्थ, शान्त-रक्षित को माध्यमिक भी कहा जा सकता है, विज्ञानवादी भी। स्वयं मैत्रेयनाथ की रचनाओं में **उत्तरतन्त्र** को माध्यमिक-प्रासंगिक तथा **अभिसमयालंकार** को योगाचार—माध्यमिक-स्वातन्त्रिक कहा गया है। असंग ने भी **मध्यमककारिकाओं** पर **मध्यमकानुसार** नाम की व्याख्या लिखी जिसका गौतम प्रज्ञारुचि ने चीनी में अनुवाद किया। वस्तुतः मैत्रेय तथा असंग, दोनों की रचनाओं में शून्यवाद के अविरोध से योगाचार का प्रतिपादन किया गया है।

नागार्जुन-जीवनी

लंकावतारसूत्र,[1] **महामेघसूत्र**, **महाभेरीसूत्र** एवं **मंजुश्रीमूलकल्प** में नागार्जुन के विषय में भविष्यवाणी उपलब्ध होती है। **लंकावतार** के अनुसार नाग नाम का भिक्षु परिनिर्वाण के बहुत समय पश्चात् दक्षिणापथ में सत् और असत् का प्रतिषेध करते हुए महायान का प्रचार करेगा। चीनी परम्परा के अनुसार नागार्जुन आचार्य-परम्परा में बारहवें थे तथा उनका काल परिनिर्वाण के ७०० वर्ष पश्चात् था। **महामेघसूत्र** के अनुसार परिनिर्वाण के ४०० वर्ष अनन्तर एक लिच्छवि नाग नाम का भिक्षु बनेगा तथा धर्म का विस्तार करेगा। वही पीछे प्रसन्नप्रभाव नाम की लोकधातु में ज्ञानाकरप्रभ नाम का बुद्ध हुआ, यह कहा गया है। **महामेघ** में यह भी उपलब्ध होता है कि दक्षिणापथ में ऋषिल नाम के जनपद में विपत्ति-चिकित्सक नाम का राजा होगा। उसके ८० वर्ष के होने पर अनुत्तर धर्म लुप्तप्राय हो जायगा। उसी समय सुन्दरमति नाम की क्षुद्र नदी के उत्तरी तट पर महावालक ग्राम के निकट एक लिच्छवि कुमार उत्पन्न होगा तथा धर्म की व्याख्या करेगा। यह कुमार नागकुल प्रदीप नाम के बुद्ध के सम्मुख

१—लंकावतार, पृ० २८६ बुदोन, पृ० १२९–३०

प्रणिधान करेगा। यह स्पष्ट नहीं है कि यहाँ नागार्जुन की ओर संकेत है। यह भी कहा गया है कि **महाभेरीसूत्र** में नागार्जुन के द्वारा ८वीं भूमि की प्राप्ति उल्लिखित है।

कुमारजीव ने नागार्जुन की जीवनी चीनी में लगभग ४०५ ई० में अनूदित की थी[2]। इसके अनुसार नागार्जुन दाक्षिणात्य ब्राह्मण थे। उन्होंने न केवल वेदों का अध्ययन किया अपितु अन्य अनेक विद्याओं में अपूर्व गति प्राप्त की। अलौकिक शक्ति के द्वारा वे अदृश्य हो सकते थे। अपने तीन मित्रों के साथ उन्होंने इस विद्या के अपप्रयोग के द्वारा राजकीय अवरोध में अनुचित प्रवेश किया, किन्तु उनके पदचिह्नों के सहारे यह अपराध पकड़ा गया। नागार्जुन के तीनों मित्रों को दण्ड हुआ, वे स्वयं मन ही मन भिक्षु बनने का संकल्प कर भाग निकले। इस संकल्प के अनुकूल उन्होंने प्रव्रज्या ग्रहण की तथा त्रिपिटक ९० दिन में पढ़ लिये एवं उसके अर्थ हृदयंगम कर लिये तथापि असन्तुष्ट रहने पर उन्होंने और सूत्रों की खोज की। अन्ततः हिमालय में उन्हें एक स्थविर भिक्षु से महा-यान-सूत्र-लाभ हुआ। नागराज की सहायता से उन्हें इस महायानसूत्र पर एक व्याख्या भी उपलब्ध हुई। इसके अनन्तर उन्होंने ३०० वर्षों से अधिक सद्धर्म का प्रचार किया। नागार्जुन का समकालीन एक राजा था जिसे उन्होंने सिद्धि-प्रदर्शन के द्वारा सद्धर्म में दीक्षा दी। उन्होंने नाना शास्त्रों की रचना की जिनमें तन्त्र एवं चिकित्साशास्त्र भी उल्लिखित हैं।

श्वांच्वांग (वाटर्स, जि० २, पृ० २००–६) के अनुसार दक्षिण कोसल की राज-धानी के अनतिदूर अशोक के द्वारा निर्मित एक प्राचीन स्तूप था। इससे सम्बद्ध संघा-राम में नागार्जुन बोधिसत्त्व निवास करते थे। उस समय सातवाह नाम का राजा शासन करता था और वह नागार्जुन का भक्त था। यहीं सिंहल से समागत देव बोधि-सत्त्व ने आर्य नागार्जुन के दर्शन किये। नागार्जुन रसायन-शास्त्र में सिद्ध थे। उन्होंने अत्यन्त दीर्घ आयु प्रदान करनेवाली एक सिद्धवटी का आविष्कार किया था। सातवाह राजा ने भी इसका सेवन किया और उनके पुत्र ने पिता की दीर्घ आयु से त्रस्त होकर बोधिसत्त्व नागार्जुन से उनके सिर की दक्षिणा माँगी, जिसे आचार्य ने पूरा किया। इस स्थान से दक्षिण-पश्चिम की ओर श्वांच्वांग ने भ्रमरगिरि नाम के पर्वत का उल्लेख किया है। यहीं सातवाहन राजा ने नागार्जुन के लिए एक संघाराम का उत्खनन किया। इस विहार के विवरण से इसकी प्रभूत समृद्धि झलकती है। इसके निर्माण में नागार्जुन की अलौकिक शक्ति ने राजा की सहायता की थी। धान्यकटक में श्वांच्वांग ने नागा-

२–द्र०—वासिलिएफ, देर बुद्धिस्मुस।

र्जुन के परवर्ती अनुयायी भावविवेक के निवास का उल्लेख किया है। यह स्मरणीय है कि जग्गयपेट के स्तूप के निकट प्राप्त एक लेख में भदन्त नागार्जुनाचार्य का उल्लेख मिलता है। राजतरंगिणी में कश्मीर के षडर्हद्वन (आधुनिक हारवन) को नागार्जुन का निवास बताया गया है।

वुदोन (पृ० १२०–३०) के अनुसार बुद्ध के परिनिर्वाण के ४०० वर्ष पश्चात् दक्षिणापथ के विदर्भ जनपद में एक समृद्ध, किन्तु सन्तानहीन ब्राह्मण रहता था। उसे स्वप्न में आभास हुआ था कि वह यदि १०० ब्राह्मणों को धार्मिक भोज में निमंत्रित करे तो उसके पुत्र उत्पन्न होगा। इसका अनुसरण करने पर उसे पुत्रलाभ हुआ। इस पुत्र के विषय में ज्योतिर्विदों ने कहा कि वह १० दिन से अधिक कदाचित् जीवित न रह पाये। पुनरपि १०० ब्राह्मणों को खिलाने से आयु की वृद्धि सम्भव बतायी गयी। सातवें वर्ष के निकट होने पर, जबकि इस बालक का निधन ज्योतिर्विदों द्वारा बताया गया था, उसके माता-पिता ने उसे एक सेवक के साथ परिभ्रमण के लिए बाहर भेज दिया ताकि वे स्वयं उसकी मृत्यु को देखने से बच जायें। इस प्रकार घर से प्रव्रजित वह बालक क्रमशः नालदा के द्वार तक पहुँचा। वहाँ उससे प्रभावित होकर सारह नाम के ब्राह्मण ने उसपर अनुकम्पा की और उसे वास्तविक प्रव्रज्या प्रदान की। बालक को अमितायु के मंडल में दीक्षित किया गया और अमितायु–धारणी का उपदेश किया गया। इसके प्रभाव से बालक का अनिष्ट कट गया। नालंदा के विहारस्वामी राहुलभद्र के अनुग्रह से उसे उपसम्पदा प्राप्त हुई तथा उसका भिक्षु के रूप में श्रीमान् नाम हुआ। कुछ समय पश्चात् नालंदा में भारी अकाल पड़ा। इस अवसर पर श्रीमान् ने रसायन की सहायता से स्वर्ण प्राप्त किया तथा उसके द्वारा संघ का कार्य कथंचित् अतिवाहित हो पाया, किन्तु संघ में यह बात विदित होने पर श्रीमान् को दंडित किया गया और यह आज्ञा दी गयी कि वह एक करोड़ विहारों का निर्माण करे। उस समय शंकर नाम के भिक्षु ने न्यायालंकार नाम का एक ग्रन्थ लिखा, तथा सबको तर्क में पराजित किया। उस भिक्षु को परास्त करने के लिए श्रीमान् ने धर्म की व्याख्या की तथा उसके सुनने के पश्चात् श्रोताओं में से दो बालक पृथ्वी के नीचे सहसा अन्तर्हित हो गये। यह पता चला कि वे दोनों नाग थे। इसके अनन्तर श्रीमान् ने नागलोक में अवतरण किया और वहाँ धर्म का उपदेश किया। नागलोक से ही वे शतसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता तथा स्वल्पाक्षरा प्रज्ञापारमिता अपने साथ ले आये तथा उन्होंने एक करोड़ विहारों का निर्माण किया। इसी समय से वे नागार्जुन नाम से विख्यात हुए। पीछे पुंड्रवर्धन में स्वर्ण उत्पादित कर उन्होंने प्रभूत भिक्षा-वितरण किया, वहीं उनका अनुगृहीत ब्राह्मण अपनी मृत्यु के अनन्तर नागबोधि

नाग के आचार्य के रूप में पुनः उत्पन्न हुआ। वहाँ से नागार्जुन पटवेश नाम के पूर्वी जनपद में गये तथा अनेक चैत्यों का निर्माण किया। राढ़जनपद में भी उन्होंने ऐसा ही किया। फिर वे उत्तर-पूर्व गये। वहाँ जेतक नाम के एक बालक के विषय में उन्होंने यह भविष्यवाणी की कि वह राजा बनेगा। पूर्व देश में उन्होंने एक वृक्ष की शाखा पर अपने वस्त्र लटकाये और धोये। इसके पश्चात् जब वह बालक राजा बन गया उसने नागार्जुन को बहुत-से रत्न दिये। नागार्जुन ने उसे प्रत्युपहार दिया। नागार्जुन ने वज्रासन के लिए हीरक जाल के समान एक वृत्ति बनायी तथा श्रीधान्यकटक के चैत्य का निर्माण किया। उन्होंने माध्यमिक दर्शन के प्रसार के लिए तर्कानुकूल माध्यमिक शास्त्र का प्रणयन किया तथा अनेक माध्यमिक स्तोत्र लिखे। व्यावहारिक पक्ष में उन्होंने सूत्रसमुच्चय में आगमों के अनुकूल उपदेश किया, स्वप्न-चिन्तामणि-परिकथा में गोत्रस्थ श्रावकों को समुत्तेजित-सम्प्रहर्षित किया, सुहृल्लेख में उन्होंने उपासकधर्म बताया तथा बोधिगण नाम के ग्रन्थ में भिक्षुधर्म प्रकाशित किया। तंत्रसमुच्चय, बोधि-चित्तविवरण, पिंडीकृतसाधन, सूत्रमेलापक, मंडलविधि, पंचक्रम आदि ग्रन्थों को उन्होंने तांत्रिक दृष्टि से लिखा। योगशतक आदि उनके चिकित्साविषयक ग्रन्थ हैं। नीति शास्त्र में उन्होंने जनपोषणबिन्दु तथा प्रज्ञाशतक की रचना की। रत्नावली में राजाओं के उपयोग के लिए महायान के सिद्धान्त और चर्या का निर्देश किया। इसके अतिरिक्त उन्होंने प्रतीत्यसमुत्पाद-चक्र, धूपयोगरत्नमाला आदि ग्रन्थों का निर्माण किया। व्याख्याओं में उन्होंने गुह्य-समाज-तन्त्रटीका, शालिस्तम्ब-कारिका आदि लिखे।

उस समय अन्तीवाहन अथवा उदयनभद्र नाम के राजा का शक्तिमान् नाम का कुमार था। शक्तिमान् ने अपनी माता से यह सुना कि उसके पिता ने नागार्जुन की सहायता से अमृत की प्राप्ति की थी। इस पर कुमार श्रीपर्वत गया जहाँ आचार्य नागा-र्जुन निवास करते थे। आचार्य कुमार को उपदेश देने लगे। कुमार ने नागार्जुन का सिर काटना चाहा, किन्तु असफल रहा। आचार्य ने कहा—'कभी कुश के द्वारा एक कीड़ा मुझसे मार डाला गया था, उसके पाप मेरे ऊपर हैं। अतएव एक कुश से मेरा सिर काटा जा सकता है।' इस पर कुमार ने कुश से उनका सिर काट लिया। आचार्य की छिन्न ग्रीवा से यह सुनायी दिया—'अब मैं सुखावती-लोक-धातु चला जाऊँगा, किन्तु पीछे पुनः इस देह में लौट आऊँगा।' वह कुमार उनका सिर ले गया, किन्तु उससे एक यक्षी ने उसे लेकर आचार्य की देह से एक योजन की दूरी पर स्थापित कर दिया। देह और सिर क्रमशः एक-दूसरे के पास आते गये और अन्ततः पुनः जुड़ गये :

यदि इन सब विभिन्न परम्पराओं का आलोचन किया जाय तो यह प्रतीत होता है कि नागार्जुन कदाचित् दूसरी शताब्दी ई० में हुए थे, तथा कनिष्क एवं एक शातवाहन राजा के समकालीन थे। उनका मूल स्थान अन्ध्रापथ में सम्भवत: धान्यकटक के समीप अथवा श्रीपर्वत पर मानना चाहिए। उनका नालंदा एवं कश्मीर से भी सम्बन्ध प्रतीत होता है। कदाचित् प्रसिद्धि के अनुकूल उन्होंने पर्याप्त परिभ्रमण किया था। यह सम्भव है कि शून्यवाद के प्रवर्तक नागार्जुन के अतिरिक्त एक अथवा एकाधिक अन्य आचार्य भी नागार्जुन के नाम से परवर्ती काल में प्रसिद्ध हुए जो कि तांत्रिक एवं रासायनिक थे, किन्तु जिन्हें दार्शनिक नागार्जुन से पृथक् स्मरण रखना कालान्तर में कठिन हो गया।

नागार्जुन की रचनाओं में **महाप्रज्ञापारमिताशास्त्र**,[3] **मध्यमककारिका**,[4] तथा **विग्रह-व्यावर्तनी**[5] का विशेष महत्त्व है। **महाप्रज्ञापारमिताशास्त्र** में एक प्रकार के नवीन 'माहायानिक अभिधर्म' की भूमिका है। मैत्रेयनाथ के समान नागार्जुन ने भी **प्रज्ञापार-मितासूत्रों** को एक रीतिबद्ध रूप प्रदान करने का प्रयत्न किया। किन्तु वस्तुत: उनके शून्यवाद से इस किसी भी प्रकार के 'अभिधर्म' अथवा रीतिबद्ध दर्शन का सामंजस्य नहीं हो सकता। सम्भवत: इसी कारण माध्यमिक-दर्शन परम्परा में **महाप्रज्ञापार-मिताशास्त्र** का स्थान नगण्य है। **माध्यमिककारिकाओं** में तथा **विग्रहव्यावर्तनी** में नागार्जुन ने अपने विलक्षण तर्क के द्वारा समस्त अभिधर्म तथा तर्क का खण्डन किया है।

नागार्जुन की तर्कपद्धति—शून्यता के सिद्धान्त का रीतिबद्ध दार्शनिक प्रतिपादन सर्वप्रथम नागार्जुन ने किया। उन्होंने प्रज्ञापारमिता-सूत्रों का सार खींचकर एक नवीन दर्शनशास्त्र की रचना की। उन्होंने तर्क से ही तर्क का खण्डन किया तथा शून्यता को प्रतीत्यसमुत्पाद से अभिन्न बताया। उनके शब्दों में 'यः प्रतीत्यसमुत्पादः शून्यतां तां प्रचक्ष्महे। सा प्रज्ञप्तिरुपादाय प्रतिपत्सैव मध्यमा॥' उनके समक्ष एक बड़ी समस्या थी—'शून्यता' स्वीकार करने पर तर्क ही नहीं किया जा सकता क्योंकि शून्यवादी किसी भी पक्ष को अपना ले तो शून्यता की ही हानि हो जाती है। जब 'प्रतिज्ञा'

३—चीनी त्रिपिटक में "ता चिक्लडेन्ट" नाम से अनुवाद मिलता है। द्र०—ऊपर। उसका फ्रेंच अनुवाद लामॉत के द्वारा, "ल त्रेते द ग्रांद वर्तु द साजेस"।

४—अभी तक बिब्लियोथेका बुद्धिका में पूसें का संस्करण ही सर्वोत्तम है।

५—द्र०—जे० बी० ओ० आर० एस०, २४—२; मेलांग शिन्वा ए बुद्धीक, जि० ९, १९४८—५१, पृ० ९९—१५२; नवनालन्दा महाविहार रिसर्च पब्लिकेशन, जि० १।

ही नहीं की जा सकती तो युक्ति के द्वारा उसका साधन दूर की बात है। वस्तुतः शून्यता का उपदेश सब 'दृष्टियों' से छुटकारे के लिए है। यदि कोई शून्यता को भी दृष्टि बना लेता है तो वह असाध्य है—'शून्यता सर्वदृष्टीनां प्रोक्ता निःसरणं जिनैः। येषां तु शून्यता दृष्टिः तानसाध्यान्बभाषिरे ॥' समस्त शून्यवाद विकल्पात्मक तर्क-बुद्धि को सत्य के क्षेत्र से बाहर रख देता है। अतएव नागार्जुन शून्यता की सिद्धि तर्कबुद्धि एवं उसके स्वीकृत सिद्धान्त के निरास के द्वारा करते हैं। किसी भी वस्तु की सत्यता स्वीकार नहीं की जा सकती क्योंकि उसे स्वीकार करने पर अपरिहार्य रूप से विरोध प्रसक्त हो जाता है। इस प्रकार के तर्क को नागार्जुन और उनके अनुयायी 'प्रसंगापादन' अथवा 'प्रासंगिक' कहते थे। आधुनिक अभिधा में नागार्जुन की प्रणाली डायलेक्टिकल (dialectical) थी। उद्योतकर आदि ने माध्यमिक-सम्मत इस प्रकार की तर्क-प्रणाली को केवल 'नास्तिक वितंडा' कहकर उसका खण्डन किया है।

शून्यता की न्यायतः प्रतिपाद्यता : पूर्वपक्ष—विग्रहव्यावर्तनी नाम के अल्पकाय ग्रन्थ में नागार्जुन ने शून्यवाद की न्यायतः प्रतिपाद्यता पर विचार किया है। प्रारम्भ में ही उन्होंने अपने विरोध में दी गयी प्रधान युक्ति का उल्लेख किया है—'यदि सभी पदार्थों में अपना स्वभाव अविद्यमान है तो तुम्हारे शब्द भी स्वभावहीन होने के कारण स्वभाव के खण्डन में असमर्थ हैं, और दूसरी ओर यदि तुम्हारी बात स्वभावयुक्त है तो तुम्हारी पिछली प्रतिज्ञा खण्डित हो जाती है।' चन्द्रकीर्त्ति ने भी इस शंका को इस प्रकार प्रकट किया है—सब पदार्थों के अनुत्पाद का सिद्धान्त प्रमाणजन्य है अथवा अप्रमाणजन्य? पहले विकल्प में प्रमाणों के लक्षण आदि प्रस्तुत करना चाहिए। दूसरे विकल्प में 'सिद्धान्त' ही असिद्ध रहता है। रूप से माना जा सकता है। इस मौलिक कठिनाई का विश्लेषणपूर्वक उत्तर देने के लिए नागार्जुन ने विग्रहव्यावर्तनी में अपने प्रतिपक्ष का विस्तार करते हुए षट्कोटिक आपत्ति का उल्लेख किया है—(१) यदि सब पदार्थ शून्य हैं तो उनकी शून्यता के प्रतिपादक वाक्य 'सब पदार्थ शून्य हैं' यह भी शून्य है क्योंकि वह भी सब पदार्थों में अन्तर्गत है और उसके शून्य होने पर सब पदार्थों की अशून्यता अक्षत रहती है और ऐसी स्थिति में 'सब पदार्थ शून्य हैं' यह प्रतिषेध अनुपपन्न हो जाता है।(२) दूसरी ओर यदि यह मान लिया जाय कि सर्वशून्यता की उक्ति उपपन्न है तो वह उक्ति स्वयं शून्य हो जायेगी तथा शून्य उक्ति के द्वारा शून्यता का प्रतिपादन नहीं हो पायेगा। (३) और यदि सब पदार्थ शून्य हैं तथा इसके साथ ही इस शून्यता की उक्ति शून्य नहीं है तो यह उक्ति सर्वत्र असंगृहीत होगी। अर्थात् पदार्थ-समष्टि के बहिर्भूत होगी। पदार्थ अशून्य हो नहीं सकता तथा शून्यता की उक्ति अशून्य है—ये दोनों परस्पर असमंजस हैं। (४) यदि शून्यता की उक्ति को संगृहीत माना

जाय और उसके साथ ही सब पदार्थों को शून्य, तो वह उक्ति पुनः शून्य हो जायगी अथच प्रतिषेध में अक्षम। (५) यदि उक्ति शून्य है, किन्तु शून्य होते हुए भी उसके द्वारा अशून्यता का प्रतिषेध किया जा सकता है तो शून्य होते हुए भी सब पदार्थ अर्थक्रिया में समर्थ हो जायेंगे, किन्तु तब शून्यता अस्तिता का नामान्तर होगी, जोकि दृष्टान्त-विरुद्ध है। (६) यदि सब पदार्थ शून्य हैं तथा कार्य करने में असमर्थ हैं तो शून्यता की प्रतिपादक उक्ति के शून्य होने के कारण सब पदार्थों के स्वभाव का प्रतिषेध युक्त नहीं है। संक्षेप में यह अनिवार्य प्रतीत होता है कि शून्यवाद के समर्थन में सदैव तार्किक विषमता उत्पन्न हो जाती है—सब शून्य मानते हुए अन्ततः कुछ शून्य और कुछ अशून्य मानना पड़ता है और इस प्रकार की विषमता में कोई हेतु नहीं दिया जा सकता।

मान लीजिए शून्यवादी की ओर से यह कहा जाय कि शून्यता का स्थापन ऐसा ही है जैसे कोई कहे 'शब्द मत करो' किन्तु यह कहने में स्वयं अनिवार्यतया शब्द करे। ऐसे स्थल में शब्द के द्वारा शब्द का निवारण होता है। इसी प्रकार से सब पदार्थों के स्वभाव का प्रतिषेध समझना चाहिए। किन्तु शून्यवादी की यह युक्ति स्वीकार्य नहीं है। वस्तुतः उस दृष्टान्त में वर्तमान शब्द से अनागत शब्द का प्रतिषेध किया जाता है, किन्तु यहाँ शून्यता की उक्ति से अशेष पदार्थों का निषेध किया जाता है जिनमें उक्ति स्वयं अभ्यन्तर है। यदि शून्यवादी की ओर से यह कहा जाय कि उसके द्वारा किये गये सब पदार्थों के प्रतिषेध का प्रतिपक्षी के द्वारा किया गया यह प्रतिषेध भी अनुपपन्न मानना चाहिए तो यह भी स्वीकार्य नहीं हो सकता क्योंकि सब पदार्थों का प्रतिषेध शून्यवादी की प्रतिज्ञा है, उसके विपक्षी की नहीं।

शून्यवादी यह भी नहीं कह सकता कि मैं पदार्थों को प्रत्यक्षतः उपलब्ध करके तदनन्तर उनका निषेध करता हूँ क्योंकि उसकी दृष्टि से प्रत्यक्ष ही निषिद्ध है। यही असहाय स्थिति अनुमान एवं अन्य प्रमाणों की माननी चाहिए।

यदि शून्यवाद माना जाय तो जो ११९ कुशल धर्म आचार्यों के द्वारा परिगणित हैं उनका भी परित्याग करना होगा। सूत्रों मे निर्वाण एवं बोधि की ओर ले जाने वाले अनेक धर्मों का निर्देश है, वे भी सब शून्य हो जायेंगे।

यदि सब पदार्थ निःस्वभाव होते तो उनके पृथक्-पृथक् नाम ही नहीं होते। सदैव नाम का आधार कोई न कोई वस्तु देखी जाती है तथा निर्वस्तुक नाम असम्भव है। यदि यह कहा जाय कि नाम का आधार स्वभाव है, किन्तु यह स्वभाव पदार्थों का नहीं है तो प्रश्न उठता है कि "यह विलक्षण स्वभाव किसका है?"

यह भी स्मरणीय है कि प्रतिषेध उसी का होता है जिसकी सत्ता प्राप्त हो। जैसे यह कहने पर कि 'घर में घड़ा नहीं है' यह मान लिया जाता है कि घड़ा यहाँ हो सकता

था अथवा अन्यत्र है। इस युक्ति से विदित होता है कि शून्यवादी के द्वारा स्वभाव का प्रतिषेध स्वयं स्वभाव को सिद्ध करता है। यदि किसी पदार्थ का स्वभाव है ही नही तो उसका प्रतिषेध ही क्यों किया जाता है ? यह कोई नहीं कहता कि आग ठंढी नहीं है। शून्यवादी ही सब पदार्थों के निषेध में इतना व्याकुल क्यों हो ? यह कहा जा सकता है कि जैसे कोई बुद्धिमान् एवं दयालु व्यक्ति मृगतृष्णा से त्रस्त मूढ़ लोगों को बताये कि यहाँ पानी नहीं है, ऐसे ही शून्यवादी भी अविद्या-ग्रस्त जनता को शिक्षा देना चाहता है। किन्तु ऐसा कहने पर छः प्रकार के पदार्थों की सत्ता इस दृष्टान्त से स्वयं प्रतिपादित हो जाती है—भ्रान्ति, उसका विषय, उसका आश्रय (भ्रान्त पुरुष), प्रतिषेध, उसका विषय, तथा प्रतिषेधक पुरुष। इन छः पदार्थों के सिद्ध होने से शून्यता के सिद्धान्त की हानि हो जाती है। यदि भ्रान्ति तथा उसके आश्रय और विषय न भी स्वीकार किये जायँ तब तक प्रतिषेध तथा उसके आश्रय और विषय स्वीकार करने ही होंगे। यदि इनको अस्वीकार कर दिया जायगा तो सब पदार्थों की सत्ता स्वयं सिद्ध हो जायेगी।

वस्तुतः सब पदार्थों की शून्यता सिद्ध ही नहीं की जा सकती है क्योंकि उसमें कोई हेतु नहीं दिया जा सकता। हेतु दिया जा सकता तो वह शून्य न होता। बिना हेतु के कोई सिद्धि नहीं होती। यदि बिना हेतु के ही स्वभाव-प्रतिषेध सिद्ध हो जाय तो स्वभाव का अस्तित्व भी उसी प्रकार से अहेतुक सिद्ध हो जायगा। यदि हेतु का अस्तित्व माना जाय तो उसके द्वारा साध्य अस्वाभाव्य अयुक्त हो जायगा। अन्त में, सब पदार्थों का प्रतिषेध इसलिए अनुपपन्न है क्योंकि वह प्रतिषेध्य के न पहले हो सकता है न पीछे और न साथ। यदि प्रतिषेध पहले माना जाय तो प्रतिषेध्य के अभाव में प्रतिषेध होगा किसका। यदि प्रतिषेध को प्रतिषेध्य के पश्चात् माना जाय तो यह समझ में नहीं आता कि प्रतिषेध्य के होने पर प्रतिषेध से होगा क्या। यदि प्रतिषेध और प्रतिषेध्य दोनों साथ हों तो उनमें किसी प्रकार का कार्यकारणभाव स्वीकार नहीं किया जा सकता। इस प्रकार नागार्जुन ने विस्तार से शून्यवाद के विरोध में पूर्वपक्ष की युक्तियों का प्रतिपादन किया है, एवं और अधिक विस्तार से इन उक्तियों का खंडन।

नागार्जुन का उत्तर

शून्यवादी को अपने वचन की शून्यता अभीष्ट है, किन्तु उसके वचन और अन्य पदार्थ हेतु-प्रत्यय-सामग्री की अपेक्षा रखते हुए समान-कोटिक हैं और सभी समान रूप से शून्य हैं। वस्तुतः प्रतिपक्षी ने शून्यता का सिद्धान्त ठीक समझा नहीं। पदार्थों का प्रतीत्यसमुत्पाद ही शून्यता है, क्योंकि जिसकी सत्ता परतन्त्र अथवा परापेक्ष होती है

उसका अपना वास्तविक स्वभाव स्वीकार नहीं किया जा सकता। यदि पदार्थों का वास्तविक स्वभाव हो तो उन्हें हेतु-प्रत्यय की अपेक्षा न हो। उनकी यह निःस्वाभावता ही शून्यता है। शून्यवादी का वचन भी प्रतीत्यसमुत्पन्न है और इसी प्रकार शून्य है जैसे कि अन्य पदार्थ। रथ, पट, घट आदि पदार्थ प्रतीत्यसमुत्पन्न होने के कारण जलसंधारण आदि अपना-अपना कार्य करते हैं। ऐसे ही शून्यवादी की उक्ति भी प्रतीत्यसमुत्पन्न होने के कारण निःस्वभाव होती हुई भी पदार्थों की निःस्वभावता के साधन में अपना कार्य करती है। जिस प्रकार जादू का बनाया एक आदमी वैसे ही दूसरे का प्रतिषेध करे ऐसे ही शून्यवादी के द्वारा पदार्थों के स्वभाव का निषेध है।

शून्यता प्रतिपादक वाक्य न स्वाभाविक है और न यहाँ पर तार्किक विषमता उत्पन्न होती है। सभी पदार्थ शून्य हैं और उनकी शून्यता का प्रतिपादक वाक्य भी शून्य है, किन्तु इन सबकी शून्यता प्रतीत्यसमुत्पन्न होने के कारण है। स्वभाव का प्रतिषेध उस प्रकार का नहीं है जैसा 'शोर मत करो' इस वाक्य में शब्द का प्रतिषेध। प्रतिपक्षी के दिये हुए दृष्टान्त में शब्द के द्वारा शब्द का व्यावर्तन किया जाता है। यह दृष्टान्त तब सार्थक होता यदि निस्स्वभाव वाक्य के द्वारा निस्स्वभाव पदार्थों का निवर्तन किया जाता, किन्तु यहाँ निस्स्वभाव वचन के द्वारा पदार्थों के स्वभाव का प्रतिषेध किया गया है। प्रतिषेध इस प्रकार है जैसे कोई माया-निर्मित पुरुष माया-निर्मित स्त्री में अनुरक्त अन्य पुरुष को उसकी भ्रान्ति बताये एवं वारण करे। शून्यता-प्रतिपादक वाक्य निर्मितकोपम हैं; निषिद्ध्यामान पदार्थ निर्मितक-स्त्री के समान है। यह भी कहा जा सकता है कि ध्वनि-निवारण के दृष्टान्त में हेतु साध्यसम है क्योंकि ध्वनि की सत्ता ही नहीं है। सच बात तो यह है कि शून्यवादी व्यवहार-सत्य को स्वीकार करते हुए ही स्वभाव-शून्यता का प्रतिपादन करता है। व्यवहार-सत्य को स्वीकार किये बिना धर्म का उपदेश नहीं किया जा सकता।

"व्यवहारमनाश्रित्य परमार्थो न देश्यते।
परमार्थमनागम्य निर्वाणं नाधिगम्यते॥"

यदि शून्यवादी की कोई प्रतिज्ञा है तब तो उसमें दोष उद्भावित किया जा सकता है, किन्तु शून्यवादी किसी प्रतिज्ञा को उपस्थापित करता ही नहीं। सभी पदार्थ शून्य एवं अत्यन्त उपशान्त हैं, ऐसी स्थिति में प्रतिज्ञा ही सम्भव नहीं है, प्रतिज्ञा के लक्षण की प्राप्ति किस प्रकार होगी। यदि प्रत्यक्ष आदि चार प्रमाणों से अथवा उनमें से किसी एक से शून्यवादी कुछ उपलब्ध कर प्रवृत्ति एवं निवृत्ति को पुरस्कृत करे तभी तद्विषयक उपालम्भ न्याय्य होगा, किन्तु वस्तुतः शून्यवादी न प्रमाणोपलब्ध किसी विषय की

चर्चा करता है, न उसके आधार पर किसी प्रकार की प्रवृत्ति की। दूसरी ओर यदि प्रतिपक्षी नाना अर्थों की प्रमाणतः प्रसिद्धि बतलाता है तो उसे यह भी बतलाना चाहिए कि उन प्रमाणों की प्रसिद्धि किस प्रकार होगी। यदि यह कहा जाय कि प्रमाणों से प्रमेय-सिद्धि होती है तथा एक प्रमाण से दूसरे प्रमाण की तो अनवस्था प्रसक्त हो जाती है। और यदि प्रमाणों की प्रसिद्धि बिना प्रमाण के हो सकती है तो प्रमेयों की क्यों नहीं हो सकती ? यदि यह कहा जाय कि अग्नि के समान प्रमाण अपने को तथा अपने से भिन्न प्रमेयों को प्रकाशित करता है तो यह उत्तर देना होगा कि यह दृष्टान्त विषम और भ्रान्तिमूलक है। अग्नि अपने को प्रकाशित नहीं करती क्योंकि प्रकाशन अप्रकाशित का होता है। उदाहरणार्थ, अन्धेरे में अनुपलब्ध घटप्रकाश होने पर प्रकट हो जाता है। अग्नि इस प्रकार कभी भी अप्रकाशित नहीं मानी जा सकती। यदि एक बार यह मान भी लिया जाय कि अग्नि अपने को प्रकाशित करती है तो यह क्या नहीं कहा जा सकता कि अग्नि दूसरे के साथ-साथ अपने को भी जला देती है। यह भी क्या नहीं माना जा सकता कि अन्धेरा अपने को तथा अन्य पदार्थों को बराबर ढंक लेता है। प्रकाश अन्धेरे का अपाकरण है। जहाँ अग्नि होती है वहाँ अन्धेरा होता ही नहीं और न अग्नि में ही अन्धेरा होता है। अतएव यह कहना निस्सार है कि अग्नि अपने को तथा अन्य पदार्थों को प्रकाशित करती है। यदि यह कहा जाय कि अग्नि के पहले अन्धेरा होता है जिसका अग्नि अपनी उत्पत्ति के साथ अपाकरण कर देती है तो यह दिखलाना होगा कि अग्नि की उत्पत्ति के समय उसका अन्धेरे से सम्पर्क होता है। यह स्पष्ट ही असम्भव है। यदि बिना अन्धकार से सम्पर्क हुए अथवा बिना उसकी प्राप्ति के ही अग्नि के द्वारा उसका निवारण होता है तो यहाँ पर उपस्थित अग्नि से ही अशेष लोकधातुओं में अन्धकार हट जाता।

पुनश्च, यदि प्रमाणों की सिद्धि स्वतः मानी जाय तो उन्हें प्रमेयों की भी अपेक्षा न होगी। यदि प्रमेय-निरपेक्ष रूप से प्रमाण-सिद्धि मान ली जाय तो ये स्वतः–सिद्ध प्रमाण किसी भी प्रमेय के साधन न होंगे। दूसरी ओर यदि यह कहा जाय कि प्रमाणों की सिद्धि प्रमेयापेक्ष होती है तो सिद्ध-साधन का दोष उपस्थित हो जाता है क्योंकि अपेक्षा सिद्ध-वस्तु की ही रह सकती है। असिद्ध वस्तु का अन्याभिसम्बन्ध असम्भव है। पुनश्च यदि प्रमाणों की सिद्धि प्रमेयापेक्ष होती है तो प्रमेय-सिद्धि प्रमाणनिरपेक्ष माननी होगी और इस प्रकार की निरपेक्ष प्रमेय-सिद्धि होने पर प्रमाण-सिद्धि सर्वथा व्यर्थ होगी। प्रमाण-सिद्धि प्रमेयापेक्ष होने पर प्रमाण और प्रमेय का परस्पर व्यत्यय हो जाता है क्योंकि तब प्रमेयों से प्रमाण सिद्ध होते हैं न कि प्रमाणों से प्रमेय। यदि दोनों

की सिद्धि परस्परापेक्ष मानी जाय तो दोनों की ही असिद्धि माननी होगी। क्यों तब एक ओर प्रमेय प्रमाण-सिद्ध होंगे, किन्तु वे प्रमाण स्वयं साध्य रहेंगे। दूसरी ओर प्रमाण प्रमेय-सिद्ध होंगे, किन्तु वे प्रमेय स्वयं साध्य होंगे। यदि पिता से पुत्र उत्पाद्य हो और पुत्र से पिता तो न पिता उत्पन्न होगा न पुत्र, और ऐसी स्थिति में यह भी नहीं तय हो पायेगा कि कौन पुत्र है और कौन पिता। सच तो यह है कि प्रमाणों की सिद्धि न स्वतः होती है, न परस्पर, न प्रमेयों से, और न अकस्मात्।

शुक्ल धर्मों के विषय में आचार्यों के द्वारा परिगणन अवश्य किया गया है, किन्तु इन धर्मों के स्वभाव का प्रविभक्त निर्देश नहीं किया जा सकता। यह नहीं कहा जा सकता कि यह कुशल-विज्ञान का स्वभाव है, यह अकुशल विज्ञान का स्वभाव। अतएव यह कहना ठीक नहीं कि पृथक्-पृथक् धर्मस्वभाव का धर्मज्ञ लोगों ने उपदेश किया है। यदि कुशलधर्मों का कुशलस्वभाव प्रतीत्य उत्पन्न होता है तो वह उनका 'स्वभाव' न होकर परभाव ही होगा; और यदि यह कहा जाय कि कुशल धर्मों का स्वभाव निरपेक्ष रूप से उत्पन्न होता है तो आध्यात्मिक जीवन ही व्यर्थ हो जायगा। तब ब्रह्मचर्यवास के स्थान पर धर्मों का अपना निरपेक्षवास रहेगा। प्रतीत्यसमुत्पाद के खण्डित होने पर सद्धर्म का अनिवार्य रूप से खण्डन हो जायगा क्योंकि बुद्ध भगवान् ने कहा है "भिक्षुओ, जो प्रतीत्यसमुत्पाद को देखता है वह धर्म को देखता है"। जब निरपेक्ष रूप से कुशल, अकुशल अथवा अव्याकृत धर्मों के स्वभाव होंगे तो आर्यसत्यों को मिथ्या मानना होगा। धर्म और अधर्म तथा लौकिक व्यवहार भी असम्भव हो जायगा क्योंकि तब हेतु-निरपेक्ष सभी भाव नित्य होंगे। भलाई या बुराई के घटने-बढ़ने का प्रश्न नहीं होगा और न दुःख से मोक्ष तक की चर्चा का। बुद्ध भगवान् की प्रसिद्ध देशना 'सभी संस्कार अनित्य हैं' मिथ्या हो जायगी, सभी संस्कृत धर्म असंस्कृत हो जायेंगे।

पदार्थों के नामयुक्त होने से उनका स्वभाव सिद्ध नहीं होता क्योंकि नाम स्वयं निःस्वभाव हैं।

शून्यवादी धर्मों के स्वभाव का प्रतिषेध करते हुए धर्म-विनिर्मुक्त किसी पदार्थ का स्वभाव स्वीकार नहीं करते। ऐसी स्थिति में निस्स्वभाव धर्मों के अतिरिक्त किसी अन्य स्वभाव के स्वीकार का उपालम्भ अयुक्त हो जाता है। यह आपत्ति भी निराधार है कि जिसकी सत्ता प्राप्त है उसी का प्रतिषेध किया जा सकता है और अतएव स्वभाव का स्वीकार किये बिना शून्यता का उपदेश नहीं हो सकता। क्योंकि यदि ऐसा है तब तो विपक्षी के द्वारा शून्यता का प्रतिषेध ही शून्यता को सिद्ध कर देता है। यदि शून्यता के प्रतिषेध्य होते हुए भी वह प्रतिषिध्यमान शून्यता शून्यता नहीं है,

तो सत् का ही प्रतिषेध होता है, यह सिद्धान्त खंडित हो जाता है। पुनश्च शून्यवादी न किसी का प्रतिषेध करता है न उसके लिए कोई प्रतिषेध्य है; अतएव यह कहना व्यर्थ है कि उसके प्रतिषेध में ही विधि पुरस्कृत है। पूर्वपक्ष में कहा गया है कि उक्ति के बिना भी असत् का प्रतिषेध प्रसिद्ध है। अतएव निस्स्वभावत्व का ख्यापन व्यर्थ है। इसके उत्तर में शून्यवादी का कहना है कि "सब पदार्थ निस्वभाव हैं," यह उक्ति पदार्थों को निस्स्वभाव नहीं बनाती, किन्तु स्वभाव के पूर्वसिद्ध अभाव का ज्ञापन करती है। उदाहरण के लिए देवदत्त के घर में न होने पर यदि कोई कहे "देवदत्त घर में है" और इस पर अन्य कोई पुरुष उसका निषेध करते हुए कहे—"नहीं है" तो उसका निषेध-वचन देवदत्त का अभाव उत्पन्न नहीं कर सकता, केवल उसे प्रकाशित करता है।

पूर्वोक्त मृगतृष्णा के दृष्टांत पर शून्यवादी का कहना है—यदि मृगतृष्णा में जलबुद्धि स्वाभाविक हो तो वह प्रतीत्यसमुत्पन्न नहीं होगी। वस्तुतः मृगतष्णा, विपरीत-दर्शन तथा अयोनिशोमनस्कार की अपेक्षा रखते हुए ही यह जलबुद्धि उत्पन्न होती है। अभिनिवेश स्वाभाविक हो तो उसकी निवृत्ति किस प्रकार होगी? स्वभाव अनिवर्तनीय है। ऐसे ही अन्य ग्राह्य आदि धर्मों में भी शून्यता समझनी चाहिए।

पूर्वपक्ष में कहा गया है कि नैःस्वाभाव्य के कारण हेतु के ही असिद्ध होने से शून्यवाद की सिद्धि असम्भव है। इसके उत्तर में भी वही तर्क उपयोगी है जैसा ऊपर षट्क-प्रतिषेध में प्रयुक्त हुआ है। प्रतिषेध और प्रतिषेध्य के परस्पर सम्बन्ध की अनुपपत्ति में शून्यवादी का उत्तर है कि यह सच है कि त्रिकाल में न प्रतिषेध सम्भव है न प्रतिषेध्य, किन्तु यह वस्तुतः शून्यवाद का समर्थन ही है।

इस प्रकार शून्यवाद की तार्किक सम्भावना पर विचार करते हुए नागार्जुन का अन्त में कहना है कि जो शून्यता को मानता है उसके सभी पुरुषार्थ सुरक्षित रहते हैं। शून्यता को मानने वाले प्रतीत्यसमुत्पाद को हृदयंगम करते हैं और इस प्रकार चार आर्यसत्य तथा श्रामण्यफल उन्हें उपलब्ध होते हैं। इसी आधार पर उनके समस्त लौकिक व्यवहार भी व्यवस्थित हो जाते हैं।

माध्यमिक कारिकाएँ—प्रतीत्यसमुत्पाद—माध्यमिक कारिकाओं का प्रारम्भ प्रतीत्यसमुत्पाद के उपदेष्टा बुद्ध की प्रसिद्ध वन्दना से होता है। "अनिरोधमनुत्पादमनुच्छेदमशाश्वतम्। अनेकार्थमनानार्थमनागममनिर्गमम्॥ यः प्रतीत्यसमुत्पादं प्रपंचोपशमं शिवम्। देशयामास सम्बुद्धस्तं वन्दे वदतां वरम्॥" प्रतीत्यसमुत्पाद को यहाँ "प्रपंचोपशम" एवं "शिव" कहा गया है तथा आठ विशेषणों से उसकी अतर्क्यता एवं अनिर्वचनीयता प्रतिपादित की गयी है। प्रतीत्यसमुत्पाद की अनेक

व्याख्याएँ प्रचलित थीं, यथा "हेतुप्रत्यय-सामग्री की अपेक्षा पदार्थों का उत्पाद", "भंगुर पदार्थों का उत्पाद", "इदम्प्रत्ययता।" नागार्जुन के लिए पदार्थों की "आपेक्षिकता" उनकी स्वभावशून्यता को द्योतित करती है एवं प्रतीत्यसमुत्पाद को मानने वाला सब पदार्थों को मायोपम समझता है। इससे अविद्या निवृत्त होती है तथा दुःख के "द्वादशांग" छिन्न हो जाते हैं।

प्रतीत्यसमुत्पाद के द्वारा व्यावहारिक जगत् का प्रतिषेध इन आठ विशेषणों से प्रकाशित किया गया है—अनिरोध, अनुत्पाद, अनुच्छेद, अशाश्वत, अनेकार्थ, अनानार्थ, अनागम एवं अनिर्गम। अर्थात् प्रतीत्यसमुत्पाद में न निरोध होता है न उत्पाद, न उच्छेद होता है, न शाश्वत स्थिति, न उसमें पदार्थों की एकता है न अनेकता, न आगति होती है न निर्गति। विरुद्ध धर्मों का निषेध प्रतीत्यसमुत्पाद की अतर्क्यता द्योतित करता है। तर्क-बुद्धि प्रत्येक पदार्थ को धर्म-विशेष से विशेषित कर तद्-विपरीत धर्म से उसकी व्यावृत्ति करती है। इस दृष्टि से जो वस्तु एक नहीं है उसे अनेक होना चाहिए, जो उच्छिन्न नहीं होती उसे शाश्वत होना चाहिए, किन्तु प्रतीत्य-समुत्पाद में इस प्रकार का तर्क नहीं लगता। इसका कारण यह है कि शून्य में विशेषण लगा देने से शून्यगुणित अंकों के तुल्य विशेषणों का विरोध भी शून्यसात् हो जाता है। आचार्य गौडपाद ने कहा है कि मायामय बीज से उत्पन्न हुआ मायामय अंकुर न शाश्वत कहा जा सकता है न नश्वर। "प्रपंचोपशम" में प्रपंच शब्द का अर्थ वाक् अथवा उसके द्वारा प्रतिपाद्य समस्त अभिधेय-मंडल मानना चाहिए। इस प्रकार प्रपंचोपशम का अर्थ सर्व-वाग् विषय का अतिक्रमण होता है। चित्त-चैत्त की अप्रवृत्ति तथा ज्ञान-ज्ञेय-व्यवहार की निवृत्ति होने पर जाति, जरा, मरण आदि अशेष उपद्रव के अभाव के कारण प्रतीत्यसमुत्पाद को "शिव" कहा गया है। अनिरोध आदि विशेषण न केवल प्रतीत्यसमुत्पाद की अतर्क्यता सूचित करते हैं अपितु उत्पाद, निरोध, एकत्व, अनेकत्व तथा गमनागमन आदि तर्कबुद्धिसुलभ धर्मों की अपारमार्थिकता भी द्योतित करते हैं। लौकिक बुद्धि के द्वारा विकल्पित उत्पादनिरोधयुक्त जगत् की अपारमार्थिकता तथा परमार्थ की अवाच्यता, दोनों ही प्रतीत्यसमुत्पाद से सूचित होते हैं। यही शून्यवाद का सार है और माध्यमिक कारिकाओं के प्रारम्भ में ही इस प्रकार निर्दिष्ट है।

पदार्थों की उत्पत्ति का खंडन—उत्पाद, निरोध आदि मिथ्या विकल्पों के खण्डन में प्रवृत्त होते हुए नागार्जुन पहले उत्पाद को लेते हैं। उनका कहना है—

> "न स्वतो नापि परतो न द्वाभ्यां नाप्यहेतुतः।
> उत्पन्ना जातु विद्यन्ते भावाः क्वचन केचन॥"

अर्थात् किसी भी पदार्थ की उत्पत्ति कभी भी नहीं होती, न अपने से, न दूसरे से, न दोनों से, और न अकस्मात्। चार प्रकार के प्रत्यय बताये गये हैं—हेतु-प्रत्यय, आलम्बन-प्रत्यय, अनन्तर-प्रत्यय एवं अधिपति-प्रत्यय। इनके अतिरिक्त और कोई पाँचवा प्रत्यय स्वीकार्य नहीं है। वस्तु का अपना स्वभाव उसके प्रत्ययों में विद्यमान नहीं होता है, उस स्वभाव के अविद्यमान होने पर परतः उत्पत्ति असम्भव हो जाती है। यह कहा जा सकता है कि प्रत्यय स्वयं पदार्थ को उत्पन्न नहीं करते, किन्तु क्रिया के द्वारा करते हैं। उदाहरणार्थ, चक्षु आदि प्रत्यय विज्ञानजनक क्रिया के निष्पादक होने के कारण प्रत्यय कहे जा सकते हैं। इस प्रकार नागार्जुन का कहना है कि "न तो क्रिया प्रत्यययुक्त है न प्रत्ययवियुक्त, एवं प्रत्यय भी न क्रियायुक्त है न क्रियारहित।" उपर्युक्त उदाहरण में क्रिया विज्ञान के उत्पन्न होने पर अभीष्ट हो सकती है अथवा उसके उत्पन्न होने के पहले अथवा विज्ञान की उत्पद्यमान अवस्था में। विज्ञान के उत्पन्न होने पर क्रिया की कल्पना अयुक्त है क्योंकि तब क्रिया का निष्पादकत्व ही व्यर्थ होगा। विज्ञान के उत्पन्न होने के पहले उसकी उत्पादन क्रिया सुतरां अयुक्त है क्योंकि वह कर्तृविहीन होगी। उत्पद्यमान विज्ञान की कल्पना ही अयुक्त है, क्योंकि उत्पन्न एवं अनुत्पन्न के अतिरिक्त कोई तीसरी कोटि सुबोध नहीं है। प्रत्ययवियुक्त क्रिया की कल्पना स्पष्ट ही अनुपयोगी है। वस्तुतः उसकी योग्यता ही अज्ञात रहेगी। जैसे क्रिया के साथ प्रत्ययों का सम्बन्ध जोड़ना कठिन है ऐसे ही प्रत्ययों के साथ क्रिया का सम्बन्ध भी दुर्घट है।

यदि यह कहा जाय कि चक्षु आदि प्रत्ययों की अपेक्षा से विज्ञान उत्पन्न होता है अतएव चक्षु आदि प्रत्यय कहे जाते हैं तो यह बतलाना पड़ेगा कि जबतक विज्ञान की उत्पत्ति नहीं होती तबतक चक्षु आदि अप्रत्यय ही क्यों न माने जायँ और यदि वे अप्रत्यय होंगे तो उनसे उत्पत्ति ही किस प्रकार होगी। यदि यह कहा जाय कि पहले वे अप्रत्यय हैं किन्तु पीछे किसी अन्य प्रत्यय की अपेक्षा से वे स्वयं प्रत्यय बन जाते हैं, तो भी युक्त न होगा, क्योंकि जिस अन्य प्रत्यय की उनको अपेक्षा होगी उसका प्रत्ययत्व सिद्ध करना उतना ही कठिन होगा। पुनश्च चक्षु आदि प्रत्यय सद्भूत विज्ञान के कल्पित किये जा सकते हैं अथवा असद्भूत विज्ञान के। दोनों ही प्रकार से अयुक्तता प्रकट होती है—यदि विज्ञान स्वयं सत् है तो उसको प्रत्यय की आवश्यकता नहीं है। यदि विज्ञान असत् है तो उसका प्रत्यय होगा ही कैसे? इस प्रकार जब न सत्, न असत्, न सदसत् पदार्थ की उत्पत्ति मानी जा सकती है तब उसका उत्पादक हेतु किस प्रकार माना जा सकता है?

चक्षुर्विज्ञान आदि के विषय रूपादि को आलम्बन-प्रत्यय कहा जाता है। आलम्बन प्रत्यय विद्यमान धर्म (=चित्त-चैत) का हो सकता है अथवा अविद्यमान धर्मों का। दोनों ही विकल्पों में आलम्बन प्रत्यय अनावश्यक अथवा असम्बद्ध हैं। वस्तुतः चित्त-चैत्तों की सालम्बनता सांवृत ही हैं। कारण के अव्यवहित निरोध को कार्य की उत्पत्ति का समनन्तर प्रत्यय कहा जाता है। किन्तु कार्यभूत अङ्कुरादि धर्मों के अनुत्पन्न होने पर बीजादि कारण का निरोध अनुपपन्न है। बीज आदि के अनिरुद्ध होने पर समनन्तर-प्रत्यय अनवकाश है। दूसरी ओर, प्रत्यय के निरोध होने पर उसकी प्रत्ययता किस प्रकार बनी रहेगी? अधिपति प्रत्यय का लक्षण इस प्रकार किया गया है—"यस्मिन् सति यद्भवति" अर्थात् जिसके होने पर कार्य होता है। अधिपति प्रत्यय कार्य के विशिष्ट स्वरूप का नियामक होता है। नागार्जुन का कहना है कि स्वभाव के अभाव में स्वभाव का नियामक कौन होगा? निस्स्वभाव पदार्थों की सत्ता ही नहीं है अतएव इदंप्रत्ययता से लक्षित अधिपति प्रत्यय की कल्पना उपपन्न नहीं है। प्रत्ययों में व्यस्त अथवा समस्त रूप में कार्य की सत्ता नहीं दिखायी जा सकती; अतः उन प्रत्ययों से उनमें अविद्यमान कार्य की उत्पत्ति किस प्रकार मानी जा सकती है? यदि यह कहा जाय कि इन प्रत्ययों में न होते हुए भी कार्य उनसे उत्पन्न होता है तो फिर वह कार्य अप्रत्यय से भी क्यों नहीं उत्पन्न होता? यहाँ सांख्यों के सत्कार्यवाद तथा वैशेषिकों के असत्कार्यवाद का खण्डन किया गया है। सत्कार्यवाद में कार्य की उत्पत्ति व्यर्थ हो जाती है, असत्कार्यवाद में असम्भव। कार्य प्रत्ययमय है और प्रत्यय अप्रत्यय रूप है। ऐसी स्थिति में उन प्रत्ययों से उत्पन्न कार्य प्रत्ययमय कैसे होगा? अर्थात् पट के तन्तुमय होने के लिए यह आवश्यक है कि तन्तु स्वयं स्वभावसिद्ध हो। अतः कार्य न प्रत्ययमय है न अप्रत्ययमय, वस्तुतः जब कार्य ही नहीं है तो प्रत्यय अप्रत्यय की कल्पना अनावश्यक है।

गति का प्रतिषेध—उत्पत्ति के प्रतिषेध के अनन्तर नागार्जुन दूसरे प्रकरण में गति के प्रतिषेध के लिए तर्क प्रस्तुत करते हैं। गति की सिद्धि के लिए गन्तव्य मार्ग की सिद्धि आवश्यक है। गन्तव्य मार्ग को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है—जिसका अतिक्रमण हो चुका है, जिसका अतिक्रमण शेष है। गन्तव्य के अतिक्रान्त भाग में गमन उपरत हो चुका है, अनतिक्रान्त भाग में आरम्भ ही नहीं हुआ है। अतएव वर्तमान क्षण में गमन का गन्तव्य के किसी भी भाग से सम्बन्ध स्थापित नहीं किया जा सकता। फलतः वर्तमानकालिक गमन असिद्ध है। वर्तमानकालिक गमन के असिद्ध होने पर गमन की त्रैकालिक असिद्धि अनिवार्य है।

यह शंका की जा सकती है कि गन्तव्य अध्वा को 'गत' 'अगत' तथा 'गम्यमान', इन तीनों भागों में विभक्त कर 'गम्यमान' भाग में गमन की कल्पना करनी चाहिए। किन्तु 'गम्यमान' गन्तव्य में गमन के लिए गमन के पूर्व ही गन्तव्य को 'गम्यमान' होना चाहिए। ऐसी स्थिति में या तो 'दो गमन' मानने होंगे या गति के अभाव में भी गम्यमानता की सिद्धि माननी होगी। दो गमन मानने पर दो गन्ता मानने होंगे। वस्तुतः 'गत' और 'अगत' अध्वों में गति का योग नहीं है, 'गम्यमान' अध्वा की सिद्धि स्वयं गमनसापेक्ष है। गम्यमानता गतिपूर्वक है, गति गन्तव्यपूर्वक।

गमन गन्ता की भी अपेक्षा रखता है, किन्तु गन्तृत्व स्वयं गतिसापेक्ष है। यदि गमन के पूर्व ही गन्ता सिद्ध है तो 'द्विगमन'–प्रसंग पुनः उपस्थित होगा। यदि गन्ता सिद्ध ही नहीं है तो तदाश्रित गमन भी असिद्ध होगा। यदि गन्ता और गमन एक हैं तो कर्तृ-कर्म-विरोध उपस्थित होगा। यदि गन्ता अन्य है, गमन अन्य, तो वे घट-पट सदृश हो जायेंगे। गन्ता गतिरहित भी होगा, गति गन्तृरहित भी।

गमनारम्भ भी गन्तव्यसापेक्ष होने के कारण उपर्युक्त रीति से अनुपपन्न है। स्थिति के निरोध से गति का आरम्भ कहा जाता है, किन्तु यह निरोध स्थिति काल में भी असम्भव है, उसके अनन्तर भी। वस्तुतः गति स्थितिसापेक्ष है, स्थिति गतिसापेक्ष। दोनों ही असिद्ध हैं। नागार्जुन के इस गति-विचार में स्थूल गति को क्षणिक पारमाणविक गति में विश्लेषित कर यह प्रदर्शित किया गया है कि जहाँ आपाततः एक अविच्छिन्न क्रियाप्रवाह प्रतीत होता है वहाँ वस्तुतः क्षणानुपूर्वी के समानान्तर एक स्थित्यानुपूर्वी देखी जा सकती है जिसमें गति उतनी ही अवास्तविक है जितनी नटराज की मूर्ति में। गतिशील वस्तु प्रत्येक क्षण में कहीं-न-कहीं अवस्थित अर्थात् उपलब्ध होती है। यहाँ तक नागार्जुन तथा ग्रीक दार्शनिक ज़ेनो के विचार समानान्तर हैं। किन्तु नागार्जुन स्थिति की प्रतीति को भी अलातचक्रवत् भ्रान्त मानते हैं।

इन्द्रिय-परीक्षा—तृतीय प्रकरण में चक्षु-आदि इन्द्रियों की परीक्षा की गयी है। अभिधर्म के अनुसार दर्शन, श्रवण, घ्राण, रसन, स्पर्श तथा मन, छः इंद्रियाँ हैं। उनके द्रष्टव्य आदि गोचर हैं। ये ही सुप्रसिद्ध द्वादश आयतन हैं। नागार्जुन का कहना है कि इंद्रियों को विषयों का ग्राहक नहीं माना जा सकता क्योंकि वे स्वयं अपने ग्रहण में असमर्थ हैं। पुनश्च दर्शन आदि विषय-ग्रहण को उसी रीति से अनुपपन्न सिद्ध किया जा सकता है जिस रीति से ऊपर गमन को अनुपपन्न सिद्ध किया गया है। इन्द्रियों को विषयोपलब्धि का करण भी नहीं माना जा सकता क्योंकि तब उनके अतिरिक्त एक कर्त्ता अपेक्षित होगा जिसे अपनी उपलब्धि में असमर्थ मानते हुए भी विषयों की उपलब्धि में समर्थ

मानना होगा। दर्शनादि व्यापार को असंगत मानकर क्रियारहित धर्ममात्र की उत्पत्ति का पक्ष भी नहीं लिया जा सकता क्योंकि इस प्रकार का निष्क्रिय धर्म आकाशकुसुम के समान असत्य होगा।

स्कन्ध-परीक्षा—चतुर्थ प्रकरण में स्कन्ध-परीक्षा की गयी है। रूपस्कन्ध के अन्तर्गत रूप, शब्द आदि भौतिक गुण हैं, उनके कारण महाभूत हैं। बिना भूत-भौतिक के कार्यकारणभाव के रूपस्कन्ध की सिद्धि नहीं हो सकती। किन्तु कार्य-कारण-भाव की अनुपपन्नता ऊपर सिद्ध की जा चुकी है। पुनश्च कार्य न कारण के सदृश अभीष्ट है, न विसदृश। रूप के कारण चार महाभूत कठिन, द्रव, उष्ण तथा तरल स्वभाव के हैं। आभ्यन्तर भौतिक धर्म पाँच इन्द्रियाँ रूपप्रसादात्मक हैं, बाह्य भौतिक रूपादि का स्वभाव विविध इन्द्रियग्राह्य है। भूत और भौतिकों के लक्षण में स्पष्ट ही भेद है। किन्तु भेद होने पर कार्यकारण नियम ही दुर्बोध है। रूपस्कन्ध के समान ही अन्य स्कन्ध तिरस्कार्य हैं।

पंचम प्रकरण में **धातुपरीक्षा** की गयी है। छः धातुएं—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश तथा विज्ञान हैं। इनके पृथक्-पृथक् लक्षण दिये गये हैं। यथा, आकाश का अना-वरण अथवा अनवरोध। किन्तु लक्ष्य और लक्षण का सम्बन्ध दुरुपपाद है। यदि लक्ष्य और लक्षण भिन्न हैं तो पृथ्वी और काठिन्य पृथक्-पृथक् उपलब्ध होंगे; यदि वे अभिन्न हैं तो लक्षण निराश्रय अथवा लक्ष्य अलक्ष्य हो जायेंगे। यदि लक्ष्य लक्षण-रहित हैं तो उसमें लक्षण की प्रवृत्ति न होगी, यदि लक्ष्य लक्षणसहित है तो उसमें लक्षण की प्रवृत्ति अनावश्यक होगी। लक्षण के बिना लक्ष्य की उपलब्धि नहीं हो सकती, लक्ष्य की उप-लब्धि के बिना लक्षण किया नहीं जा सकता। तात्पर्य यह है कि आकाश आदि तत्त्व केवल लक्षण-गोचर हैं, किन्तु ऐसी स्थिति में उनके लक्षण ही काल्पनिक हो जाते हैं। सौत्रान्तिक आकाश को अभावमात्र मानते हैं। किन्तु जब भाव ही असिद्ध है तो अभाव कैसे सिद्ध होगा? 'जो अल्पबुद्धि पदार्थों के अस्तित्व एवं नास्तित्व को मानते हैं वे शिवात्मक, प्रपंचोपशम को नहीं देखते हैं।'

षष्ठ प्रकरण **रागरक्त-परीक्षा** है। यह शंका की जा सकती है कि तथागत ने राग आदि क्लेशों का अस्तित्व बताया है, अतः स्कन्ध आदि उपपन्न हैं। नागार्जुन का कहना है कि राग और रक्त (=रागयुक्त) का सम्बन्ध अनुपपन्न है। यदि राग की उत्पत्ति के पूर्व पुरुष रागरहित है तो उसमें राग की उत्पत्ति होगी ही नहीं, अन्यथा अर्हतों में रागोत्पत्ति सम्भव होगी। दूसरी ओर राग के पूर्व ही पुरुष रक्त अथवा रागयुक्त किस प्रकार होगा? यदि राग और रागयुक्त चित्त को सहोत्पन्न माना जाय तो उन्हें

बैल के दो सींगों के तुल्य निरपेक्ष मानना होगा। राग और रक्त का सहभाव न उनके एकत्व के साथ संगत है, न उनके पृथक्त्व के साथ।

सप्तम प्रकरण में **संस्कृतपरीक्षा** है। उत्पाद, व्यय, तथा स्थित्यन्यथात्व को तीन संस्कृतलक्षण बताया गया है। किन्तु इन लक्षणों के पृथक्-पृथक् प्रयोग से संस्कृतत्व निरूपित नहीं हो सकता और इनका एक साथ प्रयोग किया नहीं जा सकता। पुनश्च, यदि उत्पाद आदि में उत्पाद आदि लक्षण प्रयुक्त किये जायँ तो अनवस्था प्रसक्त होगी, यदि नहीं, तो वे असंस्कृत हो जायंगे। उत्पाद आदि विरुद्ध लक्षणों की एक ही वस्तु में प्रवृत्ति भी दुर्घट है। उत्पाद आदि पृथक्-पृथक् भी अनुपपन्न हैं। वस्तुतः उत्पाद, स्थिति एवं भंग माया, स्वप्न अथवा गन्धर्वनगर के समान हैं।

आठवें प्रकरण में **कर्मकारक परीक्षा** है। कर्त्ता, क्रिया, एवं कर्म का उसी प्रकार निराकरण सुलभ है जैसे गन्ता, गमन, एवं गन्तव्य का। कर्त्ता के बिना कर्म असम्भव है, कर्म के बिना कर्तृत्व असिद्ध। यदि कर्म के पूर्व कर्त्ता विद्यमान है तो पहला ही कर्म दूसरा कर्म होगा। यदि कर्त्ता नहीं है तो कर्म का प्रारम्भ ही न होगा।

सांमितीय कहते हैं कि दर्शन, श्रवण आदि के पूर्व ही उनके उपादाता की सत्ता को स्वीकार करना चाहिए। इसका **पूर्वपरीक्षा** नाम के नवम प्रकरण में खण्डन है। कर्म और कर्ता, गमन और गन्ता के समान ही उपादान और उपादाता परस्पर सापेक्ष होने के कारण निःस्वभाव हैं। यह आपत्ति की जा सकती है कि सापेक्ष होने से ही किसी वस्तु को शून्य नहीं माना जा सकता। उदाहरण के लिए अग्नि इन्धन की अपेक्षा कर प्रज्वलित होती है, तथापि अग्नि का दाहकत्व स्वभाव अक्षुण्ण रहता है। इसके निराकरण के लिए **अग्नीन्धनपरीक्षा** नाम के दशम प्रकरण की रचना हुई है। यदि अग्नि इन्धन से पृथक् है तो नित्यप्रज्वलित रहेगी; न उसे जलाना होगा, न वह बुझेगी। यदि अग्नि इन्धन से पृथक् नहीं है तो इन्धन को जलाना न होगा, न इन्धन जलेगा। अन्यथा कर्तृ-कर्म-विरोध उपस्थित होगा। अग्नि और इन्धन परस्पर सापेक्ष हैं तथा नागार्जुन के लिए उनका दृष्टान्त दार्ष्टान्तिक के समान असिद्ध है। नागार्जुन से तर्क करना कठिन है क्योंकि वे सब दृष्टान्तों को ही असिद्ध मानते हैं।

एकादश प्रकरण का नाम **पूर्वापरकोटिपरीक्षा** है। तथागत ने कहा है—"भिक्षुओ! जन्म-मरण रूप संसार अनादि है। अविद्या से आच्छादित तथा तृष्णा से बँधे हुए जीवों के आवागमन की पूर्व कोटि का पता नहीं चलता।" इससे विदित होता है कि अनादि संसार की सत्ता है। अतएव संसारी आत्मा की भी सत्ता माननी चाहिए। इस शंका के उत्तर में नागार्जुन का कहना है कि तथागत ने संसार को अनवराग्र बताया है अर्थात्

संसार का न आदि है और न अन्त। ऐसी स्थिति में संसार का मध्य ही कैसे स्वीकार किया जा सकता है? संसार के अभाव में संसारी भी निराकृत हो जाता है। पुनश्च यदि पहले जन्म की सत्ता सिद्ध हो और पीछे जरा-मरण की तो जन्म, जरामरण से रहित हो जायगा तथा सब अमर हो जायँगे। यदि जरामरण पहले हो और जन्म पीछे तो अहेतुक जन्म का जरा-मरण किस प्रकार होगा अर्थात् फिर से सबकी अमरता प्रसक्त हो जाती है। जरा-मरण और जन्म को समानकालिक भी नहीं माना जा सकता क्योंकि वे परस्पर विरुद्ध हैं। यही नहीं, सहभूत जन्म और मरण बैल के दो सींगों के समान निरपेक्ष तथा अहेतुक हो जायंगे। इस तर्क से यह सूचित होता है कि न केवल संसार की अपितु किसी भी पदार्थ की पूर्वकोटि अथवा सत्ता स्वीकार नहीं की जा सकती।

बारहवां प्रकरण **दुःख-परीक्षा** है। यह कहा जा सकता है कि दुःख की सत्ता से आत्मा की सत्ता सूचित होती है। पाँच उपादान स्कन्ध दुःख कहलाते हैं। यह दुःख निराश्रय नहीं हो सकता, अतएव आत्मा की सत्ता को स्वीकार करना चाहिए। इसके उत्तर में नागार्जुन दुःख की सत्ता का ही खण्डन करते हैं। दुःख स्वयंकृत हो सकता है, अथवा परकृत, अथवा स्वयंकृत-एवं-परकृत, अथवा अहेतुक। दुःख पिछले जन्म के स्कन्धों की अपेक्षा रखकर उत्पन्न होते हैं। अन्यापेक्षया उत्पन्न होने के कारण स्कन्धात्मक दुःख को स्वयंकृत नहीं माना जा सकता। दुःख को परकृत भी नहीं माना जा सकता क्योंकि पिछले जन्म के कारणात्मक स्कन्धों को इस जन्म के कार्यात्मक स्कन्धों से भिन्न व्यवस्थित नहीं किया जा सकता। यहाँ पर कार्य और कारण की भेदाभेद-व्यवस्था को अनुपपन्न सूचित किया गया है। यह कहा जा सकता है कि दुःख का कारण दुःख अभिप्रेत नहीं है, अभिप्राय यह है कि पुरुष स्वयं अपने कर्म से दुःख की उपलब्धि करता है। इसके उत्तर में नागार्जुन का प्रश्न है कि यह पुरुष कौन-सा है—वह जो दुःख की उपलब्धि करता है अथवा वह जो उसके कारणभूत कर्म का कर्ता है। दुःख की उपाधि एक पुरुष को सूचित करती है, कर्म की उपाधि दूसरे पुरुष को। यहाँ पुरुष की केवल प्रज्ञप्तिकृत अथवा औपाधिक सत्ता स्वीकृत है। ऐसी स्थिति में दुःख को स्वयंकृत अथवा अभिन्न-पुरुष-कृत किस प्रकार माना जा सकता है? मनुष्य-पुद्गल के द्वारा किये कर्म का दुःख नारक-पुद्गल भोग करता है। इस दुःख को स्वकृत मानना अनुपपन्न है। दूसरी ओर यदि एक पुरुष को कर्ता दूसरे को भोक्ता मानकर दुःख को परकृत माना जाय तो भी कठिनाई दुर्निवार है। वस्तुतः ऐसी स्थिति में दुःख की अन्यत्र उत्पत्ति तथा अन्यत्र संक्रान्ति स्वीकार करनी होगी। स्वयंकृत दुःख के अप्रसिद्ध होने पर अन्यकृत दुःख की उत्पत्ति ही न होगी क्योंकि जो अन्य पुरुष दुःख को उत्पादित करता है उसके लिए दुःख स्वयंकृत होगा। परकृत दुःख 'पर' के लिए स्वयंकृत होगा। यदि दुःख न

स्वकृत है, न परकृत तो उभयकृत भी नहीं हो सकता। अहेतुक दुःख आकाशकुसुम की सुगन्ध के समान है। न केवल दुःख अपितु समस्त घट, पट आदि पदार्थ इसी प्रकार न स्वकृत हैं न परकृत, न उभयकृत, न अहेतुक।

तेरहवाँ प्रकरण **संस्कार-परीक्षा** है। तथागत ने सब संस्कारों को नश्वर और मिथ्या कहा है। वस्तुतः यदि सब संस्कार मिथ्या हैं तो नश्वर कौन है? जब संस्कार हैं ही नहीं तो उनका विनाश कैसे होगा? अतएव तथागत की उक्ति को शून्यता की सूचना मानना चाहिए। यह शंका हो सकती है कि निस्स्वभावता को स्वभाव की विनाशिता कहा जा सकता है। किन्तु यदि स्वभाव है तो उसका अन्यथाभाव नहीं हो सकता और यदि स्वभाव नहीं है तो उसके अन्यथाभाव का प्रश्न ही नहीं उठता। वस्तुतः अन्यथाभाव ही अनुपपन्न है। जो युवा है, वह बूढ़ा नहीं होता, जो बूढ़ा है वह बूढ़ा क्या होगा? यदि दूध, दही बन जाता है तो दूध को ही दही मान लेना चाहिए, अन्यथा दूध से अतिरिक्त कोई अन्य वस्तु दही बनेगी। निस्स्वभावता अथवा शून्यता को किसी प्रकार का स्वभाव न मानना चाहिए। यदि कोई वस्तु अशून्य हो तब शून्य भी कोई वस्तु हो सकती है। जब अशून्य ही नहीं है तो शून्य किस प्रकार होगा? तथागत ने शून्यता को सब दृष्टियों से मुक्ति का मार्ग कहा है। जो शून्यता को ही दृष्टि बना लेते हैं उनको असाध्य मानना चाहिए।

चौदहवें प्रकरण का नाम **संसर्ग-परीक्षा** है। द्रष्टा, दर्शन एवं द्रष्टव्य, ये तीन दो-दो करके अथवा तीनों साथ संसर्ग में नहीं आ सकते। संस्कारों के संसर्ग का उपदेश वन्ध्यापुत्रों के संसर्ग के समान है। अन्योन्यसंसर्ग के लिए अन्यत्व सिद्ध होना चाहिए। किन्तु अन्यत्व अन्योन्यसापेक्ष है। घट का पट से अन्यत्व तभी सिद्ध होगा जब पट का घट से अन्यत्व पूर्वसिद्ध रहेगा। 'यदि अन्य (यथा घट) अन्य (यथा पट) से अन्य है तो वह (घट) अन्य (पट) के बिना ही अन्य रहेगा, किन्तु वह अन्य, अन्य के बिना अन्य नहीं है, अतएव उसकी सत्ता नहीं है', अर्थात् यदि घट पट से अन्य है तो पट के बिना भी घट में अन्यत्व सिद्ध होगा। किन्तु इस प्रकार का पट-निरपेक्ष घटगत अन्यत्व असम्भव है। यहाँ पर यह स्मरणीय है कि बौद्धों के अनुसार शब्दों का अर्थ अपोहात्मक होता है अर्थात् घट शब्द एक निश्चित स्वभावविशेष की ओर संकेत न कर पर-भाव की व्यावृत्ति सूचित करता है। घट शब्द का अर्थ घट न होकर पट, कट आदि का अभाव है। नागार्जुन के अन्यत्व-खण्डन में एक प्रकार का अत्यन्त अपोहवाद सूचित है। अन्यत्व न अन्य में हो सकता है, न अनन्य में। अन्य में अन्यत्व की कल्पना किसी प्रकार के अतिशय का आधान नहीं करती, अनन्य में उसकी कल्पना ही नहीं की जा

सकती। अन्यत्व की अवस्थिति अन्य में हो सकती है, किन्तु अन्यत्व की अवस्थिति के बिना अन्य की सिद्धि ही नहीं होगी।

पन्द्रहवें प्रकरण में **स्वभावपरीक्षा** है। नागार्जुन के लिए वास्तविक स्वभाव को अकृत्रिम तथा निरपेक्ष होना चाहिए; किन्तु इसके विपरीत यथार्थ में सभी तथाकथित स्वभाव प्रतीत्यसमुत्पन्न एवं सापेक्ष हैं। अतएव उन्हें अवास्तविक या शून्य मानना चाहिए। स्वभाव के अभाव में परभाव भी नहीं हो सकता। स्वभाव और परभाव के न होने पर भाव नहीं हो सकता तथा भाव के न होने पर अभाव भी नहीं हो सकता। स्वभाव, परभाव, भाव एवं अभाव, इनको मानने वाले बुद्धशासन को ठीक नहीं पहचानते। यदि स्वभाव की हेतुप्रत्यय से उत्पत्ति हो तो वह कृत्रिम हो जायगा। अतः स्वभाव की उत्पत्ति, विनाश या अन्यथाभाव असम्भव हैं। किन्तु यह शुद्ध अस्तित्ववाद ही शाश्वतवाद है जिसका तथागत ने नास्तित्ववाद या उच्छेदवाद के समान खण्डन किया है। **कात्यायनाववादसूत्र** का सब बौद्ध सम्प्रदायों में पाठ मिलता है। इस सूत्र में तथागत ने अस्तित्व और नास्तित्व का प्रतिषेध कर मध्यमा प्रतिपदा का उपदेश किया है जोकि स्वभावशून्यता का उपदेश है।

सोलहवाँ प्रकरण **बन्धनमोक्षपरीक्षा** है। संसार के प्रतिषेध के लिए नागार्जुन का कहना है कि यदि संस्कार संसरण करते हैं तो वे नित्य होंगे या अनित्य। नित्य होने पर वे निष्क्रिय एवं असंसारी हो जायेंगे। अनित्य होने पर वे उत्पत्ति के अनन्तर ही नष्ट हो जायेंगे और अतएव संसरण में असमर्थ होंगे। संस्कारों के स्थान पर यदि जीव को संसारी बताया जाय तो भी इसी प्रकार की कठिनाई उत्पन्न होगी। यदि संसारी इस जन्म के स्कन्धों का त्याग कर जन्मान्तरीय स्कन्धों का उपादान करे तो अन्तराल में उसका अभाव मानना होगा। यदि अत्यागपूर्वक उपादान किया जाय तो एक साथ ही दो संसारियों की सत्ता माननी होगी। संसार के समान निर्वाण भी न संस्कारों का हो सकता है, न जीव का। अतएव न बन्धन वास्तविक है न मोक्ष। संसार और निर्वाण दोनों ही कल्पित हैं।

सत्रहवाँ प्रकरण **कर्मफलपरीक्षा** है। कर्म का मूल 'चेतना' अथवा मानसिक संकल्प है। इस संकल्प से उत्पन्न वाचिक एवं कायिक क्रिया 'अविज्ञप्ति' नाम का सूक्ष्म रूप-धर्म, तथा 'परिभोगमय' दान भी कर्म माने जाते हैं। कर्म और कर्मफल का सम्बन्ध उपपादित करने के लिए 'अविप्रणाश' नाम के चित्तविप्रयुक्त धर्म की कल्पना की जाती है। कर्म एक प्रकार का ऋण है, 'अविप्रणाश' ऋणपत्र के समान है। इस कल्पना से कर्म की अनित्यता उसके फल की अनिवार्यता से समंजस हो जाती है। इस समस्त

अभ्युपगम के विरोध में नागार्जुन का कहना है कि यदि कर्म को स्वभावयुक्त माना जायगा तो वह शाश्वत तथा अ-कार्य हो जायगा। पाप, पुण्य आदि भी नित्यव्यवस्थित हो जायंगे। पुनश्च कर्म के कर्ता तथा भोक्ता का भेद अथवा अभेद व्यवस्थापित नहीं किया जा सकता। अतएव कर्म को निःस्वभाव या शून्य मानना चाहिए। कर्म की सत्ता ऐसी ही है जैसे कोई मायानिर्मित पुरुष अन्य का निर्माण करे। क्लेश, कर्म, देह, कर्ता तथा कर्मफल, सब गन्धर्वनगर, मरीचिका अथवा स्वप्न के समान हैं।

अठारहवाँ प्रकरण **आत्मपरीक्षा** है। यदि आत्मा स्कन्धों से अभिन्न है, तो वह उत्पत्ति-विनाशशील हो जायगा। यदि आत्मा स्कन्धों से भिन्न है तो विज्ञान आदि स्कन्ध, लक्षणों से रहित हो जायंगे। अर्थात् स्कन्ध-भिन्न आत्मा में रूपण, अनुभव, निमित्तोद्ग्रहण, अभिसंस्करण तथा विषय-प्रतिविज्ञप्ति का अभाव होगा। आत्मा के अभाव में आत्मीय का अभाव अनिवार्य है। आत्मा और आत्मीय के उपशम होने पर योगी निर्मम और निरहंकार हो जायगा। किन्तु इस निर्मम और निरहंकार पुरुष की भी वास्तविक सत्ता नहीं है, जो उसे विद्यमान मानता है वह अविद्या में पड़ा है। अहं और मम के क्षीण होने पर पुनर्जन्म क्षीण हो जाता है। कर्म और क्लेश के क्षय से मोक्ष की प्राप्ति होती है। कर्म और क्लेश विकल्प से उत्पन्न होते हैं, विकल्प प्रपंच से, समस्त प्रपंच शून्यता में निरुद्ध हो जाता है। तथागत ने कहीं आत्मा का उपदेश किया है, कहीं अनात्मा का और कहीं आत्मा एवं अनात्मा दोनों का प्रतिषेध किया है। यह उनका उपायकौशल है। चित्त-गोचर के निवृत्त होने पर समस्त अभिधेय भी निवृत्त हो जाता है। अर्थात् परमार्थ अवाङ्मनसगोचर है। धर्मता निर्वाण के समान अनुत्पन्न एवं अनिरुद्ध है। बुद्ध का अनुशासन यह है कि सब तथ्य है, सब अतथ्य है, तथ्य एवं अतथ्य दोनों हैं तथा वस्तुतः न अतथ्य है और न तथ्य है। तत्त्व का लक्षण यह है कि वह निरपेक्ष, शान्त, निष्प्रपंच, निर्विकल्प तथा नानात्वरहित है। जो कुछ सापेक्ष है उसका अपना स्वभाव नहीं है, न उसका परभाव हो सकता है। न वह उच्छिन्न है, न शाश्वत। बुद्ध शासन का मर्म यही है कि परमार्थ न एक है न अनेक, न नित्य और न अनित्य।

उन्नीसवें प्रकरण में **काल-परीक्षा** है। यह माना जाता है कि अतीत, अनागत तथा वर्तमान, इन तीन रूपों में काल की विज्ञप्ति है। नागार्जुन का कहना है कि वर्तमान और भविष्य अतीत की अपेक्षा ही निर्धारित किये जा सकते हैं। किन्तु यदि वे वस्तुतः अतीत की अपेक्षा रखते तो उन्हें भी अतीत में होना चाहिए था। जब अतीत था तब वर्तमान और भविष्य नहीं थे। जब वे थे ही नहीं तो उन्हें अपेक्षा किस प्रकार हो सकती थी? जिस समय वर्तमान और भविष्य सत्ता-लाभ करते हैं, उस समय अतीत नष्ट हो गया था।

वस्तुतः काल के तीनों विभाग परस्पर सापेक्ष हैं, किन्तु हो नहीं सकते क्योंकि जब एक होता है तो दूसरे नहीं होते। यह कहा जा सकता है कि काल की सत्ता क्षणादि परिमाण से सूचित होती है। किन्तु क्षण आदि से अतिरिक्त यदि कोई स्थिर काल हो तभी क्षण आदि के द्वारा उसके परिमाण का ग्रहण किया जा सकता है। इस प्रकार का कूटस्थ काल सर्वथा असिद्ध है। दूसरी ओर यह भी नहीं कहा जा सकता कि क्षणादि के द्वारा किसी नित्य काल की अभिव्यक्ति होती है। यदि यह कहा जाय कि संस्कृत पदार्थों की अपेक्षा काल की सत्ता होती है तो भी यह स्मरणीय है कि इन पदार्थों की सत्ता स्वयं असत्य है।

बीसवें प्रकरण का नाम **सामग्री-परीक्षा** है। हेतुप्रत्यय-सामग्री की सत्ता का निराकरण करते हुए नागार्जुन का कहना है कि यदि सामग्री में फल विद्यमान है तो सामग्री से वह उत्पन्न किस प्रकार होता है? और यदि वह सामग्री में विद्यमान नहीं है तो उसे सामग्री से उत्पन्न किस प्रकार कहा जा सकता है? हेतु-फल-भाव की अनुपपन्नता उपर्युक्त रीति से ही यहाँ पुनः विस्तारित है। **संभव-विभव-परीक्षा** नाम के इक्कीसवें प्रकरण में भी उत्पत्ति तथा विनाश को असंभव प्रतिपादित किया गया है।

बाईसवें प्रकरण में **तथागत-परीक्षा** है। तथागत के अस्तित्व का नागार्जुन ने उसी प्रकार निराकरण किया है जैसे आत्मा के अस्तित्व का। न तथागत स्कन्धात्मक हो सकते हैं न स्कन्धातिरिक्त। स्कन्धों के सहारे उनकी प्रज्ञप्तिमात्र होती है। स्कन्धापेक्ष होने के कारण वे निस्स्वभाव हैं। तथागत की इस शून्यता में किसी अन्य वस्तु की अशून्यता अभिप्रेत नहीं है। अतएव यह भी कहा जा सकता है कि तथागत न शून्य हैं न अशून्य, न दोनों, और न दोनों का अभाव। इस स्वभाव-शून्यता के कारण ही निरोध के अनन्तर बुद्ध रहते हैं अथवा नहीं, इस प्रकार की चिन्ता अयुक्त है। जो बुद्ध को प्रपंचातीत तथा अव्यय प्रपंचित करते हैं, वे प्रपंच से ही विहत हैं, वे तथागत को नहीं जानते। तथागत का वही स्वभाव है जो जगत् का, दोनों ही निस्स्वभाव हैं।

तेईसवाँ प्रकरण **विपर्यासपरीक्षा** नाम का है। राग, द्वेष, और मोह की उत्पत्ति में संकल्प साधारण कारण है तथा शुभ आकार, अशुभ-आकार एवं विपर्यास क्रमशः विशिष्ट कारण हैं। किन्तु शुभ, अशुभ आदि की अपेक्षा उत्पन्न होने के कारण क्लेश निःस्वभाव हैं। आत्मा की शून्यता के कारण भी वे निराश्रय हैं। रूप, रस आदि षड्विध बाह्य वस्तु भी स्वप्नोपम हैं। अतश्च क्लेश निरालम्बन हैं। यदि अनित्य को नित्य समझना अविद्या है तो शून्य को अनित्य समझना क्या अविद्या नहीं है?

चौबीसवें प्रकरण में **आर्यसत्यों की परीक्षा** की गयी है। यह शंका हो सकती है कि शून्यता का स्वीकार करने पर उत्पत्ति और निरोध, असत्य हो जाते हैं, अतः आर्यसत्य

भी मिथ्या मानने होंगे। ऐसी स्थिति में आर्यफल, आर्य-पुरुष, संघ, धर्म एवं बुद्ध की भी सत्ता असम्भव हो जायेगी। न केवल तीनों रत्न शून्यता से विनष्ट हो जाते हैं अपितु समस्त लौकिक व्यवहार भी। उसके उत्तर में नागार्जुन का कहना है कि इस प्रकार की शंका शून्यता के अज्ञान के कारण है। तथागत ने संवृत्ति सत्य तथा परमार्थसत्य, इन दोनों सत्यों का उपदेश किया है। इन दो का विभाग ठीक न जानने पर गम्भीर बुद्ध-शासन में प्रवेश नहीं हो सकता। व्यवहार का सहारा लिये बिना परमार्थ का उपदेश सम्भव नहीं है। परमार्थ के ज्ञान के बिना निर्वाण की प्राप्ति नहीं होती। शून्यता का असम्यक् ज्ञान वैसे ही घातक सिद्ध होता है जैसे दुर्गृहीत सर्प अथवा दुष्प्रसाधित विद्या। यही कारण है कि संबोधि के अनन्तर तथागत ने धर्मोपदेश के प्रति अरुचि का अनुभव किया। शून्यता पर आक्षेप करना व्यर्थ है। शून्यता के न मानने पर तथा नाना वस्तु-स्वभाव स्वीकार करने पर हेतु-प्रत्यय-भाव तथा उत्पत्ति और निरोध का क्रम सम्भव है। दूसरी ओर प्रतीत्यसमुत्पाद का ही नामान्तर शून्यता है। सापेक्ष व्यपदेश तथा मध्यमा-प्रतिपद् भी वही है। कोई भी वस्तु अप्रतीत्य उत्पन्न नहीं होती, अतः कोई भी वस्तु अशून्य नहीं है। वस्तुतः शून्यता के न मानने पर ही आर्यसत्य आदि के अभाव का दोष सिद्ध होता है। यदि सब कुछ स्वभाव-सिद्ध है तो अनित्यात्मक दुःख, समुदय, निरोध तथा मार्ग असम्भव हो जायेंगे। जो प्रतीत्यसमुत्पाद को देखता है वही दुःख, समुदय, निरोध और मार्ग को भी देखता है।

पच्चीसवाँ प्रकरण **निर्वाणपरीक्षा** नामक है। यह शंका की जा सकती है, यदि सब कुछ शून्य है, न किसी की उत्पत्ति होती है न विनाश, तो किसके प्रहाण अथवा निरोध के द्वारा निर्वाण सम्भव होगा? इस शंका के उत्तर में नागार्जुन का प्रतिप्रश्न है कि यदि सब कुछ अशून्य अथवा स्वभावसिद्ध है, न किसी की उत्पत्ति होती है न विनाश, तो भी किसके प्रहाण व निरोध के द्वारा निर्वाण सम्भव है? वस्तुतः निर्वाण अप्रहीण एवं असम्प्राप्त है, अविच्छिन्न एवं अशाश्वत, अनिरुद्ध एवं अनुत्पन्न। निर्वाण को भावरूप नहीं कहा जा सकता क्योंकि अस्तित्व जरा-मरण आदि के अतिरिक्त नहीं हो सकता। यदि निर्वाण भावात्मक माना जाय तो निर्वाण संस्कृत एवं सोपादान हो जायगा। यदि निर्वाण भावात्मक नहीं तो उसे अभावात्मक भी नहीं माना जा सकता। अभाव सापेक्ष एवं सोपादान होता है। निर्वाण को वैसा नहीं माना जा सकता। निर्वाण न भाव है, न अभाव। उत्पत्ति, निरोध का सापेक्ष क्रम संसार कहा जाता है। उसी की निरपेक्षतया अप्रवृत्ति को निर्वाण कहते हैं। संसार और निर्वाण में किसी प्रकार का भेद नहीं है। परमार्थ समस्त उपालम्भ एवं प्रपंच का उपशम है। वस्तुतः बुद्ध भगवान् ने कभी किसी के लिए किसी धर्म का उपदेश नहीं दिया।

छब्बीसवें प्रकरण में **द्वादशायतन** का प्रसंग है। यह प्रसिद्ध है कि अविद्या से संस्कार उत्पन्न होते हैं। संस्कारों से जन्मान्तर में विज्ञान का प्रादुर्भाव होता है, विज्ञान से नाम-रूप का, नामरूप से षडायतन का, षडायतन से संस्पर्श का, स्पर्श से वेदना का, वेदना से तृष्णा का, तृष्णा से उपादान का, उपादान से भव का, भव से जाति का, जाति से जरा-मरण का। इस प्रकार बारह कारणों की परम्परा से दुःख की उत्पत्ति होती है। हेतु-प्रत्यय की अपेक्षा संसार की प्रवृत्ति ही प्रतीत्यसमुत्पाद है। संसार का मूल कारण अविद्या है, अविद्या का अर्थ है शून्यता का अज्ञान। शून्यता का ज्ञान होने पर संसार-प्रवाह का निरोध हो जाता है। तत्त्वदर्शी के लिए अविद्या नित्य प्रहीण है। नागार्जुन का अभिप्राय यह है कि प्रतीत्यसमुत्पाद वास्तविक उत्पत्ति एवं निरोध को सूचित नहीं करता, अपितु सब धर्मों की अन्योन्य सापेक्षता को। संसार की उत्पत्ति अविद्या-पुरुष से है। नाना पदार्थ एवं उनकी उत्पत्ति-निरोध अज्ञान होने पर ही प्रतिभासित होते हैं।

सत्ताईसवें प्रकरण का नाम **दृष्टिपरीक्षा** है। बुद्ध भगवान् के समय में पूर्वान्त तथा अपरान्त के विषय में अनेक प्रकार के विवाद प्रचलित थे, इन्हें ही यहाँ दृष्टि कहा गया है। सब दृष्टियों का शून्यता के अभ्युपगम से निरोध हो जाता है।

आर्यदेव—आर्यदेव अथवा देव नागार्जुन के प्रधान शिष्य थे। उन्हें काणदेव अथवा नीलनेत्र भी कहा गया है। कुमारजीव ने इनकी जीवनी का चीनी अनुवाद लगभग ४०५ ई० में सम्पन्न किया था। आर्यदेव के विषय में यह कहा गया है कि वे दक्षिणापथ के ब्राह्मण थे[६]। उनके समय में महेश्वर की एक बहुत ऊँची स्वर्णमयी प्रतिमा थी जिसके विषय में प्रसिद्ध था कि उसके सामने की हुई कामना अवश्य पूरी होती है। इस मूर्ति को छलनामात्र सिद्ध करने के लिए आर्यदेव ने उसकी बायीं आँख निकाल ली, किन्तु पीछे अपनी निरहंकारता सिद्ध करने के लिए उन्होंने स्वयं अपनी एक आँख को निकाल लिया। ह्वांच्वांग के अनुसार देव बोधिसत्त्व सिंहल से नागार्जुन के दर्शन के लिए आये थे। परस्पर वादसंवाद के अनन्तर नागार्जुन ने आर्यदेव को अपना धार्मिक उत्तराधिकारी स्वीकार किया। बुदोन के अनुसार आर्यदेव का सिंहल में औपपादुक रूप से आविर्भाव हुआ था। वहाँ के राजा ने उनका पालन-पोषण किया। पीछे नागार्जुन के वे प्रधान शिष्य तथा धर्मदायाद बन गये। आर्यदेव ने नालंदा जाकर मातृचेट नाम के माहेश्वर आचार्य से तर्क किया तथा सद्धर्म की रक्षा की। बुदोन के अनुसार इस प्रसंग में श्रीपर्वत से नालंदा जाते हुए मार्ग में आर्यदेव ने वृक्ष-देवता को अपनी एक आँख का दान कर

६–द्र०—तारानाथ, पृ० ८३–८६; बुदोन, पृ० १३०–२; वाटर्स, जि० २, पृ० १००–१, २००–२।

दिया। परम्परा के अनुसार आर्यदेव ने आठवीं भूमि प्राप्त की थी। एक अनुश्रुति उनकी मृत्यु उनके द्वारा पराजित एक तीर्थिक शिष्य के हाथों बताती है। चन्द्रकीर्ति के अनुसार आचार्य आर्यदेव सिंहलद्वीप में उत्पन्न हुए थे और वहाँ युवराज होकर पीछे वहीं प्रव्रजित हुए तथा दक्षिण में आकर आचार्य नागार्जुन के शिष्य बने। उनके रचित ग्रन्थों में **माध्यमिक-चतुश्शतिका, माध्यमिक-हस्तवाल-प्रकरण, स्खलित-प्रमथन-युक्ति-हेतु-सिद्धि,** तथा **ज्ञानसारसमुच्चय** का उल्लेख प्राप्त होता है। उन्होंने तन्त्र पर भी अनेक ग्रन्थ लिखे यथा **चर्यामेलयनप्रदीप चित्तावरण-विशोध, चतुःपीठतंत्रराजमंडल-उपायिका-विधिसार-समुच्चय, चतुःपीठसाधन, ज्ञानडाकिनीसाधन** तथा **एकद्रुमपंचिका।** यह सम्भव है कि वज्रयानी आर्यदेव माध्यमिक आर्यदेव से भिन्न हों।

आर्यदेव का प्रधान ग्रन्थ **चतुःशतक** है जिसका डा० वैद्य तथा महामहोपाध्याय विधुशेखर शास्त्री ने तिब्बती अनुवाद से अंशतः उद्धार किया है। **चित्तविशुद्धिप्रकरण** तथा **हस्तवालप्रकरण** के उद्धार का भी यत्न किया गया है।

शून्यवाद के लिए आर्यदेव के चतुःशतक का महत्त्व नागार्जुन की माध्यमिक कारिकाओं के ही अनन्तर है। **चतुःशतक** को **बोधिसत्त्व-योगाचार-शास्त्र** भी कहा गया है। इस नाम से नागार्जुन और आर्यदेव की कृतियों का भेद सूचित होता है। **माध्यमिक-कारिकाओं** में शून्यता का तार्किक प्रतिपादन मात्र किया गया है। **चतुःशतक** में शून्यता के प्रतिपादन को बोधिसत्त्वचर्या के साथ समन्वित किया गया है। नागार्जुन ने शून्यता को परमार्थसत्य बताकर उसके साथ एक व्यावहारिक या संवृतिसत्य भी स्वीकार किया था। आर्यदेव ने इस देशनाभेद को अधिकारभेद के साथ समन्वित कर बोधिसत्त्व को योगचर्या का एक निश्चित क्रम प्रदर्शित किया है जिसमें शून्यता का स्थान चरम है। महायानसूत्रों में शून्यता और योग का सम्बन्ध निश्चित है, किन्तु उसकी दार्शनिक व्याख्या अस्पष्ट है। नागार्जुन की प्रधान कृति में साधना का व्यावहारिकपक्ष उपेक्षित है। आर्यदेव में साधन और दर्शन, योग एवं शून्यता का पूर्ण सामंजस्य है।

चतुःशतक में १६ प्रकरण हैं। पहला प्रकरण नित्य-ग्राह्य-प्रहाणोपायसन्दर्शन है, जिसमें रूप-आदि स्कन्धों को हेतुप्रत्यय-सम्भूत होने के कारण अनित्य सिद्ध किया गया है। दूसरा प्रकरण सुख-ग्राह-प्रहाणोपायसन्दर्शन है जिसमें अनित्य वस्तुओं की दुःखात्मकता प्रतिपादित है। तीसरा प्रकरण शुचि-ग्राह-प्रहाणोपायसन्दर्शन है जहाँ दुःखात्मकता से अशुचित्व का प्रदर्शन है। चतुर्थ प्रकरण में आत्मग्राह के निराकरण का उपाय वर्णित है, पाँचवें में बोधिसत्त्वचर्या का विवरण है, छठे में क्लेशों के प्रहाण का उपाय सन्दर्शित है, सातवें में मनुष्य-सुलभ अभीष्ट भोगों से मुक्ति का उपाय निरूपित है, आठवें में शिष्यचर्या का वर्णन है, नवम में नित्यार्थ प्रतिषेध की

भावना प्रदर्शित है, दशम में आत्मप्रतिषेध है, एकादश में कालप्रतिषेध है, द्वादश में दृष्टिप्रतिषेध, त्रयोदश में इन्द्रियार्थप्रतिषेध, चतुर्दश में अन्तग्राहप्रतिषेध, पंचदश में संस्कृतार्थप्रतिषेध, तथा षोडश में गुरुशिष्याविनिश्चय भावना का निरूपण है।

चतुःशतक पर धर्मपाल तथा चन्द्रकीर्ति की व्याख्याएँ विदित हैं। धर्मपाल ने समस्त ग्रन्थ को दो तुल्य भागों में विभक्त किया था। पूर्वार्ध की २०० कारिकाओं में धर्मशासन है, अपरार्ध विग्रहशतक है जिसमें तर्क तथा खण्डन का प्राधान्य है। धर्मपला ने केवल उत्तरार्ध पर व्याख्या की थी। चन्द्रकीर्ति ने समस्त को एक इकाई मान कर व्याख्या की है। पूर्वार्ध में प्रत्येक कारिका के साथ एक-एक दृष्टान्त उल्लिखित है। इन दृष्टान्तों को मूलतः आचार्य धर्मदास ने संयोजित किया था।

आर्यदेव का कहना है कि बौद्ध मत सर्वश्रेष्ठ होते हुए भी अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण सर्वाधिक लोकप्रिय नहीं है। ब्राह्मण धर्म में बाह्य उपासना का प्राधान्य होने के कारण वह स्थूलबुद्धि जनता को आकर्षित करता है। जैनधर्म जाड्यप्रधान है तथा पूर्वजन्म के अपुण्य का फल है। वास्तविक धर्म संक्षेप में अहिंसा ही है तथा शून्यता ही निर्वाण है। किन्तु शून्यता का उपदेश सब के लिए नहीं है। हीन अधिकारियों के लिए दान का उपदेश है, मध्यम अधिकारियों के लिए शील का, उत्तम अधिकारियों लिए शान्ति का। शान्ति की प्राप्ति स्वभावशून्यता के बोध से ही सम्भव है। यह सूक्ष्मतम होते हुए भी प्रकारान्तर से सरलतम है क्योंकि इसमें किसी प्रकार का कर्म आवश्यक नहीं है। शून्यता का ज्ञान ब्रह्मवत् नित्यसिद्ध एवं निर्गुण परमार्थ का ज्ञान है। ज्ञान से अज्ञान की निवृत्ति होती है। भेद-जगत् की वास्तविकता की प्रतीति ही अज्ञान है। शून्यता उसकी निवर्तक है।

शून्यता की सिद्धि के लिए आर्यदेव ने भी रूपादि स्कन्धों का तथा काल, नित्य परमाणु एवं आत्मा का खण्डन किया है। अनेक स्थलों पर नागार्जुन की युक्तियों का अनुवादमात्र है, किन्तु तथापि आर्यदेव की तर्कशैली में एक नवीनता है। नागार्जुन ने प्रायः सर्वत्र "तत्त्वान्यत्वविकल्प" को उपस्थापित कर उभयथा अनुपपत्ति पुरस्कृत की है। फलतः जिस युक्ति से नागार्जुन ने गति का निषेध किया है उसी से 'दर्शन' का, जिस युक्ति से आत्मा का निषेध किया है उसी से तथागत का। नागार्जुन के 'प्रसंगापादन' में व्यापक एकरसता है जो निराकरणीय विषयों के तथा मतों के वैलक्षण्य की उपेक्षा कर देती है। आर्यदेव अनेकत्र अपने प्रतिषेधों में विशिष्ट विपक्षियों के द्वारा प्रस्तावित युक्तियों का विचार करते हैं। उदाहरण के लिए उन्होंने वैशेषिकों के नित्य परमाणु-वाद का विस्तार से खण्डन किया है तथा इस प्रसंग में विपक्ष के दोषों का आविष्कार किया है।

नागार्जुन तथा आर्यदेव की तर्कप्रणाली प्रसंगानुमान पर आश्रित है। वे स्वयं किसी प्रकार का अभ्युपगम नहीं करते, किन्तु अशेष अभ्युपगमों में विरोध की प्रसक्ति प्रदर्शित करते हैं। विरोध से अन्तर्ग्रस्त होने के कारण अस्तित्व-नास्तित्व, कार्य-कारण आदि सभी पक्ष निराकृत हो जाते हैं। शून्यवादी को सब मतों और वादों का प्रहाण अभीष्ट है। शून्यता स्वयं कोई पदार्थ अथवा वाद नहीं है।

उत्तरकालीन प्रवृत्तियाँ—इस प्रकार का तर्क कठिनाइयों से मुक्त नहीं है। यदि शून्यवादी न किसी प्रमाण को मानता है, न प्रमेय को, तो उसके विपुलाकार ग्रन्थों का प्रतिपाद्य ही क्या हो सकता है? परमत के खण्डन के लिए भी उभयसिद्ध दृष्टान्त अपेक्षित है जो कि शून्यवादी को इष्ट नहीं है। पुनश्च सर्वप्रमाणसिद्ध जगत् का अपलाप करते हुए शून्यवादी का निरपवाद नास्तिकता के गर्त में निपात अनिवार्य है। नागार्जुन ने **विग्रहव्यावर्तनी** में इन आपत्तियों का उत्तर देने की चेष्टा की है। शून्यवादी प्रमाण-प्रमेय-व्यवहार को संवृतिसत्य मानता है, किन्तु उसकी सापेक्षता के कारण उसकी स्वभावशून्यता जानता है। अविद्या के गर्भ में संवृत जगत् की व्यावहारिक सत्ता अप्रतिषिद्ध है, किन्तु इस जगत् की विचारक्षमता उसकी पारमार्थिक शून्यता द्योतित करती है। शून्यता नास्तिता न होकर स्वप्नोपमता है।

किन्तु इससे पूर्ण समाधान नहीं होता। यदि व्यवहार में स्वविरोध है तो इस स्वविरोधिता की उक्ति स्वविरोधी है अथवा नहीं? पुनश्च, यदि सब धर्म मिथ्या एवं स्वप्नोपम हैं तो यह स्वप्नोपमता विद्यमान है अथवा नहीं? मैत्रेयनाथ ने अभूत-परिकल्प (=मिथ्या कल्पना) का अस्तित्व स्वीकार कर विज्ञानवाद की प्रतिष्ठा की। संसार भ्रान्त अनुभवमात्र है, किन्तु यह भ्रान्ति अविद्यमान नहीं है। यही नहीं, इस भ्रान्ति का आश्रय परावृत्त होकर बोधि को व्यक्त करता है। इस मत में परमार्थ को एक प्रकार से व्यवहार का आधार कह सकते हैं। दूसरी ओर शून्यवाद के विरुद्ध तार्किक शंकाओं के समाधान के लिए तथा सम्भवतः विज्ञानवाद के प्रभाव से स्वातन्त्रिक-माध्यमिक मत का आविर्भाव हुआ।

स्वातन्त्रिक शाखा—आचार्य भावविवेक अथवा भव्य ने माध्यमिकों की स्वातन्त्रिक शाखा की प्रतिष्ठा की। उन्होंने **माध्यमिककारिकाओं** पर **प्रज्ञाप्रदीप** नाम की व्याख्या लिखी जो तिब्वती में शेष है। **माध्यमिक-हृदय-कारिका** नाम के एक स्वतन्त्र ग्रन्थ का भी उन्होंने प्रणयन किया जिस पर उन्होंने **तर्कज्वाला** नाम की व्याख्या स्वयं लिखी[७]। **तर्कज्वाला** का संस्कृत-मूल उपलब्ध, किन्तु अप्रकाशित है।

७—द्र०—वाटर्स, जि० २, पृ० २२१-२३।

भव्य के **करतलरत्न** तथा **मध्यमकार्यसंग्रह** नाम के ग्रन्थों का संस्कृत में उद्धार किया गया है। उनकी दो और कृतियाँ विदित है—**मध्यमकावतारप्रदीप**, तथा **मध्यमकप्रतीत्यसमुत्पाद**।

भावविवेक ने शून्यवाद के समर्थन में 'स्वतन्त्र अनुमान' उद्भावित किये हैं। इन स्वतन्त्र अनुमानों में 'पक्ष' को 'परमार्थतः' इस विशेषण से विशेषित किया गया है, हेतु में विपक्षव्यावृत्ति नहीं है, तथा अनुमितिप्रसज्यप्रतिषेधात्मक है। उदाहरण के लिए भव्य का एक 'स्वतन्त्र प्रयोग' इस प्रकार है—'परमार्थतः आध्यात्मिक आयतन स्वतः उत्पन्न नहीं हैं, क्योंकि वे विद्यमान हैं, यथा चैतन्य'। यहाँ 'परमार्थतः' विशेषण इसलिए दिया गया है कि चक्षु-आदि आयतनों का सांवृत उत्पाद प्रतिषेध्य नहीं है। 'स्वतः उत्पाद' के निषेध में 'परतः उत्पाद' अभीप्सित न होने के कारण यहाँ 'प्रसज्य-प्रतिषेध' अंगीकार्य है न कि 'पर्युदास प्रतिषेध'।

'स्वतन्त्रानुमान' के समर्थन के साथ भव्य ने 'प्रसंगानुमान' का निराकरण किया है। इस सम्बन्ध में उन्होंने आचार्य बुद्ध-पालित का विशेष रूप से खण्डन किया है। बुद्ध-पालित भावविवेक के ज्येष्ठ समकालीन थे तथा 'प्रासंगिक माध्यमिक' मत के प्रतिष्ठाता थे। बुद्धपालित ने **माध्यमिक कारिकाओं** पर **मध्यमकवृत्ति** नाम की व्याख्या लिखी थी। भावविवेक का कहना है कि प्रसंगानुमान में हेतु और दृष्टान्त का अभाव है, परोक्त दोष का परिहार भी नहीं है, तथा प्रसंगवाक्य को उलटकर विपरीत अर्थ सिद्ध किया जा सकता है। उदाहरण के लिए बुद्धपालित ने इस प्रसंग का आपादन किया है—'पदार्थ स्वतः उत्पन्न नहीं होते, क्योंकि उनकी उत्पत्ति व्यर्थ होगी, और (उत्पत्ति मानने पर) उत्पत्ति कभी निवृत्त नहीं होगी।' इसको इस प्रकार उलटा जा सकता है—'पदार्थ परतः उत्पन्न हैं, क्योंकि तब उनकी उत्पत्ति एवं निरोध सावकाश होंगे'। यह स्मरणीय है कि नैयायिकों के अनुसार भी 'प्रसंग' को हेतु के अभाव में अनुमान नहीं माना जा सकता। अनुमान से बहिष्कृत होने पर प्रसंग का किस प्रमाण में अन्तर्भाव होगा ?

भावविवेक के स्वतन्त्रानुमान का आधार प्रसंग में दोषापत्ति ही नहीं है, अपितु परमार्थ एवं संवृति के विषय में मतपरिष्कार है। भाव-विवेक के अनुसार परमार्थ भी द्विविध है, संवृति भी। एक ओर 'अपर्याय-परमार्थ' है, दूसरी ओर 'पर्याय-परमार्थ।' 'अपर्याय परमार्थ' अनभिसंस्कार, लोकोत्तर, अनास्रव, एवं अप्रपंच है। 'पर्यायपरमार्थ' साभिसंस्कार, तथा प्रपंचानुगत है। यही 'कल्पनानुलोमिक परमार्थज्ञान' है। संवृति में भी 'तथ्यसंवृति' तथा 'मिथ्यासंवृति' ये दो भेद हैं। परमार्थाश्रित देशना तथ्यसंवृति है। तथ्यसंवृति परमार्थ की शब्द और तर्क के स्तर पर अभिव्यक्ति है।

परमार्थ और संवृति के इन अवान्तर भेदों की कल्पना से भावविवेक ने उनके मध्य की खाई पूरने का यत्न किया है। 'तथ्यसंवृति' तथा 'पर्यायपरमार्थ' प्रतीयमान मिथ्या जगत् से प्रपंचातीत अनिर्वाच्य सत्य तक पहुँचने के पुल हैं। 'अपर्याय परमार्थ' तथा 'पर्यायपरमार्थ' की तुलना वेदान्त के निरुपाधिक एवं सोपाधिक ब्रह्म से की जा सकती है। यह स्मरणीय है कि माया (=संवृति) के भी वेदान्त में दो भेद हैं—विद्या तथा अविद्या। वस्तुतः मिथ्या से सत्य तक पहुँचने के लिए ज्ञान को आवश्यक रूप से मध्यस्थ मानना होगा। अन्यथा परमार्थ निरर्थक शब्द मात्र रहेगा। ज्ञान के भी दो भेद मानना अनिवार्य है—परोक्ष तथा अपरोक्ष। असत्य में ग्रस्त लोक की परमार्थ की ओर प्रवृत्ति उपदेशमूलक परोक्ष ज्ञान के बिना नहीं हो सकती। यह परोक्ष ज्ञान ही अपरोक्ष ज्ञान के आकर्षण का सूत्र सिद्ध होता है। अपरोक्ष ज्ञान परमार्थ का साक्षात् द्वार है। भावविवेक के मत में यही दृष्टि अन्तर्भूत है।

प्रासंगिक मत—स्वातन्त्रिक मत के खण्डन का तथा प्रासंगिक मत के उद्धार का श्रेय आचार्य चन्द्रकीर्ति को है। चन्द्रकीर्ति धर्मपाल के शिष्य कहे गये हैं; अतएव उन्हें छठी शताब्दी में मानना चाहिए। तारानाथ के अनुसार उनका जन्म दक्षिणापथ के समन्त नाम के स्थान में हुआ था। शैशव में ही उन्होने विशिष्ट प्रतिभा का परिचय दिया। नागार्जुन की कृतियों का परिशीलन उन्होंने आचार्य बुद्धपालित तथा भव्य के शिष्य कमलसिद्धि के निर्देशन में किया। तदनन्तर नालन्दा मे चिरकाल तक निवास कर उन्होंने नाना ग्रन्थों की रचना की। बुदोन (पृ० १३४-३६) के अनुसार चन्द्रकीर्ति का जन्म दक्षिण में समन नाम के स्थान में हुआ था। उनमे अनेक अलौकिक शक्तियाँ बतायी गयी हैं, यथा वे चित्रलिखित गाय का दोहन कर सकते थे तथा पापाण के स्तम्भ का विना उसे स्पर्श किये प्रक्षेप कर सकते थे। चन्द्रकीर्ति के प्रधान ग्रन्थ **मध्यमकावतार, माध्यमिककारिकाओं** पर **प्रसन्नपदा** नाम की व्याख्या, तथा आर्यदेव के चतुःशतक पर व्याख्या है।

चन्द्रकीर्ति का कहना है कि माध्यमिक का कोई भी स्वपक्ष नहीं है तथा सभी पदार्थ उसके लिए स्वभावशून्य हैं। ऐसी स्थिति में माध्यमिक हेतु अथवा दृष्टान्त का अभिधान नहीं कर सकता। प्रसंग अनुमान नहीं है। परोक्त अनुमान में प्रसंग का आपादन होता है, प्रसंग का साधन नहीं। प्रसंगापत्ति विपक्षी के मत को व्याहत सिद्ध करती है। इससे शून्यवादी का प्रयोजन सिद्ध हो जाता है। उसे निःशेप मतों का प्रहाण ही अभीष्ट है। चन्द्रकीर्ति भी संवृति को 'लोकसंवृति' एवं 'अलोकसंवृति' में विभक्त करते हैं, किन्तु इन दोनों ही विभागों को भावविवेक की मिथ्यासंवृति के अन्तर्गत मानना चाहिए।

अध्याय ११

महायान का दर्शन—योगाचार, विज्ञानवाद

'योगाचार' और 'विज्ञानवाद'

विद्यारण्य स्वामी ने सर्वदर्शनसंग्रह में 'योग' और 'आचार' के अर्थ क्रमशः गुरु के उपदेश में अप्राप्त की प्राप्ति के लिए पर्यनुयोग तथा उपदिष्ट अर्थ का अंगीकार बताये हैं। उनके मत से बाह्यार्थ की शून्यता का अंगीकार करने से तथा आन्तरिक की शून्यता का पर्यनुयोग करने से ही 'योगाचार' यह नाम प्रसिद्ध हुआ[1]। किन्तु यह व्युत्पत्ति अश्रद्धेय है। इसके विपरीत भास्कराचार्य सत्य के समीपतर हैं—'शमथविपश्यनायुगनद्धवाही मार्गो योग इति योगलक्षणम्। शमथ इति समाधिरुच्यते। विपश्यना सम्यग्दर्शनलक्षणा। यथा युगनद्धौ बलीवर्दौ वहतस्तथा यो मार्गः सम्यग्दर्शनवाही स योगः। तेनाचरतीति योगाचारउच्यते[2]।'अर्थात् शमथ और विपश्यनात्मक योग मार्ग का आचरण ही 'योगाचार' का मर्म है। यह लक्षण अधिक व्यापक हो जाता है। वस्तुतः 'योगाचार' सम्प्रदाय में योगचर्या का एक विशिष्ट क्रम और उससे सम्बद्ध दार्शनिक भावना अंगीकृत हैं। प्रज्ञापारमिता, लंकावतार, आदि सूत्रों में विभिन्न बोधिसत्व-भूमियों की प्राप्ति का मार्ग दिग्दर्शित है जिसका मैत्रेयनाथ के **अभिसमयालंकार** तथा असंग के **योगाचारभूमिशास्त्र** में विस्तृत निरूपण है। **योगाचारभूमिशास्त्र** को इस सम्प्रदाय का मूल शास्त्र कहा गया है।[3] असंग के **महायानसंग्रह** के अनुसार योग के द्वारा परमार्थ ज्ञान की

१—"शिष्यैस्तावद्योगश्चाचारश्चेति द्वयं करणीयम्—गुरुक्तभावनाचतुष्टयं बाह्यार्थस्य शून्यत्वं चांगीकृत्यान्तरस्य शून्यत्वं चाङ्गीकृतं कथमिति पर्यनुयोगस्य करणात्केषाञ्चिद्योगाचारप्रथा।" (सर्वदर्शनसंग्रह, पृ० १२, आनन्दाश्रम०)।

२—ब्रह्मसूत्र, २.२.२८ पर भाष्य।

३—वासिलिएफ, बुद्धिस्मुस, जि० १, पृ० ३१७।

ओर अग्रसर होना ही योगाचार का लक्षण है[4]। अन्यत्र **बोधिसत्त्वभूमि** के अनुकूल योगचर्या ही योगाचार का लक्षण उपदिष्ट है। दूसरी ओर समस्त त्रैधातुक को चित्तमात्र अथवा विज्ञानमात्र घोषित करने के कारण उन्हें 'विज्ञानवादी' कहा जाता है[5]। वसुबन्धु की **विज्ञप्तिमात्रताविंशिका** और **त्रिंशिका** में 'योगाचार' का यह 'दार्शनिक पक्ष' विस्तृत रूप से प्रतिपादित है। संक्षेप में मैत्रेय, असंग और वसुबन्धु की रचनाओं ने योगाचार-विज्ञानवाद को एक निश्चित सम्प्रदाय और दार्शनिक प्रस्थान का एक रूप दिया। वसुबन्धु के अनन्तर यह सम्प्रदाय अनेक शाखाओं में बँट गया तथा दिङ्नाग एवं धर्मकीर्ति ने कुछ परिवर्तन के साथ इसे एक प्रौढ़ न्यायसम्मत दर्शन का आकार प्रदान किया[6]। विज्ञानवाद के मूल का अनुसन्धान करते हुए उसका वेदान्त से सामीप्य स्मरणीय है। दोनों में ही समस्त प्रपंच के मूल में ज्ञान अथवा विज्ञान को अवस्थित माना जाता है। औपनिषद दर्शन के लिए शान्तरक्षित का कहना है—'तेषामल्पापराधं तु दर्शनं नित्यतोक्तितः[7]।' अर्थात् नित्यत्व का स्वीकार ही वेदान्त का 'अल्प अपराध' है। शारीरक भाष्य में बौद्ध विज्ञानवाद का खण्डन करते हुए शंकराचार्य ने बौद्धों की ओर से यह आशंका प्रकट की है—'साक्षिणोऽवगन्तुः स्वयं सिद्धतामुपक्षिपता स्वयं प्रथते विज्ञानमित्येष एव मम पक्षस्त्वया वाचोयुक्त्यन्तरेणाश्रित इति।'[8] अर्थात् बौद्ध पक्ष ही शब्दान्तर से वेदान्त का पक्ष है। इसके उत्तर में शंकराचार्य ने कहा है कि बौद्ध मत में विज्ञान को अनित्य एवं सविशेष माना जाता है जबकि वेदान्त में पारमार्थिक ज्ञान नित्य एवं निर्विशेष है। पुनश्च भेदजगत् को मायिक और स्वप्नवत् मानते हुए भी वेदान्त में उसके अभ्यन्तर सांख्य का अनुसरण करते हुए ज्ञान के अतिरिक्त बाह्य अर्थ की सत्ता का अपलाप नहीं किया जाता। दूसरी ओर यह स्मरणीय है कि शंकराचार्य ने ग्राह्य-ग्राहक भाव से विरहित विज्ञान की चर्चा नहीं की है। वसुबन्धु प्रभृति आचार्यों की न्यायानुसार विश्लेषणा अभाग्यवश सांख्यानुग वेदान्त से दूर पड़ती है, किन्तु लंकावतार आदि सूत्रों में वेदान्त से तुलनीय सैद्धान्तिक छाया बहुधा आभासित होती है। अज्ञान-विजृम्भित नानात्वयुक्त जगत् के पीछे एक द्वैतरहित निर्विकल्प ज्ञान की पारमार्थिक

४—वही, पृ० ३१६।
५—वही, पृ० ३१७।
६—दे०—नीचे।
७—द्र०—तत्त्वसंग्रह, ३३०–३१।
८—ब्रह्मसूत्र २.२.२८ पर।

स्थिति है, यह धारणा दोनों में ही मर्मभूत और तुल्य है। किन्तु इसका प्रथम उन्मेष उपनिषदों में उपलब्ध होता है। बौद्धों में इस धारणा का वास्तविक मूल तर्क न हो कर योगज अनुभूति ही थी, किन्तु क्रमशः इसीकी तार्किक व्याख्या के द्वारा विज्ञानवादी दर्शन का विकास हुआ। इस तार्किक व्याख्या के प्रसंग में पहले हीनयानी अभिधर्म के प्रभाव ने तथा पीछे बौद्धेतर दर्शनों के साथ संघर्ष ने विज्ञानवाद को अपने रहस्यवादी मूल से दूर पहुँचा दिया। दूसरी ओर, उपनिषदों के आशय का अद्वैत दर्शन में विकास बौद्ध दर्शन के प्रभाव से असंस्पृष्ट नहीं माना जा सकता। इसका स्पष्ट प्रमाण गौडपपाद की **माण्डूक्यकारिकाएँ** हैं जिनका औपनिषद मूल बौद्ध ऋण विस्तार से प्रतिपादित हो चुका है[९]। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि विज्ञानवाद की एक रहस्यवादी अनुभूति के रूप में प्रथम अभिव्यक्ति उपनिपदों में हुई थी जिसकी कुछ प्रतिध्वनि प्राचीन बौद्ध सूत्रों में एवं विस्तार महायान-सूत्रों में उपलब्ध होता है। मैत्रेय-असंग एवं वसुबन्धु ने इसी आधारपर योगाचार-विज्ञानवाद को एक पृथक् शास्त्र के रूप में उद्धृत तथा प्रतिष्ठापित किया।

उपनिषदों में आत्मा अथवा ब्रह्म का स्वरूप सत्, अनिर्वचनीय, अथवा ज्ञान कहा गया है। ऐतरेय के अनुसार 'यदेतत् हृदयं मनश्चैतत्। संज्ञानमाज्ञानं विज्ञानं प्रज्ञानं मेधा दृष्टिर्धृतिर्मतिर्मनीषा जूतिः स्मृतिः सङ्कल्पः क्रतुरसुः कामो वश इति सर्वाण्येवैतानि प्रज्ञानस्य नामधेयानि भवन्ति'।[१०] अर्थात्, बौद्ध शब्दों में, चित्त-चैत्त विज्ञान से अभिन्न हैं। इसी उपनिषद् के अनुसार सब देवता, पंच महाभूत, सब जीव, समस्त स्थावर और जंगम प्रज्ञान में प्रतिष्ठित हैं।' 'प्रज्ञानेत्रो लोकः प्रज्ञा प्रतिष्ठा प्रज्ञानं ब्रह्म[११]।' यही आशय बौद्धों के द्वारा इस प्रकार अभिव्यक्त है—'चित्तमात्रं भो जिनपुत्रा यदुत त्रैधातुकम्'। अर्थात् तीनों लोक धातु चित्तमात्र हैं। कौषतकि ब्राह्मणोपनिषद् में सब विषयों को प्रज्ञापेक्ष कहा गया है। सब भूतमात्राएँ प्रज्ञामात्रों में वैसे ही अर्पित हैं, जैसे रथनाभि में[१२] में अर। बृहदारण्यक में याज्ञवल्क्य के मैत्रेयी एवं जनकको दिये हुए उपदेशों में आत्मा का स्वरूप अविनाशी, किन्तु द्वैतरहित विज्ञानघन बताया गया है[१३]। यह स्मरणीय है कि उपनिषदों में विज्ञान अथवा प्रज्ञान का महत्त्व आत्मस्वरूप होने के कारण ही है, आत्मनिरपेक्ष रूप से नहीं। यह भी स्पष्ट है कि इन स्थलों

९—विधुशेखर भट्टाचार्य के द्वारा।

१०—ऐ० उ० ३.२।

११—वही, ३.३।

१२—कौ० उ० ३.८।

१३—बृ. उ० ४.५।

में आत्मा का स्वरूपभूत अद्वैत ज्ञान ही अभिप्रेत है न कि वृत्तिज्ञान अथवा अन्तःकरण का धर्मविशेष। किन्तु इस प्रकार की भ्रान्ति की सम्भावना सुलभ है तथा कदाचित् इसीलिए प्राचीन बौद्ध सूत्रों में बार-बार विषयाक्रान्त विनश्वर चित्त का नैरात्म्य उद्घोषित है। इस प्रसंग में मज्झिमनिकाय में उल्लिखित साति केवट्टपुत्त की भ्रान्ति का शास्ता के द्वारा निराकरण स्मरणीय है। किन्तु दूसरी ओर विज्ञान को एक स्थल पर 'अनन्त, सर्वतः प्रभ' कहा गया है। अन्यत्र विज्ञान के 'अप्रतिष्ठित' होने का उल्लेख है तथा स्वयं बुद्ध भगवान् को 'ज्ञानभूत' कहा गया है। किन्तु यह निस्सन्देह है कि हीनयानी आगम में प्रायः चित्त-विज्ञान को कार्य-कारण से नियन्त्रित एक दुःखमय प्रवाह मान कर निरोद्धव्य ही बताया गया है[१४]।

महासांघिक और सौत्रान्तिक कल्पनाएँ—हीनयान के सम्प्रदायों में 'प्रज्ञप्ति-वादियों' का उल्लेख मिलता है, किन्तु उनके सिद्धान्तों के पर्यालोचन से यह प्रतीत नहीं होता कि उनका विज्ञानवाद से कोई स्पष्ट सम्बन्ध था। महासांघिकों के सिद्धान्तों में अवश्य चित्त की प्रभास्वरता एवं स्वभावविशुद्धि का प्रतिपादन मिलता है, तथा उनके रूपकाय के सिद्धान्त में एक प्रकार से विज्ञानमूलक मायावाद भी अन्तर्निहित है। उन्होंने एक प्रकार के 'मूल विज्ञान' की कल्पना की थी। सौत्रान्तिकों ने 'सूक्ष्म मनोविज्ञान' कल्पित किया था[१५]।

महायानसूत्र—किन्तु परवर्ती विज्ञानवाद की सम्यक् अवतारणा महायान-सूत्रों में सर्वप्रथम पायी जाती है। तिब्बती जं-यं-शद्-प के सिद्धान्त के अनुसार योगाचार के तीन मूल सूत्र हैं—सन्धिनिर्मोचन, लंकावतार, तथा घनव्यूह[१६]। एक पुरानी धारा से प्रवाहित, किन्तु चिर-उपेक्षित विज्ञानवाद का बीज महायान-सूत्रों में निरूपित बोधिसत्त्वों की योगचर्या के क्षेत्र में एक आध्यात्मिक आवश्यकता से अंकुरित हुआ। योगाचार विज्ञानवाद का यह अंकुरोद्गम अथवा 'सूत्रकाल' लगभग ई० पू० पहली शताब्दी से ई० तीसरी शताब्दी तक मानना चाहिए। इसके अनन्तर तीसरी से पाँचवीं शताब्दी तक मैत्रेय, असंग, एवं वसुबन्धु के कार्य से विज्ञानवाद की परिणति का युग अथवा 'शास्त्र-काल' मानना चाहिए। वसुबन्धु के अनन्तर न्यायानुसारी, परिवर्तित एवं अनेक-प्रभेद-भिन्न विज्ञानवाद का युग है।

१४—द्र०—ऊपर।

१५—द्र०—ऊपर।

१६—ऐक्टा ओरियन्टेलिया, १९३१, पृ० ८४, पादटिप्पणी।

दर्शन सूत्रों में उल्लेख—विज्ञानवाद के आविर्भाव के इस काल-निर्णय से एक अन्य मीमांसित प्रश्न पर विचार किया जा सकता है। न्यायसूत्रों के सर्वपृथक्त्व-निराकरण तथा सर्वशून्यतानिराकरण के प्रकरणों में आभिधर्मिक एवं माध्यमिक दृष्टियों की सूचना उपलब्ध होती है, किन्तु विज्ञानवाद का तुल्य उल्लेख प्राप्त नहीं होता। बाह्यार्थभंग-निराकरण के प्रकरण में भी विज्ञानवाद-विदित कुछ युक्तियों का उल्लेख होते हुए भी वस्तुतः शून्यवाद का ही निराकरण अभिप्रेत है। योगसूत्रों में कैवल्यपाद के अन्तर्गत 'वस्तुसाम्ये चित्तभेदात्तयोर्विभक्तः पन्थाः' इत्यादि के द्वारा विज्ञानवाद का खण्डन मिलता है। शंकर और रामानुज के अनुसार ब्रह्मसूत्रों में 'नाभाव उपलब्धेः' इत्यादि के द्वारा विज्ञानवाद का निराकरण किया गया है, किन्तु ऐसा मानने पर शंकर के अनुसार सूत्रकार के द्वारा शून्यवाद का अनुल्लेख मानना होगा तथा रामानुज के अनुसार 'सर्वथानुपपत्तेश्च' में एक पृथक् अधिकरण स्वीकार करना होगा। दोनों ही दशाओं में आपत्ति की जा सकती है। वस्तुतः ब्रह्मसूत्रों में भी न्यायसूत्रों के 'बाह्यार्थभङ्ग-निराकरण' के सदृश शून्यवाद के अभिमत प्रत्यक्षोपलब्ध जगत् के मिथ्यात्व का ही खण्डन मानना चाहिए, न कि विज्ञानवाद का।

इस प्रकार न्यायसूत्र एवं ब्रह्मसूत्र दोनों योगसूत्रों से प्राचीन प्रतीत होते हैं। न्यायसूत्र सम्भवतः प्राचीनतम हैं। उनका परिचय केवल कुछ सामान्य बौद्ध सिद्धान्तों से है यथा धर्मनानात्व अथवा धर्मशून्यता, क्षणभङ्ग एवं नैरात्म्य। अतएव न्यायसूत्रों को ई० पू० पहली शताब्दी से अर्वाचीन न मानना चाहिए। ब्रह्मसूत्रों में सर्वास्तिवाद का विस्तृत परिचय कदाचित् ई० पहली अथवा दूसरी शताब्दी की ओर इंगित करता है। योगसूत्रों को इससे भी परवर्ती मानना चाहिए। उनमें उल्लिखित लक्षण परिणाम आदि का विवेचन भी सम्भवतः सर्वास्तिवादी आचार्यों का ऋणी है।

सन्धिनिर्मोचन—सन्धिनिर्मोचनसूत्र माध्यमिकों के लिए महत्त्वपूर्ण होते हुए भी मूलतः योगाचार का प्रतिपादक है। इसके अनुसार भगवान् बुद्ध ने तीन धर्मचक्र प्रवर्तन किये थे[१७]। पहला चतुस्सत्य-धर्मचक्र-प्रवर्तन था जिसमें हीनयानी अभिनिविष्ट हुए। दूसरा अलक्षणत्वधर्म-चक्र-प्रवर्तन था जिसका विस्तार प्रज्ञापारमितासूत्रों में हुआ है। तीसरा परमार्थ-विनिश्चय-धर्म-चक्र-प्रवर्तन था जो सन्धिनिर्मोचन, लंकावतार, घनव्यूह आदि में निरूपित है। हीनयानियों ने उत्पत्तिनिःस्वभावता के आधार पर केवल परतन्त्रलक्षण का ग्रहण किया है। प्रज्ञापारमितासूत्रों में लक्षण-

१७—वासिलियेफ, देर बुद्धिस्मुस, जि० १, पृ० १६३; ऐक्टा ओरियन्टेलिया, १९३२, पृ० ९१।

निःस्वभावता के आधार पर परिकल्पितलक्षण का वर्णन किया गया है। परमार्थ-निःस्वभावता के आधार पर परि निष्पन्न लक्षण का विवरण इन्हीं सन्धिनिर्मोचन आदि योगाचार सूत्रों में द्रष्टव्य है[१८]।

परमार्थ के विषय में सन्धिनिर्मोचन में कहा गया है कि समस्त संस्कृतधर्म न संस्कृत है, न असंस्कृत। असंस्कृत धर्म भी इसी प्रकार असंस्कृत नहीं कहे जा सकते। सब कुछ विकल्पमात्र, प्रज्ञप्तिमात्र, आभासमात्र है। परमार्थ विकल्पातीत है एवं उसे एक अथवा अनेक नहीं कहा जा सकता। परमार्थतः सब पदार्थों में लक्षणसमता द्रष्टव्य है[१९]।

घनव्यूह—घनव्यूह त्रैधातुक की सीमाओं के परे एक शुद्ध क्षेत्र है[२०]। घनव्यूह सूत्र में आलयविज्ञान की महिमा निरूपित है। सब कुछ चित्तमात्र है तथा पाँच स्कन्ध कल्पित हैं। आलय से ही संसार का उद्गम मानना चाहिए। उसी में क्लिष्टाक्लिष्ट बीज विद्यमान हैं, किन्तु उसे आत्मा न समझना चाहिए। सब पदार्थों में तथागतगर्भ ही प्रतिबिम्बित है जैसे चन्द्रमा जल में। यही परमार्थ है। दूसरी ओर नाम तथा लक्षण के द्वारा मिथ्या प्रपंच प्रतिभासित होता है।

लंकावतार—लंकावतारसूत्र में बाह्य पदार्थों की सत्ता को मायावत् प्रतीयमान बताया गया है। उनकी प्रतीति एवं प्रविभाग काल्पनिक हैं। वस्तुतः उनकी कभी उत्पत्ति ही नहीं हुई। जिस प्रकार दीवार पर तस्वीरें खिची हों ऐसे ही समस्त लोक-सन्निवेश है। समस्त जगत् दर्पण के प्रतिबिम्ब के समान अथवा जल या चाँदनी में छाया के समान समझना चाहिए[२१]। इस प्रकार बाह्य जगत् की भ्रान्त प्रतीति चित्त के विकल्प से ही होती है। चित्त के अतिरिक्त शेष सब माया है—"मायोपमाः सर्व-धर्माश्चित्तविज्ञानवर्जिताः।"[२२] इसीसे शून्यवाद और विज्ञानवाद का भेद भी स्पष्ट हो जाता है। शून्यवाद में सभी पदार्थ निश्शेष रूप से मायोपम हैं, विज्ञानवाद में यह समस्त माया चित्त के ऊपर आरोपित है। चित्त-भित्ति पर ही जगच्चित्र विकल्प के द्वारा आलिखित है। यहाँ पर यह उल्लेखनीय है कि लंकावतार में अनेक स्थलों पर शून्यवाद का प्रतिपादन किया गया है और अतएव उसे विशुद्ध विज्ञानवाद का सूत्र-

१८–ऐक्टा ओरियन्टेलिया, १९३२, पृ० ९३–९५।
१९–वासिल्यिेफ, पूर्व० पृ० १६२।
२०–वही, पृ० १७४।
२१–लंका, पृ० २०।
२२–वही, पृ० २२।

ग्रन्थ नहीं मानना चाहिए। वस्तुतः महायानसूत्रों में बहुधा शून्यवाद एवं विज्ञानवाद का स्पष्ट भेद प्रतिपादित नहीं हुआ। नागार्जुन, मैत्रेयनाथ आदि के प्रयत्नों से यह भेद प्रकट हुआ, किन्तु पुनः परवर्ती काल में शिथिल हो गया।

स्वभावतः चित्त अत्यन्त परिशुद्ध, निराभास और अद्वय है। तथापि अनादि काल से वह अविद्या के आवरण से आच्छन्न है। अविद्या का मूल स्वरूप ग्राह्य-ग्राहक-लक्षण द्वैत की प्रतीति ही है। चित्तमात्र के ही सत्य होने पर भी एक ओर ग्राहक-सत्ता तथा दूसरी ओर विविधाकार ग्राह्य जगत् की सत्ता अनादि वासना के आधार पर प्रतिभासित होती रहती है। वस्तुतः ग्राह्य और ग्राहक रूप अनुभव के दोनों छोरों को उसकी परिधि के अभ्यन्तर ही प्रतीयमान मानना चाहिए।

अनादि प्रपंच की वासना से वासित चित्त ही 'आलयविज्ञान' एवं 'तथागतगर्भ' कहलाता है।[२३] इसी में समस्त कुशल एवं अकुशल हेतु विद्यमान रहते हैं। यही नित्य और निरन्तर विद्यमान रहता हुआ सब जन्मों और गतियों का कर्ता है। यह अत्यन्त सूक्ष्म तथा दुरालक्ष्य है। इसी को ठीक न समझने के कारण आत्मवाद की भ्रान्ति प्रस्तुत होती है। आलयविज्ञान अथवा तथागतगर्भ की ही विशुद्धि अथवा परावृत्ति से परमार्थ की प्राप्ति होती है। 'तथागतगर्भ' को 'सर्वसत्त्वदेहान्तर्गत' कहा गया है जिससे वह आलय-समष्टि-सा प्रतीत होता है।

दूसरी ओर आलयविज्ञान से ही क्षणिक प्रवृत्ति-विज्ञानों की उत्पत्ति होती है जैसे सागर से तरंगों की। विज्ञान आठ हैं[२४]—पाँच इन्द्रिय विज्ञान, विषय परिच्छेदात्मक मनोविज्ञान, अलंकारात्मक मन, अविर्घात्मक आलय-विज्ञान। मन तथा मनोविज्ञान का प्रायः वही कार्य है जो सांख्य में बुद्धि-अहंकार-मन का। पहले पाँच विज्ञान बाह्य विषयों के संस्पर्श से प्रवृत्त होते हैं। मनोविज्ञान इन विज्ञानों का समन्वय तथा उनका आलय-विज्ञान से संबन्ध स्थापित करता है। मन अहंकार और ममकार उपस्थित करता है। आलयविज्ञान को वासनाशय कहा जा सकता है।

इन आठों विज्ञानों के भेद को वास्तविक न समझकर केवल कार्यभेद अथवा व्यावहारिक समझना चाहिए। जैसे समुद्र एवं तरंगों में वास्तविक भेद नहीं है ऐसे ही आलय एवं अन्य विज्ञानों में। 'चित्त', 'मन' एवं 'विज्ञान' का भेद भी लक्षणार्थ विकल्पित है। कर्म संचित करने के कारण जो चित्त कहलाता है वही दृश्य जगत् को विशेषात्मक रूप से जानने के कारण विज्ञान कहलाता है।

२३—वही, पृ० ४६ प्र०, ७७—७८, २२०—२३।
२४—वही, पृ० ४६, १२६, २२९ इत्यादि।

परमार्थ की चित्तमात्रता का यह अर्थ नहीं है कि सुप्रसिद्ध वैयक्तिक चित्तधाराओं में समस्त जगत् का कथंचित् निमज्जन कर गजनिमीलिका को उदाहृत करना होगा। चित्त की वैयक्तिकता तथा 'प्रवर्तन' ग्राहक भेद के अभिनिवेश की अपेक्षा रखते हैं तथा हेतुप्रत्यय से प्रतिनियत हैं। बाह्य जगत् तथा व्यक्ति-भेद, दोनों ही प्रपंच के अभ्यन्तर हैं तथा इस प्रपंच का मूल तथागतगर्भ के 'आगन्तुक क्लेशों' में है। एक ओर प्रापंचिक भेदजगत् है, दूसरी ओर उसके मूल में अद्वय और विशुद्ध चित्त। 'दो सत्यों' का सिद्धान्त यहाँ आभासित है।

इस प्रसंग में 'त्रिस्वभाव' का उल्लेख आवश्यक है। इनमें सर्वप्रथम 'परिकल्पित-स्वभाव' है जिसका प्रकट भ्रान्तियों में समुल्लास होता है। व्यावहारिक जगत् में सभी पदार्थ सापेक्ष हैं तथा हेतुप्रत्यय के अधीन। यही उनका 'परतन्त्र स्वभाव' है। ये दोनों ही स्वभाव पदार्थों की शून्यता अथवा मायिकता प्रदर्शित करते हैं। सब पदार्थों की वास्तविकता उनकी चित्तमात्रता ही है। इसी को 'परिनिष्पन्न स्वभाव' कहते हैं। यह 'निराभास' एवं 'स्वसिद्ध' है। यही 'तथता' अथवा 'धर्मधातु' है तथा इसका बोध प्रज्ञा या आर्यज्ञान में ही सम्भव है। 'त्रिस्वभाव' को ही प्रकारान्तर से 'पंचधर्म' कहा गया है। 'पंचधर्म' इस प्रकार हैं—निमित्त, नाम, संकल्प, सम्यग्ज्ञान, एवं तथता। इनमें पहले तीन धर्म पहले दो स्वभावों में अन्तर्भूत हैं। शेष दो धर्म 'परिनिष्पन्न स्वभाव' हैं[२५]।

लंकावतार के प्रारम्भ में ही माहायानिक योग का तीर्थयोग से विभेद प्रकट किया गया है। योग का तात्पर्य अद्वय चित्तमात्रता के अभिसमय अथवा साक्षात्कार में है। इसे ही 'प्रत्यात्मगति' अथवा 'आर्यज्ञान' कहा गया है। बोधिसत्त्वों की योगचर्या की अनेक भूमियाँ हैं जिनमें छठी भूमि में निरोध की समापत्ति होती है। सप्तमी भूमि में बोधिसत्त्व सब पदार्थों की निस्स्वभावता का साक्षात्कार करते हैं। आठवीं भूमि में वे विकल्पात्मक चित्त से सर्वथा निवृत्त होते हैं। स्वप्न से जागरण के समान वे प्रपंच से मुक्त होते हैं, किन्तु बुद्धानुभाव से परिनिर्वृत नहीं होते। वे परमार्थ में स्थित होते हैं जहाँ न क्रम है, न क्रमानुसन्धि, जो निराभास चित्तमात्र है, एवं जिसे विकल्प-विविक्त-धर्म कहा गया है।

लंकावतार में चार प्रकार के ध्यान बताये गये हैं—बालोपचारिक, अर्थप्रविचय, तथतालम्बन, ताथागत। हीनयानियों के पुद्गल-नैरात्म्य तथा धर्म-लक्षण में अभिनिवेश पूर्वक संज्ञानिरोध तक समस्त ध्यान पहले प्रकार के हैं। महायानियों के धर्म

२५—वही, पृ० ६७ प्र०, २२९ आदि।

नैरात्म्यपूर्वक ध्यान दूसरी कोट में संग्राह्य हैं। दोनों प्रकार के नैरात्म्य को विकल्प-मात्र मानने से तथतालम्बन ध्यान निष्पन्न होता है। चतुर्थ ध्यान प्रत्यात्म आर्यज्ञान में प्रतिष्ठित है। इसी से तथागत भूमि में प्रवेश होता है तथा अचिन्त्य सत्वकल्याण का कार्य सम्पन्न होता है।

मैत्रेय और असंग—आर्य असंग को ज्ञान देनेवाले बोधिसत्व मैत्रेय को एक ऐतिहासिक महापुरुष तथा योगाचार-विज्ञानवाद का वास्तविक प्रतिष्ठापक मानना ही न्याय्य प्रतीत होता है[२६]। श्वांच्वांग के अनुसार असंग ने तुषित लोक में बोधिसत्व मैत्रेय से **योगाचार्यशास्त्र, महायानसूत्रालंकार, मध्यान्तविभंगशास्त्र** आदि ग्रन्थ प्राप्त किये तथा पश्चात् उन्हें प्रचारित किया[२७]। परमार्थ के चीनी वसुवन्धु-चरित के द्वारा यह परम्परा छठी शताब्दी में चीन पहुँच चुकी थी तथा उसी शताब्दी में इसका उल्लेख धर्मपाल ने एवं सातवीं शताब्दी में प्रभाकरमित्र ने किया है। तिब्बती परम्परा से भी इसका समर्थन उपलब्ध होता है। तारानाथ और बु-दोन के अनुसार असंग ने मैत्रेय पंच-धर्म की प्राप्ति की[२८]। ये पाँच शास्त्र इस प्रकार हैं—**अभिसमयालंकार, सूत्रालंकार, मध्यान्तविभंग, धर्मधर्मताविभंग,** तथा **महायानउत्तरतन्त्र**।

अभिसमयालंकार की पुष्पिका में ग्रन्थकार का नाम 'मैत्रेयनाथ' दिया हुआ है। इस युग में महान् बौद्ध आचार्यों को बोधिसत्त्व कहने की प्रथा थी और ऐसा प्रतीत होता है कि ऐतिहासिक 'बोधिसत्त्व मैत्रेयनाथ' को नाम-साम्य ने पौराणिक, बोधिसत्त्व (अजित) मैत्रेय, से अभिन्न बना दिया। मैत्रेयनाथ का कालनिर्णय वसुवन्धु की तिथि पर निर्भर करता है। मैत्रेय नागार्जुन की **'भवसंक्रान्ति'** के व्याख्याता होने के कारण उनसे परवर्ती तथा असंग-वसुवन्धु से पूर्ववर्ती थे। इस प्रकार उन्हें तीसरी अथवा चौथी शताब्दी में रखना चाहिए।

मैत्रेय और असंग का परस्पर सम्बन्ध कुछ वैसा प्रतीत होता है जैसा सुकरात और अफलातून का था। मैत्रेय ने अपना आशय सूत्रात्मक कारिकाओं में निबद्ध किया अथवा उपदेश किया, असंग ने उसकी व्याख्या की। इस व्याख्या के सहारे ही मैत्रेय का आशय सुबोध एवं प्रचारित हुआ। नागार्जुन के सदृश मैत्रेय का मुख्य कार्य भी **प्रज्ञापारमितासूत्रों** के आधार पर एक दार्शनिक प्रस्थान का प्रवर्तन था। नागार्जुन की अपेक्षा

२६—तुचि, डाक्ट्रिन्स आव् मैत्रेय (नाथ) एण्ड असंग, पृ० ७—८; विन्टरनित्स, जि० २, पृ० ३५२—५३।

२७—श्वान्च्वांग, पृ० २४८, ह्वि-लि०, पृ० ८५।

२८—तारानाथ, पृ० ११२; बु-दोन, जि० २, पृ० १४०।

मैत्रेय की रचनाएं योग चर्या से घनिष्ठ सम्बन्ध रखती हैं तथा निश्शेष-शून्यवाद से उनमें सिद्धान्त-पार्थक्य दृष्टिगोचर होता है। किन्तु तथापि माध्यमिक मत से उनका सर्वत्र विभेद नहीं किया जा सकता। उदाहरणार्थ, महायान उत्तरतन्त्र को माध्यमिक-प्रासंगिक तथा **अभिसमयालंकार** को योगाचार-माध्यमिक-स्वातन्त्रिक कहा गया है[२९]।

महायान-सूत्रालंकार में मुख्यतः बोधिसत्त्वचर्या का निरूपण उपलब्ध होता है तथा उसमें योगाचार का साधन पक्ष ही प्रधान है। समस्त ग्रन्थ २१ अधिकारों में विभक्त है जो इस प्रकार हैं—(१) **महायानसिद्ध्यधिकार**—इसमें महायान की श्रेष्ठता एवं प्रामाणिकता का प्रतिपादन है (२) **शरणगमनाधिकार** (३) **गोत्राधिकार**—आध्यात्मिक जीवन और अधिकार के भेद से मनुष्यों में नैसर्गिक प्रभेद अनुमेय हैं जिन्हें 'गोत्र' कहा गया है—'धातूनामधिमुक्तेश्च प्रतिपत्तेश्च भेदतः। फलभेदोपलब्धेश्च गोत्रास्तित्वं निरूप्यते॥' (३.२) (४) **चित्तोत्पादाधिकार**—बोधिसत्त्वों का बोधि अनुकूल चित्त का उत्पाद भूमिभेद से भिन्न होता है। वास्तविक चित्तोत्पाद प्रमुदिता भूमि में ही होता है। (५) **प्रतिपत्त्यधिकार**—बोधिसत्त्व के द्वारा पदार्थ-सम्पादन। (६) **तत्त्वाधिकार**—परमार्थ अद्वय है, अजात एवं अप्रहीण, ग्राह्यग्राहकभाव से रहित विशुद्ध धर्मधातु। 'चित्तादन्यदालम्बनं ग्राह्यं नास्तीत्यवगम्य बुद्ध्या तस्यापि चित्तमात्रस्य नास्तित्वावगमनं ग्राह्याभावे ग्राहकाभावात्। द्वये चास्य नास्तित्वं विदित्वा धर्मधातौ अवस्थानमतद्गतिर्ग्राह्यग्राहकलक्षणाभ्यां रहित एवं धर्मधातुः प्रत्यक्षतामेति[३०]।' (७) **प्रभावाधिकार**—बोधिसत्त्वों की छः अभिज्ञाएं, सन्दर्शनकर्म, रश्मिकर्म इत्यादि। (८) **परिपाकाधिकार**—रुचि, प्रसाद आदि के परिपाकलक्षण। (९) **बोध्यधिकार**—क्रमशः आवरणक्षय से बोधि अथवा बुद्धत्व की प्राप्ति होती है। बुद्धत्व तथता से अभिन्न होने के कारण सर्वधर्ममय है, किन्तु परिकल्पित धर्मस्वभाव की दृष्टि से बुद्धत्व में सर्वधर्माभाव है। पारमितादि साधन की दृष्टि से बुद्धत्व शुक्लधर्ममय है, किन्तु परिनिष्पन्न लक्षण से पारमितादि के द्वारा अनिर्देश्य एवं अद्वयलक्षण है।

> "**सर्वधर्माश्च बुद्धत्वं धर्मो नैव च कश्चन।**
> **शुक्लधर्ममयं तच्च न च तैस्तन्निरूप्यते॥**" (९.४)

बुद्धत्व सर्वगत है, किन्तु उपयुक्त पात्र में ही उसकी अभिव्यक्ति हो पाती है। बुद्ध कृत्य भी सहज रीति से बिना 'आभोग' (=प्रयत्न) अथवा 'प्रतिप्रस्रब्धि' (=शैथिल्य) के प्रवृत्त होता है। अनास्रव धातु में बुद्धों की आत्मा नैरात्म्य से अभिन्न है। बुद्धत्व

२९—ऐक्टा ओरियन्टेलिया, १९३१, पृ० ८३।
३०—पृ० २४।

भावाभाव-विलक्षण हैं। बुद्ध की विशुद्ध धर्मधातु में एक प्रकार का वृत्तिभेद है, जो स्वाभाविक, साम्भोगिक, एवं नैर्माणिक कायों की आख्या पाता है। बोधि की प्राप्ति के लिए बोधिसत्त्वों को सब कुछ कल्पना समझना चाहिए। 'जो परिकल्पित स्वभाव से अविद्यमानता है वही परिनिष्पन्नस्वभाव से परम विद्यमानता है। जो परिकल्पित स्वभाव का सर्वथा अनुपलम्भ है वही परिनिष्पन्न स्वभाव का परम उपलम्भ है[31]।'
(१०) **अधिमुक्त्यधिकार** (११) **धर्मपर्येष्ट्यधिकार**—अभूतपरिकल्प अथवा परतन्त्रस्वभाव माया के समान है, उसमें ग्राह्यग्राहकभाव की द्वयभ्रान्ति ऐसे ही प्रतिभासित है जैसे माया में हाथी, घोड़े, आदि की आकृतियां। इस द्वयलक्षण कल्पना का अभाव परमार्थ है, उसकी उपलब्धि अभूतपरिकल्प की संवृतिसत्यता है[32]। अस्तित्व और नास्तित्व माया के अन्दर ही संगत है[33]।

आध्यात्मिक आयतन मायोपम हैं, बाह्य आयतन स्वप्नोपम तथा प्रतिबिम्बोपम। चित्त-चैत्त भ्रान्तिकारक होने के कारण मरीचिकोपम हैं। देशनाधर्म प्रतिध्वनि के समान है एवं समाधिसंनिश्रित धर्म स्वच्छ जल में चन्द्रबिम्ब के समान हैं[34]। वस्तुतः चित्तमात्र ही ग्राह्य-ग्राहक रूप से एवं क्लिष्टाक्लिष्ट रूप से द्विधा प्रतिभासित होता है। यही विज्ञप्तिमात्रता है[35]।

३१—"याऽविद्यमानता सैव परमा विद्यमानता।
सर्वथानुपलम्भश्च उपलम्भः परो मतः॥" (सूत्रालंकार, पृ० ४८)

३२—"यथा माया तथाभूतपरिकल्पो निरुच्यते।
यथा मायाकृतं तद्वत् द्वयभ्रान्तिर्निरुच्यते॥
यथा तस्मिन्न तद्भावः परमार्थस्तथेष्यते।
यथा तस्योपलब्धिस्तु तथा संवृतिसत्यता॥" (वही, पृ० ५९)

३३—"तस्मादस्तित्वनास्तित्वं मायादिषु विधीयते॥" (वहीं)

३४—सूत्रालंकार ११.३०।

३५—"चित्तं द्वयप्रभासं रागाद्याभासमिष्यते तद्वत्।
श्रद्धाभासं न तदन्यो धर्मः क्लिष्टकुशलोऽस्ति॥
चित्तमात्रमेव द्वयप्रतिभासमिष्यते ग्राह्यप्रतिभासं ग्राहक-प्रतिभासं च।
यथा द्वयप्रतिभासादन्यो न द्वयलक्षणः।
इति चित्तं चित्राभासं चित्राकारं प्रवर्तते॥
..तत्र चित्तमेव वस्तु तच्चित्राभासं प्रवर्तते।..." (पृ० ६३)

शब्दानुसार अर्थप्रतीति के आलम्बन तथा शब्दार्थवासना से उपस्थापित आलम्बन दोनों परिकल्पितलक्षण में संगृहीत हैं, अथवा, नाम और अर्थ की अन्योन्यापेक्ष प्रतीति ही परिकल्पितलक्षण है। अर्थात् शब्दानुविद्ध समस्त अनुभव कल्पनामात्र है। ग्राह्य-ग्राहक-लक्षण अभूतपरिकल्प ही परतन्त्र का लक्षण है। पाँचों इन्द्रियविज्ञान, मन, एवं मनोविज्ञान तथा रूपादि इसी में संगृहीत हैं। परिनिष्पन्न लक्षण प्रकृतिपरिशुद्ध एवं निर्विकल्प तथता है[३६]। यही सब धर्मों की निःस्वभावता एवं अनुत्पत्ति है। (सूत्रालंकार, ११, ५०-५१)।

(१२) देशनाधिकार, (१३) प्रतिपत्त्यधिकार, (१४) अववादानुशासन्यधिकार—तीनों लक्षणों में अनुगत शून्यता त्रिविध है। परिनिष्पन्न स्वभाव प्रकृत्या शून्य है। (१५) उपायसहित कर्माधिकार, (१६) पारमिताधिकार (१७) पूजा-सेवा-प्रमाणाधिकार, (१८) बोधिपक्षाधिकार—इसमें प्रसंगतः सब संस्कारों का क्षणिकत्व तार्किक रीति से सिद्ध किया गया है तथा सभी संस्कारों को चित्त का फल कहा गया है। पुद्‌गलनैरात्म्य की भी युक्ति से सिद्धि की गयी है। (१९) गुणाधिकार (२०)–(२१) चर्याप्रतिष्ठाधिकार—इसमें बोधिसत्त्वभूमियों का विवरण दिया गया है।

यद्यपि **सूत्रालंकार** में कहीं-कहीं, **अभिसमयालंकार** के तुल्य संक्षिप्त कारिकाएँ हैं तथापि प्रायः कारिकाएँ विशद हैं एवं गद्यमयव्याख्या के सन्निकट हैं। इस ग्रन्थ में मैत्रेय की अपेक्षा, असंग का ही हाथ अधिक मानना चाहिए। शून्यवाद का सामीप्य भी पर्यालोचनीय है। परमार्थ की भावाभाव विलक्षणता पर बल दिया गया है, चित्त-मात्रता पर नहीं। परमार्थ को बोधि, बुद्धत्व एवं धर्मधातु कहा गया है। अनुभवसिद्ध और अभिलापसंसृष्ट नानाकार जगत् एक मायिक भ्रान्तिमात्र है, किन्तु इस भ्रान्ति का आधार हेतुप्रत्यय-नियत परतन्त्र-जगत् है जो, सर्वथा अभावात्मक न होते हुए भी पार-

३६–"यथा जल्पार्थसंज्ञाया निमित्तं तस्य वासना ।
तस्मादप्यर्थ विख्यानं परिकल्पितलक्षणम् ॥
यथानामार्थमर्थस्य नाम्नः प्रख्यानता च या ।
असंकल्पनिमित्तं च परिकल्पितलक्षणम् ॥
त्रिविधत्रिविधाभासो ग्राह्यग्राहकलक्षणः ।
अभूतपरिकल्पो हि परतन्त्रस्य लक्षणम् ॥
अभावभावता या च भावाभावसमानता ।
अशान्तशान्ताऽकल्पा च परिनिष्पन्नलक्षणम् ॥"

(पृ० ६४–६५)

मार्थिक नहीं है। परमार्थ शब्दार्थकल्पना, सदसत्कल्पना अथवा ग्राह्यग्राहक-कल्पना के परे है। वह अद्वय और अनिर्वचनीय है तथा उसका ठीक परिचय बोधि में ही हो सकता है। इस दर्शन का आधार तर्क न होकर योगानुभव है। तर्क के विषय में **सूत्रालंकार** का कहना है—'बालाश्रयो मतस्तर्कः[३७]।' योगाचार का अनुभव शब्दार्थवासना से परि-कल्पित भेदों को तथा जागतिक ज्ञान के विषयविषयिभेद को छोड़कर एक अनिर्वचनीय और अद्वय ज्ञान में परिनिष्पन्न होता है। इसके अनुकूल 'त्रिस्वभाव' एवं 'सत्यद्वय' के सिद्धान्तों का प्रतिपादन **सूत्रालंकार** में देखा जा सकता है।

मध्यान्तविभंग तथा **धर्मधर्मता विभंग** में **सन्धिनिर्मोचन** आदि सूत्रों के आधार पर विज्ञानवाद की व्याख्या उपलब्ध होती है। **धर्मधर्मता विभंग** में निर्वाण को धर्मता कहा गया है तथा धर्मों को प्रकृतिनिर्वृत। धर्मों की व्यावहारिक सत्ता परतन्त्रलक्षण अथवा सापेक्ष है। माहायानिक योगचर्या धर्मों के सांक्लेशिक आकार को छोड़ उनके वैयवदानिक आकार के प्रतिवेध में परिनिष्ठित होती है[३८]।

मध्यान्तविभागसूत्रभाष्यटीका में स्थिरमति का कहना है—'अस्य कारिकाशास्त्रस्यार्यमैत्रेयः प्रणेता।—वक्ता चास्याचार्यासंगः। तस्माच्छ्रुत्वाचार्यवसुबन्धुस्तस्य भाष्यमकरोत्[३९]।' इस शास्त्र के प्रणयन का तात्पर्य बुद्ध भगवान् के विषय में निर्वि-कल्पज्ञान का उत्पादन है जोकि धर्मनैरात्म्य की देशना से ही हो सकता है। अतएव यथाभूत धर्म-नैरात्म्य का प्रतिपादन ही इस शास्त्र में मुख्य है[४०]। इसके लिए सात पदार्थों का विवरण दिया गया है—लक्षण, आवरण, तत्त्व, प्रतिपक्षभावना, अवस्था, फलप्राप्ति, तथा यानानुत्तर्य। लक्षण का तात्पर्य संक्लेश और व्यवदान से है, आवरण का अकुशलधर्मों से, तत्त्व का दशविध अविपरीत तत्त्व से, प्रतिपक्षभावना का मार्ग से, अवस्था का २१ प्रकार की गोत्रावस्था आदि से, फल-प्राप्ति का १५ प्रकार के विपाक फलादि से, तथा यानानुत्तर्य का बोधिसत्त्वों के असाधारण यान से। इस व्याख्या के अनुसार ये सात पदार्थ अधिमुक्तिचर्याभूमि से प्रारम्भ कर बोधिसत्त्वचर्या के आवश्यक अंगों और अवस्थाओं का द्योतन करते हैं। स्थिरमति ने इन सात पदार्थों की अनेक अन्य व्याख्याओं का उल्लेख किया है।

३७—"निश्रितोऽनियतोऽव्यापी सांवृतः खेदवानपि।
बालाश्रयो मतस्तर्कस्तस्यातो विषयो न तत्॥ (सूत्रालंकार, १.१२)

३८—द्र०—ओबरमिलर, ऐक्टा ओरियन्टेलिया, १९३१।

३९—सं० विधुशेखर भट्टाचार्य और तुचि, पृ० ३।

४०—वही, पृ० ६।

लक्षण के विषय में मैत्रेयनाथ का कहना है—'अभूत–परिकल्पोऽस्ति द्वयं तत्र न विद्यते। शून्यता विद्यते त्वत्र तस्यामपि स विद्यते॥' (१. २)

इस कारिका का महत्त्व पर्यालोचनीय है क्योंकि इससे योगाचार का मर्म तथा शून्यवाद से उसका विभेद परिलक्षित होता है। स्थिरमति की व्याख्या इस प्रकार है—कुछ लोग मानते हैं कि सब धर्म शशविषाण के समान सर्वथा अविद्यमान हैं। इस सर्वापलाप के निषेध के लिए कहते हैं—'अभूत-परिकल्प है', अर्थात् स्वभावतः है। यह शंका की जा सकती है कि यह तो सूत्रविरोध होगा क्योंकि सूत्र में कहा गया है कि "सब धर्म शून्य हैं।" (किन्तु) विरोध नहीं हैं। क्योंकि 'वहाँ द्वय (=द्वैत) नहीं है।' अभूत-परिकल्प ग्राह्यग्राहकरहित, शून्य है, (किन्तु) अतएव सर्वथा स्वभावतः न हो, ऐसा नहीं है। इसलिए सूत्रविरोध नही है। (यह कहा जा सकता है कि) यदि ऐसा है तो द्वैत शशविषाण के समान सर्वथा अस्तित्वहीन होगा तथा अभूतकल्प परमार्थतः स्वभावयुक्त होगा और इस प्रकार शून्यता के अभाव का प्रसंग उपस्थित हो जायगा। (किन्तु) ऐसा नहीं है। क्योंकि 'यहाँ शून्यता विद्यमान् है'। अभूत परिकल्प में ग्राह्यग्राहक रहितता ही शून्यता है। (अतः) शून्यता अविद्यमान नहीं है। (यह कहा जा सकता है कि) यदि अभूतपरिकल्प में अद्वय शून्यता विद्यमान है तो हम मुक्त क्यों नहीं हैं? और यह विद्यमान (शून्यता) गृहीत क्यों नहीं होती? इस संशय के अपनयन के लिए कहा है उसमें भी यह विद्यमान है। 'अर्थात् शून्यता में भी अभूत-परिकल्प विद्यमान है, इसलिए आप मुक्त नहीं हैं।' यह स्मरणीय है कि अभूतपरिकल्प का अर्थ है चित्त-चैत्त प्रवाह—"अभूतपरिकल्पाश्च चित्त-चैत्तास्त्रिधातुकाः।"

इस कारिका और व्याख्या से प्रायः वही अर्थ निर्गलित होता है जो ऊपर **सूत्रालंकार** (११. १५-१६) में। द्वैत की प्रतीति केवल भ्रान्ति है, किन्तु उसका आधार सर्वथा मिथ्या नहीं है। द्वैत कल्पित है, किन्तु यह असत्य कल्पना (=अभूत परिकल्प) वास्तविक है। यह भ्रान्ति में ग्रस्त एक अनादि चित्त-चैत्त प्रवाह है जिसमें द्वैताभावरूप शून्यता विराजमान है, किन्तु जो स्वयं इस शून्यता का आवरण किये हुए है। 'अभूत-परिकल्प' के हृदय में 'शून्यता' है, 'शून्यता' को ढके हुए 'अभूतपरिकल्प'। दोनों ही विद्यमान हैं, किन्तु 'शून्यता' की प्राप्ति इस आवरण की विशुद्धि के द्वारा करनी होगी। 'अभूतपरिकल्प' और 'शून्यता' अविद्या और अद्वैत से तुलनीय हैं।

प्रकारान्तर से कहा जा सकता है कि अनुभूत जगत् अभूत परिकल्प अथवा वितथ-कल्पना मात्र है। यह मिथ्या विकल्प वास्तविक है, किन्तु इसमें प्रतिभासमान आत्माएँ अथवा बाह्य पदार्थ अवास्तविक हैं। वस्तुतः स्वप्नवत् निरालम्बन विज्ञान ही वासना

के अनुकूल नाना पदार्थों को आभासित करता है। ग्राह्यग्राहक विकल्प की अवास्तविकता ही शून्यता है। वही मोक्षोपयोगी विशुद्ध आलम्बन है। किन्तु विकल्पात्मक विज्ञानधारा से वह वैसे ही प्रच्छादित है जैसे रजःपटल से निर्मल आकाश।

यहाँ दो अन्तों का मध्य से प्रविभाग किया गया है। एक ओर सर्वशून्यता निराकृत है, दूसरी ओर रूपादि धर्मों की वास्तविकता। भूतनैरात्म्य एवं विकल्पमात्रता में ही अद्वैतरूपा शून्यता संगृहीत है, किन्तु यह शून्यता महान् यत्न से विशोधनीय है। 'नास्त्ययत्नेन मोक्षः'। अभूतपरिकल्प ही संक्लेश का लक्षण है, शून्यता व्यवदान का। अनादिकालिक संसार के प्रवाह में पतित चित्त-चैत्तसिक ही निर्विशेषतया अभूत परिकल्प हैं। ग्राह्यग्राहक विकल्प ही विशेष है। इस विकल्प का मिथ्यात्व ही शून्यता है। जैसे रज्जु सर्पत्वभाव से शून्य है, किन्तु रज्जुस्वभाव से नहीं, ऐसे ही इस शून्यता को आत्यन्तिक नहीं मानना चाहिए। जो जहाँ नहीं है वह उससे शून्य है जिस प्रकार अभूत परिकल्प में द्वैत। 'अतोऽभूतपरिकल्पं द्वयेन शून्यं पश्यति।' जो अवशिष्ट है वह सत् है, और अवशिष्ट है अभूतपरिकल्प और शून्यता। अभूतपरिकल्प में द्वैत की अविद्यमानता देखना ही 'अनध्यारोप' अर्थात् अध्यास का परित्याग है; अभूतपरिकल्प एवं शून्यता का अस्तित्व देखना ही 'अनपवाद' अर्थात् निश्शेष सत्ता के अपलाप का त्याग है। 'अध्यारोप' और 'अपवाद' के मध्य में ही शून्यता का अविपरीत लक्षण उद्भावित होता है।' 'यच्छून्यं तस्य सदभावाद्येन शून्यं तस्य तत्राभावात्' अर्थात् जो शून्य है उसका अस्तित्व है, जिससे वह शून्य है उसका अनस्तित्व है। सर्वास्तित्व और सर्वनास्तित्व से विलक्षण यही मध्यमा प्रतिपद है।

विज्ञान में ही बाह्य पदार्थ एवं आत्मा का प्रतिभास उत्पन्न होता है। आठ प्रकार के विज्ञान हैं—आलयविज्ञान, तथा सात प्रवृत्ति विज्ञान। आलय विज्ञान अर्थसत्त्वप्रतिभास-युक्त है तथा विपाक होने के कारण अव्याकृत है, तथा केवल प्रत्ययविज्ञान है। सब सास्रव धर्म बीज रूप से उसमें आलीन होते हैं। मन आत्मप्रतिभास तथा क्लिष्ट है। छः विज्ञान विज्ञप्तिप्रतिभास तथा कुशल, अकुशल अथवा अव्याकृत हैं। इन विज्ञानों के साथ इनसे सम्प्रयुक्त चैत्त भी संग्राह्य हैं। केवल विज्ञान अथवा चित्त पदार्थों का सामान्यतः निर्विशेष, ग्रहण करता है। चैत्त उनका विशेष ग्रहण करते हैं। 'तत्रार्थमात्र दृष्टिर्विज्ञानम्—अर्थविशेष-दृष्टिश्चैतसा वेदनादयः—'। ये आठ विज्ञान ही परतन्त्रलक्षण अथवा अभूत-परिकल्प कहलाते हैं—"एवं चाष्ट विज्ञान-वस्तुकः परतन्त्रोऽभूतपरिकल्पः।" परिकल्पितस्वभाव रूप, चक्षु आदि अर्थात्मक है। परतन्त्रस्वभाव अथवा अभूत-परिकल्प हेतु-प्रत्यय-युक्त एवं व्यावहारिक चित्त-चैत्त-प्रवाह

है। इसमें सब संस्कृत धर्म संगृहीत हैं। ग्राह्यग्राहक-भाव का अभाव ही परिनिष्पन्न-स्वभाव अथवा शून्यता है। इसके अन्य पर्याय हैं—तथता, भूतकोटि, अनिमित्त, परमार्थ, एवं धर्मधातु।

शून्यता को ग्राह्यग्राहक अथवा द्वय का अभाव कहा गया है। इसका ठीक बोध आवश्यक है। ग्राह्य से तात्पर्य उन सब विषयों से है जो ज्ञान में आलम्बन के रूप से प्रकट होते हैं। ज्ञान के अतिरिक्त आत्मा अथवा बाह्य पदार्थों की सत्ता नहीं है यही विज्ञप्तिमात्रता है। विज्ञप्तिमात्रता के ठीक बोध से समस्त विज्ञेय विज्ञान में विलीन हो जाते हैं। किन्तु यह परम सिद्धान्त नहीं है। विज्ञेय के अभाव में विज्ञान स्वयं तिरोहित हो जाता है, क्योंकि ग्राह्य और ग्राहक की सत्ता सापेक्ष ही हो सकती है। पहले ज्ञान के विषयभूत अथवा ग्राह्य पदार्थों का लोप, पीछे उनके विषयिभूत अथवा ग्राहक विज्ञान का लोप, यही द्वयराहित्य अथवा शून्यता है। यह स्मरणीय है कि विज्ञान का अभाव केवल विज्ञातृत्व रूप में अभिप्रेत है न कि नाना-प्रतिभास के रूप में। विज्ञप्ति मात्र की अनुपलब्धि की भावना से 'लौकिकाग्रधर्म' नाम की समाधि का लाभ होता है।

इस विवरण से यह स्पष्ट होगा कि **मध्यान्तविभाग** में शून्यता के सिद्धान्त को सर्वोपरि रक्षणीय माना है, किन्तु उसकी इस प्रकार व्याख्या की गयी है कि बन्ध और मोक्ष तथा आध्यात्मिक साधन अथवा योगचर्या वास्तविक बने रहें। इस सिद्धान्त को 'विज्ञानवाद' न कहकर 'योगाचार' ही कहना चाहिए क्योंकि इसमें परम स्थान विज्ञप्ति-मात्रता का न होकर शून्यता के अनुकूल योगसाधन का ही है। यही दृष्टि ऊपर **सूत्रालंकार** में भी आभासित थी।

उत्तरतन्त्र को माध्यमिक-प्रासंगिक कृति कहा गया है[४१]। इस पर आर्यासंग की उत्तरतन्त्र-व्याख्या विदित है। उत्तरतन्त्र को पाँच महायान सूत्रों पर आश्रित बताया जाता है—(१) तथागतमहाकरुणानिर्देश-सूत्र अथवा धारणीश्वर-राज-परिपृच्छा, (२) श्रीमाला-देवीसिंहनाद-सूत्र, (३) तथागत-गर्भ-सूत्र, (४) सर्वबुद्ध विषयावतारज्ञानालोकालंकार सूत्र, (५) रत्न-दारिका-परिपृच्छा। तिब्बत में जो-नं-प सम्प्रदाय में उत्तरतन्त्र के सिद्धान्त को प्रायः ईश्वराद्वैत के समकक्ष बना दिया गया। इस व्याख्या-सरणि का त्सों-ख-प तथा उनके सम्प्रदाय ने पीछे खण्डन भी किया[४२]। इस ग्रन्थ का **रत्न गोत्र विभाग महायानोत्तरतन्त्रशास्त्र** के नाम से जान्स्टन ने मूल में सम्पादन किया है। (पटना, १९५०)। वे उसे असंग की कृति नहीं मानते।

४१–ऐक्टा ओरियन्टेलिया, १९३१, पृ० ८३।

४२–वही, पृ० १०६।

उत्तरतन्त्र में सात मुख्य विषयों का निरूपण है—बुद्ध, धर्म, संघ, गोत्र, बोधि बल, कृत्यानुष्ठान-ज्ञान। बुद्धत्व के आठ गुणों का इस प्रकार विवरण दिया गया है—असंस्कृतत्व, अनाभोग (=संकल्परहित क्रिया), पर-प्रत्ययागम्य, बोधि, करुणा, बल, स्वार्थसम्पत्ति, परार्थ सम्पत्ति (=रूपकाय)।[४३] जाति, स्थिति और विनाश से मुक्त होने के कारण बुद्ध असंस्कृत हैं। स्वभावतः नित्य-शान्त होने के कारण वे अनाभोग हैं। वे प्रत्यात्मगतिगोचर हैं, पर प्रत्यय-गम्य नहीं।

धर्म सत्, असत् आदि चतुष्कोटि-विनिर्मुक्त है[४४]। वह विकल्प का अगोचर है तथा उसमें क्लेश और कर्म का अभाव है। वह अद्वय, विशुद्ध, अनावरण, क्लेश-प्रतिपक्ष, क्लेश-विमोक्ष, तथा विमोक्ष-हेतु है। तथागत धर्म-धातु से अभिन्न हैं तथा सब सत्त्वों में अन्तर्निहित हैं। बुद्धत्व का बीज सर्वत्र विद्यमान है तथा वह महायान के द्वारा विकासनीय है[४५]। सर्वप्रथम महायान में अधिमुक्ति आवश्यक है। तीर्थिकों के लिए आवश्यक है कि वे प्रज्ञापारमिता के द्वारा नैरात्म्य सीखें। संसार को दुःखमात्र समझने वाले श्रावकों को गगनगञ्ज आदि समाधियों की भावना करनी चाहिए। प्रत्येक बुद्धों के लिए करुणा भावनीय है। धर्मकाय ही महायान का पर्यन्त है जिसमें नित्य-पारमिता, सुखपारमिता, आत्मपारमिता तथा शुद्धिपारमिता हैं[४६]।

अभिसमयालंकार का पूरा नाम है—"अभिसमयालंकार-नाम-**प्रज्ञापारमितोप-देशशास्त्रम्**।" उत्तरतन्त्र के समान ही इसमें 'शून्यता' एवं अद्वयता का प्राधान्य है। यह स्मरणीय है कि इसे योगाचार-माध्यमिकस्वातन्त्रिक कहा गया है[४७]। इसका आधार स्पष्ट ही प्रज्ञापारमितासूत्र थे[४८]। मध्यान्तविभाग के प्रतिकूल इसमें त्रि-स्वभाव अथवा आलयविज्ञान की चर्चा नहीं है। दूसरी ओर 'योगाचार' (=योगचर्या) की दृष्टि से इसका महत्त्व स्पष्ट है। समस्त ग्रन्थ का मुख्य तात्पर्य 'अभिसमय' अथवा तत्त्व-साक्षात्कार का विवरण है। प्रकारान्तर से कहा जा सकता है कि **अभिसमया-लंकार** में एक बोधिसत्त्वाभिधर्म की मातृका संगृहीत है।

४३—वही, पृ० १२४; तु० रत्नगोत्रविभाग (सं० जॉन्स्टन), पृ० ७–८।

४४—ए० ओ०, पृ० १३१।

४५—रत्नगोत्रविभाग, पृ० ४०–४३।

४६—ए० ओ० पृ० १६६।

४७—वही, पृ० ८३; तु० ओबरमिलर, एनालिसिस ऑव दि अभिसमयालंकार, (फैस्क–१), पृ० ii।

४८—द्र०—ऊपर।

हरिभद्र के अनुसार भगवान् मैत्रेय ने स्वयं प्रज्ञापारमितानय पर **अभिसमयालंकार** नाम से स्फुटतर कारिकाओं की रचना की। असंग, वसुबन्धु तथा विमुक्तिसेन ने क्रमशः इनकी व्याख्या की[४९]। विमुक्तिसेन की **अभिसमयालंकार-व्याख्या** का संस्कृत मूल भी विदित है[५०]।। हरिभद्र का **आलोक** माध्यमिक दृष्टि से लिखा गया है तथा विज्ञानवाद का विरोधी है।[५१] **अभिसमयालंकार** में अत्यन्त संक्षिप्त २७३ कारिकाएँ है जिनमें एक प्रकार से विषय-निर्देश मात्र किया गया है।

बुद्धिमान् लोग सर्वाकारज्ञता का मार्ग देखें तथा सूत्रार्थ का स्मरण कर दशात्मिका धर्मचर्या को सुख से प्रतिपन्न हों, यही **अभिसमयालंकार** का प्रयोजन ग्रन्थारम्भ में ही कहा गया है। इसके अनन्तर समस्त ग्रन्थ का पिण्डार्थ-निर्देश किया गया है—आठ पदार्थों के द्वारा प्रज्ञापारमिता समुदीरित है—सर्वाकारज्ञता, मार्गज्ञता, सर्वज्ञता, सर्वाकाराभिसम्बोध, मूर्धप्राप्ताभिसमय, अनुपूर्वाभिसमय, एकक्षणाभिसम्बोध, तथा धर्मकाय। समस्त ग्रन्थ इन्हीं आठ अभिसमयों में विभक्त है। पहले तीन पदार्थ सर्वज्ञता के प्रभेद हैं। इनके अनन्तर चार पदार्थ सर्वज्ञता के उपायभूत हैं (चत्वारः प्रयोगाः)। अन्तिम पदार्थ मार्ग का चरम फल है।

सर्वाकारज्ञता के मार्ग में १० पदार्थ बोध्य हैं—बोधिचित्तोत्पाद अववाद, निर्वेधांग, प्रतिपत्त्याधार, प्रतिपत्त्यालम्बन, प्रतिपत्त्युद्देश, सन्नाहप्रतिपत्ति, प्रस्थान-प्रतिपत्ति, सम्भारप्रतिपत्ति, तथा निर्याणप्रतिपत्ति। बोधि–चित्तोत्पाद के विभिन्न प्रभेदों के लिए २२ उपमान प्रस्तुत किये गये हैं जिनका उल्लेख असंग ने **महायानसूत्रालंकार** में भी किया है तथा उनके मूल के लिए **अक्षयमतिसूत्र** का निर्देश किया है। इस प्रसंग में दूसरा पदार्थ 'अववाद' अथवा उपदेश है जिसके १० प्रभेद बताये गये हैं—प्रतिपत्त्यववाद, चतुःसत्य०, रत्नत्रय० (=बुद्ध, धर्म, संघ), असक्ति०, अपरिश्रान्ति०, प्रतिपत्सम्परिग्रह, पंचचक्षुः० (=मांसचक्षुः, दिव्य०, प्रज्ञा०, धर्म०, बुद्ध०), अभिज्ञा०,

४९—अभिसमयालंकारालोक (सं० तुचि), पृ० १।

५०—एडवर्ड कौन्ज़, अभिसमयालंकार, पृ० २।

५१—द्र० "ये तु धर्मधातुमेव सदा विशुद्धमद्वयं ज्ञानमालम्बनं मन्यन्ते तैः सदा विशुद्धत्वादुत्तरोत्तरविशुद्धिविशेषगमनं कथमिति वक्तव्यम्।" अधातु-कनकाकाशशुद्धिवच्छुद्धिरिष्यते" इतिचेत्। एवं तर्हि शुद्धं तात्त्विकं ज्ञानमिति प्रतिपक्षाभिनिवेशादर्थाक्षिप्तो विपक्षाभिनिवेशः। (अभिसमयालंकारालोकः पृ० ७७)।

दर्शनमार्ग०, भावनामार्ग० । संघरत्न के निरूपण में बीस प्रकार के आर्य समुल्लिखित हैं—श्रद्धानुसारी से लेकर प्रत्येक बुद्ध तक ।

चार निर्वेधभागीय अंग सत्य-दर्शन के समीप लौकिक भावना मार्ग की चरम स्थितियाँ हैं[५२]। इनमें बुद्ध और बोधिसत्त्वों का श्रावकों और प्रत्येक बुद्धों की अपेक्षा वैशिष्ट्य आलम्बन, आकार, हेतु, सम्परिग्रह एवं 'चतुर्विकल्पसंयोग' के कारण होता है। उदाहरण के लिए अनित्यता आदि लक्षणों के आलम्बन होने पर बोधिसत्त्व उन्हें वस्तुगत मान कर अभिनिविष्ट नहीं होते। वे रूपादि स्कन्धों के उदय-व्यय को प्रज्ञप्तिमात्र मानते हैं। चार निर्वेधांग इस प्रकार हैं—ऊष्मगतावस्था, मूर्धावस्था, क्षान्त्यवस्था, तथा लौकिकाग्रधर्म। इनमें प्रत्येक त्रिविध हैं—मृदु, मध्य, अधिमात्र। ऊष्मगत अथवा आलोकलब्ध नाम की समाधि में चित्तमात्रता का ईषत्स्पष्टज्ञान होता है। मूर्धावस्था में यही ज्ञान मध्यस्पष्ट होता है। क्षान्त्यवस्था में विज्ञप्तिमात्रता का स्फुट बोध होता है। इसके अनन्तर ग्राह्यानुपलब्धि के सहारे विज्ञप्तिमात्र अथवा ग्राहक की भी अनुपलब्धि लौकिकाग्रधर्म में होती है। इन अवस्थाओं में अभी बोधिसत्त्व अधिमुक्तिचर्याभूमि में विद्यमान पृथग्जन ही रहता है, किन्तु दृढ़ अधिमुक्ति अथवा निष्ठा के कारण अनेक गुणों से युक्त होता है।

महायानिक प्रतिपत्ति का आधार बोधिसत्त्व का प्रकृतिस्थ गोत्र है जो वस्तुतः धर्मधातु से अभिन्न होते हुए भी संवृत्या १३ प्रकार का निर्दिष्ट है। ये गोत्र विभेद ४ निर्वेधांग, लोकोत्तर दर्शन एवं भावना मार्ग, प्रतिपक्षोत्पाद-विपक्षनिरोध, तत्संयुक्त विकल्पापगम, संसार एवं निर्वाण में अप्रतिष्ठित प्रज्ञा एवं करुणा, श्रावकासाधारण धर्म, परार्थानुक्रम, तथा आसंसार निर्निमित्त एवं अनाभोग परकार्यज्ञान के आधार निरूपित होते हैं। यह स्मरणीय है कि गोत्रभेद वास्तविक न होकर औपाधिक है—

"धर्मधातोरसम्भेदाद्गोत्रभेदो न युज्यते ।
आधेयधर्मभेदात्तु तद्भेदः परिगीयते ॥" (१.४०)

प्रतिपत्ति के आलम्बन सर्वधर्म हैं जो अनेकधा वर्गीकृत हैं। उसके उद्देश तीन हैं—सर्वसत्त्वाग्रता, प्रहाण, एवं अधिगम। आलम्बन और उद्देश में ऐसा ही सम्बन्ध है जैसा शरसन्धान और लक्ष्यवेध में। उद्देश की निष्पत्ति के लिए प्रतिपत्ति अभिहित है। प्रतिपत्ति सर्वज्ञता की ओर समुद्दिष्ट तथा षट्पारमिताओं में अधिष्ठित क्रिया है। सन्नाहप्रतिपत्ति एवं प्रस्थानप्रतिपत्ति 'प्रयोगात्मक' हैं तथा सम्भारभूमि एवं अधिमुक्ति-

५२—द्र०—अभिधर्मकोश, ६.१७—२० ।

चर्याभूमि में संगृहीत हैं। अर्थात् ये आर्य भूमि में प्रवेश के लिए उपकारी हैं। सम्भारप्रतिपत्ति दया से प्रारम्भ कर धारणीपर्यन्त साक्षात् प्रयोजक है तथा अधिमात्र अग्रधर्म में संगृहीत है। पहली अथवा प्रमुदिता भूमि में सम्भारप्रतिपत्ति दर्शन-मार्गात्मिका है। द्वितीयादि भूमि में वह भावना मार्गस्वभावा है। निर्माण-प्रतिपत्ति भावना-मार्ग में अधिष्ठित है। अन्तिम धर्मकाय के अभिसमय में 'क्रिया' नहीं होती। यह उल्लेखनीय है कि सम्भारप्रतिपत्ति के प्रसंग में दस भूमियों का विवरण दिया हुआ है।

सर्वाकारज्ञता की प्राप्ति के लिए मार्गज्ञता की प्राप्ति आवश्यक है। श्रावक, प्रत्येक बुद्ध तथा बोधिसत्त्व के मार्गों का अनित्यादि आकारतः ज्ञान होता है। प्रत्येक-बुद्ध-मार्ग में ग्राह्यप्रहाण, किन्तु ग्राहकाप्रहाण के द्वारा श्रावकों की तुलना में वैशिष्ट्य है। प्रत्येक बुद्ध बिना शब्द के ही उपदेश करने में समर्थ हैं। बोधिसत्त्वों का दर्शनमार्ग प्रज्ञापारमिता ही है। चतुःसत्यों में प्रत्येक के विषय में धर्मज्ञानक्षान्ति, धर्मज्ञान, अन्वयज्ञानक्षान्ति, तथा अन्वयज्ञान इस प्रकार चतुर्धा ज्ञान होने के कारण यह १६ चित्तक्षणों में निष्पन्न होता है। भावनामार्ग सास्रव और अनास्रव है। सास्रव में अधिमुक्ति, परिणामना, तथा अनुमोदना संगृहीत हैं, अनास्रव में अभिनिर्हार तथा अत्यन्त-विशुद्धि। परिणामना के अर्थ हैं समस्त पुण्यों को सम्बोधि के उपकारक की कोटि मे प्रदान करना। उपायकौशल के द्वारा सांवृत दृष्टि से अपने और दूसरों के कुशलमूलों को अनुमोदित करना ही अनुमोदना है। अभिनिर्हार का स्वभाव सर्वज्ञता अथवा स्कन्ध-नैरात्म्य का यथाभूत ज्ञान है तथा उसकी श्रेष्ठता प्रज्ञापारमिता की है जिसके विना बुद्धत्व अप्राप्य है। बुद्धसेवा, षट्पारमिताएँ तथा उपायकौशल अत्यन्तविशुद्धि के लिए अधिमोक्ष में उपकारक हैं। विशुद्धि के प्रतिपक्ष हैं—माराधिष्ठान, गम्भीर-धर्मता में अधिमुक्ति का अभाव, स्कन्धादि में अभिनिवेश, तथा पाप-मित्र-परिग्रह। विशुद्धि का स्वभाव स्कन्धों में आत्मात्मीय भाव के टूटने पर उनकी मायोपमता का बोध है। श्रावकों की विशुद्धि क्लेशावरण के प्रहाण से होती है, प्रत्येक बुद्धों की विशुद्धि क्लेशावरण तथा ग्राह्यविकल्पात्मक ज्ञेयावरण के एक देश के प्रहाण से, बोधिसत्त्वों की यानत्रय के मार्गावरण के प्रहाण से, तथा बुद्ध को आत्यन्तिक विशुद्धि समस्त क्लेशावरण एवं ज्ञेयावरण के प्रहाण से होती है।

सर्वज्ञता का अर्थ है सर्ववस्तुपरिज्ञान। यह द्विविध है—फलभूत प्रज्ञा का आसन्न वस्तुज्ञान तथा फलभूत प्रज्ञा का दूरीभूत वस्तुज्ञान। इनमें पहला महायानोचित करुणा से युक्त है, दूसरा धर्मों को पृथक् सत्ता मानता है। प्रज्ञा न संसार में और न निर्वाण में प्रतिष्ठित है। अतीतानागत प्रत्युत्पन्न धर्मों को अनुत्पन्न समझने के कारण उसके लिए सब समान हैं। श्रावकों द्वारा शून्यता एवं करुणा के अग्रहण के कारण प्रज्ञा उनसे

दूरीभूत है। किन्तु बोधिसत्त्वों के उपायकौशल के वह आसन्न है। उसकी प्राप्ति के लिए विपक्ष-परिहार आवश्यक है—स्कन्ध शून्यता विषयक, त्रैयध्विक धर्मों के विषय में, बोधिपक्षों के विषय में, अर्थात् उन्हें वास्तविक समझना परिहार्य है। इस परिहार के लिए दानादि में अनहंकार, औरों का उसमें नियोजन, तथा संग का निषेध आवश्यक हैं। बुद्धादि विषयक आसक्ति भी पुण्यात्मक एवं सूक्ष्म होते हुए भी अन्ततः परिहार्य है। सब धर्म स्वभाव से ही विविक्त अथवा संगरहित हैं। उनके स्वभाव की अद्वयता का ज्ञान ही संगवर्जन है। धर्मस्वभाव दुर्बोध और अचिन्त्य है। इस ज्ञान की प्राप्ति के लिए श्रावकों की चर्या के दशविध प्रयोग तथा बोधिसत्त्वों का षोडशक्षणिक दर्शन-मार्ग अभिहित है।

सर्वकाराभिसम्बोध में 'वस्तुज्ञान के प्रकारों' को आकार कहा गया है। अर्थात नाना आलम्बनों को वास्तविक समझनेवाली दृष्टियों के ये आकार प्रतिपक्षभूत हैं। सर्वज्ञता के त्रिविध होने के कारण ये आकार भी त्रिविध हैं। सर्वज्ञता के २७ आकार हैं जिनमें प्रथम तीन सत्यों में प्रत्येक से ४ आकार सम्बद्ध हैं, मार्गसत्य से १५। इन १५ में ४ क्लेशावरण-प्रतिपक्ष हैं, ११ ज्ञेयावरणप्रतिपक्ष। मार्गज्ञतासम्बन्धी ३६ आकार हैं, तथा सर्वाकारज्ञता-सम्बन्धी ११०, जिनमें श्रावकों के ३७, बोधिसत्त्वों के ३४, तथा बुद्धों के ३९ हैं। ये आकार विशिष्ट प्रयोगों से भावनीय हैं। इस भावना में अधिकार के लिए अतीत बुद्धों की सेवा, कुशलमूलसंग्रह, कल्याणमित्र आदि आवश्यक हैं। भावना के प्रयोग अनेकविध हैं, यथा रूपादि स्कन्धों में अनवस्थान तथा उनकी ओर उदासीनता। यहाँ पर २० प्रयोगों की आनुपूर्वी दी हुई है। इस भावना से १४ प्रकार के गुण प्राप्त होते हैं यथा मार की शक्तिहानि आदि। ४६ प्रकार के दोष इस प्रसंग में परिहार्य हैं। इसके अनन्तर ज्ञान, विशेष, कारित्र तथा स्वभाव के लक्षण संगृहीत हैं। प्रत्येक प्रकार की सर्वज्ञता में १६ प्रकार के ज्ञान समुच्चित हैं। बोधिसत्त्वयान की विशेषता भी १६ प्रकार की है। बोधिसत्त्व की क्रिया के ११ लक्षण दिये हुये हैं। भावना का स्वभाव १६ लक्षणों से प्रतिपादित है।

इस सर्वाकारावबोध में अनिमित्तग्राही ज्ञान तथा दानादि बुद्ध धर्मों के प्रादुर्भाव से समुदागम कौशल मोक्षभागीय कहा जाता है। यह पाँच प्रकार का है—बुद्धादि में श्रद्धा, दानादि में वीर्य, हिताशेय-सम्पादन रूप स्मृति, अविकल्पनात्मक समाधि, तथा धर्मों का सर्वाकारज्ञान रूप प्रज्ञा। इसके अनन्तर निर्वेधभागीयों की चर्चा है। शैक्षमार्ग के अतिक्रमण के पश्चात् बोधिसत्त्व सब धर्मों को स्वप्नोपम देख कर संसार और निर्वाण की समता का बोध प्राप्त करता है।

मूर्धाभिसमय में बोधिसत्त्व के दर्शनमार्ग एवं भावनामार्ग का विस्तृत वर्णन उपलब्ध होता है। मतों के क्षयज्ञान तथा अनुत्पादज्ञान को ही बोधि कहा गया है। इनकी प्राप्ति यथाक्रम अभिहित है। ज्ञेयावरण का क्षय ही समस्त चर्या का अन्त है। धर्मों की वास्तविक सत्ता होने पर इस प्रकार का आवरणक्षय असम्भव है। वस्तुतः इस समस्त साधना में न कुछ अपनेय है, न कुछ आक्षेप्तव्य; वस्तुतत्त्व को तत्त्वतः देखना ही कर्तव्य है। इस यथार्थज्ञान से ही मुक्ति होती है।

अनुपूर्वाभिसमय में दानादि पारमिताओं तथा बुद्धादि अनुस्मृतियों का उल्लेख है। इसमें व्यस्त और समस्त रूप से पूर्व-अधिगत धर्मों का आनुपूर्वी से अभिसमय किया जाता है।

एक क्षण मे सब धर्मों के अभिसम्बोध को एकक्षणाभिसमय कहा गया है। इसकी चार अवस्थाएं निरूपित है। पहली में सब (अविपाक) अनास्रवधर्मों का एक दाना-दिज्ञान में तत्क्षण अवबोध सिद्ध होता है। जब प्रतिपक्षहानि से बोधिसत्त्व की अवस्था केवल वैयवदानिक विपाकधर्मता के कारण सर्वथा शुक्लस्वभाव होती है तब समस्त विपाक प्राप्त अनास्रव धर्मों का एक क्षण में ज्ञान होता है। यही प्रज्ञापारमिता है। तीसरी अवस्था में धर्मों के अलक्षणत्व का तथा चौथी में उनके अद्वय तत्त्व का एकक्षणा-भिसमय सम्पन्न होना है।

सर्वथा विशुद्धि को प्राप्त अनास्रव धर्म ही बुद्ध की स्वाभाविक काय हैं। ३७ बोधिपक्ष, ४ अप्रमाण, ८ विमोक्ष, ९ समापत्ति, १० कृत्स्न, ८ अभिभ्वायतन, १० बल, ४ वैशारद्य, ३ अरक्षण, ३ स्मृत्युपस्थान, ३ असंमोषधर्मता, वासना समुद्घात, महाकरुणा, १८ आवेणिक धर्म, तथा सर्वाकारज्ञता—ये धर्मकाय में संगृहीत हैं। साम्भोगिक काय ३२ लक्षण और ८० व्यंजनों से युक्त है। आसंसार जिस काय से बुद्ध जगद्धित का सम्पादन करते हैं वह निर्माणकाय है। इनमें पहली स्वाभाविक काय पारमार्थिक, शेष तीन तथ्यसंवृति के रूप में प्रतिभासित होती हैं तथा अधिकारियों को उनसे आध्या-त्मिक साहाय्य प्राप्त होता है।

असंग योगाचार सम्प्रदाय के प्रवर्तक के रूप में असंग का नाम प्रायः प्रसिद्ध है। इनके अनेक ग्रन्थ केवल चीनी अनुवाद में अवशिष्ट हैं, यथा—**महायानसम्परिग्रह, प्रकरण-आर्यवाचा, "महायानाभिधर्म-संगीति-शास्त्र"** (वस्तुतः नन्जियो ११९९ ता० शेङ्-अ-फि-ता-मो-छि-लुन्-का संस्कृत अनुवाद **"अभिधर्मसमुच्चय"** होना चाहिए) तथा **वज्रच्छेदिका पर एक व्याख्या**। परमार्थ के द्वारा वसुबन्धु की चीनी में उपलब्ध जीवनी के अनुसार पुरुषपुर के एक कौशिक गोत्र के ब्राह्मण परिवार में असंग, वसु-बन्धु एवं विरिंचिवत्स नाम के तीन भाई उत्पन्न हुए थे। प्रारम्भ में तीनों सर्वास्ति-

वाद के अनुयायी थे। इस विवरण के अनुसार असंग ने वसुबन्धु को वृद्धावस्था में महायान की ओर प्रवर्तित किया था। बुदोन के अनुसार प्रसन्नशीला नाम की ब्राह्मणी तथा एक क्षत्रिय से असंग की उत्पत्ति हुई थी। उसी ब्राह्मणी तथा अन्य ब्राह्मण से कालान्तर में वसुबन्धु उत्पन्न हुए थे। वसुबन्धु कश्मीर में संघभद्र नाम के आचार्य के पास शिक्षा के लिए गये। असंग ने मैत्रेय की सहायता प्राप्त करने के लिए कुक्कुट-पाद पर्वत की गुहा में चिरकाल तक उनके प्रसादन का प्रयत्न किया। १२ वर्ष के अनन्तर उन्हें मैत्रेय का दर्शन प्राप्त हुआ। मैत्रेय के पूछने पर असंग ने यह बताया कि वे महायान के प्रचार के लिए ज्ञान चाहते हैं। मैत्रेय के साथ वह तुषित लोक गये जहाँ देव-गणना से उन्होंने एक क्षण निवास किया। यह एक क्षण मानव पचास वर्षों के बराबर है। योगचर्या-भूमि के व्याख्याता के अनुसार वे तुषित लोक में छः महीने रहे थे और मैत्रेय से शिक्षा प्राप्त की थी। इस प्रकार असंग ने प्रतीत्यसमुत्पादसूत्र, योगचर्या, तथा अन्य महायान सूत्रों का परिशीलन किया। इसके अनन्तर उन्हें मैत्रेय के द्वारा विरचित पाँच ग्रन्थों की प्राप्ति हुई। हरिभद्र ने भी इसका उल्लेख किया है कि असंग ने मैत्रेय से सीखा तथा यही परम्परा पीछे वसुबन्धु के द्वारा अग्रसर हुई। अभयाकरगुप्त की मर्मकौमुदी में भी इस प्रकार का उल्लेख प्राप्त होता है। मनुष्यलोक में लौट आने पर असंग ने महायानसम्बन्धी अपना प्रसिद्ध ग्रन्थ लिखा, जिसका संक्षेप उन्होंने **अभिधर्मसमुच्चय** में संगृहीत किया। **तत्त्वविनिश्चय** तथा **उत्तरतन्त्र** एवं **संधिनिर्मोचन-सूत्र** पर व्याख्याएँ भी उन्होंने लिखीं। उन्होंने बोधि-सत्त्वों की तीसरी भूमि प्राप्त की थी।

असंग की कृतियों में **महायानसम्परिग्रह, अभिधर्मसमुच्चय** तथा **योगाचार-भूमिशास्त्र** का योगाचार-सम्प्रदाय के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। **महायान-सम्परिग्रह** का चीनी में बुद्धशान्त ने ई० ५३१ में, परमार्थ ने ई० ५६३ में तथा श्वान्-च्वांग ने ई० ६४८–४९ में अनुवाद किया। परमार्थ के अनुवाद के आधार पर "शै-लुन्" अथवा "सम्परिग्रह" सम्प्रदाय का चीन में प्रवर्तन हुआ जोकि वहाँ योगाचार विज्ञानवाद का पूर्वरूप था। **महायानसम्परिग्रह** में १० पदार्थों का विवरण है—आलय विज्ञान अथवा मूलविज्ञान, विज्ञप्तिमात्रता अथवा त्रिस्वभाव, विज्ञप्तिमात्रता का अवबोध, ६ पारमिताएँ, १० भूमियाँ, शील, समाधि, प्रज्ञा अविकल्पज्ञान, तथा त्रिकाय। आलयविज्ञान में क्लिष्ट और अक्लिष्ट बीजों का संग्रह है जिनकी कारण-शक्ति से बहिर्मुख विज्ञान-प्रवाह प्रवृत्त होता है। इस विज्ञान-प्रवाह में ग्राह्यग्राहक भेदयुक्त एक परिकल्पित जगत् प्रतिभासित होता है। सम्बोधि की ओर अभिमुख

होने से ही चित्त विशुद्ध होता है तथा विकल्प एवं क्लेश से मुक्ति पाता है। अविकल्प ज्ञान में ही परिनिष्पन्न लक्षण तथा अप्रतिष्ठित निर्वाण की प्राप्ति होती है। आलय विज्ञान ही विशुद्ध एवं परावृत्त होने पर तथता से अभिन्न है।[53] इस अवस्था में उसे अमलविज्ञान अथवा नवमविज्ञान कहा गया है।

बुदोन के अनुसार **अभिधर्मसमुच्चय** में त्रैयानिक सिद्धान्तों का संग्रह है, किन्तु अभयाकरगुप्त के अनुसार उसे केवल महायान ग्रन्थ मानना चाहिए। **अभिधर्मसमुच्चय** में **"महायानाभिधर्मसूत्र"** का उल्लेख मिलता है। स्पष्ट ही महायानी अभिधर्म के प्रभाव से मुक्त नहीं थे। एक ओर नागार्जुन के **"महाप्रज्ञापारमिताशास्त्र"** तथा मैत्रेय के **"अभिसमयालंकार"** में **प्रज्ञापारमितासूत्रों** के आधार पर एक विलक्षण "अभिधर्म" की रचना का प्रयास है; दूसरी ओर असंग तथा वसुवन्धु की रचनाओं में सर्वास्तिवाद की अभिधर्म आवश्यक परिवर्तन के साथ स्वीकार कर लिया गया है। वसुवन्धु का अभिधर्मज्ञान तथा सर्वास्तिवाद में निष्ठा सुविदित है। योगाचार-अभिधर्म में विज्ञानवाद तथा सर्वास्तिवाद के बेमेल जोड़ से अद्वैत वेदान्त तथा सांख्यों के तत्त्वकलाप का संयोग तुलनीय है।

यह स्मरणीय है कि सर्वास्तिवादी अभिधर्म में ७५ पृथक् धर्मों की सत्ता स्वीकार की जाती है—७२ संस्कृत तथा ३ असंस्कृत। संस्कृत धर्मों में ११ रूप, १ चित्त, ४६ चैत्त अथवा चित्तसम्प्रयुक्तसंस्कार, तथा १४ चित्तविप्रयुक्त संस्कार परिगणित हैं। योगाचारसम्मत अभिधर्म में १०० धर्मों का परिगणन किया गया है—९४ संस्कृत तथा ६ असंस्कृत। संस्कृत धर्मों में ११ रूपधर्म, ८ विज्ञान, ५१ चैत्तसिक तथा २४ चित्त-विप्रयुक्त-संस्कार गिने गये हैं। ११ रूप धर्मों में १० सुविदित हैं—५ इन्द्रियाँ तथा उनके ५ विषय। ११वाँ रूपधर्म "धर्मायतनसंगृहीत रूप" है। इसीमें परमाणु अथवा ध्यानरूप का संग्रह होता है। ७ विज्ञान स्थविरवादियों के तथा सर्वास्तिवादियों के परिचित हैं—५ चक्षुरादि इन्द्रियविज्ञान, मनोविज्ञान, तथा मनस्। सर्वास्तिवादी मनस् को शेष ६ विज्ञानों से पृथक् कोटि का नहीं मानते हैं जबकि स्थविर मनोधातु को ६ विज्ञानों से कार्यतः तथा आश्रयतः भिन्न मानते हैं। योगाचार भी स्थविरों के समान मनोधातु को ६ विज्ञानों से भिन्न स्वीकार करते हैं। इन सात के अतिरिक्त योगाचार आलयविज्ञान नाम के अष्टम विज्ञान की सत्ता स्वीकार

५३–यह स्मरणीय है कि कुछ विद्वान् 'परावृत्ति' और 'परिवृत्ति' में सैद्धान्तिक भेद की कल्पना करते हैं।

करते हैं। आलयविज्ञान ही व्यक्तित्व का अनादि एवं अनुच्छिन्न आश्रय है। वही वासना का आलय है तथा मनोगत व्यक्तित्वभान का आलम्बन।

सर्वास्तिवादियों के ४६ चित्तसम्प्रयुक्त संस्कारों के अतिरिक्त योगाचार ५ और स्वीकार करते हैं—अमोह, दृष्टि, मुषितस्मृतिता, असम्प्रजन्य, तथा विक्षेप। सर्वास्तिवादियों के १४ विप्रयुक्तसंस्कारों में "अप्राप्ति" को छोड़कर शेष १३ योगाचारों से स्वीकृत हैं। इनके अतिरिक्त ११ अन्य संस्कार योगाचार-परिगणित हैं—पृथग्जनत्व, प्रवृत्ति, प्रतिनियम, योग, जव, अनुक्रम, काल, देश, संख्या, सामग्री, तथा भेद।

योगाचारसम्मत ६ असंस्कृत धर्म इस प्रकार हैं—आकाश, प्रतिसंख्यानिरोध, अप्रतिसंख्यानिरोध, आनिञ्ज्य, संज्ञावेदयित-निरोध, एवं तथता। इनमें पिछले तीन सर्वास्तिवाद के अविदित हैं। यह उल्लेखनीय है कि **अभिधर्मसमुच्चय** में तथता को त्रिविध कहा गया है—कुशलधर्मतथता, अकुशलधर्मतथता, एवं अव्याकृतधर्मतथता और इस प्रकार ८ असंस्कृत धर्म परिगणित हैं। आकाश रूपाभाव है, अप्रतिसंख्यानिरोध अविसंयोगात्मक निरोध हैं, तथा प्रतिसंख्यानिरोध विसंयोगात्मक निरोध हैं। आनिञ्ज्य की परिभाषा की गयी है—"शुभकृत्स्नवीतरागास्योपर्यवीतरागस्य सुखनिरोधः।" संज्ञावेदयितनिरोध को आकिञ्चन्यायतन के ऊपर "अस्थावर चित्तचैतसिक धर्मों का तथा कुछ स्थावरों" का निरोध कहा गया है। कुशल धर्मतथता नैरात्म्य है। वही शून्यता, अनिमित्त, भूतकोटि, परमार्थ तथा धर्मधातु है। तथता की आख्या अनन्यथाभावता के कारण दी गयी है।

इन सौ धर्मों का स्कन्ध, धातु, तथा आयतन, इन तीन धर्मों में, तथा पाँच "ज्ञेयों" में संग्रह किया जा सकता है। पाँच ज्ञेय उपर्युक्त हैं—रूप, चित्त, चैतसिक, चित्तविप्रयुक्त संस्कार, तथा असंस्कृत। इन धर्मों का तीन लक्षणों में भी संग्रह किया जा सकता है—परिकल्पित लक्षण, विकल्पित लक्षण तथा धर्मतालक्षण। इनमें पहला पुद्गल कल्पना की ओर संकेत करता है, दूसरा स्कन्धादि के प्रसिद्ध लक्षणों की ओर, तथा तीसरा उनके वास्तविक नैरात्म्य की ओर। **योगाचारभूमिशास्त्र** के अनुसार समस्त आन्तरिक तथा बाह्य भूत-भौतिक धर्मों के बीज चित्तसन्तति में सन्निविष्ट हैं। उन्हीं असंस्कृतों की गणना ६ अथवा ८ की जा सकती है। वस्तुतः वही धर्मता अनावरण स्वभाव होने के कारण आकाश, आवरणनिरोध होने के कारण प्रतिसंख्यादिनिरोध, अचल स्वभाव होने के कारण आनिञ्ज्य तथा परमार्थ होने के कारण तथता कही जाती है।

योगाचारभूमिशास्त्र का चीनी नाम **योगाचार्यभूमिशास्त्र** है तथा चीनी परम्परा के अनुसार वह मैत्रेयनाथ की कृति थी। तिब्बती अनुवाद में नाम **"योगचर्या-**

भूमिशास्त्र" हो गया है तथा ग्रन्थकार आर्यासंग कहे गये हैं। इस शास्त्र के पांच खण्ड हैं—बहुभूमिक वस्तु, निर्णय-अथवा विनिश्चय-संग्रह, वस्तुसंग्रह, पर्यायसंग्रह, तथा विवरणसंग्रह। बहुभूमिक वस्तु में १७ योगाचार-भूमियों का पुरुष, चर्या तथा फल की दृष्टि से विवरण है। पहली भूमि (१) पंचविज्ञान-काय-सम्प्रयुक्त है, दूसरी (२) मनोभूमि है। ये दो समस्त साधना की आधार हैं। (३) सवितर्का-सविचारा, (४) अवितर्का-विचारमात्रा, तथा (५) अवितर्काअविचारा, ये तीन भूमियाँ साधन के मुख्य भेद प्रदर्शित करती हैं। (६) समाहिता तथा (७) असमाहिता, (८) सचित्ता तथा अचित्ता भूमियाँ विभिन्न अवस्थाएं हैं। (१०) श्रुतमयी (११) चिन्तामयी तथा (१२) भावनामयी भूमियाँ चर्या का निर्देश करती हैं। त्रियान तथा द्विविध निर्वाण फल हैं एवं तद्विषयक भूमियाँ (१३) श्रावक भूमि, (१४) प्रत्येक-बुद्ध भूमि (१५) बोधिसत्त्वभूमि (१६) सोपधिका भूमि तथा (१७) निरुपधिका भूमि कही गयी हैं। ये १७ भूमियाँ ही संक्षेपतः योगाचार-भूमि हैं। सोपधिशेष निर्वाण में परिशुद्ध विज्ञान को कायसहित अवशिष्ट कहा गया है। निरुपधिशेष निर्वाण में विज्ञान अपरिशेष निरुद्ध हो जाता है। यही निर्वाण-धातु अत्यन्तशान्त पद है जिसके लिए साधना का जीवन स्वीकार किया जाता है।

निर्णयसंग्रह प्रथम खण्ड पर व्याख्या के तुल्य है। वस्तुसंग्रह में बहुभूमिक में उल्लिखित विषयों के पिटकानुसार संग्रह का निर्देश है। पर्यायसंग्रह मे नामानुकूल विभिन्न विषयों के विशेषतः सांक्लेशिक तथा वैयवदानिक धर्मो के पर्याय दिये गये हैं। विवरण संग्रह में पूर्वोक्त शिक्षाक्रम का विस्तार है।

यह स्मरणीय है कि इस ग्रन्थ के प्रथम खण्ड का १५वाँ परिच्छेद—बोधिसत्त्व-भूमि—महायानचर्या के लिए अतिशय महत्त्व का है। समस्त ग्रन्थ मानो एक महा-यानाभिधर्म-कोश तथा विश्वकोश का संमिश्रण है। योगाचार का यह प्रमाणभूत शास्त्र है।

वसुबन्धु—ऊपर कहा जा चुका है कि परमार्थ के अनुसार वसुबन्धु असंग के अनुज थे तथा पुरुषपुर के एक ब्राह्मण परिवार में उत्पन्न हुए थे। बुदोन के अनुसार उन्होंने कश्मीर मे वैभाषिक आचार्य संघभद्र से शिक्षा प्राप्त की। परमार्थ ने उनके गुरु का नाम बुद्धमित्र तथा श्वान्च्वांग ने मनोरथ बताया है। सांख्य आचार्य विन्ध्य-वास के द्वारा बुद्धमित्र अथवा मनोरथ के बाद में पराजित होने पर विन्ध्यवास के विरोध मे वसुबन्धु ने **परमार्थसप्तति** नाम के ग्रन्थ की रचना की। विक्रमादित्य नाम के राजा ने वसुबन्धु को आश्रय प्रदान किया तथा सम्भवतः उसके राज्यकाल

में वसुवन्धु ने अपने प्रसिद्धतम ग्रन्थ '**अभिधर्मकोश**' की रचना की। विक्रमादित्य के पुत्र बालादित्य के वे शिक्षक थे तथा राज्य में अभिषिक्त होने पर बालादित्य ने उन्हें अपने पास अयोध्या बुला लिया जहाँ वे ८० वर्ष की अवस्था तक जीवित रहे। वसुरात नाम के वैयाकरण के आक्षेपों का उन्होंने परिहार किया, किन्तु वैभाषिक आचार्य संघभद्र के साथ वाद को वृद्धावस्था के कारण अस्वीकार कर दिया। "अभिधर्मकोश" में वसुवन्धु की सौत्रान्तिक प्रवृत्ति प्रकट है। किन्तु असंग के अनुरोध से उन्होंने महायान को स्वीकार किया तथा योगाचार सम्प्रदाय में दार्शनिक विज्ञानवाद को निश्चित एवं शास्त्रीय रूप प्रदान किया। विज्ञानवाद की दृष्टि से वसुवन्धु की प्रधान रचनाएँ **मध्यान्तविभागसूत्रभाष्य, त्रिस्वभावनिर्देश, विज्ञप्तिमात्रताविंशतिका,** तथा **त्रिंशिका** हैं। बुदोन ने उन्हें **पंचस्कन्धप्रकरण, व्याख्यायुक्ति, कर्मसिद्धिप्रकरण** आदि का रचयिता कहा है। उनके नाम से कुछ अन्य ग्रन्थ भी विदित हैं यथा, **सद्धर्मपुण्डरीकोपदेश, वज्रच्छेदिकाप्रज्ञापारमिताशास्त्र,** आर्यदेव के **शतशास्त्र** की व्याख्या आदि। किन्तु यह सम्भव है कि इन ग्रन्थों के रचयिता एक दूसरे पूर्वाचार्य वसुवन्धु थे।

वसुबन्धु के कालनिर्णय पर विद्वानों में प्रचुर विवाद रहा है। परमार्थ तथा श्वान्च्वांग के विवरण से वसुबन्धु परिनिर्वाण से १,००० अथवा ११०० वर्ष पश्चात् हुए थे। उनके द्वारा स्वीकृत निर्वाण के समय में भेद होने के कारण ये दोनों गणनाएँ वस्तुतः एक ही फल देती हैं, और वह है वसुवन्धु का पाँचवीं शताब्दी ई० में होना। विक्रमादित्य तथा बालादित्य की समकालीनता से यह समर्थित होता है। दिङ्नाग का कालसान्निध्य भी इसी ओर संकेत करता है। पक्षान्तर में यह कहा गया है कि एक परम्परा के अनुसार वसुवन्धु निर्वाण से ९०० वर्ष बाद हुए थे तथा कुमारजीव ने उनके अनेक ग्रन्थों का अध्ययन एवं चीनी अनुवाद किया था। किन्तु इस प्रसंग में यह स्मरणीय है कि यशोमित्र ने एक पूर्वाचार्य वृद्ध अथवा स्थविर वसुबन्धु का उल्लेख किया है। यह सम्भव है कि चतुर्थशतकीय उल्लेख उन्हीं की ओर समुद्दिष्ट हों। ये वृद्ध वसुबन्धु मनोरथ के उपाध्याय थे तथा सम्भवतः उन महायान-ग्रन्थों के प्रणेता थे जिनका कुमारजीव को अनुवादक कहा गया है। किन्तु इनके विषय में अधिक नहीं कहा जा सकता। इन्हें असंग का भाई बताना तथा परमार्थ के वसुबन्धुचरित में दो वसुबन्धुओं का संकर कल्पित करना निराधारप्राय है।

विज्ञानवाद के विकास में वसुबन्धु का स्थान और देन—आर्य मैत्रेय ने मध्य एवं उत्तरकालीन महायान सूत्रों के आधार पर एक प्रकार के "माध्यमिक-योगा-

चार" दर्शन का प्रवर्तन किया। उनकी रचनाओं में **उत्तरतन्त्र** तथा **अभिसमयालंकार** प्रधानतया माध्यमिक हैं, **मध्यान्तविभाग** प्रधानतया योगाचार। किन्तु **मध्यान्तविभाग** में भी विज्ञप्तिमात्रता को पारमार्थिक नहीं माना गया है प्रत्युत् धर्मधातु को शून्यता से अभिन्न कहा गया है। आर्य असंग ने सर्वास्तिवादी प्रभाव से योगाचार-अभिधर्म का विस्तृत प्रतिपादन किया जिसमें आलय-विज्ञान तथा त्रिस्वभाव का विवरण होते हुए भी विज्ञप्तिमात्रता के स्थान पर विविध धर्मलक्षणों का ही प्राधान्य प्रतीत होता है। धर्मों का यथाकथंचित् विज्ञान-संसर्ग ही इस अभिधर्म का विज्ञानवाद कहा जा सकता है। यह स्मरणीय है कि चित्तमात्रता, अष्ट-विज्ञान तथा त्रिस्वभाव का उल्लेख अवतंसक, लंकावतार आदि सूत्रों में भी उपलब्ध होता है। इस "सौत्र विज्ञानवाद" का मैत्रेय एवं असंग की कृतियों में योगचर्या की दृष्टि से प्रचुर विस्तार होते हुए भी विशुद्ध विज्ञानवादी दर्शन के रूप में वास्तविक विकास सर्वप्रथम वसुबन्धु की रचनाओं में ही देखा जा सकता है। वसुबन्धु को ही यथार्थ में विज्ञानवादी दर्शनशास्त्र का प्रवर्तक मानना चाहिए।

सूत्रों में विज्ञप्तिमात्रता को स्वप्न, माया आदि के दृष्टांतों से उपपादित किया गया है। वसुबन्धु ने **विज्ञप्तिमात्रताविंशतिका** में इन दृष्टान्तों की तर्कसंगति तथा बाह्यार्थ-स्वीकार का युक्ति-विरोध प्रकाशित किया है। विज्ञान का अर्थाकार प्रतिभास पूर्वविदित था, किन्तु उसके निश्चित तार्किक समर्थन के द्वारा वसुबन्धु ने योगचर्या के अन्तर्भूत तथा आगमानुसारी एवं अध्यात्मवादी आग्रह को न्यायानुसारी सिद्धान्त का रूप प्रदान किया। **विज्ञप्तिमात्रतात्रिंशिका** में वसुबन्धु ने विज्ञप्तिमात्रता का बाह्यार्थवाद की छाया से अन्धकारित अभिधर्मकान्तार से स्पष्ट उद्धार किया तथा विज्ञप्तिमात्रता का धर्मधातु से अभेद व्यवस्थित किया। अभिधर्मस्वीकृत पंचविध ज्ञेयों के विज्ञानपरिणाम के सिद्धान्त के द्वारा विज्ञानसात्करण में वसुबन्धु ने अपनी पिछली सौत्रान्तिक प्रवृत्ति के प्रकारान्तर से प्रभाव का परिचय दिया है। वसुबन्धु के समय से ही ब्राह्मण-दर्शनों के समक्ष खण्डन-मण्डन-समर्थ प्रौढ़ बौद्ध-दर्शन का अभ्युदय मानना चाहिए।

लंकावतारसूत्र में यह अनेकधा अभिहित है कि चित्तमात्र ही सत्य है, वही वासना के बल से अर्थाकार प्रतिभासित होता है। "स्वचित्तं दृश्यसंस्थानं बहिर्धा ख्यायते नृणाम्। बाह्यं न विद्यते दृश्यमतोऽप्यर्थो न विद्यते॥ अर्थाभासं नृणां चित्तं चित्तं वै ख्याति कल्पितम्। नास्त्यर्थश्चित्तमात्रेयं निर्विकल्पो विमुच्यते॥" बाह्य पदार्थों की प्रतीति ऐसी ही है जैसे माया, स्वप्न, मृगतृष्णा, गन्धर्वनगर अथवा

तैमिरिक-दृष्ट केशादि—"एवं हि दूषिता बालाश्चित्तचैत्तैरनादिकैः । मायामरीचिप्रभवं भावं गृह्णन्ति तत्त्वतः ॥" "इन्द्रियाणि च मायाख्या विषयाः स्वप्नसन्निभाः ।. ." "गन्धर्वनगरं यद्वद्यथा च मृगतृष्णिका । दृश्यं ख्याति तथा नित्यं प्रज्ञया च न विद्यते ।" "मायाहस्ती यथा चित्रं पत्राणि कनका यथा । तथा दृश्यं नृणां ख्याति चित्ते अज्ञानवासिते ।"

इन्हीं सिद्धान्तों एवं दृष्टान्तों के तार्किक समर्थन के द्वारा विज्ञप्तिमात्रताविंशतिका की रचना हुई है।

समस्त जगत् को अनुभव के आधार पर दो भागों में विभक्त किया जा सकता है—ज्ञान एवं ज्ञेय । ज्ञेय पदार्थ ज्ञान के बाहर अवस्थित तथा स्वतन्त्र प्रतीत होते हैं । वस्तुतः यह प्रतीति भ्रान्ति है । ज्ञेय पदार्थ मिथ्या हैं तथा ज्ञानमात्र सत्य है । ज्ञान ही ज्ञेयरूप से प्रतिभासित होता है । यही विज्ञानवाद का मूल सिद्धान्त है ।

पुरानी बौद्ध परम्परा का निर्वाह करते हुए वसुबन्धु "ज्ञान" के स्थान पर "विज्ञान" शब्द का ही प्रयोग करते हैं । उनके लिए विज्ञान, विज्ञप्ति, चित्त एवं मन पर्यायवाची शब्द हैं । चित्त अथवा मन में वेदना आदि मन के धर्म (=चैत्त, चित्तसम्प्रयुक्त संस्कार) संगृहीत हैं ।[५४]

विंशतिका की पहली कारिका में विज्ञप्तिमात्रता का मुख्य सिद्धान्त इस प्रकार प्रतिपादित है—"यह (त्रैधातुक) विज्ञप्तिमात्र है क्योंकि प्रतीति असत् पदार्थों की होती है जैसे तिमिररोगी को अविद्यमान केश अथवा चन्द्रमा का दर्शन ।"[५५] इस

**५४—"चित्तं मनोविज्ञानं विज्ञप्तिश्चेति पर्यायाः ।
चित्तमत्र ससम्प्रयोगमभिप्रेतम् ॥" (विंशतिका)**

**५५—"विज्ञप्तिमात्रमेवैतदसदर्थावभासनात् ।
यथा तैमिरिकस्यासत्केशचन्द्रादिदर्शनम् ॥" (वही, का० १)
"असदर्थावभासन" "असत्ख्याति" का द्योतक न होकर वस्तुतः "आत्मख्याति" का द्योतक है । तु०—भामती, पृ० ११ "विज्ञानवादिनामपि यद्यपि न बाह्यं वस्तुसत्ताप्यनाद्यविद्यावासनारोपितमलीकं बाह्यं तत्र ज्ञानाकारस्यारोपः ॥" "अवभासन" पद पर तु०—"अवभासपदं च समीचीनेऽपि प्रत्यये प्रसिद्धं, यथा नीलस्यावभासः पीतस्यावभास इति ।" (वही, पृ० ७–८) ।**

उक्ति को प्रमाणित करने के लिए वसुबन्धु माहायानिक आगम का उद्धरण देते हैं।[५६] यद्यपि यह प्रसिद्ध है कि बौद्ध आचार्य केवल दो प्रमाण मानते थे—प्रत्यक्ष तथा अनुमान—तथापि इस प्रसिद्धि के विपरीत प्राचीन योगाचार मत में आगम को भी प्रमाण माना जाता था।[५७] अथच इस कारिका में प्रतीयमान विषयों का मिथ्यात्व विज्ञप्तिमात्रता की प्रतिज्ञा के लिए हेतुरूप से उपन्यस्त प्रतीत होता है तथा इसे "स्वभावानुमान" कहा जा सकता है।[५८] किन्तु वस्तुतः वह विज्ञप्तिमात्रता का हेतु न होकर उसके अर्थ का विशदीकरण है क्योंकि "विज्ञप्तिमात्र" पद में "मात्र" स्वयं बाह्य पदार्थों का प्रतिषेध करता है।[५९]

विज्ञप्तिमात्रता का सिद्धान्त समस्त अनुभव को भ्रान्ति अथवा स्वप्न के समान निरालम्ब घोषित करता है। यह साहसमात्र न होकर एक न्यायसंगत सिद्धान्त है, यह दिखलाने के लिए वसुबन्धु दूसरी कारिका में अपने मत के विरोध में चार शंकाएँ प्रकट कर दो अन्य कारिकाओं से उनका उत्तर देते हैं।

शंका—"यदि बाह्य अर्थ के बिना ही विज्ञान की उत्पत्ति होती है तो उसमें देश और काल के नियम, चित्तसन्तति का अनियम, तथा व्यवहारसामर्थ्य युक्त नहीं है।" (कारिका–२)

समाधान—"देश आदि का नियम स्वप्नवत् सिद्ध है। चित्तसन्तति का अनियम प्रेतवत् सिद्ध है क्योंकि सभी (प्रेत) कुत्सित-नदी आदि की उपलब्धि करते हैं। व्यवहारसामर्थ्य "स्वप्नोपघात"[६०] के समान तथा नरकवत् सिद्ध हैं। नरकपाल आदि

५६–"चित्तमात्रं भो जिनपुत्रा यदुत त्रैधातुकमितिसूत्रात्।" (विंशतिका)

५७–द्र०—तुचि—डॉक्ट्रिन्स ऑव मैत्रेयनाथ एण्ड असंग।

५८–तु०—भामती, पृ० २८०—"यो यः प्रत्ययः स सर्वोबाह्यानालम्बनो यथा स्वप्नमायादिप्रत्ययस्तथा चैष विवाध्यासितः प्रत्यय इति स्वभावहेतुः। बाह्यानालम्बनता हि प्रत्ययत्वमात्रानुबन्धिनी वृक्षतेवशिंशपात्वमात्रानुबन्धिनीति तन्मात्रानुबन्धिनी निरालम्बनत्वे साध्ये भवति प्रत्ययस्य स्वभावहेतुः" इस अनुमान में व्याप्तिवाक्य स्वभावकथन (=एनालिटिकल जजमेन्ट) हो जाता है। किन्तु इस प्रकार का स्वभाव लोकप्रसिद्ध नहीं है। शबरभाष्य में भी प्रत्ययत्व को स्वप्नवत् निरालम्बनत्व में हेतु दिया गया है (पृ० ८–१०)।

५९–"मात्रमित्यर्थप्रतिषेधार्थम्।" (विंशतिका, वहीं)

६०–स्वप्ने द्वयसमापत्तिमन्तरेण शुक्रविसर्गलक्षणः स्वप्नोपघातः।" (वही)

के दर्शन से तथा उनके द्वारा पीडन के अनुभव से सभी (चारों)[६१] सिद्ध हैं।" (कारि-काएँ–३–४)[६२]

दूसरी कारिका में भ्रान्ति तथा सत्य अनुभव में चार भेद प्रकाशित किये गये हैं। भ्रान्ति में देशगत एवं कालगत नियम नहीं होते; भ्रान्ति व्यक्तिसापेक्ष होती है, सार्वजनिक नहीं; तथा भ्रान्ति के आलम्बनों से कोई वास्तविक कार्य सिद्ध नहीं हो सकता। कहीं भी और किसी भी समय किसी वस्तु की भ्रान्त प्रतीति सम्भव है; किन्तु उसका वास्तविक प्रत्यक्ष विशिष्ट देश एव विशिष्ट काल की अपेक्षा रखता है। मरुस्थल में नदी की भ्रान्ति हो सकती है, आकाश में गन्धर्वनगर की, अफीम खाकर रात्रि के समय चन्द्रोदय को सूर्योदय समझा जा सकता है, १९६० में किसी बूढ़े लंगड़े को तैमूर लंग ! भ्रान्ति में न देश का नियम है, न काल का। किन्तु प्रत्यक्ष में ये नियम अनिवार्य हैं। प्रतीति के बाहर पदार्थों की सत्ता मानने पर इन नियमों की सत्ता भी सुबोध है।[६३] पुनश्च यदि विषय-जगत् अवास्तविक एवं कल्पित हैं, ज्ञानप्रवाह ही एक मात्र सत्य है तो ज्ञेय पदार्थों की प्रतीति को विशिष्ट चित्त-सन्तति अथवा व्यक्तिविशेष की अपेक्षा रखनी चाहिए। उदाहरण के लिए जिसकी आँख में दोष होता है उसे ही अविद्यमान केश आदि का आभास होता है, सबको नहीं। कल्पना अथवा भ्रान्ति प्रातिस्विक होती है, विश्वजनीन नहीं। इसके विपरीत उपयुक्त देश-काल में प्रतिष्ठित सभी के लिए व्यवहार में एक-सा दृश्य जगत् प्रतिभासित होता है। स्पष्ट ही अर्थ-प्रतिभास विशिष्ट देश-काल की अपेक्षा रखता है न कि विशिष्ट व्यक्ति की। यह उसका भ्रान्ति से वैलक्षण्य प्रकट करता है। फिर, यदि विषय कल्पित हैं, तो उनको अर्थक्रिया में असमर्थ होना चाहिए। जिस प्रकार स्वप्न में देखे गये अन्न, पान, वस्त्र, विष, आयुध

६१–"देशकालनियमादिचतुष्टयम्" (वहीं)।

६२–"अनर्था यदि विज्ञप्तिर्नियमो देशकालयोः।
सन्तानस्यानियमश्च युक्ता कृत्यक्रिया न च॥
देशादिनियमः सिद्धः स्वप्नवत् प्रेतवत् पुनः।
सन्तानानियमः सर्वैः पूयनद्यादिदर्शने॥
स्वप्नोपघातवत् कृत्यक्रिया नरकवत् पुनः।
सर्वं नरकपालादिदर्शने तैश्च बाधने॥" (विंशतिका का० २–४)

६३–सौत्रांतिकों का कहना है कि प्रतीतिगत वैचित्र्य प्रतीति के बाहर हेतु की सत्ता सूचित करता है। विज्ञानवादी इस हेतु को वासना बताते हैं। तु०—भामती, पृ० २८०–८१।

आदि से भोजन, तृपा-निवृत्ति आवरण आदि की क्रियाएँ निष्पन्न नहीं होतीं ऐसे ही समस्त जगत् के पदार्थ गन्धर्व-नगर के समान असमर्थ होने चाहिए। किन्तु वस्तुस्थिति ठीक विपरीत है। अतः बाह्य पदार्थों को मानसिक कल्पना नहीं माना जा सकता।

इन शंकाओं का आचार्य वसुबन्धु ने इस प्रकार उत्तर दिया है—देश-काल का नियम उसी प्रकार सिद्ध मानना चाहिए जैसे स्वप्न में। एक चित्तसन्तति के अनियम अथवा व्यक्तिनिरपेक्षता के विषय में स्मरणीय है कि स्वप्न में भी विना बाह्य पदार्थों के ही जो जगत् उल्लसित होता है उसमें विशिष्ट देश-काल का नियम उस समय प्रतीत होता है। ऐसे ही कर्मविपाक तुल्य होनेपर प्रेतों को पूयपूर्ण नदी आदि समान दृश्य दीखते हैं यद्यपि वस्तुतः उन दृश्यों की सत्ता नहीं होती। विभिन्न प्रेतों की अनुभव-धाराएँ पृथक्-पृथक् हैं एवं उनके समक्ष कोई स्वतन्त्र बाह्य विषय नहीं है, तथापि कर्मविपाक के समान होने के कारण उन्हें समान दृश्य दीखते हैं। इन दोनों दृष्टान्तों से यह सिद्ध होता है कि बाह्य पदार्थों के अभाव में भी अनुभव के अन्तर्भूत दृश्य-जगत् में देश-काल का नियम प्रतीत हो सकता है तथा वैयक्तिक चित्त-संततियों का अनियम भी सम्भव है। काल्पनिक पदार्थो की अर्थक्रिया अथवा व्यवहारसामर्थ्य के विषय में भी यह स्मरणीय है कि स्वप्न में अथवा नरक में बाह्य पदार्थों के अभाव में ही दृश्यमान पदार्थों का कार्यसामर्थ्य प्रत्यक्ष होता है। स्वप्न में वास्तविक कामिनी के अभाव में भी अशुचि-मोक्ष उपलब्ध होता है। नरक में नारक जीव नरकपाल आदि का प्रत्यक्ष करते हैं तथा उनसे पीडा का अनुभव भी। वास्तविक विषयों के अभाव में भी नरक का अनुभव देश-काल कौं नियम, व्यक्ति-निरपेक्षता, तथा अपने अन्तर्गत पदार्थों का कार्यसामर्थ्य प्रदर्शित करता है। स्वप्न, प्रेतलोक, तथा नरक के दृष्टान्तों से स्पष्ट है कि विषयों के बिना भी केवल चित्त से ही एक नियत, अनेक साधारण, तथा समर्थ जगत् का भासित होना सम्भव है।

यह शंका की जा सकती है कि नरक का दृष्टान्त युक्त नहीं हैं क्योंकि नरक में दृष्ट नरकपाल, पक्षी आदि को कर्मजन्य वास्तविक प्राणी माना जा सकता है। स्वर्ग में पक्षियों का जन्म प्रसिद्ध भी है। इस शंका के समाधान में वसुबन्धु का कहना है—"स्वर्ग के समान नरक में पक्षियों का जन्म नहीं होता और न प्रेतों का, क्योंकि वे वहाँ के दुःख का अनुभव नहीं करते।"[६४] यदि नरकपाल वस्तुतः नरक में उत्पन्न

६४—"तिरश्चां सम्भवः स्वर्गे यथा न नरके तथा।
न प्रेतानां यतस्तज्जं दुःखं नानुभवन्ति ते॥"

(विंशतिका, का० ५)

होते तो वे भी नारकीय वेदना से त्रस्त होते और कदाचित् अपने बन्दियों के साथ वहाँ से भाग निकलने का प्रयास करते। अतः यह मानना चाहिए कि नारक प्राणियों को अपने कर्म के कारण अवास्तविक नरकपाल, आदि का आभास होता है। यह भी नहीं सोचना चाहिए कि कर्म-बल से भौतिक पदार्थ परिणत होकर नरकपाल आदि के आकार अवभासित करते हैं क्योंकि "यदि उनके (नारकों के) कर्म से वहाँ भौतिक परिणाम अभीष्ट है तो चित्त का परिणाम क्यों अभीष्ट नहीं है? कर्म की वासना अन्यत्र तथा उसका फल अन्यत्र क्यों माना जाय? क्यों न जहाँ कर्मवासना है वहीं कर्मफल की कल्पना की जाय?"[६५] कर्म के संस्कार चित्त में संनिविष्ट हैं। कर्मफल की उत्पत्ति भी वहीं न्याय्य है। चित्त से उत्पन्न तथा चित्त में आलीन कर्म के फल के भोग के लिए चित्त के बाहर कर्म से उत्पन्न पदार्थों की कल्पना में स्पष्ट ही गौरव है।

इतने विमर्श से यह स्पष्ट हो जाता है कि विज्ञप्तिमात्रता का सिद्धान्त असंगत अथवा दुस्साहसमात्र नहीं है। समस्त अनुभव की स्वप्नतुल्यता में किसी प्रकार का व्याघात अथवा युक्तिविरोध प्रदर्शित नहीं किया जा सकता। किन्तु विज्ञप्तिमात्रता के विरोध-परिहार मात्र से वह सिद्ध नहीं हो जाती। अब तक उसके समर्थन में केवल एक आगम की युक्ति दी गयी है। किन्तु यह शंका की जा सकती है कि अन्यत्र तथागत ने रूपादि आयतनों का उपदेश किया है। अतएव बाह्य पदार्थों की कल्पना युक्त है।

इसके उत्तर में वसुबन्धु का कहना है—"(तथागत के द्वारा) शिष्यों के प्रति रूपादि-आयतनों के अस्तित्व का उपदेश "उपपादुक-सत्त्वों" के उपदेश के समान आभिप्रायिक है।

जिस बीज से तथा जिस आधार को लेकर विज्ञान की प्रवृत्ति होती है उन्हीं को शाक्य मुनि ने विज्ञान के द्विविध आयतन के रूप में बताया है।

इस प्रकार पुद्गल नैरात्म्य में प्रवेश (प्राप्त होता है)। किन्तु उन्होंने पुनः

६५—"यदि तत्कर्मभिस्तत्र भूतानां सम्भवस्तथा।
इष्यते परिणामश्च किं विज्ञानस्य नेष्यते॥
कर्मणो वासनान्यत्र फलमन्यत्र कल्प्यते।
तत्रैव नेष्यते यत्र वासना किं नु कारणम्॥"

(वही, का० ६–७)

दूसरे प्रकार से उपदेश किया है (जिससे) धर्मनैरात्म्य में कल्पित स्वभाव के द्वार से प्रवेश हो।[६६]"

तथागत ने शिष्यों के अधिकार के अनुसार विविध देशना की है। "आत्मा" में अभिनिविष्ट जनता के उद्धार के लिए उन्होंने "आयतनों" का उपदेश किया है, किन्तु उत्तम अधिकारियों के लिए उन्होंने इनका भी निषेध किया है। यह निषेध "आयतनों" के कल्पित स्वभाव का है, न कि सर्वथा। यहाँ वसुबन्धु ने तथागत के "उपायकौशल" को उपस्थित कर विज्ञानवाद को सर्वास्तिवाद से सत्यतर बताया है तथा "कल्पित-स्वभाव" का उल्लेख कर विज्ञानवाद का शून्यवाद से भेद प्रदर्शित किया है।

वस्तुत: विज्ञप्तिमात्रता का सिद्धान्त बौद्ध दर्शन के अन्तर्गत एक व्यवस्थित तार्किक एवं आध्यात्मिक विकास की ओर संकेत करना है। सामान्य लौकिक व्यवहार में घट, पट आदि पदार्थों को तथा उनके व्यवहर्ता पुरुषों को वास्तविक माना जाता है। हीनयान में उनकी सत्ता को केवल शब्दजन्य भ्रान्ति मान इनके स्थान पर "द्वादश आयतनों" को सत्य स्वीकार किया गया। इस दृष्टि से घट-आदि पदार्थ क्षणिक, इन्द्रियग्राह्य रूप आदि "धर्मों" के प्रवाहशील समूहमात्र हैं तथा "पुरुष" अथवा "जीव" एक चित्तप्रवाह मात्र हैं जो एक ओर चक्षु आदि इन्द्रियों पर तथा दूसरी ओर रूप-आदि विषयों पर निर्भर है। इन्द्रियाँ आध्यात्मिक अथवा आन्तरिक आयतन ह, विषय बाह्य आयतन हैं। इन द्विविध आयतनों पर चित्त अथवा विज्ञान का प्रवाह आश्रित है। फलत: आयतनों के उपदेश को हृदयंगम करने से "पुद्गल नैरात्म्य" का बोध हो जाता है तथा घट-पट आदि का स्थूल एवं स्थिर जगत् रूप-रस आदि की सूक्ष्म धाराओं में विलीन हो जाता है। सामान्य लोक-व्यवहार की तुलना में यह हीनयानी दर्शन पर्याप्त रूप से "वैनाशिक" है। महायान में यही प्रवृत्ति और अधिक विकसित रूप में पायी जाती है। आत्मा के समान बाह्य पदार्थ भी निराकृत्त हो जाते हैं। यही "पुद्गल नैरात्म्य" के और आगे "धर्मनैरात्म्य" का

६६–"रूपाद्यातनास्तित्वं तद्विनेयजनं प्रति।
अभिप्रायवशादुक्तमुपपादुकसत्त्ववत् ॥
यतः स्वबीजाद् विज्ञप्तिर्यदाभासा प्रवर्तते।
द्विविधायतनत्वेन ते तस्या मुनिरब्रवीत् ॥
तथा पुद्गलनैरात्म्यप्रवेशो ह्यन्यथा पुनः।
देशना धर्मनैरात्म्यप्रवेशः कल्पितात्मना ॥

(विंशतिका, का० ८–१०)

स्तर है। विज्ञप्तिमात्रता के द्वारा ही धर्मनैरात्म्य में प्रवेश सम्भव है। अतएव यह मानना चाहिए कि तथागत ने रूप-आदि आयतनों की सत्यता का उपदेश प्राथमिक अधिकारियों को पुद्गलनैरात्म्य की शिक्षा देने के लिए किया, किन्तु उत्तम अधिकारियों को उन्होंने महायान सूत्रों में विज्ञप्तिमात्रता के द्वारा धर्मनैरात्म्य का उपदेश किया।

शून्यवादियों के विरोध में यह स्मरणीय है कि धर्मनैरात्म्य का अर्थ "धर्मों" का सर्वथा अभाव नहीं है। अभाव केवल उनके ग्राह्य-ग्राहकादि परिकल्पित स्वभाव का है, उनके अनिर्वचनीय स्वभाव का नहीं जोकि बुद्धज्ञान का विषय है। विज्ञप्तिमात्रता से नैरात्म्य में प्रवेश होता है, स्वयं विज्ञप्तिमात्रता का अभाव नहीं होता।

आगम-विरोध के उपर्युक्त परिहार में सत्य का एक तारतम्य मान लिया गया है जिसके अनुसार रूपादि के अस्तित्व की अपेक्षा रूपादि का नास्तित्व ही गंभीरतर और वास्तविक सत्य है। यदि यह धारणा आग्रहमात्र नहीं है तो यह तर्कसम्मत होनी चाहिए। वस्तुतः एकदेशी आगम के सहारे अन्य सम्प्रदायों से तर्क नहीं किया जा सकता। वसुबन्धु हीनयानी एवं महायानी, दोनों आगमों से सुपरिचित थे। मैत्रेय एवं असंग के समान वे केवल आगमानुसारी नहीं थे। पिछली कारिकाओं में उन्होंने विज्ञप्तिमात्रता के विरुद्ध आक्षेपों का तर्क से परिहार किया है। अब अपने सिद्धान्त के समर्थन में आगममात्र से असन्तुष्ट होकर वे विशुद्ध तर्क उपस्थित करते हैं।

विज्ञप्तिमात्रता के दो पक्ष हैं—विज्ञान का अस्तित्व, तथा विज्ञेय पदार्थों का नास्तित्व। इनमें पहले पक्ष की स्थापना माध्यमिकों के विरोध में उचित है। इसका आचार्य ने सूक्ष्म इंगित किया है[१]—(१) नैरात्म्य का अर्थ कल्पित स्वभाव का तिरस्कार है, सर्वथा अस्तित्व का नहीं, (२) विज्ञप्तिमात्र के द्वारा ही इस अकल्पित स्वभाव में प्रवेश सम्भव है, (३) धर्मों का अनिवर्चनीय स्वभाव बुद्धगोचर है। किन्तु यहाँ माध्यमिकों के निराकरण का विस्तृत प्रयत्न नहीं किया गया है। माध्यमिकों की अद्भुत तर्क-प्रणाली के समक्ष वह होता भी कठिन। कदाचित् इसी कारण शंकराचार्य ने भी शारीरकभाष्य में शून्यवादका अपलाप मात्र किया है।

बाह्य पदार्थों के खण्डन के लिए वसुबन्धु परमाणुवाद का खण्डन करते हैं—
"(ज्ञान का) विषय न एक हो सकता है, न परमाणुरूप अनेक, और न परमाणु संहत होकर (विज्ञान का विषय हो सकते हैं) क्योंकि परमाणु ही सिद्ध नहीं होता।

६ (परमाणुओं) से एक साथ ही (६ प्रदेशों में) संयोग होने पर परमाणु के ६ अंश मानने होंगे। ६ (परमाणुओं) के समान प्रदेश में अवस्थित होने पर पिण्ड (स्थूल पदार्थ) अणुमात्र हो जायगा।

परमाणुओं का संयोग न होने पर उनके संघात में किसका संयोग होगा यह भी नहीं है कि परमाणुओं के निरवयव होने के कारण उनका संयोग सिद्ध नहीं होता। परमाणु को वितत मानने पर उसका एकत्व अयुक्त है। परमाणु को अवितत मानने पर छाया एवं अवरोध कैसे होंगे? और यदि पिण्ड परमाणुओं से अन्य नहीं है तो वे (छाया एवं रोध) पिण्ड के धर्म भी नहीं हो सकते।[६७]"

मान लीजिए नील-रूप का प्रत्यक्ष होता है। इस प्रत्यक्ष का विषय क्या है? अर्थात् नीलविज्ञान के आलम्बन "नील" की सत्ता यदि विज्ञान के बाहर है तो उसका क्या स्वरूप है? तीन विकल्प सम्भव हैं—नील-रूप घटादि-अवयवि-निष्ठ हो सकता है, अथवा अनेक-परमाणु-निष्ठ, अथवा परमाणु-संघात-निष्ठ। इनमें पहला पक्ष वैशेषिकों का है, दूसरा वैभाषिकों का है,[६८] तीसरा सौत्रांतिकों का। वैशेषिकों के विपक्ष में वसुबन्धु का कहना है कि अवयवों के अतिरिक्त अवयवी का ग्रहण नहीं हो सकता। शेष दो पक्षों के विरोध में उनका कहना है कि परमाणुओं का न प्रत्येकशः ग्रहण हो सकता है न उनके संघात का। स्वयं परमाणु ही सिद्ध नहीं हो सकता।

ऊपर, नीचे तथा चार दिशाओं को मिलाकर एक परमाणु का अन्य परमाणुओं से छः पार्श्वों में संयोग कल्पनीय है। यदि इन छः संयोगों को युगपत् माना जाय तो परमाणु के छः अंश मानने होंगे तथा वह अविभाज्य न रहेगा। दूसरी ओर यदि ये

६७—"न तदेकं न चानेकं विषयः परमाणुशः।
न च ते संहता यस्मात्परमाणुर्न सिध्यति॥
षट्केन युगपद् योगात् परमाणोः षडंशता।
षण्णां समानदेशत्वात् पिण्डः स्यादणुमात्रकः॥
परमाणोरसंयोगे तत्संघातेऽस्ति कस्य सः।
न चानवयवत्वेन तत्संयोगो न सिध्यति॥
दिग्भागभेदो यस्यास्ति तस्यैकत्वं न युज्यते।
छायावृती कथं वान्यो न पिण्डश्चेन्न तस्य ते॥"
(विंशतिका, का० ११–१४)

६८—तु०—अभिधर्मकोश जि० ३, पृ० २१३—"परमाण्वतीन्द्रियत्वेऽपि समस्तानां प्रत्यक्षत्वम्।" वसुबन्धु ने विंशतिका में प्राचीन वैभाषिकों के मत का संघभद्र के नवीन वैभाषिक मत से विभेद नहीं किया है। श्वान्च्वांग के विज्ञप्तिमात्रतासिद्धिशास्त्र में परमाणुवाद का विस्तृत आलोचन है। दे०—नीचे।

छः संयोग परमाणु के समान प्रदेश में माने जायें तो परमाणु-संयोग से उत्पन्न स्थूल पदार्थ परमाणु के ही आकार का हो जायगा। यदि परमाणु में दिग्विभाग अथवा देशगत विस्तार है तो वह विभाज्य हो जाता है, यदि उसमें दिग्विभाग नहीं है तो छाया एवं आवरण (अवरोध) असम्भव होंगे। पार्श्वभेद होने पर ही छाया सम्भव है, अन्यथा समस्त परमाणु युगपत् आलोकित अथवा अन्धकारित हो जायेंगे। परमाणुओं का प्रतिघात अथवा परस्पर रोध भी तभी सम्भव है जब उनमें अंशतः स्पर्श हो। निरंश परमाणुओं में या तो सम्पर्क ही नहीं होगा, अन्यथा सर्वात्मना स्पर्श होगा जिससे एक परमाणु दूसरे से मिल कर अभिन्न हो जायगा। यदि छाया तथा रोध को परमाणु के धर्म न मान कर स्थूल पदार्थों के धर्म माना जाय तो पिण्ड को परमाणुओं से पृथक् मानना पड़ेगा। इन विकल्पों से स्पष्ट है कि परमाणु-कल्पना में अपरिहार्य व्याघात है।[६९]

वाह्य पदार्थों को परमाणुनिर्मित मानकर वसुबन्धु ने उनको तर्क द्वारा दुरुपपाद सिद्ध किया है। किन्तु यह कहा जा सकता है कि परमाणु-खण्डन से विज्ञान के आलम्बन रूप-आदि का खण्डन मानना युक्त नहीं है क्योंकि परमाणुओं के उल्लेख के विना ही रूप-आदि का लक्षण किया जा सकता है। चक्षु के विषय नीलादि धर्मों को ही रूप कहते हैं और यही उसका यथार्थ लक्षण है। इसी प्रकार रस-आदि अन्य बाह्य आयतनों के लक्षण कल्पनीय हैं। इन लक्षणों के लिए परमाणु-कल्पना अनावश्यक है। वाह्य पदार्थों के दिक्-संन्निवेश के विवरण के लिए ही परमाणु परिकल्पित है, उनके स्वरूप-निर्देश के लिए नहीं।

इनके उत्तर में वसुबन्धु का कथन है—"(नील आदि) के एक (द्रव्य) होने पर क्रमिक गति, युगपद् उपलब्धि एवं अनुपलब्धि, विच्छिन्न (पदार्थों की) अनेकत्र अवस्थिति, तथा (स्थूल के दृष्ट होने पर) सूक्ष्म का अदर्शन नहीं हो सकेंगे।"[७०]

नील, पीत आदि दृश्यमान विषय एक द्रव्य हैं अथवा अनेक। यदि उन्हे एक द्रव्य मान लिया जाय तो अनेक दोष प्रकट होंगे। आकाश या पृथ्वी को एक मान

६९–तु०—शारीरकभाष्य ब्र० सू० २.२.१२ पर जहां शंकराचार्य ने वैशेषिकों के परमाणुवाद का खंडन किया है।

७०–"एकत्वे च क्रमेणेतिर्युगपन्न ग्रहाग्रहौ।
विच्छिन्नानेकवृत्तिश्च सूक्ष्मानीक्षा च नो भवेत्॥"
(विंशतिका, का० १५)

लेने पर एक ही उड़ान में पक्षियों को अन्तरिक्ष के उस पार हो जाना चाहिए तथा एक डग धरने से ही हम सबको वामनावतार के समान पृथ्वी लांघनी चाहिए। कोई पदार्थ अंशतः उपलब्ध तथा अंशतः अनुपलब्ध न हो सकेगा। दीवार को सामने से देखने पर उसका पृष्ठभाग भी दीख जाना चाहिए। एक खेत में खड़े गाय, बैल आदि एक ही स्थान में होने चाहिए, क्योंकि जहाँ एक अवस्थित है वहीं दूसरा भी। जब उनका अन्तराल शून्य है तो जहाँ एक पहुँचे वहाँ औरों को पहुँचा मानना चाहिए। यही नहीं केवल लक्षणभेद से ही द्रव्यभेद मानने पर समान रूप पदार्थों में स्थूल की उपलब्धि होने पर सूक्ष्म की भी हो जानी चाहिए। इन दोषों के कारण नीलादि में द्रव्यगत अनेकता तथा दिक्परिमाण आदि के द्वारा भेद स्वीकार करने होंगे। परमाणु-स्वीकार के विना इस प्रकार की अनेकता अथवा भेद दुरुपपाद हैं और अतएव नीलादि की सिद्धि असम्भव है तथा परमाणुवाद के खण्डन से ज्ञान के बाहर अवस्थित भूत-भौतिक पदार्थों की सत्ता भी खण्डित हो जाती है।

साधारणतया बाह्य पदार्थों की सत्ता का आधार प्रत्यक्ष प्रमाण माना जाता है जोकि सब प्रमाणों में अग्रणी हैं, और जबतक यह आधार अक्षुण्ण है, बाह्य पदार्थों का प्रतिषेध निरर्थक है।[७१] अतएव इसका खण्डन करते हुए आचार्य वसुबन्धु कहते हैं—"जिस प्रकार स्वप्नादि में प्रत्यक्ष बुद्धि (बिना आलम्बन के होती है, यह ऊपर कहा जा चुका है); जब वह (प्रत्यक्ष बुद्धि) होती है तब वह अर्थ नहीं दीखता। उसका प्रत्यक्षत्व कैसे माना जाय? जिस प्रकार (बिना अर्थ के) उसके आभास के साथ विज्ञान की उत्पत्ति होती है, तथा तदनन्तर उसकी स्मृति को, यह कहा जा चुका है।"[७२] स्वप्न तथा [illegible] में बिना [illegible] आलम्बन के प्रत्यक्ष बुद्धि [illegible] होती है, [illegible]

७१—विज्ञानवाद के विरोध में यही प्रधान युक्ति है, तु० ब्र० सू० २.२.२८—"नाभाव उपलब्धेः"। बाह्य जगत् प्रत्यक्ष उपलब्ध होता है, अतः सत्य है। किन्तु बाह्य जगत् का यह दृश्यत्व ही उसके मिथ्यात्व का हेतु माना जा सकता है। उपर्युक्त "स्वभावानुमान" में यही अभिप्रेत है। इस अनुमान का वास्तविक आधार योगानुभूति विशेष ही है।

७२—"प्रत्यक्षबुद्धिः स्वप्नादौ यथा सा च यदा तदा।
न सोऽर्थो दृश्यते तस्य प्रत्यक्षत्वं कथं मतम्॥
उक्तं यथा तदाभासा विज्ञप्तिः स्मरणं ततः।"

(विंशतिका, का० १६, १७)

प्रत्यक्षबुद्धि से आलम्बन की सत्ता सिद्ध नहीं होती। अथच, नीलादि के प्रत्यक्ष में जिस समय "यह मुझे प्रत्यक्ष है" उस प्रकार की प्रत्यक्षबुद्धि उत्पन्न होती है उस समय तक "यह नील है" इस प्रकार का प्रत्यक्ष ही नहीं रहता क्योंकि मनोविज्ञान के द्वारा प्रत्यक्ष के निश्चय के समय चक्षुर्विज्ञान निरुद्ध हो जाता है।[७३] यही नहीं, नीलादि विषय स्वयं क्षणिक हैं। जिस समय उनका प्रत्यक्ष व्यवसित होता है उस समय तक वे ही नष्ट हो जाते हैं। तात्पर्य यह है कि प्रत्यक्षज्ञान की उत्पत्ति में एकाधिक क्षण का समय लगता है। अतः पदार्थों की क्षणिकता के कारण वह सद्विषयक नही हो सकता।

वस्तुतः निरपवाद क्षणिकता के सिद्धान्त के साथ प्रत्यक्ष का सामंजस्य स्थापित करना टेढ़ी खीर है। इस समस्या का स्थविरवादियों ने रूप-क्षण तथा चित्त-क्षण में भेद मान कर समाधान प्रस्तुत किया।[७४] सौत्रान्तिकों ने वाह्य अर्थ की अनुमेयता सिद्धान्तित की।[७५] अनुभूत विषय का ही स्मरण होता है; अतएव मनोविज्ञान के द्वारा प्रत्यक्ष-निश्चय से प्रत्यक्षीकृत अर्थों की सत्ता का अनुमान किया जा सकता है। किन्तु वसुबन्धु इस अनुमान की व्याप्ति को ही असिद्ध मानते हैं।

यह अवधेय है कि आपाततः इस विवेचन में वसुबन्धु ने प्रत्यक्ष के स्वरूप का सूक्ष्म विचार नहीं किया है। न उन्होंने प्रत्यक्ष एवं भ्रान्ति के भेद का प्रयास किया है, न सविकल्पक एवं निर्विकल्पक प्रत्यक्ष के भेद का। इसे साभिप्राय मानना चाहिए। वस्तुतः विज्ञानवाद की दृष्टि से समस्त अर्थ-प्रत्यक्ष विकल्पित एवं भ्रात है। अन्यथा यह स्मरणीय है कि असंग ने **योगाचारभूमिशास्त्र** में प्रत्यक्ष के तीन लक्षणों का निर्देश किया था—अपरोक्षता, अविकल्पता, तथा अभ्रान्तता।[७६] वसुबन्धु ने भी **वादविधि** में प्रत्यक्ष का लक्षण, "ततोऽर्थाद् विज्ञानं प्रत्यक्षम्" किया है जिसमें प्रत्यक्ष का भ्रान्ति अनुमानादि तथा संवृत्तिज्ञान से भेद विवक्षित है।[७७] किन्तु वसुबन्धु के इस लक्षण में वाह्य अर्थ की सत्ता का स्वीकार है। अतः इसे उनके सौत्रान्तिक युग का मानना चाहिए। इसीलिए सम्भवतः दिङ्नाग ने इस परिभाषा की ओर अपनी अरुचि प्रकट की है।[७८]

७३–तु०—अभिधर्मामृत—"पञ्चविज्ञानानि न शक्नुवन्ति विवेक्तुम्।" (५।१०)

७४–दे०—ऊपर।

७५–तु०—सर्वदर्शनसंग्रह।

७६–तुचि, डोक्ट्रिन्स ऑव् मैत्रेयनाथ एण्ड असंग, प्र० ६० प्र०।

७७–तु०—न्यायवार्तिक, प्र० ४०–४१, न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका, प्र० १५०–५३; श्चेरबात्स्की, बुद्धिस्ट लॉजिक, जि० १, पृ० १५६, दे०—नीचे।

७८–श्चेरबात्स्की, वहीं।

यदि स्वप्न के समान जागरित में भी विज्ञान को असद्विषयक माना जाय तो स्वप्न के ही समान जागरित के जगत् का मिथ्यात्व भी लोक प्रसिद्ध होना चाहिए। किन्तु ऐसा नहीं है। इससे यह शंका की जा सकती है कि जागरित प्रतीति को स्वप्नवत् मिथ्या नहीं मानना चाहिए।[७९] किन्तु इसके विपरीत यह स्मरणीय है कि स्वप्नलोक का मिथ्यात्व स्वप्न से जागने पर ही स्फुट होता है।[८०] ऐसे ही समस्त जीव लोक भी वासनानिद्रा से प्रबुद्ध होने पर ही विषयाभाव की यथावत् अवगति करता है।

पुनरपि यह शंका हो सकती है कि यदि वाह्य पदार्थों के अभाव में केवल अपने चित्त प्रवाह के विशिष्ट परिणाम से ही अर्थाकार विज्ञान उत्पन्न होता है तो सत्संग अथवा असत्संग, सद्धर्मश्रवण अथवा असद्धर्मश्रवण का भी कोई सत् अथवा असत् फल नहीं होगा।

वाह्य विषय के अभाव में सत्संग अथवा असत्संग का प्रश्न ही नहीं उठता। इसके उत्तर में वसुवन्धु का कहना है कि चित्त के बाहर अन्य विषयों का अभाव प्रतिपाद्य है न कि अन्य चित्तों का। विज्ञानवाद एकचित्तवाद अथवा "सॉलिप्सिज्म" नहीं है। एक चित्तधारा पर अन्य चित्तधारा का प्रभाव विज्ञानवादी को स्वीकार्य है।[८१]

स्वप्न में पाप-पुण्य की उत्पत्ति नहीं होती, जागरित में होती है। इसका कारण स्वप्नलोक की अलीकता अथवा जागरित की वास्तविकता को न मानना चाहिए क्योंकि स्वप्न में चित्त की अकर्मण्यता ही उसका यथार्थ कारण है।[८२]

हिंसा एवं हिंसाजन्य पाप के विषय में भी एक चित्तसन्तति का दूसरी चित्तसन्तति पर प्रभाव ही कारण समझना चाहिए। पिशाचादि के द्वारा आविष्ट होने के स्थल पर चित्त का चित्त पर प्रभाव स्पष्ट दीखता है। चित्त व्यापार की परहिंसा में समर्थना सिद्ध करना कठिन नहीं है। ऋषिकोप से दण्डकारण्य का उजड़ना सुविदित है।[८३]

७९–तु०—ब्र० सू० २.२.२९—"वैधर्म्याच्च न स्वप्नादिवत्।"

८०–"स्वप्ने दृग्विषयाभावं नाप्रबुद्धोऽवगच्छति॥" (विंशतिका, का० १७)
 तु०—शबरभाष्य, पृ० ८–१०।

८१–"अन्योन्याधिपतित्वेन विज्ञप्तिनियमो मिथः।" (विंशतिका, का० १८)

८२–"मिद्धेनोपहतं चित्तं स्वप्ने तेनासमं फलम्।" (वहीं)

८३–"मरणं परविज्ञप्तिविशेषाद् विक्रिया यथा।
 स्मृतिलोपादिकान्येषां पिशाचादिमनोवशात्॥
 कथं वा दण्डकारण्यशून्यत्वमृषिकोपतः।
 मनो दण्डो महावद्यः कथं वा तेन सिद्धयति॥" (वही, का० १९–२०)

परचित्त ज्ञान के विषय में स्मरणीय है कि स्वचित्त ज्ञान के समान वह भी ग्राह्य-ग्राहक विकल्प से दूषित है। विज्ञानमात्रता विज्ञातृ-विज्ञेय-भाव से मुक्त है। विज्ञप्ति-मात्रता का स्वरूप सर्वविदित मन के आभ्यन्तर ज्ञान अथवा स्व-बोध (इन्ट्रॉस्पेक्शन) में प्रकाशित नहीं होता। वह निर्विकल्प, तर्क का अविषय एवं केवल बुद्धगोचर है।[८४]

विंशतिका में विज्ञानमात्रता के सामान्य सिद्धान्त का तर्कानुकूल प्रतिपादन है। **त्रिंशिका** में विज्ञान के प्रभेदों का तथा उनके आधार पर संसार एवं मोक्ष का विवरण प्रस्तुत किया गया है।

विज्ञान का त्रिविध परिणाम ही सत्य है। आत्मा तथा 'धर्म' उसमें उपचरित अथवा अध्यस्त हैं।[८५] परिणाम का अर्थ है कार्यकारणभाव के अनुसार निरोध एवं उत्पाद।[८६] विज्ञान की सत्ता, कार्य-कारण-नियत तथा प्रवाहरूप है। यहाँ वेदान्त से भेद स्पष्ट है। वेदान्त में भी जगत् को ज्ञान में अध्यस्त बताया गया है, किन्तु ज्ञान को कूटस्थ नित्य माना गया है। अतएव शांकरमत में ज्ञानस्वरूप ब्रह्म का जगत् के रूप में परिणाम न मानकर विवर्त ही माना जाता है।[८७]

विज्ञान का त्रिधा परिणाम इस प्रकार है—आलय विज्ञान, मन, तथा ६ प्रकार के विषयविज्ञान।[८८] ये ८ विज्ञान तथा इनसे सम्बद्ध चैतसिक धर्म ही वस्तुसत् हैं, शेष धर्म उपचार अथवा आरोपमात्र। यह स्मरणीय है कि वैभाषिक पंचविध धर्मों को वास्तविक मानते थे—रूप, चित्त, चैत्त, चित्तविप्रयुक्त तथा असंस्कृत।

८४—"परचित्तविदां ज्ञानमयथार्थं कथं यथा।
स्वचित्तज्ञानमज्ञानाद् यथा बुद्धस्य गोचरः॥
विज्ञप्तिमात्रतासिद्धिः स्वशक्तिसदृशी मया।
कृतेयं सर्वथा सा तु न चिन्त्या बुद्धगोचरः॥" (वही, का० २१–२२)

८५—"आत्मधर्मोपचारो हि विविधो यः प्रवर्तते।
विज्ञानपरिणामेऽसौ परिणामः स च त्रिधा॥" (त्रिंशिका, का० १)

८६—"कोऽयं परिणामो नाम? अन्यथात्वं, कारणक्षणनिरोधसमकालः कारण-क्षणविलक्षणः कार्यस्यात्मलाभः परिणामः।" (स्थिरमति का त्रिंशिका-भाष्य, पृ० १६)।

८७—वस्तुतः वेदान्त के इतिहास में परिणामवाद से विवर्तवाद तक एक विकास का क्रम देखा जा सकता है।

८८—"विपाको मननाख्यश्च विज्ञप्तिविषयस्य च।" (त्रिंशिका, का० २, पूर्वार्ध)।

सौत्रान्तिकों ने अन्तिम दो का निराकरण किया। असंस्कृत, अभावमात्र है। तथा चित्तविप्रयवत धर्म प्रज्ञप्तिमात्र। सौत्रान्तिक से योगाचार बनकर वसुबन्धु एक चरण और अग्रसर हुए तथा उन्होंने **विंशतिका** में रूप-धर्म की सत्ता का विस्तृत खण्डन किया। फलतः यह युक्त ही है कि **त्रिंशिका** में केवल चित्त-चैत्त धर्मो को ही वास्तविक बताया गया है। किन्तु "**अष्टविज्ञान**" के विवरण में वसुबन्धु सर्वथा पूर्व ग्रन्थों के, विशेषतः सूत्रों के, ऋणी हैं।

"आलय नाम का विज्ञान 'विपाकात्मक' तथा सब 'बीजों' का आश्रय है। 'उपादि' एवं 'स्थान' उसके आलम्बन हैं, किन्तु उसके 'आकार' (विज्ञप्ति) के सदृश वे भी 'असंविदित' हैं। आलयविज्ञान स्पर्श, मनस्कार, वेदना, संज्ञा, एवं चेतना से सदा सम्प्रयुक्त होता है। इस प्रसंग में उपेक्षारूप वेदना विवक्षित है। आलय-विज्ञान 'अनिवृत' तथा 'अव्याकृत' है। उससे सम्प्रयुक्त स्पर्श आदि भी उसके सदृश (विपाकात्मक, असंविदित-आलम्बन, अनिवृत, तथा अव्याकृत) है। आलय-विज्ञान की वृत्ति नदी के प्रवाह के समान है। इसकी व्यावृत्ति अर्हत्त्व में होती है।"[८९]

कुशल एवं अकुशल कर्मों की वासना के परिपक्व होने पर उनकी फलोत्पत्ति विपाक कही जाती है।[९०] जन्म के प्रारम्भ में आलय-विज्ञान ही पिछले जन्म के संस्कारों का सम्पिण्डित फल होता है। कर्मो के अनुसार एक विशिष्ट धातु, गति, एवं योनि में जन्म तथा अन्य फल प्राप्त होते हैं। ये फल विज्ञान के परिणामविशेष हैं तथा यह विपाकात्मक विज्ञानपरिणाम ही आलयविज्ञान है।[९१]

८९—"**तत्रालयाख्यं विज्ञानं विपाकः सर्वबीजकम्।**
असंविदितकोपादिस्थानविज्ञप्तिकं च तत्॥
सदा स्पर्शमनस्कारवित्संज्ञाचेतनान्वितम्।
उपेक्षा वेदना तत्रानिवृताव्याकृतं च तत्॥
तथा स्पर्शादयस्तच्च वर्तते स्रोतसौघवत्।
तस्य व्यावृत्तिरर्हत्त्वे ... ...॥ (**त्रिंशिका, का० २–५**)

९०—"**तत्र कुशलाकुशलकर्मवासनापरिपाकवशाद् यथाक्षेपं फलाभिनिर्वृत्तिर्विपाकः।" (स्थिरमति, पृ० १८)।**

९१—"**सर्वधातुगतियोनिजातिषु कुशलाकुशलकर्मविपाकत्वाद् विपाकः।" (वही, (पृ० १८–१९)**

आलयविज्ञान में सब सांक्लेशिक धर्मों के बीज संगृहीत हैं। बीज का अर्थ विज्ञानगत सामर्थ्य विशेष है जिससे परिपाकदशा में फलविशेष उत्पन्न होता है।

आलय विज्ञान के "आलम्बन" एवं "आकार" विदित नहीं होते। ये आलम्बन द्विविध हैं—एक ओर "उपादि" या उपादान, दूसरी ओर "स्थान" या भाजन-लोक। उपादान में बीज तथा इन्द्रिययुक्त देह संगृहीत हैं। भाव यह है कि जन्म के समय एक ओर तो आलयविज्ञान शरीर को प्रतिभासित करता है दूसरी ओर उसके उपयुक्त लोक को।[९२] लोकप्रतिभास साधारण कर्म के अनुसार होता है। अतएव विभिन्न आलय-विज्ञानों से पृथक्-पृथक् प्रतिभासित होने पर भी अनेक दीपकों के प्रकाश के समान एक ही लोक की प्रतीति होती है।

स्पर्श-आदि पाँच चैत्त धर्म सर्वत्रग हैं। इन्द्रिय, विषय एवं विज्ञान, इन तीन का कार्य-कारण-भाव से समवस्थान संनिपात कहलाता है। इससे उत्पन्न इन्द्रिय-विकार के अनुकूल विषय का वेदनीयतया व्यवस्थापन स्पर्श है।[९३] वेदना अनुभवात्मक एवं त्रिविध है—सुख, दुःख, तथा अदुःख-असुख। आलयविज्ञान से केवल तीसरा ही प्रकार सम्बद्ध है। मनस्कार के द्वारा चित्त आलम्बन की ओर अभिमुख होता है।[९४] संज्ञा के द्वारा आलम्बन के वैशिष्ट्य का निरूपण होता है—"यह नीला है,

९२—"...आलयविज्ञानं द्विधा प्रवर्तते।
अध्यात्मम् उपादानविज्ञप्तितो-बहिर्धा परिच्छिन्नाकारभाजनविज्ञप्तितश्च। तत्राध्यात्ममुपादानं परिकल्पितस्वभावाभिनिवेशवासना साधिष्ठानमिन्द्रिय-रूपं नाम च।...उपादानमुपादिः। स पुनरात्मादिविकल्पवासना रूपादि-धर्मविकल्पवासना च।...आश्रयोपादानं चोपादिः। आश्रय आत्मभावः साधिष्ठानम् इन्द्रियरूपं नाम च।...तत्र कामरूपधात्वोर्द्वयोर्नामरूपयो-रुपादानं। आरूप्यधातौतु—नामोपादानमेव। किंतु वासनावस्थमेव तत्र रूपं न विपाकावस्थं। तत्पुनरुपादानमिदंतया प्रतिसंवेदयितुमशक्यमित्यतो संविदित इत्युच्यते। स्थानविज्ञप्तिर्भाजनलोकसंनिवेशविज्ञप्तिः। साक्ष्य-परिच्छिन्नालम्बनाकारप्रवृत्तत्वाद् असंविदितेत्युच्यते।"

(स्थिरमति, पृ० १९)

९३—"तत्र स्पर्शस्त्रिकसंनिपाते इन्द्रियविकारपरिच्छेदः वेदनासंनिश्रयकर्मकः।"

(वही, पृ० २०)

९४—"आलम्बने येन चित्तमभिमुखीक्रियते।" (वहीं)

न कि पीला" इत्यादि।[९५] चेतना मन की चेष्टा है जिसके होने पर विषय की ओर चित्त का खिंचाव ऐसे ही होता है जैसे चुम्बक की ओर लोहे का।[९६]

मनोभूमिक आगन्तुक उपक्लेशों से अनावृत होने के कारण आलय-विज्ञान अनिवृत कहलाता है। स्वयं विपाक होने के कारण विपाक के प्रति आलय न कुशल है, न अकुशल, अर्थात् अव्याकृत है।[९७]

आलयविज्ञान की क्षणिकता, किन्तु अनुवृत्ति नदी की धारा के समान है। उसकी प्रवृत्ति एक अविच्छिन्न कार्यकारण-परम्परा है।[९८] यह परम्परा अर्हत्त्व प्राप्ति तक विद्यमान रहती है।

"(विज्ञान का) दूसरा परिणाम मन है। आलयविज्ञान को आश्रय तथा आलम्बन बना कर मन की प्रवृत्ति होती है। मन मननात्मक विज्ञान है। वह सदैव आत्मदृष्टि, आत्ममोह, आत्ममान, तथा आत्मस्नेह नाम के चार निवृत, किन्तु अव्याकृत क्लेशों से युक्त होता है। जिस धातु अथवा भूमि में मन की उत्पत्ति होती है तन्मय स्पर्श आदि चैत्तों से वह युक्त होता है। अर्हत्व, निरोध समापत्ति तथा लोकोत्तरमार्ग में मन का अभाव होता है।[९९]

९५—"संज्ञा विषयनिमित्तोद्ग्रहणम्।" (वहीं)

९६—"चेतना चित्ताभिसंस्कारो मनसश्चेष्टा यस्यां सत्यामालम्बनं प्रतिचेतसः प्रस्यन्द इव भवति अयस्कान्तवशादयःप्रस्यन्दवत्।" (वही, पृ० २१)

९७—"मनोभूमिकैरागन्तुकैरूपक्लेशैरनावृतत्वादनिवृतं। विपाकत्वाद् विपाकं प्रति कुशलाकुशलत्वेनाव्याकरणादव्याकृतम्।" (वही, पृ० २१)

९८—"तत्र स्रोतो हेतुफलयोर्नैरन्तर्येण प्रवृत्तिः। उदकसमूहस्य पूर्वापरभागाविच्छेदेन प्रवाह ओघ इत्युच्यते।" (स्थिरमति, पृ० २२), तु० "आदानविज्ञानगभीरसूक्ष्मो ओघो यथा वर्तति सर्वबीजो।—(स्थिरमति के द्वारा उद्धृत गाथा, पृ० ३५)

९९—"···तदाश्रित्य प्रवर्तते।

तदालम्बं मनोनाम विज्ञानं मननात्मकम्॥

क्लेशैश्चतुर्भिः सहितं निवृताव्याकृतैः सदा।

आत्मदृष्ट्यात्ममोहात्ममानात्मस्नेहसंज्ञितैः॥

यत्रजस्तन्मयैरन्यैः स्पर्शाद्यैश्चार्हतो न तत्।

न निरोधसमापत्तौ मार्गे लोकोत्तरे न च॥

द्वितीयः परिणामोऽयं··।" (त्रिंशिका, का० ५–८)

आलयविज्ञान वासनात्मक "अचेतन" चित्त है, विषय-विज्ञान विषयों के प्रतिभास प्रस्तुत करते हैं। इन दो के मध्य में विमर्शात्मक मन की स्थिति है। आलयविज्ञान से मन की उत्पत्ति होती है तथा उसे ही आलम्बन बनाकर मन में 'अहंकार' उत्पन्न होता है। क्लिष्ट किन्तु अव्याकृत चार क्लेशों से मन सदा सम्प्रयुक्त होता है।[१००] मन के स्पर्श आदि अन्य सम्प्रयुक्त धर्म भी क्लिष्ट एवं अव्याकृत हैं।

"(विज्ञान) का तृतीय परिणाम (रूप, शब्द, गन्ध, आदि) छः प्रकार के विषयों क उपलब्धि स्वरूप हैं। वह कुशल, अकुशल तथा अव्याकृत है। उससे सम्प्रयुक्त चैत्त धर्म अनेक कोटिक हैं—सर्वत्रग, विनियत, कुशल, क्लेश, उपक्लेश एवं अनियत। रूप आदि पाँच विज्ञानों की आलयविज्ञान से आलम्बन प्रत्यय के अनुसार पृथक्-पृथक् अथवा साथ उत्पत्ति होती है जैसे, जल में तरंगों की।[१०१] आसंज्ञिक, दो समापत्तियाँ तथा अचित्तक मिद्ध एवं मूर्छा के अतिरिक्त मनोविज्ञान सर्वत्र उत्पन्न होता है।[१०२]

सर्वत्रग चैत्त धर्म स्पर्श-आदि उपर्युक्त पाँच हैं। नियत चैत्त धर्म सब विषयों में प्रवृत्त न होकर, कुछ विषयों में ही प्रवृत्त होते हैं। ये भी पाँच हैं—छन्द, अधिमोक्ष,

१००–तु०—"अविद्यया चात्मदृष्ट्या चास्मिमानेन तृष्णया।
एभिश्चतुर्भिः संक्लिष्टं मननालक्षणं मनः॥
विपर्यासनिमित्तं तु मनः क्लिष्टं सदैव यत्।
कुशलाव्याकृते चित्ते सदाहंकारकारणम्॥"
(उद्धृत स्थिरमति, पृ० २३)

१०१–स्थिरमति ने सन्धिनिर्मोचन सूत्र से इसी आशय का उद्धरण दिया है (पृ० ३३-३४)।

१०२–"···तृतीयः षड्विधस्य या।
विषयस्योपलब्धिः सा कुशलाकुशलाद्वया॥
सर्वत्रगैर्विनियतैः कुशलैश्चैतसैरसौ।
सम्प्रयुक्ता तथा क्लेशैरुपक्लेशैस्त्रिवेदना॥
... ...
पञ्चानां मूलविज्ञाने यथाप्रत्ययमुद्भवः।
विज्ञानानां सह न वा तरङ्गाणां यथा जले॥
मनोविज्ञानसम्भूतिः सर्वदासंज्ञिकादृते।
समापत्तिद्वयान्मिद्धान्मूर्छनादप्यचित्तकात्॥"
(त्रिंशिका, का० ८–९, १५–१६)

स्मृति, समाधि, एवं प्रज्ञा। कुशल धर्म ग्यारह हैं—श्रद्धा, ह्री, अवपत्रप्य, अलोभ, अद्वेष, अमोह, वीर्य, प्रश्रब्धि, अप्रमाद, उपेक्षा, तथा अहिंसा। क्लेश छः हैं—राग, प्रतिघ, मोह, मान, मिथ्या दृष्टि, तथा विचिकित्सा। उपक्लेश बीस हैं—क्रोध, उपनाह, म्रक्ष, प्रदाह, ईर्ष्या, मात्सर्य, शाठ्य, माया, विहिंसा, मद, अह्री, अत्रपा, औद्धत्य, स्त्यान, अश्रद्धा, कौसीद्य, प्रमाद, मुषित-स्मृतिता, विक्षेप, असम्प्रजन्य। अनियत चार हैं—कौकृत्य, मिद्ध, वितर्क एवं विचार।[१०३] ये चार धर्म द्विविध हैं—क्लिष्ट एवं अक्लिष्ट।

आसंज्ञिक का अर्थ असंज्ञिसत्त्वों में उपपत्ति होने पर चित्त-चैतसिक धर्मों का निरोध है। दो समापत्तियाँ असंज्ञिसमापत्ति तथा निरोध समापत्ति हैं। मिद्ध एवं मूर्छा में भी बुद्धि-व्यापार उपरत होने के कारण वे 'अचित्तक' कहे गये हैं। इन पाँच अवस्थाओं में मनोविज्ञान की प्रवृत्ति नहीं होती।

ये आठ विज्ञान तथा उनसे सम्प्रयुक्त एक्यावन चैत्त धर्म ही विज्ञानपरिणाम तथा वास्तविक धर्म हैं। आठ विज्ञान वस्तुतः अभिन्न हैं। उनका भेद केवल लक्षणार्थ कल्पित है[१०४]।

'विज्ञान का यह त्रिविध-परिणाम विकल्प है जिसके द्वारा विकल्पित अर्थ-जगत् असत् है। अतएव यह समस्त त्रैधातुक विज्ञप्तिमात्र है[१०५]।"

आलयविज्ञान ही सब धर्मों का बीज है। एक जन्म में पूर्वविपाक के क्षीण होने पर कर्मवासना तथा ग्राहद्वय-वासना के साथ दूसरे विपाक की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार जन्म से जन्मान्तर तक आलयविज्ञान का प्रवाह अविच्छिन्न रहता है[१०६]। आलयविज्ञान

१०३–त्रिंशिका, का० १०–१४, स्थिरमति, त्रिंशिकाभाष्य, पृ० २५–३३।

१०४–तु०—लंकावतार, पृ० ३१४—"चित्तंमनश्च विज्ञानं लक्षणार्थं प्रकल्प्यते।
अभिन्नलक्षणान्यष्टौ न च लक्ष्यं न लक्षणम्॥"

१०५–विज्ञानपरिणामोऽयं विकल्पो यद् विकल्प्यते।
तेन तन्नास्ति तेनेदं सर्वं विज्ञप्तिमात्रकम्॥" (त्रिंशिका, का० १७)

१०६–"सर्वबीजं हि विज्ञानं परिणामस्तथा तथा।
यात्यन्योन्यवशाद् येन विकल्पः स स जायते॥
कर्मणो वासना ग्राहद्वयवासनया सह।
क्षीणे पूर्वविपाकेऽन्यद्विपाकं जनयन्ति तत्।" (त्रिंशिका, का० १८–१९)
तु०—"अनादिकालिको धातुः सर्वधर्मसमाश्रयः।
तस्मिन् सति गतिः सर्वा निर्वाणाधिगमोऽपि वा॥"
(अभिधर्मसूत्र, स्थिरमति के द्वारा उद्धृत, पृ० ३७)

ही प्राक्तन संस्कारों से अधिवासित विज्ञान है जो प्रतिसन्धि में नामरूप का प्रत्यय होता है[१०७]। उसकी प्रवृत्ति से संसार तथा व्यावृत्ति से निर्वाण संभव है[१०८]।

सभी विकल्प के विषय मिथ्या हैं। उनका स्वभाव केवल परिकल्पित है। किन्तु ये विकल्प स्वयं हेतुप्रत्यय से उत्पन्न होते हैं तथा इनकी परतन्त्रसत्ता है। इस परतन्त्र सत्ता में परिकल्पित स्वभाव का अभाव ही परतन्त्र की परिनिष्पन्नता है। चित्त-चैत्त रूप विज्ञान-परिणाम ही विकल्प हैं तथा कार्यकारण नियत होने से परतन्त्रलक्षण कहे गये हैं। चित्त-चैत्त में प्रतिभासमान विविध वस्तु-जगत् भ्रांतिमात्र है, तथा परिकल्पित लक्षण कहा गया है। परतन्त्र में परिकल्पित की अवास्तविकता ही परिनिष्पन्न लक्षण है। परिनिष्पन्न परतन्त्र से न अन्य है, न अनन्य। परतन्त्र के बिना उसकी उपलब्धि नहीं होती[१०९]।

परिकल्पित आदि तीन स्वभावों की त्रिविध निःस्वभावता है। इसी को तथागतने सर्व-धर्म-शून्यता कहा है। परिकल्पित स्वभाव में लक्षण-शून्यता है। उदाहरण के लिए रूप, वेदना आदि धर्मों की उनके लक्षणों के अनुसार सत्ता ही नहीं है। वेदना अनुभव-लक्षण है किन्तु इस लक्षण का लक्ष्य वास्तविक नहीं है। परतन्त्रलक्षण में उत्पत्ति-निःस्वभावता है तथा परिनिष्पन्नलक्षण में परमार्थनिःस्वभावता[११०]। परि

१०७–"तस्मादविद्याप्रत्ययाः संस्काराः, तदधिवासि चालयविज्ञानं संस्कारप्रत्ययं विज्ञानं, तत्प्रत्ययं प्रतिसन्धौ नामरूपमित्येवं नीतिरनवद्या।" (स्थिरमति, वहीं, पृ० ३८)

१०८–स्थिरमति, वहीं, पृ० ३८–३९।

१०९–"येन येन विकल्पेन यद्यद् वस्तु विकल्प्यते।
परिकल्पित एवासौ स्वभावो न स विद्यते॥
परतन्त्रस्वभावस्तु विकल्पः प्रत्ययोद्भवः।
निष्पन्नस्तस्य पूर्वेण सदा रहितता तु या॥
अतएव स नैवान्यो नानन्यः परतन्त्रतः।
अनित्यादिवद् वाच्योनादृष्टेऽस्मिन् स दृश्यते॥"
(त्रिंशिका, का० २०–२२)

११०–"त्रिविधस्य स्वभावस्य त्रिविधां निःस्वभावताम्।
सन्धाय सर्वधर्माणां देशिता निःस्वभावता॥
प्रथमो लक्षणेनैव निःस्वभावोऽपरः पुनः।
न स्वयंभाव एतस्येत्यपरा निःस्वभावता॥" (त्रिंशिका, का० २३–२४)

निष्पन्न ही तथता है क्योंकि उसका अन्यथाभाव नहीं होता। परिनिष्पन्न ही विज्ञप्ति मात्रता है[१११]।

जबतक विज्ञान विज्ञप्तिमात्रता में अवस्थित नहीं होता, अपितु ग्राह्यग्राहक वासना से लिप्त रहता है तबतक उसकी निवृत्ति नहीं होती। 'यह विज्ञप्तिमात्र है', इस प्रकार की उपलब्धि को समक्ष स्थापित करने से भी विज्ञप्तिमात्रता में अवस्थिति नहीं होती। अर्थात् विज्ञातृत्व में अभिनिवेश भी विज्ञप्तिमात्रता में बाधक है। ग्राह्यत्याग के अनन्तर ग्राहक-त्याग भी अभीष्ट है। विषयविषयिभाव के प्रहीण होने पर निर्विकल्प लोकोत्तर ज्ञान उत्पन्न होता है तथा चित्त विज्ञप्तिमात्रता में अवस्थित होता है[११२]। (यह स्थिति) अ–चित्त एवं अनुपलम्भ है। वही लोकोत्तर ज्ञान है। वही द्विविध दोपक्षय के कारण आश्रय की परावृत्ति है। वही कुशल, शाश्वत एवं अचिन्त्य अनास्रव धातु है। वही सुखात्मक विमुक्तिकाय तथा महामुनि की धर्मकाय है[११३]। विज्ञेय अर्थों की अनुपलब्धि तथा विज्ञातृत्वभाव के त्याग के कारण विज्ञप्तिमात्रता को चित्तरहित तथा उपलब्धिरहित कहा गया है। यह स्मरणीय है कि द्वैत-निविष्ट मन अथवा चित्त का क्षय अनेक आध्यात्मिक दर्शनों में द्वैतहीन परमार्थ के साक्षात्कार के लिए आवश्यक

१११–"धर्माणां परमार्थश्च स यतस्तथतापि सः।
सर्वकालं तथाभावात् सैव विज्ञप्तिमात्रता॥"
(वही, का० २५)

११२–"यावद्विज्ञप्तिमात्रत्वे विज्ञानं नावतिष्ठति।
ग्राहद्वयस्यानुशयस्तावन्न विनिवर्तते॥
विज्ञप्तिमात्रमेवेदमित्यपि ह्युपलम्भतः।
स्थापयन्नग्रतः किंचित् तन्मात्रे नावतिष्ठते॥
यदालम्बनं विज्ञानं नैवोपलभते तदा।
स्थितं विज्ञानमात्रत्वे ग्राह्याभावे तदग्रहात्॥"
(वही, का० २६–२८)

११३–"अचित्तोऽनुपलम्भोऽसौ ज्ञानं लोकोत्तरं च तत्।
आश्रयस्य परावृत्तिर्द्विधा दौष्ठुल्यहानितः॥
स एवानास्रवो धातुरचिन्त्यः कुशलो ध्रुवः।
सुखो विमुक्तिकायोऽसौ धर्माख्योऽयं महामुनेः॥"
(वही, का० २९–३०)

माना गया है[११४]। द्वैतविलय तथा चित्तक्षय की इस अवस्था में विषय-विषयिभावपूर्वक ज्ञान का अभाव होने के कारण इसे अनुपलम्भ कहा गया है, किन्तु यह ज्ञान का सर्वथा अभाव नहीं है। वस्तुतः यही लोकोत्तर ज्ञान है।

आश्रय का अर्थ आलयविज्ञान है। द्विविध दोष क्लेशावरण तथा ज्ञेयावरण हैं। इनका मूल आलयगत अकर्मण्यता है। उसकी निवृत्ति होने पर अद्वयज्ञान का आविर्भाव होता है। आलयविज्ञान में संचित संसार के मूलभूत दोषों की निवृत्ति तथा पारमार्थिक ज्ञान का उदय; यही 'आश्रयपरावृत्ति' है[११५]।

दोषों के द्वैविध्य के कारण यह आश्रयपरावृत्ति भी द्विविध है—सोत्तरा तथा निरुत्तरा। श्रावकों के क्लेशावरणक्षय से पहली प्राप्त होती है। यही सुखात्मक विमुक्तिकाय है। बोधिसत्त्वों के ज्ञेयावरणक्षय से बुद्ध की धर्मकाय प्रकाशित होती है[११६]। यही अनास्रव धातु है। यह तर्क की अगोचर तथा प्रत्यात्मवेदनीय है। नित्य होने के कारण ही इसे सुखात्मक कहा गया है, क्योंकि अनित्य वस्तु दुःखात्मक होती है।

वसुबन्धु ने विज्ञानवाद को एक परिष्कृत शास्त्रीय रूप प्रदान किया तथा उसके विरुद्ध आक्षेपों का तार्किक परिहार किया। वसुबन्धु अपने समय के प्रसिद्धतम बौद्ध आचार्य थे। उनके दर्शन में न्यायानुसारिता स्पष्ट है यद्यपि उन्होंने आगमानुसरण का सर्वथा "परित्याग" नहीं किया है। उनके चार विख्यात शिष्य थे—स्थिरमति, विमुक्तसेन, गुणप्रभ, तथा दिङ्नाग। स्थिरमति ने वसुबन्धु की त्रिंशिका पर भाष्य तथा उनके **मध्यान्तविभंगसूत्र-भाष्य** पर टीका लिखी। ये संस्कृत में उपलब्ध हैं।

११४–तु०—बृ० उप० "न प्रेत्यसंज्ञास्तीति" इत्यादि जहाँ द्वैतज्ञान का विलोप सूचित है। "विज्ञातारं वाऽरे केन विजानीयात्" का आशय भी यही है—विज्ञेय के अभाव में विज्ञातृत्व किस प्रकार शेष रहेगा? योग का लक्षण ही "चित्त-वृत्ति-निरोध" किया गया है। सांख्य में भी अकर्तृत्व बुद्धिसापेक्ष है, पुरुष चिन्मात्र है। नैयायिकों की मुक्ति में भी मानसिक ज्ञान क्षीण हो जाता है। वेदान्त में भी वृत्तिज्ञान अन्य है, ज्ञानात्मक ब्रह्म अन्य। तु० "विसंखारगतं चित्तं तण्हानं खयमज्झगा" (धम्मपद, दे० ऊपर)।

११५–द्र०—स्थिरमति, पृ० ४४।

११६–वहीं, तु०—"ज्ञेयमादानविज्ञानं द्वयावरणलक्षणम्।
सर्वबीजं क्लेशबीजं बन्धस्तत्र द्वयोर्द्वयोः॥"
(गाथा वहीं उद्धृत। "द्वयोः" का अर्थ है "श्रावकबोधिसत्वयोः")

इनकी अनेक अन्य रचनाओं का उल्लेख मिलता है—**अभिधर्मकोश** पर **करकाशनि** नाम की व्याख्या, **अभिधर्मसमुच्चय** तथा वसुबन्धु के ८ ग्रन्थों पर व्याख्याएँ, **काश्यप-परिवर्त** पर व्याख्या। अभिधर्म में स्थिरमति को वसुबन्धु से भी अधिक पण्डित कहा गया है। स्थिरमति की शिष्यपरम्परा में, पूर्णवर्धन, जिनमित्र, तथा शीलेन्द्रबोधि के नाम उल्लिखित हैं।

विमुक्तसेन प्रज्ञापारमिता में पारंगत थे। वे पहले कौरुकुल्लक सम्प्रदाय के थे तथा आचार्य बुद्धदास के भतीजे थे। उनकी **अभिसमयालंकार** पर व्याख्या प्रसिद्ध है। गुणप्रभ विनय के विद्वान् थे। उनका जन्म ब्राह्मण परिवार में हुआ था। उन्हें मूल सर्वास्तिवाद के विनय का प्रामाणिक ज्ञान था।

दिङ्नाग—दिङ्नाग ने दक्षिण में कांची के निकट सिंहवक्त्र के ब्राह्मण परिवार में जन्म लिया था। प्रारम्भ में वे एक वात्सीपुत्रीय आचार्य नागदत्त के शिष्य थे। किन्तु पीछे वे वसुबन्धु के शिष्य बने तथा उन्होंने तीनों यानों का अध्ययन किया। वे विज्ञानवाद तथा तर्कशास्त्र में विशेष रूप से निष्णात थे। उन्होंने **अभिधर्मकोश-मर्म-प्रदीप, अष्टसाहस्रिकापिण्डार्थ, गुणापर्यन्तस्तोत्रव्याख्या, आलम्बनपरीक्षा, त्रिकाल-परीक्षा, हेतुचक्रसमर्थन, न्यायमुख,** आदि १० ग्रन्थों की रचना की। अपने अनेक निबन्धों को संगृहीत कर उन्होंने **प्रमाणसमुच्चय** नाम के सुप्रसिद्ध ग्रन्थ की रचना की तथा उसपर स्वयं वृत्ति लिखी। पीछे जिनेन्द्रबुद्धि ने इस पर **विशालामलवती** नाम की व्याख्या लिखी। दुर्भाग्यवश दिङ्नाग का कोई ग्रन्थ संस्कृत में शेष नही है। '**न्याय-प्रवेश**' नाम का संस्कृत में उपलब्ध ग्रन्थ दिङ्नाग की कृति है अथवा उनके शिष्य शंकर-स्वामी की, यह निश्चित नहीं हो पाया है। तिब्बती परम्परा दिङ्नाग को 'न्यायप्रवेश' का लेखक बताती है, चीनी परम्परा शंकर स्वामी को।

दिङ्नाग को मध्यकालीन तर्कशास्त्र का प्रवर्तक कहा गया है। उन्होंने [illegible] को न केवल आगम से मुक्त किया अपितु पारमार्थिक तत्त्वचिन्तन से भी उसे पृथक् करने का प्रयास किया। उनकी दृष्टि से तर्कशास्त्र के नियम व्यवहारोपयोगी हैं तथा विभिन्न शास्त्रीय सम्प्रदायों के लिए समान हैं। यहीं से विशुद्ध न्यायशास्त्र का उदय मानना चाहिए। और यही कारण है कि दिङ्नाग के अपने पारमार्थिक सिद्धान्तों के विषय में नाना मत प्रस्तुत किये गये हैं। दिङ्नाग को न केवल योगाचार, या सौत्रा-न्तिक, या सौत्रान्तिक–योगाचार, अपितु वैभाषिक, अथवा माध्यमिक तक कहा गया है! वस्तुतः उनकी '**आलम्बनपरीक्षा**' से उन्हें विज्ञानवादी मानना चाहिए, यद्यपि '**प्रमाणसमुच्चय**' में सौत्रान्तिक छाया देखी जा सकती है।

दिङ्नाग ने **न्यायभाष्यकार** वात्स्यायन तथा सम्भवत: प्रशस्तपाद का **खण्डन किया** है। दूसरी ओर उनका खण्डन **न्यायवार्तिककार** उद्योतकर ने किया है। **दिङ्नाग की** कृतियों के चीनी अनुवाद ई० ५५७ तथा ई० ५६९ के बीच उपलब्ध होते हैं। **दिङ्नाग** को सम्भवत: पाँचवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में रखना चाहिए।

वसुबन्धु के विज्ञानवाद का उनके अनन्तर अनेक धाराओं में विकास हुआ। **नालन्दा** में दिङ्नाग, अगोत्र तथा धर्मपाल के सहारे एक परम्परा अग्रसर हुई। **वलभी में गुण-**मति तथा स्थिरमति दूसरी परम्परा के आचार्य थे। नन्द, परमार्थ तथा जयसेन तीसरी धारा में उल्लेखनीय हैं। सातवीं शताब्दी में श्वान्च्वांग ने अपने **विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि शास्त्र** में प्राय: दो शताब्दियों का विज्ञानवादी दार्शनिक विकास संगृहीत किया। **विशुद्ध** विज्ञानवादी परम्परा का इसे चरम बिन्दु मानना चाहिए। दूसरी ओर दिङ्नाग के 'सौत्रान्तिक-योगाचार' मत का तथा बौद्धन्याय का चरम विकास धर्मकीर्ति की रचनाओं में देखा जा सकता है। इसी परम्परा में शान्तरक्षित तथा कमलशील को मानना चाहिए।

श्वान्च्वांग की **सिद्धि** से वसुबन्धु के मुख्य सिद्धान्त— 'विज्ञानपरिणाम'—के विकास का परिचय मिलता है। असंग तक ज्ञान के दो अंश या भाग माने जाते थे— ग्राह्यभाग तथा ग्राहकभाग। अर्थात् ज्ञान ही एक ओर विषयरूप से प्रकट होता है, दूसरी ओर विषयिरूप से। ज्ञान का यह ज्ञेयांश 'निमित्तभाग' कहलाता है, ज्ञातृरूप अंश 'दर्शनभाग'। ज्ञेय को 'निमित्त' कहने से इसका मिथ्यात्व तथा ज्ञान के अन्तर्भूत प्रतिभासमात्र होना सूचित होता है। आचार्य नन्द और बन्धुश्री इन्हीं दो भागों की सत्ता स्वीकार करते थे। 'दर्शनभाग' विज्ञान का आभ्यन्तर तत्त्व है। वही बाह्य 'निमित्त-भाग' के रूप में परिणत होता है। अतएव 'परतन्त्र' होते हुए भी वह 'परिकल्पित-तुल्य' है। जहाँ तक 'दर्शनभाग' ग्राहकतया प्रतिभासित होता है, वह (दर्शनभाग) भी निमित्तभाग में संग्राह्य है। इसके विपरीत स्थिरमति 'निमित्तभाग' तथा 'दर्शनभाग', दोनों को ही परिकल्पित मानते हैं।

दिङ्नाग ने ज्ञाता, ज्ञान तथा ज्ञेय का त्रिविध भेद प्रतिपादित किया। ज्ञाता अथवा ग्राहक ही दर्शनभाग है, ज्ञेय अथवा ग्राह्य ही 'निमित्तभाग' तथा ज्ञान अथवा उपलब्धि ही 'संवित्तिभाग' अथवा 'स्वाभाविकभाग' है। प्रकारान्तर से 'दर्शनभाग' ही प्रमाण है, 'निमित्तभाग' ही प्रमेय, तथा 'संवित्तिभाग' ही प्रमाणफल। निमित्तभाग विज्ञान का आलम्बन है, दर्शनभाग आकार अथवा विज्ञप्ति है; संवित्तिभाग इन दोनों का आश्रय तथा विज्ञान का स्वभाव है। संवित्ति अथवा संवेदन स्वसंवित्ति या स्वसंवेदन भी कहे गये हैं। ज्ञान न केवल अपने विषय का प्रकाश करता है, अपितु अपना भी। स्वप्रका-

शता ज्ञान का सर्वस्व है। विज्ञान के ये तीन भाग विज्ञान से पृथक् नहीं हैं। एक अभिन्न विज्ञान में ही ये त्रिविध भेद प्रतिभासित होते हैं।

धर्मपाल ने इन तीन भागों के अतिरिक्त एक चतुर्थ की कल्पना की है—स्वसंवित्तिसंवित्तिभाग'। नीलात्मक आलम्बन 'निमित्त' है, नीलाकार उपलब्धि 'दर्शन' है, 'मैं नील की उपलब्धि कर रहा हूँ'', यह ज्ञान स्वसंवित्ति है, स्वसंवित्ति का ज्ञान स्वसंवित्ति-संवित्ति है। धर्मपाल इस चतुर्थ भाग की कल्पना में अनवस्था नहीं मानते।

आलयगत बीजों के विषय में भी श्वान्च्वांग ने विभिन्न मतों का उल्लेख किया है। आचार्य चन्द्रपाल के अनुसार सभी बीज अनादिकालिक तथा प्रकृतिस्थ हैं। वासना जन्य नहीं। क्लिष्ट तथा अक्लिष्टबीज सभी स्वाभाविक हैं। इसके विपरीत नन्द और श्रीसेन के अनुसार सभी बीज भावनाजन्य है, अर्थात् बीज और वासना पर्याय हैं। धर्मपाल के अनुसार बीज द्विविध हैं—कुछ अनादि एवं प्रकृतिसिद्ध, कुछ वासनात्मक। यदि सभी बीज प्रकृतिसिद्ध होते तो प्रवृत्तिविज्ञान आलयविज्ञान के हेतुप्रत्यय न बन पाते। दूसरी ओर यदि प्रकृतिसिद्ध अक्लिष्ट बीज न होते तो दर्शनभाग के प्रथम क्षण में विशुद्ध धर्म की उत्पत्ति के लिए हेतुप्रत्यय ही न होता।

दिङ्नाग के पूर्व योगाचार-सम्प्रदाय में तीन प्रमाणों की सत्ता स्वीकृत थी। दिङ्नाग ने **प्रमाणसमुच्चय** में सब प्रमाणों का दो में ही अन्तर्भाव प्रतिपादित किया। उनके पश्चात् यह सिद्धान्त बौद्धों में प्रायः स्वीकृत हो गया कि प्रत्यक्ष तथा अनुमान ही दो प्रमाण हैं। वसुबन्धु ने प्रत्यक्ष का लक्षण 'ततोऽर्थादुत्पन्नं विज्ञानम्' (='उस अर्थ से उत्पन्न विज्ञान') किया था। इस लक्षण में बाह्य-अर्थ की सत्ता स्वीकृत होने से दिङ्नाग ने इसकी ओर अरुचि प्रकट की। उनका अपना प्रत्यक्ष-लक्षण इस प्रकार है 'प्रत्यक्षं कल्पनापोढं नामजात्याद्यसंयुतम्।' इसके अनुसार प्रत्यक्ष निर्विकल्पक अथवा कल्पनारहित ज्ञान है। कल्पना नाम, जाति आदि के संयोजन को कहते हैं।

हेतु के द्वारा अर्थ की उपलब्धि अनुमान है, जिसके तीन अवयव हैं—पक्षवाक्य, हेतुवाक्य, तथा दृष्टान्तवाक्य। न्यायशास्त्र में परार्थानुमान के पांच अवयव माने जाते हैं—प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय, तथा निगमन। दिङ्नाग ने अन्तिम दो अवयवों को अनावश्यक माना तथा उदाहरण अथवा दृष्टान्त को व्याप्तिवाक्य में परिवर्तित कर दिया। दिङ्नाग ने ही अनुमान में व्याप्ति का सर्वोपरि महत्त्व इस प्रकार स्पष्ट किया। पक्ष को दिङ्नाग ने प्रसिद्ध धर्मी कहा है। धर्मविशिष्ट धर्मी साध्य है। हेतु के तीन रूप हैं—पक्षधर्मता, सपक्षवृत्ति, विपक्षव्यावृत्ति। दृष्टान्त में अन्वय अथवा व्यतिरेक से हेतु और साध्य का सम्बन्ध प्रतिपादित होता है।

दिङ्नाग के शिष्य ईश्वरसेन थे, तथा उनके शिष्य धर्मकीर्ति कहे गये हैं। धर्मकीर्ति भी जन्मना दक्षिणात्य ब्राह्मण थे तथा वे ज्ञानार्जन के लिए नालन्दा आये। कहा जाता है कि उस समय वसुबन्धु के शिष्य धर्मपाल वहाँ जीवित थे। किन्तु धर्मकीर्ति और दिङ्नाग-वसुबन्धु के बीच में समय का अधिक व्यवधान होना चाहिए क्योंकि धर्मकीर्ति का श्वान्च्वांग ने उल्लेख नहीं किया जबकि इंचिग ने किया है। दूसरी ओर धर्मकीर्ति कुमारिल से परिचित हैं। उन्हें सातवीं शताब्दी में रखना उचित होगा।

धर्मकीर्ति—धर्मकीर्ति ने न्याय सम्बन्धी सात ग्रन्थ लिखे हैं, जो कि तर्कशास्त्र के अध्ययन में परवर्ती बौद्धों के लिए प्रमाणभूत हैं। इनमें **प्रमाणवार्तिक** प्रधान है, शेष छः की उसकी पादरूप में कल्पना की जाती है। **प्रमाणवार्तिक** के चार खंड हैं जिनमें स्वार्थानुमान, प्रामाण्य, प्रत्यक्ष एवं परार्थानुमान का निरूपण है। इसमें प्रायः २,००० संक्षिप्त श्लोकों में समस्त विषय का प्रतिपादन हुआ है। इसके अतिरिक्त धर्मकीर्ति के अन्य ग्रन्थों के नाम इस प्रकार हैं—**प्रमाणविनिश्चय** जो कि प्रमाणवार्तिक का संक्षेप है, **न्यायबिन्दु** जो उसका और भी लघुकाय संक्षेप है। **हेतुबिन्दु, सम्बन्धपरीक्षा, चोदनाप्रकरण, सन्तानान्तरसिद्धि**। इन ग्रन्थों में **न्यायबिन्दु** एवं **प्रमाणवार्तिक** संस्कृत में उपलब्ध एवं प्रकाशित हैं।

धर्मकीर्ति को प्रमाणवार्तिक के प्रथम खंड पर ही अपनी व्याख्या लिखने का अवकाश मिला था। शेष भागों पर उन्होंने अपने शिष्य देवेन्द्रबुद्धि से व्याख्या करने के लिए कहा था, किन्तु उसके कार्य से उन्हें सन्तोष नहीं हुआ, यह तारानाथ से ज्ञात होता है। प्रमाणवार्तिक के परिच्छेदों का क्रम विचित्र प्रतीत होता है। प्रामाण्य से प्रारम्भ करने के स्थान पर स्वार्थानुमान से प्रारम्भ किया गया है। पुनश्च प्रत्यक्ष के अनन्तर अनुमान की चर्चा होने के स्थान पर अनुमान की चर्चा पहले की गयी है। इस क्रमवैचित्र्य पर परवर्ती व्याख्याकारों में मतभेद उत्पन्न हुआ। **प्रमाणवार्तिक** के व्याख्याकारों के दो मुख्य सम्प्रदाय हैं। एक ओर देवेन्द्र बुद्धि, शाक्यबुद्धि आदि की कृतियाँ हैं जिनमें प्रमाणवार्तिक के शब्दार्थ को विशेष महत्त्व दिया गया है। दूसरी ओर धर्मोत्तर, अनन्दवर्धन, शंकरानन्द आदि काश्मीरक आचार्यों ने प्रमाणवार्तिक के निगूढ़ दार्शनिक आशय के विश्लेषण का प्रयत्न किया है। व्याख्याकारों की एक तीसरी परम्परा भी आदित है जिसमें बुद्ध की प्रमाणभूतता की व्यवस्था में ही प्रमाणवार्तिक का मर्म माना गया है। इस सम्प्रदाय के प्रवर्तक प्रज्ञाकर गुप्त थे।

धर्मकीर्ति दिङ्नाग के वार्तिककार थे। वार्तिक को 'उक्तानुक्तदुरुक्तचिन्ता' कहा गया है। धर्मकीर्ति ने भी उद्योतकर आदि की आलोचना के निराकरण के लिए दिङ्नाग

के सिद्धान्तों में परिवर्तन तथा परिवर्धन किया। उदाहरण के लिए उन्होंने दिङ्नागीय प्रत्यक्ष के लक्षण में 'अभ्रान्त' पद का संनिवेश किया—'प्रत्यक्षं कल्पनापोढमभ्रान्तम्।' इस परिष्कृत लक्षण से प्रत्यक्ष का द्विचन्द्रादि दर्शन रूप भ्रान्तियों से विवेक करना सरल हो जाता है। धर्मकीर्ति ने प्रत्यक्ष तथा अनुमान की विषय-व्यवस्था भी की—प्रत्यक्ष का विषय स्वलक्षण है, अनुमान का सामान्यलक्षण। ये परिष्कार सौत्रान्तिक दृष्टि से किये गये प्रतीत होते हैं क्योंकि योगाचार मत से सभी प्रत्यक्ष में भ्रान्तता अनिवार्य है। यदि 'अभ्रान्त' का अर्थ 'अविसंवादक' अथवा व्यवहारसमर्थ किया जाय तो अवश्य धर्मकीर्ति का लक्षण योगाचार से समंजस हो सकता है। किन्तु तो भी प्रत्यक्ष का विषय स्वलक्षण नहीं कहा जा सकता। कदाचित् यह कहना होगा कि यद्यपि **सन्तानान्तर-सिद्धि, प्रमाणविनिश्चय** तथा **प्रमाणवार्तिक** विज्ञानवाद की दृष्टि से लिखे गये हैं, **न्याय बिन्दु** सौत्रान्तिक दृष्टि से विरचित है।

विज्ञप्तिमात्रता के समर्थन में धर्मकीर्ति ने नवीन युक्तियाँ प्रस्तुत की हैं। बाह्य विषयों की सत्ता सिद्ध करने के लिए उनकी प्रतीति को ठीक हेतु नहीं माना जा सकता क्योंकि वह व्यभिचारी है। दूसरी ओर बाह्य विषयों की सत्ता नहीं मानी जा सकती क्योंकि वह विचारसह नहीं है। विषय यदि ज्ञान के अतिरिक्त है तो ज्ञान और विषय का सम्बन्ध दुरुपपाद हो जायगा। विषय ज्ञान का हेतु तथा आलम्बन माना जाता है। यदि विषय ज्ञान का हेतु है तो उससे पूर्ववर्ती होगा। ऐसी स्थिति में विषय ज्ञान का वर्तमान आलम्बन नहीं हो सकता है। यह कहा जा सकता है कि विषय की ज्ञान के प्रति हेतुता इसी में है कि वह ज्ञान में अपना आकार अर्पित करता है। किन्तु विषयगत आकार विषय से निर्गत होकर ज्ञानगत किस प्रकार हो जाएगा? यदि कहा जाय कि विषय के आकार के सदृश आकार ज्ञान में उत्पन्न हो जाता है, तो भी यह बताना होगा कि ज्ञान के अन्तर्गत आकार की ज्ञान के बहिर्गत आकार से तुलना किस प्रकार होगी? इन दो आकारों में पहला सदाविदित है, दूसरा सदा अविदित। वस्तुतः ज्ञान और उसके विषय का सम्बन्ध 'सहोपलम्भ नियम' से परिगृहीत है। ज्ञान के होने पर विषय की उपलब्धि होती है, ज्ञान के न होने पर विषय की उपलब्धि नहीं होती। ज्ञान और विषय अलग-अलग उपलब्ध न होकर सदैव साथ ही उपलब्ध होते हैं। अतएव इन दोनों को अभिन्न मानना चाहिए। यदि ज्ञानाकार विषयाकार के तुल्य है तो विषयाकार पुनरुक्तिवत् अनावश्यक है। यदि ज्ञानाकार विषयाकार से भिन्न है तो विषयाकार नित्य-अज्ञात होने से अनावश्यक है।

फलतः ज्ञानमात्र सत्य है, उसी में ज्ञाता और ज्ञेय का भेद उल्लसित होता है।

यह भेद एक भ्रान्ति है जैसे एक चन्द्रमा के स्थान पर दो का दीखना। यह कहा जा सकता है कि ज्ञान और ज्ञेय को अनन्य कर देने से एक ओर ज्ञेयलोप के कारण यथार्थ तथा अयथार्थ ज्ञान का भेद लुप्त हो जायगा, दूसरी ओर ज्ञानलोप होने से जगदान्ध्य-प्रसक्त हो जायगा। यदि ज्ञान के बाहर ज्ञेय नहीं हैं तो सब ज्ञान बराबर ही सत्य अथवा मिथ्या हैं। यदि ज्ञेय रूप से प्रकाशमान वस्तु ज्ञान ही है तो इस 'वस्तु' की प्रसिद्धि कैसे होती है? क्या ज्ञान किसी दूसरे ज्ञान का विषय होकर प्रकाश मे आता है? यदि यह माना जाय तो अनवस्था दुर्निवार है। इन शंकाओं का उत्तर यह है कि व्यावहारिक दृष्टि से प्रामाणिकता का अर्थ अविसंवादकता है, 'यथार्थता' नहीं। बाह्य विषयों के न होने पर भी व्यवहारसामर्थ्य की दृष्टि से ज्ञान में भेद देखा जा सकता है। अथवा यह कहा जा सकता है कि पारमार्थिक बुद्धज्ञान के लिए विज्ञप्तिमात्रता सत्य होते हुए भी प्रमाण-प्रमेय की व्यवस्था द्वैतग्रस्त व्यवहार के अधीन है। दूसरी ओर, ज्ञान को स्वप्रकाश मानना अनिवार्य है। अन्यथा हर प्रकार मे अनवस्था प्रसक्त होगी। माध्यमिक आदि विरोधियों के विपक्ष में धर्मकीर्ति ने 'स्वसंवेदन' का प्रबल समर्थन किया है। यह स्मरणीय है कि धर्मकीर्ति के विज्ञानवाद में आलयविज्ञान का स्थान नगण्य है।

यह उल्लेखनीय है कि अनुमान के क्षेत्र में धर्मकीर्ति ने दिङ्नाग के हेतु-त्रैरूप्य को नवीन एवं परिष्कृत रूप दिया। अनुमान का आधार स्वभाव, कार्यकारणसम्बन्ध, अथवा अनुपलब्धि ही हो सकते हैं। इस विश्लेषण ने व्याप्ति को सुनिश्चित वैज्ञानिक रूप प्रदान किया।

और न तार्किक खंडन से किसी धर्म का लोप माना जा सकता है। वस्तुतः बौद्ध धर्म प्रधानतया भिक्षुओं का धर्म था तथा इन भिक्षुओं का जीवन विहारों में केन्द्रित था। उपासकों के लिए बौद्ध धर्म ने अपने पृथक और पर्याप्त नैतिक-सामाजिक आचार एवं संस्थाएँ नहीं गढ पायी थीं। नैयायिक उदयन का कहना है कि बौद्ध भी वैदिक संस्कारों का पालन करते थे। उपासकों का बौद्ध धर्म मुख्यतया विहारों और चैत्यों के लिए दान तथा तारा, लोकेश्वर आदि की प्रतिमाओं का अर्चन ही था। बौद्ध विहार प्रायः राजाओं के द्वारा प्रदत्त अथवा अनुमत भूमिदान पर निर्भर करते थे। इसी कारण बौद्ध धर्म के प्रचार में राजकीय समर्थन एवं प्रोत्साहन का विशेष हाथ रहा है। दक्षिण और पश्चिम में हिन्दू शासकों की उपेक्षा अथवा वैमुख्य से तथा उत्तर में तुर्कों की विजय से बौद्ध विहार नष्ट और लुप्त हो गये। विहारों के लोप से उपासकों की क्षीण बौद्धता का विलोप अनिवार्य था।

अध्याय १२

बौद्ध धर्म की परिणति और ह्रास

सद्धर्म का परिणति काल—चौथी से सातवीं सदी तक का युग प्राचीन भारत का स्वर्ण काल कहा जाता है। अनेक दृष्टियों से बौद्ध धर्म के लिए भी इसे अत्यन्त महत्त्व-पूर्ण मानना होगा। जैसा ऊपर देखा जा चुका है हीनयान और महायान के दर्शन का इस युग में चरम उत्कर्ष हुआ और बौद्ध कला के इतिहास में भी गुप्त काल की प्रति-माएँ तथा अजन्ता की चित्रकारी मूर्धन्य-भूत हैं। इसी युग में सद्धर्म का पूर्वी एशिया में प्रचार कोरिया और जापान तक पहुँचा तथा चीन में सद्धर्म के मुख्य सम्प्रदायों ने निश्चित रूप प्राप्त किया। अनेक चीनी यात्रियों के विवरण इस स्वर्ण-कालीन बौद्ध संसार को हमारे सामने प्रत्यक्षवत् उपस्थित करते हैं। चीन में सद्धर्म के प्रवेश के अनन्तर भारत में आने वाला पहला चीनी यात्री फाश्येन था जो विनय की खोज में मध्य एशिया से होकर भारत आया तथा सामुद्रिक मार्ग से चीन लौटा। फाश्येन ने ई० ३९९ में छंग अन से अपनी यात्रा आरम्भ की थी और तुन ह्वंग, कराशहर, खोतन, काशगर, पुरुषपुर और मथुरा के मार्ग से वह छः वर्ष में मध्य देश पहुँचा जहाँ उस समय चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य का शासन था। मध्यदेश में छः वर्ष व्यतीत कर फाश्येन ताम्रलिप्ति से सिंहल और जावा होते हुए अनेक प्रावातिक दुर्घटनाओं से कथंचित् उत्तीर्ण हो दो वर्ष में चीन पहुँचा। ई० ३९९-४१४ में सम्पन्न हुई फाश्येन की यात्रा मध्य एशिया, उत्तरी भारत और सिंहल में बौद्ध धर्म की गुप्त काल के उत्कर्ष के समय की स्थिति प्रकाशित करती है। ई० ५१८ में सुंगयुन और ह्विशंग को उत्तरी वेइ वंश की सम्राज्ञी ने ग्रन्थ संकलन के लिए भारत भेजा। उन्होंने वाल्हीक और गन्धार में ये-था जाति को अधिकार में पाया। पुरुषपुर और नगरहार तक पहुँच कर सुंग-युन ई० ५२१ में चीन लौट आया। श्वान्-च्वांग की भारत यात्रा ई० ६२९-४५ में सम्पन्न हुई। श्वान्-च्वांग मध्यएशिया से होकर उत्तरी मार्ग के द्वारा भारत आया था तथा सम्राट् हर्षवर्धन के समय में प्रायः समस्त भारत घूम कर मध्य एशिया के दक्षिणी मार्ग से चीन लौट गया था। श्वान्-च्वांग विशेष रूप से योगाचार शास्त्र का जिज्ञासु था। उसके विवरण से भारत में

बौद्ध धर्म की ह्रासोन्मुखता सूचित होती है। इ-त्सिंग ६७१ में जलमार्ग से भारत के लिए प्रस्थित हुआ तथा ताम्रलिप्ति ६७३ में पहुँचा। कौशाम्बी तक उसने प्रमुख बौद्ध तीर्थों की यात्रा की तथा १० वर्ष नालन्दा में व्यतीत कर जलमार्ग से ही सुमात्रा होते हुए ६९५ में चीन वापस पहुँचा। इत्सिंग का मुख्य प्रयोजन विनय की खोज थी और उसके विवरण में भी मूलसर्वास्तिवादी सम्प्रदाय के वैनयिक आचार का ही मुख्यतया निरूपण है और इस प्रसंग में उसने चीनी और भारतीय बौद्ध भिक्षुओं का आचारभेद भी प्रकट किया है।

फाश्येन के विवरण से स्पष्ट है कि पाँचवीं शताब्दी के प्रारम्भ में मध्यदेश तथा उत्तरापथ में सद्धर्म की स्थिति सन्तोषजनक थी। बौद्ध धर्म के प्राचीन केन्द्रों में केवल कपिल-वस्तु, श्रावस्ती, गया और वैशाली में ही ह्रास देखा जा सकता था। श्रावस्ती और कपिलवस्तु में इस ह्रास का कारण स्पष्ट ही इन नगरों का ह्रास था। ह्वान्-च्वांग के विवरण से ७वीं शताब्दी तक सद्धर्म का ह्रास स्पष्ट विदित होता है। उसने स्वयं इस प्रकार की आशंका अनेक बार प्रकट की है[1]। यह स्मरणीय है कि अनित्य-तावादी बौद्ध धर्म पहले से ही स्वयं अपने विनाश के प्रति सशंक था। **चुल्लवग्ग** में भगवान् बुद्ध ने भविष्यवाणी की है कि स्त्रियों की प्रव्रज्या के कारण सद्धर्म १००० वर्षों के स्थान पर ५०० वर्ष ही रहेगा। **अक्षयमतिनिर्देश** में पंचशती उन्नति की और पंच-शती अवनति की कही गयी हैं। **करुणापुण्डरीक** में सद्धर्म की स्थिति के १००० वर्ष के अनन्तर और ५०० वर्ष बताये गये हैं। **चन्द्रगर्भनिर्देश** में २००० वर्ष तथा **वज्रच्छे-दिका** की एक व्याख्या में २५००० वर्षों का उल्लेख है। अन्यत्र सद्धर्म के लिए ५००० वर्षों का जीवन बताया गया है[2]।

उत्तर पश्चिम में सम्भवतः हूणों के कारण सद्धर्म की पहले क्षति हुई थी। ह्वान्-च्वांग ने गन्धार और उड्डियान में बहुसंख्यक संघारामों को उजड़ा हुआ पाया[3]। किन्तु कपिशा, कश्मीर और जालन्धर में अभी बौद्ध विहार और भिक्षु प्रचुर थे। वर्तमान उत्तर प्रदेश में ह्वान्-च्वांग ने बौद्ध धर्म की अवनति और अल्प-प्रचार निश्चित रूप से सूचित किया है। केवल कन्नौज, अयोध्या और वाराणसी में ही सद्धर्म की स्थिति का सुधार हुआ प्रतीत होता है। कन्नौज में यह सुधार निश्चित है और इसका कारण

१—उदा०, वाटर्स, जि० १, पृ० १२०।
२—द्र०—सुबोन, जि० २, पृ० १०३–४।
३—वाटर्स, जि० १, पृ० २०२, २२६।

सम्राट् हर्षवर्धन की कृपा मानना चाहिए। बिहार में पाटलिपुत्र और नालन्दा बौद्ध केन्द्र थे। बंगाल में उस समय बौद्ध धर्म का अपने प्रतिद्वन्द्वियों से अधिक प्रचार न था। आसाम में उसका प्रचार सर्वथा न था। कलिंग, आन्ध्र तथा चोल प्रदेश में बौद्ध धर्म लुप्तप्राय था[४]। उड्र, द्रविड़, कोंकण, महाराष्ट्र, मालव, वलभी और सिन्ध में सद्धर्म समृद्ध था, किन्तु मुलतान में क्षीण[५]।

श्वान्-च्वांग ने सर्वाधिक प्रचार साम्मितीयों का पाया, उनके अनन्तर क्रमशः स्थविरों का तथा फिर सर्वास्तिवादियों का। लोकोत्तरवादी केवल बामियान में थे, महीशासक, काश्यपीय और धर्मगुप्तों का श्वान्-च्वांग ने उड्डियान में उल्लेख किया है। कुछ सौत्रान्तिक स्रुघ्न में थे, तथा कुछ महासांघिक कश्मीर और धनकटक में। श्वान्-च्वांग के अनुमान से उस समय भारत में लगभग २५०० विहारों में प्रायः १६०,००० भिक्षु रहे होंगे।

इ-त्सिंग के अनुसार यद्यपि १८ निकायो की चर्चा प्राप्त होती है, वस्तुतः उस समय अविच्छिन्न परम्परा के चार ही मुख्य सम्प्रदाय थे—आर्यमहासांघिकनिकाय, आर्य-स्थविरनिकाय, आर्यमूलसर्वास्तिवादनिकाय तथा आर्यसम्मितीयनिकाय[६]। इनमें से किसे महायान में तथा किसे हीनयान में गिना जाय, यह व्यवस्थित नहीं था। उत्तर भारत तथा दक्षिण-पूर्वी द्वीपों में वे साधारणतया हीनयानी थे, चीन में महायानी, तथा अन्यत्र हीनयानी कहीं महायानी। दोनों समान विनय का अनुसरण करते थे। जो बोधिसत्त्वों की पूजा तथा महायान-सूत्रों का पाठ करते थे, वे महायानी कहलाते थे। जो ऐसा नहीं करते थे, वे हीनयानी कहे जाते थे। तथाकथित महायान के दो ही प्रकार थे—माध्यमिक और योग। माध्यमिकों के अनुसार सामान्यतः जिसे सत् कहा जाता है वह वस्तुतः असत् है तथा प्रत्येक पदार्थ भ्रम के समान निस्सार प्रतिभासमात्र है। योगाचार के अनुसार चित्त के अतिरिक्त और किसी पदार्थ की सत्ता नहीं है। हीनयान और महायान, दोनों ही आर्य-देशना के अनुकूल हैं तथा निर्वाण तक ले जाते हैं[७]।

४—वही, जि० २, पृ० २१४, २२४।

५—वही, जि० २, पृ० २३९, २४२, २४६।

६—तकाकुसु (अनु०) ए रेकार्ड आव् दि बुधिस्ट रिलिजन एज प्रैक्टिज्ड इन इण्डिया एण्ड दि मलाया, आर्किपेलगो बाइ इ-त्सिंग, पृ० ७।

७—वही, पृ० १४-१५।

आर्य महासांघिक निकाय के सात प्रभेद थे तथा उसका प्रचार विशेषतया मगध एवं पूर्वी भारत में था। कुछ महासांघिक लाट और सिन्धु में थे। सिंहल में यह निकाय तिरस्कृत था, किन्तु दक्षिण पूर्वी द्वीपों में इसका हाल में ही प्रवेश हुआ था। आर्य-स्थविर निकाय के तीन भेद थे। दक्षिण भारत और सिंहल में इसी का प्रचार था। मगध और पूर्वी भारत में भी यह निकाय उपलभ्य था। इसके कुछ अनुयायी लाट और सिन्ध में थे। उत्तर भारत में इसका प्रचार नहीं था। दक्षिण पूर्वी द्वीपों में इसका भी हाल में प्रवेश हुआ था। आर्यमूल-सर्वास्तिवाद-निकाय की चार शाखाएँ थीं—मूलसर्वास्तिवाद, धर्मगुप्तक, महीशासक, काश्यपीय। उत्तर भारत में केवल इसी निकाय का प्रचार था। इसके कुछ अनुयायी लाट, सिन्ध और दक्षिण भारत में थे। पूर्वी भारत में अन्य सम्प्रदायों के साथ इसका भी प्रचार था। सिंहल में इसका अनुगमन नहीं था। किन्तु दक्षिणपूर्वी द्वीपों में था। धर्मगुप्त, महीशासक और काश्यपीय भारत में नहीं पाये जाते थे। किन्तु उन्हें उद्यान, कराशार और कुस्तुन में देखा जा सकता था। आर्य सम्मितीयों के चार प्रभेद थे। इनका सर्वाधिक प्रचार लाट और सिन्ध में था। उत्तर भारत और सिंहल में इनका अप्रचार था, पूर्वी भारत में औरों के साथ ये भी पाये जाते थे। इनके कुछ अनुयायी दक्षिण में भी थे[८]।

इ-चिंग के विवरण से सिद्ध होता है कि मगध और पूर्वी भारत (नालन्दा से पूर्व) में चारों मुख्य निकाय प्रचलित थे। इसका कारण स्पष्ट है—मगध में बौद्धों के मूल तीर्थ थे तथा यही सम्प्रदाय-भेद की जन्मभूमि थी। दक्षिण भारत और सिंहल के बौद्ध सब स्थविरवादी थे, पश्चिम के अधिकांश सम्मितीय, तथा उत्तर के सर्वास्तिवादी। सुमात्रा और जावा में सर्वास्तिवाद का प्राधान्य था, चम्पा में सम्मितीयों का। पूर्वी चीन में धर्मगुप्तनिकाय प्रधान था। पश्चिमी चीन में धर्मगुप्त और अंशतः महासांघिक, दक्षिणी चीन में सर्वास्तिवाद के सब प्रभेद। चीन में सामान्यतः महायान का प्रचार था, श्रीभोज में अंशतः, उत्तरी भारत और सुमात्रा, जावा आदि में सामान्यतः हीनयान का, शेष भारत में दोनों यानों का[९]।

इन विभिन्न सम्प्रदायों में भेद के विषय क्षुद्र और सूक्ष्म थे। उदाहरण के लिए मूलसर्वास्तिवादी अधोवस्त्र की किनारी सीधी काटते थे, अन्य निकाय अनियत आकार की। मूलसर्वास्तिवादी भिक्षुओं के निवास के लिए अलग-अलग कमरों का विधान

८ वही, भूमिका, पृ० २३–२४।
९–वही, पृ० ८–१०।

करते थे, सम्मितीय रस्सियों की सीमाओं से शय्या-विभाजन वैध मानते थे। मूल सर्वास्तिवादी भिक्षा को हाथ में सीधा ग्रहण करते थे, महासांघिक उसके ग्रहण के लिए भूमि में स्थान-निर्देश करते थे[10]। सर्वास्तिवादी निवसन के सिरे को दोनों पार्श्वों में कायबन्धन के ऊपर खींच कर अवलम्बित कर देते थे। महासांघिक दाहिने सिरे को बांईं ओर कस कर दबा देते थे, जैसा स्त्रियों में प्रचलित था। स्थविर और सम्मितीय भी ऐसा करते थे, किन्तु वे निवसन के सिरे को बाहर की ओर लटकने देते थे[11]।

बौद्ध तन्त्र

तान्त्रिक धर्म और लक्षण—'तन्त्र' शब्द के अनेक अर्थ होते हुए भी उसका प्रकृत अर्थ शास्त्र के भेद-विशेष में रूढ़ है। शैव, शाक्त, बौद्ध आदि विविध प्रस्थानों में यह तन्त्राख्य शास्त्र-भेद लक्षित होता है। तन्त्र के ये अनेक प्रकार ऐतिहासिक दृष्टि से परस्पर निरपेक्ष नहीं हैं तथा सर्वत्र कुछ समान लक्षण अनुगत हैं। ज्ञान और कर्म का समुच्चय, शक्ति की उपासना, प्रतीक-प्राचुर्य, गोपनीयता, अलौकिक सिद्धि चमत्कार, गुरु का महत्त्व, मुद्रा-मण्डल-यन्त्र-मन्त्र आदि का प्रयोग, सांसारिक भोगों का अतिरस्कार एवं उनका आध्यात्मिक उपयोग आदि प्रायः सभी तन्त्रों में न्यूनाधिक-तया उपलब्ध होते हैं। सभी सम्प्रदायों में मुक्ति अभीष्ट है तथा सभी में अज्ञान, कर्म एवं वासना मुक्ति के प्रतिबन्ध माने जाते हैं। इन प्रतिबन्धों के निराकरण के लिए द्वैतवादी दर्शनों में ज्ञानपूर्वक कर्म अथवा किसी न किसी प्रकार की उपासना अनिवार्य है। अद्वैतवादी दर्शनों में भी अधिकारभेद से उपासना आवश्यक हो जाती है। कर्म एवं वासना के प्रबल होने पर तत्त्वोपदेश मात्र से अपरोक्ष ज्ञान की स्फूर्ति नहीं होती। ऐसी स्थिति में उपासना के द्वारा चित्तशुद्धि का ही मार्ग सुगम है।

ज्ञान वस्तु-परतन्त्र होता है, उपासना कर्तृ-परतन्त्र[12]। उपासना, भावना, ध्यान[13],

१०—वही, पृ० ६—७।

११—वही, पृ० ६६—६७।

१२—पञ्चदशी, ९.७४ "वस्तुतन्त्रो भवेद्बोधः कर्तृतन्त्रमुपासनम्।"

१३—कहीं ध्यान के दो भेद बताये गये हैं—भावना एवं प्रणिधान। इनमें प्रणिधान का विषय वास्तविक होता है, भावना का वास्तविक अथवा कल्पित। द्र०—नीलकण्ठ, महाभारत, शान्तिपर्व, १९५.१५—"द्विविधं ध्यानं भावना प्रणि-धानं च। तत्राद्यं सिद्धं कल्पितं वा विषयमधिकृत्य प्रवर्तते न वस्तुतत्त्वमवश्य-मपेक्षते। प्रणिधानं वस्तुतत्त्वविषयम्।"

सभी मूलतः एकार्थक हैं तथा मानसिक क्रिया-विशेष को द्योतित करते हैं। उपासना का स्वरूप 'प्रत्ययावृत्ति' (प्रत्यय या प्रतीति का दुहराना) बताया गया है,[१४] अर्थात् उपास्यविषयक प्रतीति का आवर्तन ही उपासना है। साध्य का चिन्तन ही समस्त आध्यात्मिक साधना का रहस्य है।[१५] अद्वैत पक्ष में साध्य के अन्ततः निरुपाधिक एवं अचिन्त्य होने के कारण चितन का उपरम ही साधना का अन्तिम रूप है[१६]। किन्तु इस निर्विकल्पावस्था की प्राप्ति के लिए सोपाधिक लक्ष्य की भावना तथा सविकल्पावस्था सोपान के रूप में ग्राह्य है। अनिर्वाच्य एवं अद्वय परमार्थ का साधना अथवा संसार से सम्बन्ध उपाधि के द्वारा ही कल्पित किया जा सकता है।

उपाधि वस्तुतः शक्ति से अभिन्न है। फलतः शक्ति का उपासना ही समस्त तान्त्रिक साधना का मर्म है। शक्ति का मूल व्यापार अद्वैत से द्वैत का अवभासन तथा द्वैत का पुनः अद्वेत में निवर्तन है। द्वैतावभासन में सृष्टि, स्थिति एवं लय संगृहीत हैं। यह प्रवृत्ति का व्यापार अविद्यामूलक तथा कालक्रमानुगत है। यही बन्धन एवं नियति का क्षेत्र है। निवृत्ति विद्यामूलक तथा स्वरूपतः अक्रमिक है तथापि उसमें एक औपाधिक क्रमिकता देखी जा सकती है। द्वयकरण अथवा अद्वयकरण व्यापार के कारण शक्ति सदा ही द्वैतावभासिनी है यद्यपि इसका निवृत्ति अथवा परमार्थ का समर्थक रूप विगलद्द्वैत रूप है। शक्ति सम्बन्ध से अद्वय परमार्थ में भी एक प्रकार का 'अद्वैत-द्वैत' अवभासित होता है। इसी कारण उसे युगनद्ध 'अथवा 'यब्-युम्' रूप में कल्पित किया जाता है। शक्ति की मूल अभिव्यक्ति भी दो आकारों में होती है—ग्राह्य एवं ग्राहक, अथवा रूप एवं नाम[१७]। नाम को तीन अरूप स्कन्धों में, अथवा चित्तचैत्त में, अथवा चित्त और वाक् में विभक्त किया जा सकता है।[१८]। नाम-रूप

१४–तु०—पञ्चदशी, ९.१५।

१५–तु० –शंकर, गीताभाष्य गीता २.५४ पर "सर्वत्रैव ह्यध्यात्मशास्त्रे कृतार्थलक्षणानि यानि तान्येव साधनान्युपदिश्यन्ते।"

१६–वही, ६.२५ पर, "न किञ्चिदपि चिन्तयेदेष योगस्य परमो विधिः।"

१७–तु०—तुलसीदास, रामचरित मानस, "नाम रूप दुइ ईस उपाधी। अकथ अनादि सुसामुझि साधी।"

१८–ग्राह्यग्राहक का भेद योगाचार में सुविदित है, नाम-रूप का उपनिषदों में तथा प्राचीनतम बौद्ध आगमों में, पांच स्कन्धों का बौद्ध दर्शन में, सामान्यतः चित्त-चैत्त का अभिधर्म में, काय-वाक्-चित्त का प्राचीन ब्राह्मण ग्रन्थों में तथा बौद्ध तन्त्रों में।

के अवलम्बन से ही 'युगनद्ध' विषयक उपासना सम्पन्न होती है। मन्त्र, यन्त्र, मण्डल, मूर्ति आदि साधनोपयोगी विशुद्ध नाम-रूप के ही भेद हैं।

मनुष्य के बन्धन का कारण अविद्याशक्ति की अनादि परम्परा है। उसकी मुक्ति के लिए भी विद्या की परम्परा माननी होगी। वासनामुप्त संसारी के प्रबोधन के लिए गुरु की कृपा आवश्यक है। अन्ततोगत्वा गुरुशक्ति को सोपाधिक अथवा 'पर्याय-परमार्थ' से अभिन्न मानना चाहिए। यह परमार्थसत्ता ही परम गुरु अथवा आदि गुरु है जिनमें ज्ञान एवं कृपा की समरस स्थिति है। अतएव इन्हें शक्ति-सनाथ अथवा युगनद्ध रूप में कल्पित किया जाता है। तन्त्रशास्त्र के आदिप्रवर्तक भी ये ही हैं।

मन्त्र आदि साधनों को गुरु-कृपा का ही मूर्त रूप समझना चाहिए। इस कृपा अथवा 'शक्तिपात' के व्यक्तिविशेष की ओर समुदिष्ट होने के कारण ही मन्त्र आदि गोपनीय है। गुरुशक्ति से प्रकट होने के कारण ही इन साधनों की महिमा अचिन्त्य है तथा यथेष्ट ऋद्धि-सिद्धि देने वाली है। प्रकारान्तर से यह भी कहा जा सकता है कि मन्त्र आदि तान्त्रिक साधनों में विशुद्ध चित्त की स्वाभाविक शक्ति उन्मीलित होती है। इन साधनों को विफलता अथवा अपप्रयोग से बचाने के लिए गोपनीयता आवश्यक है। गोपनीयता के लिए तथा पारिभाषिकता के लिए तन्त्रों की अभिव्यक्ति में प्रतीक-प्राचुर्य देखा जा सकता है। उपासना के सौन्दर्य के लिए भी प्रतीकों का उपयोग होता है। इनमें अद्वयीभाव के सुख को घोषित करने के लिए शृंगार के प्रतीकों का प्रयोग तान्त्रिक उपासना एवं अभिव्यक्ति की बहुचर्चित विशेषता है। संसार को परमार्थ से अभिन्न अथवा उसकी सीमित अभिव्यक्ति मान लेने पर संसार का सर्वथा तिरस्कार अपार्थक अथवा अयुक्त सिद्ध हो जाता है।

वेदों से पूर्व और वैदिक मूल—मनुष्य का प्राचीनतम धर्म न्यूनाधिक रूप में 'तान्त्रिक' ही था। प्रागैतिहासिक काल में तथा नाना प्राचीन सभ्यताओं में शक्ति की उपासना विविध रूपों में प्रचलित थी। सिन्धु-सभ्यता में मातृ-शक्ति का और सम्भवतः कुमारी-शक्ति का पूजन विदित था। वैदिक साहित्य में अनेकत्र तान्त्रिक धर्म के संकेत मिलते हैं जिन्हें परवर्ती आगम-साहित्य में अंगीकृत, विस्तृत तथा रूपान्तरित किया गया। ऋक्-संहिता में अगस्त्य और लोपामुद्रा का संवाद उदाहार्य है। यद्यपि यह प्रतीत होता है कि वैदिक ऋचाएँ परवर्ती अर्थ में मन्त्र न होकर बहुधा स्तुतियाँ ही थीं, तथापि उनकी मन्त्रात्मकता का सर्वथा अथवा सर्वदा निषेध नहीं किया जा

सकता[१९]। वैदिक ऋषि अपने काव्य को निश्चय से वाक् और चित्त का योग मानते थे[२०]। परवर्ती आवर्तनात्मक जप वैदिक काल में विदित होने का पर्याप्त प्रमाण नहीं मिलता, किन्तु गीता एवं मनुस्मृति के 'समय' तक इस प्रकार का जप सुप्रचलित हो गया था[२१]। ब्राह्मणों एवं आरण्यकों की चितियों (='विद्याओं') एवं उपनिषदों की 'विद्याओं' में प्रतीकात्मक उपासना का प्रचुर विकास देखा जाता है।[२२] चितियों का पञ्च-पशु-वध प्रकारान्तर से परवर्ती तन्त्रों में स्थान पाता है[२३]। वैदिक अग्नि और सोम का आगमों में व्याख्यान्तरपूर्वक उपयोग मिलता है। पञ्चाग्नि-विद्या के 'योषा वा अग्निर्गौतम' इत्यादि का तान्त्रिक संकेत स्पष्ट है[२४]। कृष्ण देवकीपुत्र को दिये हुए और आंगिरस के उपदेश में कर्म की नवीन व्याख्या है जिसके अनुसार सभी सांसारिक कर्म परमार्थोपयोगी हो जाते हैं[२५]। गीता में इस दृष्टि का विस्तार पाया जाता है। बृहदारण्यक में अद्वैतानन्द की तुलना रति की 'विगलित वेद्यान्तरता' से की गयी है।[२६] श्वेताश्वतर में 'मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्' कह कर अद्वैत के अभ्यन्तर शक्ति का

१९–वैदिक मन्त्रों में लौकिक भाषा के द्वारा लौकिक अर्थों का अभिधान किया गया है। उनमें वाक् अर्थ का अनुधावन करती है, न कि अर्थ वाक् का। प्रसिद्ध सावित्री-मन्त्र भी प्रारम्भ में वाक्-स्फूर्ति के लिए प्रार्थनामात्र प्रतीत होता है। इस प्रकार की प्रार्थनाओं का [illegible] में मन्त्ररूप से प्रयोग अन्यत्र भी विदित है, यथा कुरान् की आयतों का। परवर्ती 'प्रहुयाग' में वैदिक मन्त्रों पर इस प्रकार की मान्त्रिकता का आरोप तुलनीय है। "चत्वारिवाक् परिमिता पदानि···" आदि की रहस्यात्मक व्याख्या प्रामाणिक नहीं है। यह स्मरणीय है कि मीमांसकों को मन्त्र और अर्थवाद का भेद प्रतिपादित करना पड़ा था। मीमांसकों का मन्त्रवाद भी तान्त्रिक मन्त्रवाद के सदृश नहीं है।

२०–इस प्रसंग में 'धी' शब्द का वैदिक प्रयोग विचारणीय है।

२१–मनुस्मृति, २.७४–८७।

२२–शतपथ ब्राह्मण और तैत्तिरीय आरण्यक विशेष रूप से द्रष्टव्य हैं। उपनिषदों की 'विद्याएँ' सुविदित हैं।

२३–यही 'पञ्चमुण्डी आसन' का मूल प्रतीत होता है।

२४–बृ० ६.२.१३ तु०—वही, ६.४.२–५ तु०—छा० २.१३।

२५–छा० ३.१६–१७, विशेषतः ३.१७.१–५।

२६–बृ० ४.३.२१।

स्थान सुरक्षित कर दिया है[२७]। 'नाद' और 'ज्योति' के उल्लेख भी उपनिषदों में प्राप्त होते हैं[२८]। नाडीविज्ञान का आरम्भ तथा पिण्ड में ब्रह्माण्ड का सिद्धान्त भी आलक्षित होता है[२९]।

प्रचलित धर्म में निचले तन्त्र के अनेक तत्त्व विद्यमान थे। नाग, गन्धर्व, यक्ष, अप्सरा, कुक्कर, वृक्ष आदि की पूजा में मन्त्र, बलि, जादू-टोना आदि विदित थे। यक्ष, नाग आदि से बचने के लिए 'रक्षा' प्राचीन बौद्ध साहित्य में भी मिलती हैं[३०]। यक्ष-पूजा में प्रतिमाओं का उपयोग भी होता था[३१]। गन्धर्व और अप्सराओं का काम-शक्ति से सम्बन्ध निश्चित था।

मूल देशना और तंत्र—प्राचीन बौद्ध धर्म में तान्त्रिक उपासना का स्थान नहीं था। यह नहीं कहा जा सकता कि शाक्यमुनि ने सपत्नीक किसी प्रकार का साधन किया था। पीछे भी उनके उपदेश में काय अथवा वाक् का तान्त्रिक अर्थ में साधन निर्दिष्ट नहीं होता। मन्त्र, जप अथवा प्रतिमा का भी उन्होंने उल्लेख नहीं किया और न किसी प्रकार के बहिर्याग या देवोपासना का। प्राण एवं चित्त का साधन अवश्य उनके उपदेशों में मिलता है, किन्तु प्राण-साधन का मन्त्र, मुद्रा, अथवा नाडियों से सम्बन्ध प्रकट नहीं होता। चित्त-साधन के लिए उपदिष्ट ध्यान भी मुख्यतया प्रणिधान रूप है। प्रारम्भिक सद्धर्म में स्मृति और ध्यान का उपदेश वितर्क और विकल्प के क्षय के लिए है, तथा ज्ञान का प्रयोजन वासनाक्षय एवं शान्ति है। उसमें कायिक अमरता अथवा सिद्धि का स्थान नहीं था। अतएव परवर्ती बौद्ध तान्त्रिकों का यह अभिमत कि धान्यकटक में स्वयं तथागत के द्वारा एक तीसरा धर्म-चक्र-प्रवर्तन वज्रयान के लिए हुआ था, मान्य नहीं है[३२]। तथापि धान्यकटक का इस प्रसंग में उल्लेख निस्सार नहीं है।

२७—श्वेताश्वतर, ४.१०, वहीं, १.४–५ मानो किसी तन्त्रशास्त्र से उद्धृत हो। वहीं, २.१२ में 'सिद्ध देह' आरूपित है।

२८—श्वेताश्वतर, २.११, बृ० २.३.६।

२९—नाडियों पर, छा० ६.८.६; बृ० २.१.१९; 'पिण्ड में ब्रह्माण्ड'—छा० ८.१।

३०—उदाहरणार्थ, दीघ का आटानाटिय सुत्त। पालि में इन्हें 'परित्ता' कहते हैं; तु०—मिलिन्द, पृ० १५३।

३१—यक्षों पर दे० कुमारस्वामी, यक्षज़।

३२—सेकोद्देश टीका, पृ० ३–४; तृतीयधर्मचक्रप्रवर्तन की एक अन्य परम्परा—बुदोन, जि० २, पृ० ५१–५२।

'धारणी-युग'–ई० पू० पहली से ई० चौथी सदी तक—महासांघिक सम्प्रदाय में ही तान्त्रिक बौद्ध धर्म का प्रथम उन्मेष मानना चाहिए। उनके आविष्कृत लक्षणों के अनुसार तथागत की 'रूपकाय' एक प्रकार की सिद्ध देह है। 'अनास्रव रूप' की कल्पना कर उन्होंने 'रूप' को परमार्थ-साधन का उपयोगी बना दिया। 'नाम' अथवा मन्त्र के विषय में उनकी प्रगति इससे सूचित होती है कि उन्होने अपने आगमों में एक नवीन 'धारणी-पिटक' जोड़ दिया[३३]। महासांघिकों की ही आन्ध्रक और वैतुल्यक नाम की शाखाओं में आभिप्रायिक मिथुन-चर्या को अध्यात्मोपयोगी घोषित किया गया[३४]। वैतुल्यक मत का कथावत्थु में उल्लेख होने के कारण उसे ई० पू० प्रथम शती तक निष्पन्न मानना चाहिए। प्रायः इसी समय बौद्ध धर्म में प्रतिमाओं का उपयोग तथा महायान का उदय हुआ[३५]।

महायान का वज्रयान से निकट सम्बन्ध है। एक ओर महायान में अनेक 'तान्त्रिक' तत्त्व हैं, दूसरी ओर महायान के ही दार्शनिक सिद्धान्त वज्रयान में संगृहीत एवं रूपान्तरित हैं। महायान सूत्रों में बुद्ध और बोधिसत्त्व अलौकिक और चमत्कारी गुरुओ के रूप में प्रकाशित किये गये हैं। बोधिसत्त्व चर्या के प्रारम्भ में बुद्ध और बोधिसत्त्वों' की मानस पूजा (=अनुत्तर पूजा) का विधान है। कारुणिक बोधिसत्त्व के लिए निरे संसारत्यागी भिक्षु की चर्या अपर्याप्त है। 'उपाय' के रूप में वह विविध लौकिक जीवन में भाग-ग्रहण कर सकता है, यहाँ तक कि वह करुणा से ब्रह्मचर्य का खण्डन भी कर सकता है (दे०, ऊपर)। बोधिसत्त्व नाना ऋद्धि-सिद्धि प्राप्त करता है तथा अन्तत दशमभूमि में उसे धारणीमुख की स्फूर्ति होती है। महायानसूत्रो में धारणियो का महत्त्वपूर्ण स्थान था तथा धारणियों को मन्त्र विशेष ही मानना चाहिए[३६]। धारणियों

३३–दे०—ऊपर।

३४–डिबेट्स कमेन्टरी, पृ० २४३।

३५–दे०—ऊपर।

३६–प्रज्ञा-पारमिता-हृदय-सूत्र में प्रज्ञापारमिता को ही धारणी बना दिया गया है। प्रज्ञापारमिता हृदय-सूत्र तथा उष्णीष-विजय-धारणी जापान के होरियुजी विहार में ७वीं शती के प्रारम्भ से ताल-पत्रों में चिर रक्षित रहीं। अपरिमितायुःसूत्र धारणी की ही प्रशस्ति है। शिक्षासमुच्चय में रत्नोल्का-धारणी का उल्लेख है। सद्धर्मपुण्डरीक के परवर्ती भाग में धारणी ने स्थान पाया है। चीन में श्रीमित्र ने ई० ३०७–४२ में महामायूरी आदि अनेक धार-

के मन्त्रात्मक विकास में **कारण्डव्यूह** तथा अवलोकितेश्वर की महिमा को विशेष महत्त्व-शाली कहा गया है[३७]। चैत्य, प्रतिमा, पुस्तक आदि का पूजन महायान में सुविदित था। माध्यमिकों का विशुद्ध विचारमार्ग ही महायान को सर्वथा तान्त्रिक साधन बनने से पृथक् रखता है[३८]। किन्तु मैत्रेय और असंग का योगाचार-दर्शन विविध क्रिया और चर्या का अंगीकार करता है तथा उसका 'परावृत्ति' का सिद्धान्त तान्त्रिक साधना की भूमिका के रूप में रखा जा सकता है।

महायान और वज्रयान—अद्वयवज्र के अनुसार तीन ही यान है, श्रावकयान, प्रत्येकयान, तथा महायान। चार स्थितियाँ हैं—वैभाषिक, सौत्रान्तिक, योगाचार और माध्यमिक। इनमें श्रावक और प्रत्येकयान की व्याख्या वैभाषिक स्थिति से होती है। महायान द्विविध हैं—पारमितानय और मन्त्रनय। पारमितानय की व्याख्या सौत्रान्तिक, योगाचार और माध्यमिक स्थितियों से होती है, मन्त्रनय की व्याख्या योगा-चार और माध्यमिकस्थिति से।[३९]। मन्त्रनय अत्यन्त गंभीर है और उसमें केवल तीक्ष्णे-न्द्रिय पुरुषों का ही अधिकार है। महासांघिकों के 'विद्याधरपिटक' अथवा 'धारणीपिटक' में पूर्वावभासित माहायानिक मन्त्रनय को ही तान्त्रिक बौद्ध धर्म की निश्चित अवतारणा मानना चाहिए।

णियों का अनुवाद किया। धारणियों के अनेक संग्रह प्राप्त होते हैं। नेपाल में पञ्चरक्षा विशेष प्रचलित है। ये पाँच इस प्रकार हैं—महाप्रतिसरा, महासहस्रप्रमर्दिनी, महामायूरी, महाशीतवती, महामन्त्रानुसारिणी; धारणियों का उद्गम द्विविध प्रतीत होता है—एक ओर प्रचलित जादू-टोना, दूसरी ओर प्रज्ञापारमिता, बुद्ध और बोधिसत्त्वों के नाम-स्मरण की महिमा।

३७—नलिनाक्ष दत्त, दि एज ऑव् इम्पीरियल कन्नौज में, पृ० २६१।

३८—साधनमाला के अनुसार आर्यनागार्जुन ने 'एक-जटा' का साधन भोट देश में उद्धृत किया था। ये नागार्जुन कदाचित् प्रसिद्ध माध्यमिक आचार्य से भिन्न थे।

३९—"तत्र त्रीणि यानानि श्रावकयानं प्रत्येकयानं महायानं चेति। स्थितयश्चतस्रः वैभाषिक-सौत्रान्तिक-योगाचार-माध्यमिकभेदेन। तत्र वैभाषिकस्थित्या श्रावक-यानं प्रत्येकयानं च व्याख्यायते। महायानं च द्विविधं पारमितानयो मन्त्रनयश्चेति। तत्रपारमितानयः सौत्रान्तिकयोगाचारमाध्यमिकस्थित्या व्याख्यायते। मन्त्रनयस्तु योगाचारमाध्यमिकस्थित्या व्याख्यायते।" (अद्वयवज्र, तत्त्वरत्नावली, उद्धृत भट्टाचार्य, इण्डियन बुधिस्ट आइकोनोग्रफी, १९२४, भूमिका, पृ० १२)।

बौद्धों के प्राचीनतम उपलब्ध तन्त्र मञ्जुश्रीमूलकल्प तथा गुह्यसमाज हैं। मञ्जुश्रीमूलकल्प को महावैपुल्य-महायान-सूत्र कहा गया है। इसका चीनी अनुवाद ई० ९८० और १००० के बीच सम्पन्न हुआ था। तिब्बती अनुवाद ११ वीं शताब्दी में हुआ था। चीनी अनुवाद में केवल २८ अध्याय हैं, वर्तमान मञ्जुश्रीमूलकल्प में ५५ हैं। मञ्जुश्री० और गुह्यसमाज की तुलना के आधार पर मञ्जुश्री० को प्राचीनतर ठहराया गया है[४०]। पञ्च-ध्यानी-बुद्धों से मञ्जुश्री० का उतना परिचय नहीं है जितना गुह्यसमाज का। दीनार का उल्लेख भी मञ्जुश्रीमूलकल्प में २७ वें अध्याय के अनन्तर है। भट्टाचार्य महोदय ने असंग को गुह्यसमाज का रचयिता बताया है[४१]: इसके समर्थन में कोई निश्चित प्रमाण नहीं है। दूसरी ओर असंग का तन्त्र से सम्बन्ध अवश्य है। साधनमाला में आचार्य असंग को प्रज्ञापारमिता-साधन का कर्ता कहा गया है[४२]। इन असंग को असंगान्तर कल्पित करना युक्तिहीन है[४३]। महायानसूत्रालंकार में लिखा है 'मैथुन की परावृत्ति होने पर बुद्धों के सुख-विहार में तथा स्त्रियों के असंक्लेश-दर्शन में परम विभुत्व प्राप्त होता है'—'मैथुनस्य परावृत्तौ विभुत्वं लभ्यते परम्। बुद्धसौख्यविहारे च दारासंक्लेश-दर्शने॥' (पृ० ४१)। यहाँ परावृत्ति का अर्थ 'मनोवृत्ति का परिवर्तन करना चाहिए क्योंकि इस प्रसंग के प्रारम्भ में ही उन्होंने लिखा है—'अवशिष्टैः श्लोकैः मनोवृत्तिभेदेन विभुत्वभेदं दर्शयति॥' (वही)। इन्द्रिय, मन, विकल्प आदि परावृत्ति के समान मैथुन की परावृत्ति में भी उसके मलिन 'पक्ष' का त्याग या व्यावृत्ति, किन्तु विशुद्ध पक्ष की अनुवृत्ति अभिप्रेत है। पाँच इन्द्रियों की परावृत्ति होने पर पाँचों इन्द्रियों की सब विषयों में वृत्ति हो जाती है। मन की परावृत्ति होने पर निर्विकल्प ज्ञान की प्राप्ति होती है। विषय और उनकी उपलब्धि की परावृत्ति होने पर यथेष्ट भोगसन्दर्शन प्राप्त होता है। विकल्प की परावृत्ति होने पर ज्ञान और कर्म सदा अव्याहत रहते हैं। प्रतिष्ठा की परावृत्ति होने पर अप्रतिष्ठित-निर्वाण की प्राप्ति होती है। इसी प्रकार मैथुन की परावृत्ति होने पर बुद्धोचित सुख-विहार तथा स्त्रियों का अक्लिष्ट दर्शन प्राप्त होता है। आकाश-संज्ञा की व्यावृत्ति के द्वारा यथेष्ट गमन का लाभ होता है। विविध मनोवृत्ति भेद से विविध विभुत्व की प्राप्ति होती है। अर्थात् परावृत्ति एक प्रकार की संकोच-

४०—विनयतोष भट्टाचार्य, (सं०) गुह्यसमाज, भूमिका, पृ० ३५ प्र०।

४१—वहीं, पृ० ३४।

४२—साधनमाला, साधन संख्या, १५९, पृ० ३२१।

४३—तु०—विन्टरनित्स, पृ० उ०, जि० २, पृ० ३९२।

निवृत्ति एवं विमलीकरण है। परावृत्ति की धारणा को, विशेषतः मैथुनपरावृत्ति को तान्त्रिक दृष्टि से पृथक् नहीं किया जा सकता[४४]।

असंग के अभिधर्मसमुच्चय में 'अभिसन्धिविनिश्चय' का उल्लेख किया गया है।[४५] इसके अर्थ हैं—कथित अर्थ से भिन्न अभिप्राय, निगूढ़ अभिसन्धि का विपरीत प्रकार से प्रकाशन। इस वाग्विधि का उदाहरण देते हुए असंग का कहना है—'सूत्र में कहा है, बोधिसत्त्व महासत्त्व पाँच धर्मों से युक्त होकर ब्रह्मचारी होता है, परम विशुद्ध ब्रह्मचर्य से युक्त होता है। कौन पाँच ? मैथुन के अतिरिक्त मैथुन से निस्सरण नहीं ढूंढ़ता, मैथुनत्याग की ओर उपेक्षक होता है, उत्पन्न मैथुनराग को अधिवासित करता है, मैथुन-विरोधी धर्म से त्रस्त होता है। अभीक्ष्ण मैथुन-समापन्न होता है।' यहाँ परववर्ती तान्त्रिकों एवं सिद्धों की 'सन्ध्याभाषा' का स्पष्ट उल्लेख है।

वज्रयान की गुह्य-परम्परा ई० तीसरी से छठी शती तक—गुह्य समाज की प्राचीनता एवं आद्यता इससे स्पष्ट है कि उसमें बोधिसत्त्वों को तथागत के द्वारा वहाँ प्रतिपादित नवीन एवं अद्भुत सिद्धान्तों से सन्त्रस्त बताया गया है[४६]। तथा पारिभाषिक शब्दों को समझाने का प्रयत्न भी किया गया है। तारानाथ के अनुसार ३०० वर्ष तक तन्त्र की परम्परा गुप्त रही, उसके अनन्तर उसका प्रकाश हुआ तथा धर्मकीर्ति के पश्चात् विशेषतः पालयुग में, उसकी प्रचुर वृद्धि हुई[४७]। गुह्यसमाज की तान्त्रिक परम्परा का उद्भव कदाचित् तीसरी शताब्दी में हुआ तथा छठी तक उसका गुप्त प्रचार हुआ। ७वीं शताब्दी से गुह्यसमाज की अत्यन्त प्रसिद्धि हुई तथा उस पर बहुसंख्यक आचार्यों और सिद्धों ने व्याख्याएं लिखीं[४८]।

महायान में संक्षेपतः पाँच स्कन्ध ही संवृतिसत्य हैं तथा परमार्थसत्य को शून्यता, प्रज्ञा, अथवा बोधि कहा गया है। बुद्ध के तीन अथवा चार काय बताये गये हैं[४९]।

४४—असंग, सूत्रालंकार, पृ० ४१–४२, द्र०—बागची, स्टडीज इन दि तन्त्रज, पृ० ८७–९२।

४५—अभिधर्मसमुच्चय (सं० प्रधान), पृ० १०६–७।

४६—गुह्यसमाज, पृ० २१।

४७—तारानाथ (अनु० शीफनर), पृ० २०१।

४८—द्र०—गुह्यसमाज के व्याख्याताओं की विस्तृत सूची, भट्टाचार्य (सं०), गुह्य-समाज (भूमिका), पृ० ३०–३२।

४९—तीन काय—धर्मकाय, सम्भोग, एवं निर्माणकाय, अथवा स्वाभाविककाय मिलाकर चार।

शून्यता-करुणा-गर्भ बोधिचित्त के उत्पादन के द्वारा तथा क्रमिक अभिसम्बोधि के मार्ग से अन्त में धर्मकाय का अभिसमय अथवा शून्यता का परम साक्षात्कार होता है। मायिक द्वैत से अद्वैत तक के इस विकास का विवरण मैत्रेयनाथ के **अभिसमयालंकार** में स्पष्ट है। प्रकारान्तर से महायान में बुद्ध को ही परमार्थ कहा जा सकता है। बुद्ध में प्रज्ञा एवं करुणा का सामरस्य है। संसार के उद्धारक हेतु होने के कारण करुणा ही 'उपाय' है। वज्रयान में 'प्रज्ञोपाय' की इस युगनद्ध सत्ता को ही परम तत्त्व माना गया है। अभेद्य एवं विशुद्ध होने के कारण प्रज्ञा को 'वज्र' (हीरा) कहा जाता है तथा उपाय या करुणा को 'पद्म'। मिथुन-कल्पना में वज्र पुरुषतत्त्व है पद्म स्त्रीतत्त्व। स्वाभाविक काय, धर्मकाय, सम्भोगकाय एवं निर्माणकाय के स्थान पर काय-वाक्-चित्त-वज्र की कल्पना की गयी है तथा बुद्ध भगवान् को कायवाक्-चित्त-वज्रधर अथवा काय-वाक्-चित्त-वज्राधिपति कहा गया है। केवल वज्रधर अथवा वज्रसत्त्व का भी प्रयोग मिलता है। इन्हीं वज्रधर से पाँच 'ध्यानी बुद्ध' निःसृत होते हैं जो कि पाँच स्कन्धों के अधिष्ठाता हैं। ये 'ध्यानी बुद्ध' सदैव ध्यानी तथा सदैव बुद्ध रहे तथा रहते हैं। बुद्ध भगवान् को धर्म चक्र-प्रवर्तन, वरद, समाधि, भय एवं अभूमिस्पर्श मुद्राओं में प्रदर्शित किया जाता था। मुद्रा द्वारा विशेषित इन्हीं बुद्धों से ध्यानी बुद्धों की कल्पना उद्गत प्रतीत होती है। वैरोचन, रत्नसम्भव, अमिताभ, अमोघसिद्धि, एवं अक्षोभ्य नाम के इन ध्यानी बुद्धों का सम्बन्ध क्रमशः उपर्युक्त मुद्राओं से तथा रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार, एवं विज्ञान स्कन्धों से है[५०]। प्रत्येक ध्यानी बुद्ध अपनी 'शक्ति' से सहचरित है तथा इन मिथुनों के साथ बोधिसत्त्व भी सम्बद्ध हैं। इस प्रकार पांच 'कुल' कल्पनीय हैं। इन्हीं की क्रमबद्ध स्थापना से तथागत-मण्डल निष्पन्न होता है तथा उसके विवरण से गुह्य-समाज का प्रारम्भ होता है। तन्त्रों में 'मण्डल' अथवा 'चक्र' एक प्रकार का मानचित्र कहा जा सकता है जिसमें देवता उनकी शक्तियाँ, तथा वर्ण आदि के क्रमिक एवं विशिष्ट आकार में विन्यास के द्वारा तत्त्वसमष्टि का निरूपण होता है[५१]। मण्डल एवं उसके

५०-तु०—"पञ्चबुद्धस्वभावत्वात् पञ्चस्कन्धा जिनाः स्मृताः।
धातवो लोचनाद्यास्तु बुद्धकायस्ततो मतः॥"
(इन्द्रभूति, ज्ञानसिद्धि, २.१)

५१-तु०—"भगं मण्डलमाख्यातं बोधिचित्तं च मण्डलम्।
देहं मण्डलमित्युक्तं त्रिषु मण्डलकल्पना॥"
(गुह्यसमाज, पृ० १५९)

अंगों की उत्पत्ति के मूल में मन्त्र-शक्ति ही है जिसके सहारे तथागत ने 'विद्या-पुरुषों एवं 'विद्यास्त्रियों' को निश्चारित किया।

गुह्यसमाज के दूसरे पटल में बोधिचित्त का उत्पादन वर्णित है। 'उत्पादयन्तु भवन्तः चित्तं कायाकारेण कायं चित्ताकारेण चित्तं वाक्प्रव्याहारेणेति'।[५२] अर्थात् चित्त को काय के आकार में उत्पादित करना चाहिए, काय को चित्त के आकार में तथा चित्त को वाक् द्वारा उत्पादित करना चाहिए। इस विचित्र उक्ति का अर्थ कदाचित् काय-वाक्-चित्त के समत्वापादन से है। सब धर्मों के नैरात्म्य एवं प्रकृतिप्रभास्वरता को जानने से ही निर्विकल्प निरालम्ब बोधिचित्त उत्पन्न होता है जिसका उत्पाद अनुत्पाद से अभिन्न है। सब धर्म आकाशवत् शून्य, अनुत्पन्न, विशुद्ध हैं, यही बोध बोधिचित्त है।[५३] इसे काय-वाक्-चित्त-वज्रधर कहा गया है।

बोधिचित्त के उत्पादन के अनन्तर मण्डल में अद्वैत भावनापूर्वक शक्तिसहचरित उपासना विहित है। चण्डाल, वेणुकार आदि तथा महापातकी भी इस अनुत्तर महायान से सिद्धि प्राप्त करते हैं[५४]। किन्तु गुरुनिन्दा करने वालों की कोई गति नहीं है। शक्ति-सहचार में सामाजिक विधि-निषेध हेय हैं। स्त्रीमात्र में बुद्धजननी प्रज्ञा भावनीय तथा कामनीय है।[५५] 'प्रज्ञा' अथवा 'शक्ति' के साथ ही गुरु अभिषेक करता है। यही 'विद्याव्रत' है।[५६] भिक्षा, तप, नियम आदि का त्याग उचित है, तथा विविध

५२—गुह्यसमाज, पृ० ११।

५३—तु०—"अनादिनिधनं शान्तं भावाभावक्षयं विभुम्।
शून्यताकरुणाभिन्नं बोधिचित्तमिति स्मृतम्॥"
(वही, पृ० १५३)

५४—वही, पृ० २०।

५५—वही, पृ० २०।

५६—तु०—"अभिषेकं त्रिधा भेदमस्मिन् तन्त्रे प्रकल्पितम्।
कलशाभिषेकं प्रथमं द्वितीयं गुह्याभिषेकतः॥
प्रज्ञाज्ञानं तृतीयं तु चतुर्थं ततपुनस्तथा।
मन्त्रयोग्यां विशालाक्षीं सपुष्पां शुक्रसम्भवाम्॥
गुह्यगुह्याभिषेकं तु तद्यात् शिष्याय मन्त्रिणः।
तामेव देवतां विद्यां गृह्य शिष्यस्य वज्रिणः॥
पाणौ पाणिः प्रदातव्यः साक्षीकृत्य तथागतान्।

कामोपभोग, मांसाहार, आदि विहित हैं। रूप, शब्द, स्पर्श आदि भोगों से बुद्ध पूजनीय हैं[५७]। रागचर्या ही श्रेष्ठचर्या एवं बोधिसत्त्वचर्या है[५८]। आचार्य से अभिषिक्त होकर मण्डलादिपूर्वक मन्त्रजाप एवं शक्ति-पूजा के द्वारा समस्त सिद्धि प्राप्त होती है[५९]। आचार्य और बोधिचित्त वस्तुतः अभिन्न हैं[६०]। सब धर्म काय-वाक्-चित्त में अधिष्ठित हैं तथा काय-वाक्-चित्त आकाश में। अर्थात् शून्यता ही समस्त वज्रसाधना का आदि और अन्त है।

सिद्धि के उपाय चार प्रकार के हैं—सेवा, उपसाधन, साधन एवं महासाधन[६१]। सेवा द्विविध है, सामान्य एवं उत्तम। वज्रचतुष्टय के द्वारा सामान्य सेवा तथा ज्ञानामृत के द्वारा उत्तम सेवा निष्पाद्य है। वज्रचतुष्टय इस प्रकार है—शून्यताबोधि, बीजसंहृति, बिम्बनिष्पत्ति, अक्षरन्यास। उत्तम सेवा में ज्ञानामृत षडंगयोग से साध्य है। प्रत्याहार, ध्यान, प्राणायाम, धारणा, अनुस्मृति, एवं समाधि षंडग हैं। दसों इन्द्रियों का अपनी बाह्य वृत्तियों से निवर्तन 'प्रत्याहार' है। पञ्चविषयात्मक सत्ता की पञ्च-बुद्धात्मक कल्पना ध्यान है। वितर्क, विचार, प्रीति, सुख और एकाग्रता ध्यान के पांच भेद हैं। श्वास पञ्चज्ञानात्मक अथवा पञ्चभूतात्मक है। नासिकाग्र में उसकी पिण्डरूप से कल्पना प्राणायाम है। यह पिण्डरूप श्वास ही पञ्चवर्ण महारत्न है। इन्द्रियनिरोध पूर्वक रत्न धारण करते हुए मन्त्र को हृदय में ध्यान कर प्राणबिंब में न्यास धारणा है। धारणा से पञ्चधा निमित्त प्रकट होते हैं जिनके आकार क्रमशः मरीचिका, धूम, खद्योत, क्षेप तथा निरभ्र आकाश के समान होते हैं। इस स्थिर

हस्तं दत्वा शिरे शिष्यमुच्यते गुरुवज्रिणा।
नान्योपायेन बुद्धत्वं तस्माद्विद्यामिमां वराम्॥
अद्वयाः सर्वधर्म्मास्तु द्वयभावेन लक्षिताः।
तस्माद्वियोगः संसारे न कार्यो भवता सदा॥"

(वही, पृ० १६०–६१)

५७–वही, पृ० २७–२८।

५८–वही, ३७, (तु० प्रज्ञोपायविनिश्चयसिद्धि, १, १५ जहाँ राग=करुणा)।

५९–जप के अनेक भेद—वज्रजाप, कायजाप, वागजाप, चित्तजाप, रत्नजाप इत्यादि, वहीं, पृ० ६०–६२।

६०–"बोधिचित्तश्चाचार्यश्चाद्वयमेतदद्वैधीकारम्।" (वही, पृ० १३७)

६१–वही, पृ० १६२–६६।

निमित्त को विस्तारित करना चाहिए तथा उसका स्मरण ही अनुस्मृति है जिससे प्रतिभास उत्पन्न होता है। विम्बमध्य में सब भावों के पिण्डीकृत रूप में चिन्तन से सहसा ज्ञान उत्पन्न होता है जो समाधि है। प्रत्याहार की प्राप्ति में मन्त्रों का अधिष्ठान, प्राणायाम से बोधिसत्त्वों के द्वारा अधिष्ठान, तथा धारणा से वज्रसत्त्व समावेश सिद्ध होता है। अनुस्मृति से प्रभामण्डल उत्पन्न होता है, तथा समाधि से सब आवरणों का क्षय।

मन्त्रमय चित्त से आकाशगत मूर्ति की भावना उपसाधन है। छः महीनों में दर्शन होना चाहिए। यदि तीन बार ऐसा करने पर भी दर्शन न हो तो हठयोग का अभ्यास करना चाहिए। काय-वाक्-चित्त-वज्र से अद्वयीकरण साधन है। आत्मवत् मण्डल-सृष्टि महासाधन है। सेवा में योग का आलम्बन महोष्णीषबिम्ब है, उपसाधन में अमृतकुण्डल, साधन में देवताबिम्ब, तथा महासाधन में बुद्धबिम्ब। सेवा में साध्य और साधन का संयोग होता है, उपसाधन में वज्र और पद्म का। साधन में मन्त्रचालन होता है, महासाधन शान्त आकाशभाव है।

वज्रयान और सहजयान—७वीं और ८वीं सदियां, तथा अनन्तर—तारानाथ के अनुसार आचार्य असंग से धर्मकीर्ति के समय तक तन्त्र की परम्परा गुप्त रही, किन्तु इसके अनन्तर उसका प्रकाश हुआ तथा पालसम्राटों के समय में अनेकानेक मन्त्राचार्य और वज्राचार्य हुए। इस समय चन्द्रवंश के एक सिद्ध राजा का आविर्भाव हुआ तथा ८४ सिद्धों में से अधिकांश धर्मकीर्ति और राजा चणक के अन्तराल में प्रकट हुए। पाल युग में महायान तथा मन्त्रयान का मगध, बंगल (=वंग ?), ओडिविश, अपरान्त तथा कश्मीर में विस्तार हुआ[६२]। पाल युग बौद्ध वज्राचार्यों एवं सिद्धाचार्यों का युग था। इनमें नाम-बाहुल्य और नाम-साम्य के कारण काल-निर्णय अत्यन्त दुष्कर एवं विवादास्पद है। तारानाथ ने आचार्य कम्बलपाद, कुकुराचार्य, सरोरुह वज्र, ललितवज्र तथा इन्द्रभूति को समकालीन बताया है[६३] सरोरुहवज्र अथवा पद्मवज्र नाम के कदाचित् एकाधिक व्यक्ति थे। 'उन्होंने' *गुह्यसिद्धि* की रचना की तथा कम्बलपाद के साथ हे वज्रतन्त्र का प्रवर्तन किया।[६४] अनंगवज्र 'उनके' शिष्य थे तथा अनंगवज्र के *प्रज्ञोपाय-विनिश्चयसिद्धि* आदि अनेक ग्रन्थ विदित हैं।[६५] इन्द्रभूति को अनंगवज्र का शिष्य कहा

६२—तारानाथ, (अनु० शीफनर), पृ० २०१–२।

६३—वही, पृ० १८८।

६४—द्र०—स्नेलग्रोव (सं० एवं अनु०), हेवज्रतन्त्र, जि० १, पृ० १३–१४।

६५—द्र०—भट्टाचार्य (सं०)—टू वज्रयान वर्क्स, भूमिका।

गया है। ये उड्डियान के राजा थे। यह उड्डियान उड़ीसा में है अथवा उत्तरापथ का उड्डियान है, यह अनिश्चित है। इन्द्रभूति तिब्बत में आठवीं शताब्दी में लामाधर्म के प्रवर्तक पद्मसम्भव के 'पिता' कहे गये हैं। इनकी छोटी वहिन लक्ष्मींकरा भी सिद्ध थी तथा उसे सहजयान का प्रवर्तक कहा गया है। **साधनमाला** में इन्द्रभूति को कुरुकुल्लासाधन का आविष्कारक बताया गया है। इन्द्रभूति के **ज्ञानसिद्धि** आदि अनेक ग्रन्थ विदित हैं। **ज्ञानसिद्धि** से उसके पूर्ववर्ती विस्तृत तन्त्रसाहित्य का परिचय मिलता है। यह स्मरणीय है कि सम्भवतः इन्द्रभूति नाम के भी एकाधिक व्यक्ति थे।

अनंगवज्र का दार्शनिक मत मैत्रेयनाथ के **मध्यान्तविभंग** का स्मरण दिलाता है।[६६] संसार मिथ्या कल्पना की प्रसूति है। न इसके अस्तित्व को मानना चाहिए, न नास्तित्व को। शून्यता ही प्रज्ञातत्त्व है। करुणा को ही राग अथवा उपाय कहा जाता है। शून्यता और करुणा का नीर-क्षीर के समान मेल प्रज्ञोपाय कहलाता है। यही धर्मतत्त्व है जिसमें न कुछ जोड़ा जा सकता है, न घटाया। न उसमें ग्राह्य है, न ग्राहक, न सत् है, न असत्। यह प्रकृति-निर्मल, द्वैताद्वैतविवर्जित, शान्त, शिव और प्रत्यात्मवेद्य है। यह प्रज्ञोपाय ही सब बुद्धों का आलय, दिव्य धर्मधातु, एवं अप्रतिष्ठित निर्वाण है। तीनों काय, तीनों यान, असंख्य मन्त्र, मुद्रा, मण्डल, चक्र, कुल, तथा अशेष जीव, सत्र वहीं से विनिर्गत हैं। प्रज्ञोपाय ही समस्त जगत् के लिए चिन्तामणि के समान भुक्ति और मुक्ति का पद है। वहीं पहुँच कर बुद्धत्व की प्राप्ति होती है। अनन्त-सुख-रूप होने से उसे 'महासुख' कहते हैं। वही समन्तभद्र है।

इस तत्त्वरत्न का शब्दों से प्रतिपादन असम्भव है, क्योंकि उसमें शब्द-संकेत ही अगृहीत हैं। अतएव इस प्रत्यात्मवेद्य परमार्थ की प्राप्ति के लिए सद्गुरु का सेवन आवश्यक है। गुरु की महिमा अपार है तथापि गुरु का उचित आदर-सत्कार करने वाले विरल हैं। गुरु की सन्निधि से शिष्य में प्रभास्वर बोधिचित्त वैसे ही उद्भासित हो उठता है जैसे सूर्य के सम्पर्क से सूर्यकान्तमणि।[६७] नवयुवती तथा सुन्दर 'मुद्रा' को प्राप्त कर तथा उसे माल्य, गन्ध, वस्त्र आदि से सत्कृत कर गुरु के पास निवेदित करना चाहिए तथा गुरुपूजन के अनन्तर गुरु से वज्राभिषेक की प्रार्थना करनी चाहिए। इस पर मुद्रायुक्त शिष्य को वज्राचार्य अभिषिक्त कर उसे 'समय' प्रदान करेंगे, तथा संवर

६६–द्र०—**प्रज्ञोपायविनिश्चयसिद्धि ("टू वज्रयान वर्क्स," में सम्पादित) प्रथम परिच्छेद।**

६७–वही, पृ० १०।

बतायेंगे जिसके अनुसार प्राणिवध न करना चाहिए, तथा निरन्तर सत्त्वहित का आचरण करना चाहिए। इस पर शिष्य को यथाशक्ति गुरुदक्षिणा समर्पण करनी चाहिए।[६८]

प्रज्ञोपाय की भावना में शून्य और अशून्य की कल्पना छोड़कर आकाशवत् भावना करनी चाहिए। सब कर्मों के करते हुए भी यह भावना निरन्तर प्रवृत्त रहती है। प्रज्ञा पारमिता सर्व-धर्म-समता है। विकल्प, राग आदि से मलिन चित्त ही संसार है, निर्विकल्प और प्रभास्वर चित्त ही निर्वाण है।[६९] साधक को निर्विकल्पात्मक प्रज्ञा तथा करुणा का अभ्यास करना चाहिए। वज्रचर्या में विघ्ननाश के लिए 'पञ्चामृत' तथा 'पञ्चप्रदीप' का भक्षण करना चाहिए। चित्त को कभी क्षुब्ध न होने देना चाहिए। सब कुछ मायामय समझ कर निश्शंक चित्त से यथेष्ट भोग करना चाहिए। यह समस्त त्रैधातुक वज्रनाथ ने साधकों के सम्भोग एवं हित के लिए बनाया है।[७०] प्रज्ञा का परमार्थ रूप शुद्ध और अद्वय है, किन्तु सांवृत रूप स्त्रीविग्रह है।[७१] अतः स्त्रियों में किसी प्रकार की हेयता अथवा त्याज्यता न माननी चाहिए। आनन्द के सम्भोग से ही वज्रसत्त्व की सिद्धि होती है।

इन्द्रभूति का कहना है कि अनुत्तर वज्रयान योगतन्त्रों में प्रोक्त है।[७२] यह स्मरणीय है कि बौद्ध तन्त्र चतुर्विध हैं—क्रियातन्त्र, चर्या०, योग०, अनुत्तरयोग०। वज्रसत्त्व सब जीवों के मन में व्याप्त है। वज्रयानी को निर्विकल्प, निरहंकार और निश्शंक होना चाहिए। प्रज्ञोपाय के समायोग से पाप-पुण्य का भेद विगलित हो जाता है। भक्ष्याभक्ष्य, पेयापेय, गम्यागम्य आदि का विवेक छोड़ देना चाहिए तथा सब धर्मों को प्रतीत्यसमुत्पन्न, निरात्मक एवं मायोपम समझना चाहिए। हिंसा, चोरी, व्यभिचार, मृषावाद आदि कर्मों से नरक प्राप्त होता है, किन्तु योगी उन्हीं से मुक्त हो जाता है। सर्वव्यापी, सर्वज्ञ,

६८—वही, तृतीय परिच्छेद।

६९—वही, ४.२२–२३।

७०—"सम्भोगार्थमिदं सर्वं त्रैधातुकमशेषतः।
निर्मितं वज्रनाथेन साधकानां हिताय च॥ (वही, ५.३१)

७१—"प्रज्ञापारमिता सेव्या सर्वथा मुक्तिकांक्षिभिः।
परमार्थे स्थिता शुद्धा संवृत्या तनुधारिणी॥
ललनारूपमास्थाय सर्वत्रैवव्यवस्थिता।
अतोऽर्थं वज्रनाथेन प्रोक्ता बाह्यार्थसम्भवा॥" (वही, ५. २२–२३)

७२—ज्ञा०—ज्ञानसिद्धि, ("टू वज्रयान वर्क्स" में सम्पादित)।

लोकेश्वर, वज्रधर ही सब मंन्त्रों में वर्णित है। गुरुकृपा से ही इस उत्तम तत्त्व की प्राप्ति सम्भव है। गुरु ही त्रिरत्न है। आकाशवत् अलक्षण वज्रज्ञान ही समन्तभद्र, महामुद्रा, धर्मकाय एवं आदर्शज्ञान है। रूप, शब्द आदि विषयों के उपयोग में वज्रयानी को बुद्धपूजा की भावना करनी चाहिए। निर्विकल्पभाव से कामानुकूल कर्म करते हुए वज्रत्व की प्राप्ति होती है।

इन्द्रभूति ने रूपभावना का प्रबल निषेध किया है।[७३] पञ्चस्कन्ध ही पञ्च बुद्ध हैं तथा धातु ही लोचना आदि हैं। अतः सभी प्राणी बुद्ध हैं तथा बुद्धत्व के लिए क्रिया निरर्थक है। बुद्धत्व का रूप अथवा काय से किसी प्रकार का सम्बन्ध सम्भव नहीं है। रूप के समान ही साकार एवं निराकार ज्ञान की कल्पना का भी माध्यमिक रीति से तिरस्कार किया गया है।[७४] निर्विकल्प ज्ञान अथवा निश्चित्तता भी अस्वीकार्य है। बुद्धज्ञान की निर्विकल्पता इसी में है कि वह अनाभोग (असंकल्प) है, उसमें करुणा विचारपूर्वक नहीं है। किन्तु बुद्धज्ञान अज्ञान अथवा मूढता नहीं है।[७५] श्वास-प्रश्वास को भी तत्त्व नहीं माना जा सकता क्योंकि वह भस्त्रागत वायु के तुल्य है।[७६] इन्द्रिय संयोग से उत्पन्न 'महासुख' तत्त्व नहीं है, क्योंकि वह प्रतीत्यसमुत्पन्न और अनित्य है। वास्त-विक महासुख स्वसंवेद्य सर्वताथागत ज्ञान है। रागसुख को बुद्धार्पण करके जुगुप्सा के बिना चित्तसौख्य के लिए भोगना विहित है। किन्तु वह पारमार्थिक तत्त्व नहीं है। स्वसंवेद्य भी प्रतिषिद्ध है। सभी तत्त्व मिथ्या कल्पित हैं।

तथागत ज्ञान के लिए बुद्ध वन्दना पाददेशना, पुण्यानुमोदन आदि के अनन्तर बुद्ध-बोधिसत्त्वों का पूजन, बोधिचित्त का उत्पादन तथा समय और संवर का पालन करना चाहिए। पुण्य और पाप मन से उत्पन्न होते हैं। मन से ही उनकी वृद्धि और विनाश सम्भव हैं। हिंसा आदि का तन्त्रों में उपदेश तभी मान्य है जब वह करुणा से उत्पन्न हो। लोभ आदि से प्रेरित कर्म अवश्य पापावह हैं।[७७] कृपाप्रेरित योगी के लिए चित्त-साधन में गम्यागम्य विचार तिरस्कार्य है क्योंकि अनादि संसार में कोई भी सम्बन्ध नित्य अथवा अपरिवर्तनीय नहीं है। शुचि अशुचि का भेद भी आपेक्षिक और लौकिक कल्पना है।

७३—ज्ञानसिद्धि, दूसरा परिच्छेद।
७४—वही, तीसरा और चौथा परिच्छेद।
७५—वही, पाँचवाँ परिच्छेद।
७६—वही, छठा परिच्छेद।
७७—वही, पृ० ६२–६५।

तात्त्विक महाज्ञान नित्य स्थित है, किन्तु मोहपट से आवृत मूढ़ों के लिए अप्रकाश है। गुरुकृपा से तथा निरन्तर उपासना से ही वह प्रकाशित हो सकता है। तन्त्र में विचित्र रीति से तत्त्वाभिधान होता है। वैरोचन, लोचना, यमान्तक आदि सब ताथागत ज्ञान के ही गुणाकारभेद से विभिन्न नाम हैं।[७८] मण्डललेखन आदि महायोगी के लिए निषिद्ध हैं।[७९] चन्द्रमंडल के समान चित्त प्रकृतिप्रभास्वर है तथा सूर्यरश्मियों के अगगम से क्रमशः सफल होता है।[८०] मृदु, मध्य और अधिमात्र अधिकारियों के लिए साधनभेद निर्दिष्ट है।[८१]

यह विचार्य है कि इन्द्रभूति ने उत्तम अधिकारी अथवा महायोगी के लिए तन्त्र की विविध क्रियाओं को अनुपयोगी कहा है। यही नहीं परमार्थ को नित्य सिद्ध और सर्वथा अपरिच्छिन्न कह कर उन्होंने 'साधन' को भी भ्रान्तिमूलक सूचित किया है। गुरुकृपा एवं बोधि चित्त ही वास्तविक उपाय है, और वे परस्पर तथा परमार्थ से अभिन्न हैं। इस प्रकार के वज्रयान में 'सहजयान' का उन्मेप देखा जा सकता है। 'सहजयान' में किसी प्रकार के तप, नियम, स्नान, उपवास, प्रतिमार्चन आदि को उपयोगी नहीं माना जाता। काय में सब देवताओं का निवास तथा काय को ही आद्य और अन्त्य साधन स्वीकार किया जाता है। सहजसिद्ध के लिए किसी प्रकार का विधिनिषेध भी मान्य न था। सहजयान की अभिव्यक्ति अनेक सिद्धों की वाणी में मिलती है। परवर्ती शैव और वैष्णव मतों पर भी 'सहजयानी' प्रभाव देखा जा सकता है। सहजयान के मूल का चिन्तन करते हुए मैत्रेयनाथ की 'स्वाभाविककाय' स्मरणीय है। सब प्रतीत्यसमुत्पन्न धर्म कृत्रिम होने के कारण मिथ्या है। अकृत्रिम या 'सहज' सत्य नित्यसिद्ध ही हो सकता है। इसके लिए सभी साधन अनुपयोगी हैं, किन्तु कितना ही शुद्ध ज्ञान मार्ग हो साधन का स्वीकार अनिवार्य है। 'जेन' सम्प्रदाय तक में साधन का स्थान है। इसी प्रकार सहजभाव में भी कायाश्रित साधन स्वीकृत है। इसका 'हठयोग' से निकट सम्बन्ध है। सहजयान की रहस्यात्मक एवं गीतात्मक अभिव्यक्ति सिद्धों की वाणी में प्राप्त होती है[८२]। सरहपाद, शबरपाद, लुईपाद आदि के गीतों और दोहों के द्वारा प्रसिद्ध बौद्ध विद्यापीठों में मीमांसित अनेक निगूढ दार्शनिक सिद्धान्त साधारण जनता तक एक सुलभ रूप में पहुँचे।

७८–वही, पृ० ७९–८१। ७९–वही, पृ० ७८।
८०–वही, पृ० ८२। ८१–वही, पृ० ९५–९९।
८२–द्र०—हरप्रसाद शास्त्री, बौद्ध गान औ दोहा, डा० प्रबोधचन्द्र बागची, दोहाकोश; राहुल सांकृत्यायन, दोहाकोश।

तिब्बती ग्रन्थों से इनके विषय में विशेष विवरण प्राप्त होता है। किन्तु यह किंवदन्ती-प्रधान है (द्र०—ग्रूनवेदेल, दी गेशिस्ते देर फ़ीरउन्द आख्त्सिशत्साउवरर; भूपेन्द्रनाथ दत्त, मिस्टिक टेल्स आव् लामा तारानाथ)। सरह, अथवा लुईपा को सिद्ध परम्परा का प्रवर्तक कहा गया है तथा उन्हें ७वीं, ८ वीं या १०वीं सदी में रखा गया है, किन्तु इस विषय में काल अथवा क्रम का निर्णय अभी विवादास्पद ही है (द्र०—जे० बी० ओ० आर० एस०, १९२८, पृ० ३४१ पू०, जे० ए० १९३४, पृ० २०९ प्र०; बागची, कौलज्ञाननिर्णय, भूमिका)। इन्द्रभूति के समय से पूर्व ही अनेक बौद्ध तन्त्रों की रचना हो चुकी थी। **हेवज्रतन्त्र** का ऊपर उल्लेख किया गया है। **हेरुक, चण्डमहारोषण, वज्रवाराही, क्रियासमुच्चय, वज्रावली, योगिनीजाल** आदि अनेक तन्त्रों की अप्रकाशित पाण्डुलिपियाँ संस्कृत में शेष हैं। **साधनमाला** की प्राचीनतम पाण्डुलिपि ई० ११६७ की है। इसमें नाना साधनों का ध्यान, मन्त्रादि के साथ संग्रह उपलब्ध होता है, जिनके आविष्कर्ताओं में असंग और नागार्जुन, सरहपाद और कुक्कुरीपाद, इन्द्रभूति, अद्वयवज्र और अभयाकरगुप्त आदि के नाम उल्लिखित हैं।

कालचक्रयान का उदय १०वीं शताब्दी से पूर्व रखना चाहिए। **कालचक्रतन्त्र** और उसकी **विमलप्रभा** टीका इसके प्रमाणभूत ग्रन्थ है। विमलप्रभा के आधार पर नडपाद या नारो-पा ने **सेकोद्देशटीका** लिखी थी। नारो-पा १० वीं शती में विक्रमशील के प्रसिद्ध छः द्वारपण्डितों में से एक थे। मञ्जुश्री को इस तन्त्र का प्रवर्तक तथा सुचन्द्र को विमलप्रभा का रचयिता कहा गया है। इस मत में 'कालचक्र' परम देवत का ही आख्यान है। कालचक्र में शून्यता और करुणा संवलित है तथा प्रज्ञात्मक शक्ति से वह सहचरित है। दार्शनिकों में प्रसिद्ध अद्वयतत्त्व ही कालचक्र की धारणा में मूर्त रूप पाता है। कालचक्र को आदिबुद्ध कहा गया है। यह स्मरणीय है कि 'आदिबुद्ध' की धारणा सद्धर्म में पहले से विदित थी और असंग ने उसका उल्लेख किया है। कारण्डव्यूह में भी उसका उल्लेख है। नाम के अनुकूल कालचक्र के मण्डल का कालतत्त्व से सम्बन्ध निश्चित है। यह उल्लेख्य है कि काल का मण्डलाकार निरूपण प्रकारान्तर से अत्यन्त प्राचीन है। उदाहरण के लिए तैत्तिरीय व आरण्यक का सावित्र चयन द्रष्टव्य है।

बौद्ध और ब्राह्मण-तन्त्र—बौद्ध तन्त्रों के उद्गम और विकास में शैव-शक्ति तन्त्रों का प्रभाव निश्चित रूप से स्वीकार करना चाहिए। **निःश्वासतत्त्वसंहिता** की एक पाण्डुलिपि ८वीं शती से चली आ रही है जिसमें १८ शिवशास्त्रों का नामोल्लेख है। **पारमेश्वरतन्त्र** की एक पाण्डुलिपि ९ वीं शताब्दी की है, **किरणतन्त्र** की १० वीं शताब्दी की, ११ वीं और १२ वीं सदियों से और अनेक तान्त्रिक संहिताओं की

पाण्डुलिपियाँ प्राप्त होती हैं। ९ वीं शती के प्रारम्भ में सुदूर कम्बुज में इस तान्त्रिक साहित्य का एकदेश प्रवेशित हुआ[८३]। यह स्पष्ट है कि ७वीं ८वीं शताब्दियों तक शैव-शाक्त-तन्त्रों का पूर्ण विकास हो चुका था। इसी समय से बौद्ध तन्त्रों का विशेष विकास प्रारम्भ होता है। अतः काल की दृष्टि से शैव तान्त्रिक परम्परा बौद्ध तान्त्रिक परम्परा से प्राचीन होती है। यह भी स्मरणीय है कि तान्त्रिक धर्म के उपासनात्मक होने के कारण उसमें किसी-न-किसी प्रकार से ईश्वरवाद अन्त-र्निहित है, जो कि मूल बौद्ध धर्म के अनुकूल नहीं है। मूलतः आगमिक परम्परा से प्रभावित होने पर भी बौद्ध तन्त्रों ने शैव-शक्ति तन्त्रों को कालान्तर में प्रभावित किया। इस प्रसंग में तारा की उपासना उल्लेखनीय है। प्रारम्भ में बौद्ध देवी होते हुए भी पीछे तारा को 'महाविद्याओं' में स्वीकार किया गया।

बौद्ध और ब्राह्मण तन्त्रों के समान तत्त्व विविध हैं—गुरु का महत्त्व, दीक्षा, अभिषेक, मन्त्र, मण्डल, चक्र, मुद्रा, नाड़ी, शक्ति-साहचर्य आदि। बौद्ध तन्त्रों का आचार प्रायः 'वामाचार' के सदृश है। 'मालतीमाधव' से बौद्धों का कापालिकों से अभेद अथवा निकट सम्बन्ध सूचित होता है।

प्राचीन हीनयान की कट्टर भिक्षुचर्या से वज्रयान की वज्रचर्या सुदूर है। इस आश्चर्यजनक परिवर्तन का उचित कारण होना चाहिए। इसे भिक्षु-जीवन का समृद्धि-जनित अथवा स्वाभाविक ह्रास एवं पतनमात्र कहना अथवा अनार्य प्रभाव का परिणाम मानना सन्तोषजनक नहीं प्रतीत होता। तान्त्रिक साधना का व्यावहारिक यथार्थ आदर्शच्युत अथवा दुरुपयुक्त हो सकता था—और इसके निश्चित संकेत प्राप्त होते हैं—किन्तु तान्त्रिक साधना का आदर्श ही प्राचीन आदर्श से विदूर है। भेद निर्वाण रूप लक्ष्य में नहीं है, किन्तु उसके योग्य साधन के अवधारण में है। प्राचीन यान में तृष्णाक्षय के लिए स्वाभाविक सुख की इच्छाओं का दमन तथा उनके दोषों का चिन्तन विहित है। महायान में अपनी इच्छाओं से संघर्ष के स्थान पर दूसरों की सेवा को महत्त्व दिया गया है, तथा वितृष्णता को करुणा ने पदच्युत कर दिया है। वज्रयान में स्वाभाविक प्रवृत्तियों का बलवत् दमन दोषावह माना गया है। इस प्रकार के दमन से इच्छाओं की वास्तविक निवृत्ति नहीं होती प्रत्युत् उनमें एक आन्तरालिक भाव तथा पतन की आशंका उत्पन्न हो जाती है[८४]। केवल बाह्य संयम अथवा इन्द्रियनिरोध या कर्मत्याग से

८३—द्र०—बागची, स्टडीज इन दि तन्त्र, पृ० ३ प्र०।
८४—तु०—चित्तविशुद्धिप्रकरण (सं० पटेल) १२७–२९ (पृ० ९)।

अन्तर्वर्ती राग या तृष्णा का क्षय असम्भव है[८५]। दूसरी ओर, दृष्टिभेद से सभी कर्म उपासनात्मक एवं दिव्यता के सम्पादक हो उठते हैं। इस प्रकार की जीवनव्यापी साधना के बिना मनुष्य की अभीप्सित पूर्ण सिद्धि असम्भव है। यह न स्थूल भोग का मार्ग है, न दुष्प्राप्य छूछे त्याग का, अपितु मनुष्य के स्वभावनिहित धर्म का अनिवार्य प्रकाश।

दार्शनिक संघर्ष—प्राचीन बौद्ध निकायों अथवा आगमों से विदित होता है कि तथागत के समय में अनेक ब्राह्मण और श्रमण दार्शनिक वाद प्रचलित थे जिनका उन्होंने प्रतिषेध किया। निर्ग्रन्थ मत को छोड़कर ये वाद परवर्ती काल में लुप्त हो गये तथा इनका अपना साहित्य अवशेष नहीं है। दूसरी ओर परवर्ती काल में प्रचलित सांख्य, वेदान्त आदि दार्शनिक प्रस्थानों का इस प्राचीन बौद्ध साहित्य में निश्चित उल्लेख तक प्राप्त नहीं होता। वस्तुतः उस समय वेदान्त एक पृथक् दर्शनशास्त्र के रूप में विद्यमान न होकर उपनिषदों की विभिन्न विद्याओं एवं असमन्वित अभिमतों के रूप में विप्रकीर्ण था। औपनिषद वेदान्त ने एक व्यवस्थित दर्शन का रूप सर्वप्रथम बादरायण के **ब्रह्मसूत्रों** की रचना के द्वारा प्राप्त किया। किन्तु उस समय तक बौद्धों में अनेक दार्शनिक प्रभेद उत्पन्न हो गये थे[८६] जिनका बादरायण ने उल्लेख तथा खण्डन किया है। सांख्यदर्शन भी तथागत के समय में कदाचित् एक गूढ़ आध्यात्मिक परम्परा के रूप में था, परवर्ती काल के समान सुविदित दर्शनशास्त्र के रूप में नहीं। योग-दर्शन के विषय में तो यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है। मीमांसा, न्याय अथवा वैशेषिक शास्त्रों का उस समय तक जन्म नहीं हुआ था और न भागवत अथवा शैव सम्प्रदायों ने किसी रीतिबद्ध दर्शन का प्रतिपादन किया था। तथागत ने सामान्यतः शाश्वतवाद, उच्छेदवाद एवं प्रचलित आत्मवाद का निराकरण किया। इस निराकरण की रीति में माध्यमिक तर्क की छाया आभासित होती है। परमार्थ सत्य दोनों अन्तों के परे है। किसी एक अन्त को मान लेने पर आर्य-सत्य निरर्थक हो जायेंगे। कालान्तर में बौद्ध संघ अनेक सम्प्रदायों में विभक्त हो गया तथा उन सम्प्रदायों के पारस्परिक विचार-संघर्ष से बुद्ध-देशित तत्त्वों का अनेकधा दार्शनिक परिष्कार सिद्ध हुआ। **कथावत्थु** और **अभिधर्म-महाविभाषा** प्राचीन बौद्ध सम्प्रदायों के दार्शनिक विवाद को प्रदर्शित करते हैं। जहाँ एक ओर धार्मिक आध्यात्मिक दृष्टि से अर्हत् और बुद्ध-विषयक विवाद महायान के जन्म

८५—तु०—गीता, २.५९।

८६—पाणिनि के द्वारा उल्लिखित पाराशर्य के भिक्षुसूत्र स्पष्ट ही ब्रह्मसूत्र नहीं हो सकते क्योंकि बादरायण ने जिन अन्य सम्प्रदायों और मतों का उल्लेख किया है वे ई० पू० पाँचवीं शताब्दी में विकसित नहीं हुए थे।

के लिए महत्त्वपूर्ण थे, वहीं दूसरी ओर पुद्गल–विषयक तथा 'धर्म'–विषयक विवाद दार्शनिक-तार्किक विकास के लिए पोषक सिद्ध हुए। इस विकास के परिणाम-स्वरूप बौद्धों के प्रसिद्ध सिद्धान्त पुद्गल-नैरात्म्य अथवा अनात्मवाद एवं क्षणभंगवाद का युक्ति-युक्त प्रतिपादन हुआ। दूसरी ओर महायान के विकास से धर्म-नैरात्म्य अथवा शून्यता का सिद्धान्त आविष्कृत तथा माध्यमिकों के द्वारा तार्किक रीति से प्रतिपादित हुआ। प्रायः इसी समय **न्याय-सूत्रों** में तथा **ब्रह्मसूत्रों** में बौद्ध दर्शन का खण्डन मिलता है। नागार्जुन तथा आर्यदेव में भी अनेक बौद्धेतर दार्शनिक मतों का विशेषतः न्याय, सांख्य और वैशेषिक का तार्किक निराकरण उपलब्ध होता है। इन माध्यमिक आचार्यों की कृतियों से यह भी ज्ञात होता है कि उनके मत का इस समय अन्यत्र युक्तिपूर्वक प्रतिषेध किया जा रहा था। **विग्रहव्यावर्तनी** तथा **न्याय-सूत्रों** की प्रमाणसामान्य-परीक्षा विशेष रूप से तुलनीय है। तीसरी से पांचवीं शताब्दी में योगाचार-विज्ञानवाद का दर्शन के रूप में आविर्भाव हुआ तथा इसी युग में बौद्ध दर्शन का मीमांसा-भाष्यकार शबरस्वामी तथा न्यायभाष्यकार पक्षिलस्वामी के द्वारा खण्डन मिलता है। पाँचवी शताब्दी से सातवीं शताब्दी के बीच में दार्शनिक संघर्ष का चरम उत्कर्ष हुआ। एक ओर बौद्धों के अभ्यन्तर सौत्रान्तिकों और माध्यमिकों ने विज्ञानवाद का खण्डन किया, दूसरी ओर दिङ्नाग ने वात्स्यायन का तथा उद्योतकर ने वसुबन्धु और दिङ्नाग का खण्डन किया। प्रायः इसी समय में कुमारिल ने मीमांसा की ओर से विज्ञानवाद और शून्यवाद का निराकरण किया। इस खण्डन-मण्डन के प्रसंग में बौद्ध न्याय का विशिष्ट विकास हुआ तथा अपोहवाद आदि बौद्ध तार्किक सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया। आठवीं शताब्दी में शान्तिरक्षित ने बौद्धेतर दर्शनों का विस्तृत खण्डन किया। दूसरी ओर जहां गौडपाद ने बौद्ध सिद्धान्तों का अद्वैत वेदान्त से समन्वय किया था, उनके प्रशिष्य शंकराचार्य ने बौद्धों का तर्क-कर्कश तिरस्कार किया। नवीं और दसवीं शताब्दियों में वाचस्पतिमिश्र, उदयनाचार्य तथा जयन्त भट्ट ने बौद्ध मत की तीक्ष्ण आलोचना की। बौद्धों की ओर से धर्मोत्तर, रत्नकीर्ति, रत्नाकर शान्ति, आदि आचार्यों ने बौद्धेतर मतों का प्रत्यालोचन किया। इस परवर्ती बौद्ध तार्किक साहित्य का लेशमात्र ही मूल में उपलब्ध है। ११ वीं और १२ वीं शताब्दियों में भारतीय बौद्ध धर्म के पतन के साथ उसका अधिकांश साहित्य भी लुप्त हो गया तथा न्याय दर्शन ने भी बौद्धों से मुक्ति पाकर विशुद्ध तर्क-शास्त्र की ओर करवट बदली। यह कहना कि कुमारिल, शंकर, वाचस्पति अथवा उदयन की युक्तियों से बौद्ध दर्शन निराकृत हो गया, वस्तुतः धर्मकीर्ति, शान्तरक्षित, कमलशील, रत्नकीर्ति आदि की अवहेलना होगी।

न्याय-सूत्रों में—न्याय-सूत्रों में क्षणभंग, सर्वपृथक्त्व, सर्वशून्यता तथा बाह्यार्थ-निराकरण का खण्डन मिलता है, जो कि बौद्ध सिद्धान्त हैं। क्षणभंगवाद इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है। सब व्यक्ति-पदार्थ क्षणिक हैं क्योंकि शरीर आदि में अवयवों के उपचय और अपचय के प्रवाह के द्वारा व्यक्तियों का उत्पाद और निरोध देखा जाता है। इसके विरोध में नैयायिक का कहना है कि यह नियम असिद्ध है। शिला, स्फटिक आदि में इस प्रकार का उपचय और अपचय नहीं माना जा सकता। क्षणिक-वादी की युक्ति है कि विनाश अकारण तथा निरन्वय होता है। इसके उत्तर में नैयायिक का कहना है कि उत्पत्ति और विनाश दोनों के कारण उपलब्ध होते हैं। बौद्धों के अनुसार सब धर्म पृथक्-पृथक् सत्तावान् हैं। प्रत्येक का लक्षण भी पृथक् है। घट-पट आदि शब्द समूहवाची हैं। इसके खण्डन में नैयायिक का कहना है कि समूह की सिद्धि भी एकत्व की सिद्धि के बिना नहीं होती। शून्यवादी का कहना है कि घट, पट आदि सब पदार्थों का अभाव है क्योंकि उन पदार्थों में इतरेतर का अभाव सिद्ध होता है। उसके खण्डन में अक्षपाद का कहना है कि प्रत्येक पदार्थ का अपना स्वभाव सिद्ध है। घट कहने से पट कट आदि का अभाव ही सूचित नहीं होता,अपितु घटत्व-विशिष्ट-घट-द्रव्य प्रतीत होता है। इसके उत्तर में शून्यवादी का तर्क है कि पदार्थों का स्वभाव परमार्थतः असिद्ध है क्योंकि व्यवहार-प्रतीत स्वभाव आपेक्षिक होता है। ह्रस्व की अपेक्षा दीर्घ की कल्पना की जाती है. दीर्घकी अपेक्षा ह्रस्व की। इनका वस्तुतः स्व-भाव नहीं माना जा सकता। ऐसे ही घट आदि की अपेक्षा पट की सिद्धि होती है, पट आदि की अपेक्षा घट की। इसके प्रत्युत्तर में अक्षपाद का कहना है कि यह उक्ति स्वविरुद्ध है। वस्तुतः अपेक्षा और अनपेक्षा में द्रव्य-भेद नहीं होता। अपेक्षा से केवल विशेष अथवा अतिशय का ग्रहण होता है। यह अवधेय है कि शून्यवाद में अपेक्षा के सत्तापरक और ज्ञानपरक अर्थों का विवेक नहीं किया जाता। पक्षिलस्वामी ने समस्त शून्यवाद को ही व्याघात से दूषित बताया है। प्रतिज्ञा-वाक्य में उद्देश्य और विधेय के द्योतक पदों का व्याघात है। पुनश्च यदि हेतु का अभाव है तो प्रतिज्ञा असिद्ध है, और यदि प्रतिज्ञा सिद्ध है तो हेतु का अभाव नहीं। बाह्यार्थ के निराकरण के लिए बौद्ध युक्ति यह है कि पदार्थों की बुद्धि के द्वारा विवेचना करने पर उनके याथात्म्य की उपलब्धि नहीं होती, जैसे तन्तुओं के खींच लेने पर पट की सत्ता की प्रतीति नहीं रहती। इसके उत्तर में अक्षपाद का कहना है कि यदि पदार्थों का विवेचन सच है तो उनकी अनुपलब्धि नहीं कही जा सकती और यदि उनकी अनुपलब्धि है तो उनका विवेचन नहीं हो सकता। पुनश्च पदार्थों की सत्ता अथवा असत्ता प्रमाणों से उपलब्ध होती है। यदि प्रमाण असत्

हैं तो पदार्थों का असत्त्व असिद्ध हो जाता है।[87] इस पर बौद्धों का उत्तर है कि प्रमाण और प्रमेय की कल्पना ऐसी ही है जैसे कि स्वप्न अथवा गन्धर्वनगर की।[88] अक्षपाद का प्रत्युत्तर है कि जागरित की स्वप्नतुल्यता असिद्ध है। स्वयं स्वप्न की कल्पना जागरित की अपेक्षा रखती है। भ्रान्ति में सर्वत्र वास्तविक और यथार्थ उपलभ्य आश्रय स्वीकार्य है। यहाँ पर यह स्मरणीय है कि नैयायिक भ्रान्ति को अन्यथाख्याति मानते हैं। पुनश्च मिथ्या-ज्ञान में न केवल आश्रय का याथार्थ्य अपितु स्वयं मिथ्या-ज्ञान की सत्ता भी स्वीकार करनी होगी। फलतः यह मानना ठीक नहीं है कि सब कुछ निरूपाख्य एवं निरात्मक है। यह विचारणीय है कि बाह्यार्थ-भंग के इस निराकरण में माध्यमिक और योगाचार का स्पष्ट भेद संकेतित नहीं है। वात्स्यायन ने अपने भाष्य में इसे सर्वा-निरूपाख्यता अथवा सर्वनिरात्मकता का निरास बताया है।

ब्रह्मसूत्रों में—ब्रह्मसूत्रों में सर्वास्तिवाद तथा योगाचार का खण्डन किया गया है[89]। यहाँ भी योगाचार और माध्यमिक का भेद उल्लासित नहीं है। आत्मा के अभाव में बौद्ध आचार्य पुरुष को समुदाय मानते हैं। बादरायण का कहना है कि इस प्रकार का संघात अनुपपन्न है। प्रतीत्यसमुत्पाद के द्वारा भी अविद्या आदि की उत्पत्ति मात्र सिद्ध होती है। उनके संघात का कोई निमित्त प्रस्तुत नहीं होता है। यही नहीं, क्षण-भंग और हेतु-फल-भाव परस्पर विरुद्ध हैं, क्योंकि उत्तर-क्षण की उत्पत्ति के समय पूर्व-क्षण निरुद्ध हो जाता है। यदि कारण के निरुद्ध होने पर भी कार्य की उत्पत्ति मानी जाय तो कार्य की उत्पत्ति को वस्तुतः अकारण मानना होगा। इस प्रकार बौद्धों के संस्कृत पदार्थ निराकृत हो जाते हैं। उनके असंस्कृत धर्मों पर बादरायण का कहना है कि प्रतिसंख्या-निरोध और अप्रतिसंख्या-निरोध की प्राप्ति दुर्बोध है, क्योंकि इन निरोधों की प्राप्ति जिस चित्त सन्तान को होगी उसका अविच्छेद कल्पनीय होगा जो निरोध के साथ असमञ्जस है। यदि प्रतिसंख्यानिरोध के अन्तर्भूत निरोध को ज्ञान-जन्य माना जाय तो निर्हेतुक विनाश की प्रतिज्ञा क्षुब्ध हो जायेगी। दूसरी ओर यदि प्रतिसंख्या-निरोध को स्वतः प्राप्त माना जाय तो ज्ञान का उपदेश व्यर्थ हो जायेगा। ऐसे ही व्यावर्तक

८७—तु०—न्यायसूत्र २.१.१३-१४—सब प्रमाण प्रतिषिद्ध होने पर प्रतिषेध अनुपपन्न हो जाता है। प्रतिषेध प्रामाणिक होने पर सब प्रमाण प्रतिषिद्ध नहीं रहते।

८८—तु०—नागार्जुन, विग्रहव्यावर्तनी।

८९—ब्र० सू० २.२.१८ प्र०।

के अभाव में आकाश को असंस्कृत-धर्म स्वीकार करना भी अनुपपन्न है। क्षण-भंग तथा नैरात्म्य के स्वीकार से स्मृति असम्भव हो जाती है। बाह्य पदार्थों का बौद्धानुमत खण्डन प्रमाण-विरुद्ध है क्योंकि बाह्य पदार्थ उपलब्ध होते हैं। जागरित को स्वप्न-तुल्य भी नहीं माना जा सकता है। आलय-विज्ञान की सत्ता भी अप्रामाणिक है तथा क्षणिकता के स्वीकार के विरुद्ध है।

न्यायसूत्रों और **ब्रह्मसूत्रों** के इन विवेचनों की तुलना से यह प्रकट होता है कि न्याय-सूत्रों का बौद्ध दर्शन से परिचय अपेक्षाकृत कम है। यह न्यायसूत्रों की प्राचीन-ता का द्योतक हो सकता है। दोनों में ही योगाचार और माध्यमिक का भेद नहीं किया गया है, और दोनों में ही बाह्यार्थ भंग के निरास में प्रायः वही युक्तियाँ दी गयी हैं। बादरायण ने सर्वास्तिवादियों के तीन असंस्कृत धर्मों से अपना परिचय प्रकट किया है, और सम्भवतः आलय-विज्ञान से भी।

उद्योतकर—उद्योतकर का कहना है कि आत्म-विषयक विवाद आत्मा के अस्तित्व के विषय में न होकर उसके विशिष्ट स्वरूप विषय में ही हो सकता है[९०]। बौद्धसूत्रों में में भी रूप, वेदना, संस्कार आदि स्कन्धों में ही आत्मा का निषेध मिलता है। इसे आत्मा की सामान्य-सत्ता का निषेध न मान कर उसके विशेष-स्वरूप का ही निषेध मानना चाहिए। बौद्धों के प्रसिद्ध **भारहारसूत्र** का उद्धरण देकर उद्योतकर यह भी सिद्ध करते हैं कि बौद्धागम में भी आत्मा की सामान्य-सत्ता का अभ्युपगम प्राप्त होता है।

बौद्धों की ओर से नैरात्म्य के समर्थन में उद्योतकर दो अनुमान प्रस्तुत करते हैं। (१) 'नास्त्यात्मा अजातत्वात् शशविषाणवत्' अर्थात् अनुत्पन्न होने के कारण आत्मा शश-विषाण के समान अविद्यमान है। (२) 'नास्त्यात्माऽनुपलब्धेः' अर्थात् आत्मा नहीं है, क्योंकि उसकी उपलब्धि नहीं होती। ऐतिहासिक दृष्टि से दूसरा अनुमान प्राचीन है। कथावत्थु में पुद्गलवादियों के विरोध में यही प्रधान तर्क है। इसके उत्तर में उद्योतकर का कहना है कि बौद्ध अनुमान में हेतु असिद्ध एवं संदिग्ध है। आत्मा अहं-प्रतीति के विषय के रूप में प्रत्यक्ष है। अनुमान तथा आगम से भी उसकी उपलब्धि होती है। प्रथम अनुमान में यदि अजातत्त्व हेतु आत्मा का जन्माभाव सूचित करता है तो असिद्ध है, क्योंकि आत्मा जन्मवान् है। पक्षान्तर में यदि अजातत्व का अर्थ अकारणत्व किया जाय तो वह हेतु विरुद्ध होगा क्योंकि आत्मा के असत्त्व के स्थान पर तब वह आत्मा का नित्यत्व सिद्ध करेगा।

९०—न्यायवार्तिक (चौखम्भा), पृ० ३३६ प्र०।

क्षण-भंग के पक्ष में अनेक युक्तियों का उल्लेख कर उद्योतकर ने उनका खण्डन किया है। बौद्धों के लिए प्रत्येक वस्तु स्वभावतः विनाशी है, अतः विनाश के लिए कारण अथवा विलम्ब की अपेक्षा न होने से विनाश को उत्पत्ति के समनन्तर मानना चाहिए। उद्योतकर का कहना है कि अकारणता का अर्थ बौद्धों के लिए नित्यत्व अथवा असत्त्व होता है। पहले अर्थ में विनाश नित्य हो जायगा, और अतएव विनाश और उत्पत्ति की साथ अवस्थिति माननी होगी। दूसरे अर्थ में विनाश के असत्त्व से सर्व-नित्यत्व सिद्ध हो जायगा। वस्तुतः क्षणिकवादी से यह पूछना चाहिए कि क्षणिकत्व क्या विनाशित्व को द्योतित करता है, अथवा आशुविनाशित्व को, अथवा उत्पन्न-प्रध्वंसित्व को, अथवा उत्पन्न-विनाशित्व को? पहले पक्ष में सिद्ध-साधन प्राप्त होता है, दूसरे में विशेषण सिद्धान्त का विरोधी हो जाता है, तीसरे में यदि उत्पत्ति और विनाश को समकालीन माना जाय तो अनुत्पन्न की उत्पत्ति के समान अनुत्पन्न का विनाश भी प्राप्त होगा। उत्पन्न होने के अनन्तर विनाश मानने पर जैसे कादाचित्क क्रियारूप उत्पत्ति को सकारण माना जाता है ऐसे ही विनाश को सकारण मानना होगा।[११]

उद्योतकर क्षणिकवादी से प्रश्न करते हैं—क्षणिक का क्या अर्थ है? यदि क्षणिक को क्षयवान् माना जाय तो यह मानना होगा कि क्षय के पूव क्षयवान् की सत्ता है, जो विरुद्ध है। यदि समनन्तर क्षय से विशिष्ट सत्ता को क्षणिक कहा जाय, तो भी असम्भव है, क्योंकि जिस समय सत्ता है उस समय क्षय नहीं है और जिस समय क्षय है, उस समय सत्ता नहीं है। यदि क्षणिक का अर्थ क्षण रूप काल से अविच्छिन्न सत्ता मानी जाय तो सिद्धान्त-विरोध उपस्थित होता है क्योंकि बौद्धों के अनुसार काल संज्ञामात्र है। नाममात्र किसी वस्तु का विशेपण नहीं हो सकता। अथच, क्षणिकत्व की प्रतिज्ञा करने पर कोई दृष्टान्त ही नहीं मिल सकता क्योंकि प्रदीप आदि का दृष्टान्त असिद्ध है।

कुमारिल—कुमारिल का कहना है कि योगाचार अर्थशून्य विज्ञान को मानते हैं, माध्यमिक विज्ञान को भी शून्य मानते हैं[१२]। बाह्यार्थ की शून्यता दोनों को ही मान्य है। इसीलिए भाष्यकार (=शबर) ने बाह्यार्थ की स्थापना के लिए यत्न किया है जिससे दोनों ही बौद्ध मत एक साथ निराकृत हो जायँ। सम्भवतः अक्षपाद और बादरायण का भी यही अभिप्राय था।

११—न्यायवार्तिक, पृ० ४१५।

१२—द्र०—श्लोकवार्तिक में निरालम्बनवाद एवं शून्यवाद के प्रकरण।

बाह्यार्थ के निराकरण के लिए बौद्धों ने दो प्रकार की युक्तियाँ दी हैं। एक ओर उन्होंने प्रमेय की परीक्षा कर यह सिद्ध किया है कि ज्ञान का आलम्बन न परमाणु हो सकता है, न परमाणु-समूह। इस प्रकार की प्रमेय-परीक्षा वसुबन्धु की विंशतिका में विस्तारित हैं तथा इसका मूल माध्यमिक आलोचना में मानना चाहिए। दूसरी ओर प्रमाण-परीक्षा से भी यही निष्कर्ष प्राप्त किया गया है। इसमें ज्ञान को निरालम्बन सिद्ध करने के लिए दो मुख्य अनुमान प्रस्तावित किये गये हैं—(१) जागरित बोध बोध होने के कारण स्वप्नवत् आलम्बनहीन है, (२) बोध और उसका विषय साथ उपलब्ध होने के कारण अभिन्न है तथा उनमें भेद की प्रतीति भ्रान्त है। इनमें पहला अनुमान प्राचीन है, दूसरे का परिष्कार और विकास दिङ्नाग तथा धर्मकीर्ति के युग मे हुआ। आलम्बन के अभाव में बोधवैचित्र्य समझाने के लिए विज्ञानवादी 'वासना' के सिद्धान्त का सहारा लेते थे।

कुमारिल ने प्रमाण-परीक्षा की ओर ही ध्यान दिया है। प्रत्ययत्व को हेतु बनाकर निरालम्बनत्व सिद्ध करने के प्रयत्न में एक ओर प्रत्यक्ष-विरोध होता है, दूसरी ओर दृष्टान्त की प्राप्ति नहीं होती। जागरित अवस्था के प्रत्यक्ष में बाह्य पदार्थों की सुपरिनिश्चित प्रतीति होती है जिसके तिरस्कार के लिए पर्याप्त प्रबल बाधक उपलब्ध नहीं होता। स्वप्न का दृष्टान्त ठीक नहीं है क्योंकि प्रतीतिमात्र में आलम्बन होता है, स्वप्न में भी, भ्रान्ति में भी। असत्प्रतीति में आलम्बन का अभाव नहीं होता, किन्तु देश-काल का विपरिवर्तन होता है। जहाँ बौद्ध अशेष ज्ञान को निरालम्बन मानते हैं, मीमांसक अशेष ज्ञान को सालम्बन।

'सहोपलम्भ नियम' का सहारा लेकर बौद्धों का कहना है कि प्रत्यक्ष-विरोध को उपस्थित करना अपार्थक है क्योंकि प्रत्यक्ष मे ग्राह्य अंश आकारमात्र होता है, तदतिरिक्त बाह्य वस्तु नही। ज्ञेय आकार को वस्तुगत मानने पर ज्ञान का उससे सम्बन्ध दुर्घट हो जायेगा। अतएव आकार को ज्ञानगत मान कर ग्राह्य-ग्राहक भेद को ज्ञान के अभ्यन्तर स्वीकार करना चाहिए। इसके विरोध में कुमारिल का कहना है कि ज्ञान और ज्ञेय का सम्बन्ध प्रकाशक और प्रकाश्य के समान भेदमूलक है। जिस समय विषय का ग्रहण होता है उस समय ज्ञान का ग्रहण नहीं होता। जिस समय एक ज्ञान से दूसरे ज्ञान का ग्रहण होता है उस समय विषय ज्ञेय नहीं होता। यदि ग्राह्य और ग्राहक का अभेद होता तो उनका समकालिक ग्रहण होता जबकि यथार्थ विपरीत है। यहाँ भी बौद्ध और मीमांसक मतों में मौलिक भेद है। विज्ञानवादी ज्ञान को स्वप्रकाश मानते हैं, जिसमें कुमारिल सहमत नहीं हैं।

विज्ञानवाद के विरुद्ध कुमारिल की एक बड़ी आपत्ति यह है कि वह व्यवहारविरोधी है। यदि विना आलम्बन के ही ज्ञान उद्भासित होता है तो सत्य और मिथ्या का भेद ही विलीन हो जायगा तथा पुरुषार्थों के अभाव में प्रवृत्ति और निवृत्ति, शास्त्र और वाद, सभी निराश्रय हो जायेंगे। वासना का भी व्यवहार को नियामक नहीं वताया जा सकता क्योंकि बाह्य आलम्बन के अभाव में वासना की उत्पत्ति ही नहीं होगी।

इस व्यवहारविषयक आपत्ति के परिहार में बौद्धों का कहना है कि सत्य द्विविध है—संवृति और परमार्थ। बाह्य जगत् की सांवृत सत्ता से ही व्यवहार की सिद्धि हो जायगी; वस्तुतः जागतिक व्यवहार परमार्थ पर आश्रित न होकर उसके अज्ञान पर आश्रित है। इसीलिए शास्त्र आदि आवश्यक हैं। दिङ्नाग की उक्ति है कि समस्त प्रमाण-प्रमेय-व्यवहार बुध्यारूढ़ धर्म और धर्मी से सिद्ध होता है, उसके लिए उनका पारमार्थिक सत्यासत्य अनपेक्षित है। कुमारिल इस परिहार को नहीं मानते। उनका कहना है कि संवृति-सत्य की कल्पना निस्सार है। 'सत्य है तो संवृत्ति कैसे, मिथ्या है तो सत्यता कैसे ?" संवृति और परमार्थ का भेद सत्य और असत्य के मध्य में एक तृतीय वस्तु की विमूढ़ कल्पना है।

शंकर—श्रीशंकराचार्य ने शारीरकभाष्य में बौद्धों के तीन सम्प्रदायों का उल्लेख किया है—सर्वास्तिवाद, विज्ञानवाद, शून्यवाद। सर्वास्तिवादी बाह्य और आन्तर वस्तु की सत्ता मानते हैं तथा उसे चतुर्विध बताते हैं—भूत और भौतिक, चित्त और चैत। पृथ्वी धातु आदि भूत हैं। रूप आदि तथा चक्षु आदि भौतिक हैं। पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु परमाणु-संघात हैं। इनके परमाणु क्रमशः कठिन, स्निग्ध, उष्ण, और चलनात्मक हैं। चित्त और चैत्त में पाँच स्कन्ध संगृहीत हैं। ये भी संहत होकर व्यवहारास्पद बनते हैं।

इसके खण्डन में शंकर का कहना है कि ये दोनों प्रकार के समुदाय अनुपपन्न हैं क्योंकि समुदायी अचेतन है। चित्त का व्यापार भी समुदायसिद्धि के अधीन है। कोई चेतन भोक्ता या प्रशासिता, या स्थिर संहन्ता स्वीकार नहीं किया गया है। अतएव स्कन्ध-संघात की प्रवृत्ति को निरपेक्ष मानना होगा। ऐसी स्थिति में उनकी प्रवृत्ति का विराम ही नहीं होगा। आलयविज्ञान की सत्ता स्वीकार करने से भी काम न चलेगा क्योंकि उसे स्थिर मानने पर आत्मा का स्वीकार हो जायेगा, क्षणिक मानने पर वह संहन्ता न हो पायगा। अथच, स्कन्धों की क्षणिकता के स्वीकार से उन्हें निर्व्यापार मानना होगा और अतः उनकी प्रवृत्ति भी अनुपपन्न है। इस प्रकार न समुदाय सम्भव है,न तदाश्रित लोकयात्रा।

यह कहा जा सकता है कि अविद्या आदि द्वादश निदानों के परस्पर निमित्त-नैमित्तिक-भाव से संघात उपपन्न है, किन्तु प्रतीत्यसमुत्पाद से निदानों की उत्पत्तिमात्र सिद्ध होती है, संघात नहीं। संघात की उत्पत्ति के लिए निमित्त चाहिए जो कि भोक्तृरहित क्षणिक अणुओं के स्वीकार में असम्भव है। यदि संघातों की अनादि सन्तति मानी जाय तो उसमें एक संघात से दूसरे की उत्पत्ति या नियम से सदृश होगी या अनियम से सदृश या विसदृश। पहले विकल्प में सन्तान का जाति-भेद न होगा, दूसरे में एक जाति के अन्दर भी व्यक्तित्व सिद्ध न हो पायेगा। पुनश्च, स्थिर भोक्ता के अभाव में भोग भोगार्थ होगा, मोक्ष मोक्षार्थ। अतएव न भोग प्रार्थनीय होगा, न मोक्ष।

यही नहीं, क्षणभंग मानने पर कार्यकारण-भाव ही सिद्ध न होगा। पूर्वक्षण को निरुद्ध मानने पर उत्तर क्षण को उत्पन्न करने के लिए केवल अभाव रह जायगा। यदि सत्तायुक्त पूर्व क्षण को कारण माना जाय तो उसमें क्रिया और अतएव क्षणान्तर-सम्बन्ध मानना होगा। यदि उसकी सत्ता को क्रिया से अभिन्न माना जाय तो भी अनुपपत्ति रह जाती है क्योंकि तब यह बताना होगा कि कारण के स्वभाव से स्पृष्ट कार्य की उत्पत्ति किस प्रकार होगी ? यदि कारण से कार्य को उपरक्त माना जाय तो कारण की क्षणिकता तिरस्कृत हो जाती है। और यदि कार्य के स्वभाव को कारण से अछूता माना जाय तो किसी भी कारण से कोई भी कार्य उत्पन्न हो जायेगा। अपिच, उत्पाद, और निरोध वस्तु का स्वरूप माने जा सकते हैं, या उसकी अवस्थान्तर, अथवा वस्त्वन्तर। पहली कल्पना में 'वस्तु', 'उत्पाद', एवं 'निरोध' को पर्याय मानना होगा। दूसरी में अवस्थाभेद मानने पर क्षणिकत्व छोड़ना होगा। तीसरी में वस्तु शाश्वत हो जायगी। यदि वस्तु का दर्शन और अदर्शन ही उसका उत्पाद और निरोध माना जाय तो भी वस्तु शाश्वत हो जायगी क्योंकि दर्शन और अदर्शन द्रष्टा के धर्म हैं, न कि दृश्यवस्तु के। क्षणिकता के स्वीकार से स्मृति तथा प्रत्यभिज्ञान असम्भव हो जायेंगे क्योंकि इनके लिए पूर्वकालीन दर्शन और उसके उत्तरकालीन स्मरण के क्षणों में अभिन्न विषयी तथा अभिन्न विषय अपेक्षित हैं।

विज्ञानवादी के लिए समस्त प्रमाण-प्रमेय-व्यवहार आन्तरिक है तथा बुद्धि-समारूढ़ रूप से ही उपपन्न हैं। ज्ञान के अतिरिक्त बाह्य पदार्थों की सत्ता असम्भव है क्योंकि बाह्य अर्थ परमाणु होंगे या परमाणु-समूह। परमाणुओं को स्पष्ट ही स्तम्भ आदि की प्रतीति का आलम्बन नहीं माना जा सकता। दूसरी ओर स्तम्भ आदि को परमाणु-समूह भी नहीं माना जा सकता क्योंकि समूह को परमाणुओं से न भिन्न निरूपित किया जा सकता है, न अभिन्न। इसी प्रकार जाति आदि भी प्रत्याख्येय हैं।

पुनश्च ज्ञान से घट, पट आदि विशिष्ट विषय प्रकाशित होते हैं। अपने विषय के चुनाव में ज्ञान की यह विशेषपरकता ज्ञान और विषय के सामरूप्य के विना समझ में नहीं आ सकती। इस सारूप्य के मानने पर ज्ञेय आकार को ज्ञानगत मानने में लाघव है। यही नहीं, ज्ञान और ज्ञेय की सदा साथ ही उपलब्धि होती है। अतएव उन्हें अभिन्न मानना ही उचित है। स्वप्न, आदि में इस अभेद का दृष्टान्त मिलता है। जागरित की प्रतीति को भी स्वप्नवत् मानना चाहिए। स्वप्नतुल्य ही वाह्यार्थ के अभाव में वासना के वैचित्र्य से प्रतीति-वैचित्र्य को सिद्ध समझना चाहिए।

इस युक्ति-कलाप के खण्डन में शंकराचार्य का कहना है कि वाह्यार्थ की सत्ता उपलब्धि के द्वारा ही सुघोषित है। कोई भी घट, पट आदि के ज्ञान को ही घट, पट आदि नहीं समझता। ज्ञान और ज्ञेय के सहोपलम्भ का कारण उनका अभेद न होकर उनका उपायोपेयभाव है। ज्ञान ज्ञेय का ज्ञापक है अतः ज्ञानविरहित ज्ञेय उपस्थित नहीं होता, किन्तु उससे उनका अभेद सिद्ध नहीं होता। प्रकारान्तर से ज्ञान और ज्ञेय का भेद लक्षित भी किया जा सकता है। घटज्ञान, पटज्ञान, आदि में ज्ञान के तुल्य होते हुए भी विषयभेद प्रकट होता है, दूसरी ओर, घटज्ञान, घटस्मरण आदि में विषय का भेद न होते हुए भी विषयी का भेद लक्ष्य है। अथच, ज्ञान स्वयं अपना ज्ञेय किस प्रकार हो सकता है। कुशल नट भी अपने कन्धे पर नहीं चढ़ सकता। शंकर विज्ञान की स्वसंवेद्यता का भी खण्डन करते हैं। अनित्य विज्ञान से अत्यन्त भिन्न नित्य साक्षी ही स्वयंसिद्ध है। उसी से विज्ञान को अवभास्य मानना चाहिए। स्वप्न और जागरित की तुलना भी अयुक्त है क्योंकि स्वप्न का बाध होता है, जागरित का नहीं। स्वप्न स्मृतिरूप है, जागरित उपलब्धि-रूप। वासना के सहारे ज्ञानभेद बताना भी निर्युक्तिक है क्योंकि वासना संस्कारविशेष है तथा संस्कार निमित्त अथवा आश्रय के बिना उद्भूत नहीं होते। बाह्यार्थ के अभाव में निमित्त की सिद्धि नहीं होती, क्षणिकत्व के कारण आलयविज्ञान भी वासना का आश्रय नही बन सकता।

शून्यवादियों के पक्ष को शंकराचार्य ने सर्व-प्रमाण-विप्रतिषिद्ध कहा है तथा उसका खण्डन अनावश्यक बताया है। लोकव्यवहार सर्व-प्रमाणसिद्ध है। बिना किसी अन्य तत्त्व के स्वीकार के उसका निषेध नहीं किया जा सकता।

ह्रास और पतन

सिन्ध—सातवीं शताब्दी में श्वान्‌च्वांग के अनुसार सिन्ध के शासक शूद्रजातीय बौद्ध थे तथा वहाँ विहार एवं भिक्षु बहुसंख्यक थे, किन्तु उनमें भ्रष्टाचार प्रचलित था। साहसी राय के अनन्तर ब्राह्मण अमात्य चच ने नये राजवंश की स्थापना की।

'चचनामा' से ज्ञात होता है कि ब्राह्मणावाद में इस समय "बुद्धरक्षित" (?) नाम का बौद्ध श्रमण था जोकि स्पष्ट ही एक सिद्ध तान्त्रिक था। उसके प्रभाव से चच ने बौद्ध धर्म का विरोध नहीं किया। चच का भाई 'चन्दर' श्रमण बताया जाता है। ई० ७१२ में चच का पुत्र दाहिर मुहम्मद बिन कासिम के द्वारा मार डाला गया तथा हिन्दुओं के स्थान पर अरबों ने सिन्ध में शासन की बागडोर पकड़ी। अरब विवरणों से यह निस्सन्देह है कि उस समय सिन्ध में बौद्ध श्रमणों की संख्या प्रचुर तथा उनका प्रभाव पर्याप्त था। किन्तु ये श्रमण स्पष्ट ही कापुरुष एवं देशद्रोही थे। अरबों की विजय में इन्होंने अनेक प्रकार से सहायता पहुँचायी। अरबों की धार्मिक सहिष्णुता के कारण आठवीं सदी में सिन्धी बौद्धों का सहसा लोप नहीं हुआ। आठवीं सदी के पूर्वार्ध में ह्वि-चाओ के यात्रा-विवरण (७०६-९) से इसकी पुष्टि होती है। पीछे धर्मपाल के समय में 'सैन्धव श्रावकों' का उल्लेख तारानाथ (पृ० २२७) ने किया है। बुदोन ने बुद्धाब्द की गणना पर 'सैन्धव श्रावकों' का मत उद्धृत किया है। किन्तु इस्लाम के सान्निध्य में तथा मुस्लिम शासन में सिन्ध के पहले से विकृत और भ्रष्ट बौद्ध धर्म का क्रमशः किन्तु अविदित रूप से क्षय और लोप हुआ।

उत्तर-पश्चिम—कोरिया के भिक्षु ह्वी-चाओ ने ७२६ से ७२९ के बीच भारत-यात्रा की थी। उसके तथा उ-कुंग के विवरण (७५१-९०) से ज्ञात होता है कि आठवीं सदी में कपिशा, गन्धार, उड्डियान एवं कश्मीर में सद्धर्म का प्रचुर प्रचार था। यह स्मरणीय है कि श्वान्-च्वांग ने गन्धार और उड्डियान में सद्धर्म के ह्रास का निर्देश किया है। सद्धर्म का यह पुनरुज्जीवन कदाचित् उड्डियान के मन्त्रयान एवं वज्रयान के रूप में था जिसके वहाँ प्रचार का संकेत श्वान्-च्वांग ने भी किया है। उड्डियान में वज्रयान के नेता इन्द्रभूति और पद्मसम्भव थे। आठवीं और नवीं सदियों में कपिशा, गन्धार और उड्डियान में तुर्की शाही नरेश शासन करते थे और वे बौद्ध धर्म के अनुकूल प्रतीत होते हैं। नवीं शताब्दी में पुरुषपुर के कनिष्क-विहार में अध्ययन का उल्लेख प्राप्त होता है। ई० ८७० में अरबों ने काबुल जीत लिया तथा प्रायः इसी समय लल्लिय नाम के ब्राह्मण ने तुर्की शाही वंश के स्थान पर ब्राह्मण शाही वंश की स्थापना की जिसका ११वीं सदी में कट्टर धर्मान्ध मुस्लिम तुर्कों ने विनाश किया। प्रायः इसी समय अलबेरुनी ने अफगानिस्तान एवं उत्तर-पश्चिमी भारत में बौद्ध धर्म को लुप्त पाया।

कश्मीर—श्वान्-च्वांग ने कश्मीर में १०० विहार देखे थे, प्रायः एक शताब्दी पश्चात् ७५९ में उ-कुंग ने वहाँ ३०० विहारों का उल्लेख किया है। कल्हण से ज्ञात

होता है कि वैष्णव होते हुए भी ललितादित्य और जयापीड ने अनेक बौद्ध विहारों का निर्माण कराया। नवीं शताब्दी में अवन्तिवर्मा के शासनकाल में बौद्ध साहित्य और तन्त्रों की प्रगति का प्रमाण मिलता है। क्षेमगुप्त के समय में बौद्ध मठों का राजनीतिक हस्तक्षेप सूचित होता है। दिद्दा (९५०–१००३) ने अनेक बौद्ध विहार बनवाये। ११वीं शताब्दी में कलश ने तान्त्रिकों और बौद्धों का पोषण किया। हर्ष (१०८९–११०१) के घोर अत्याचारों और भ्रष्टाचारों में मन्दिरों का धन लूटना भी था। बौद्ध विहारों की इस समय कितनी क्षति हुई, यह अनिश्चित है। जयसिंह (११२३–४०) के समय में बौद्ध धर्म के लिए दिये गये अनेक दानों का उल्लेख प्राप्त है।

यह स्पष्ट है कि कश्मीर में अधिकांश शासक बौद्ध न होते हुए भी बौद्ध धर्म के प्रतिकूल नहीं थे। बौद्ध भिक्षुओं के लिए विविध विहारों का निर्माण बराबर ही होता रहा। कश्मीर में नवीं सदी में धर्मोत्तर आदि अनेक प्रसिद्ध बौद्ध आचार्य हुए थे और प्रत्यभिज्ञा दर्शन का बौद्ध दर्शन से निश्चित सम्बन्ध प्रतीत होता है। ज्ञानश्री, सोमनाथ आदि बुद्धश्रीज्ञान कश्मीरी बौद्ध पण्डित तिब्बत में धर्मप्रचार एवं अनुवाद के लिए बुलाये गये। ई० ९६६ में शिग-चिन और १५६ चीनी भिक्षु बौद्ध ग्रन्थों के संकलन के लिए कश्मीर आये। जहाँ एक ओर कश्मीर में बारहवीं शताब्दी तक बौद्ध कला और पाण्डित्य की परम्परा बनी रही, दूसरी ओर बौद्ध विहारों और भिक्षुओं में विकृत और भ्रष्ट धर्मचर्या के भी पर्याप्त प्रमाण मिलते हैं। कल्हण ने सस्त्रीक भिक्षुओं का उल्लेख किया है तथा सद्धर्म में श्रद्धालु क्षेमेन्द्र की कृतियों में भिक्षुओं पर व्यंग्य का अभाव नहीं है। उत्तर-पश्चिम के सदृश कश्मीर में भी बौद्ध धर्म का विनाश इस्लाम की देन मानना चाहिए। ई० १३३९ से कश्मीर में मुस्लिम प्रभुत्व निश्चित रूप से विदित है।

पश्चिम और मध्यदेश—श्वान्-च्वांग और इ-चिंग के विवरण से सातवीं सदी में सद्धर्म की बलभी में समृद्धि ज्ञात होती है। सातवीं और आठवीं शताब्दियों में अभिलेखों से सद्धर्म के प्रति बलभी के शासकों की अनुकूलता और दानशीलता सूचित होती है। बलभी इस युग में बौद्ध विद्या का एक प्रकृष्ट केन्द्र था। पीछे मध्य भारत और पश्चिम में बौद्धों के क्रमशः ह्रास में राजकीय उपेक्षा तथा ब्राह्मण और जैन धर्मों के प्रसार को कारण मानना चाहिए।"

९३–९०—अल्तेकर, राष्ट्रकूटज एण्ड देयर एज, पृ० २७०–७२, ३०७–९; तु०—सी० आइ० आइ०, जि० ४, भाग १, पृ० १४६, १४९।

मध्यदेश में श्वान्-च्वांग के समय में ही सद्धर्म का ह्रास सूचित होता है। स्पष्ट ही बौद्ध धर्म के लिए गुप्तों की सहिष्णुता पर्याप्त नहीं थी। उसे अपने विकास के लिए राजकीय पोषण अपेक्षित प्रतीत होता है। आठवीं सदी में ह्वी-चाओ और उ-कुंग दोनों ने कान्यकुब्ज में सद्धर्म को समृद्ध, किन्तु वाराणसी में लुप्तप्राय देखा। छि-ये नाम का चीनी यात्री भारत से ९७६ में लौटा था। उसने कान्यकुब्ज में भी बौद्ध धर्म को लुप्त पाया, किन्तु मगध में उसकी स्थिति समृद्ध थी। सारनाथ में पुरातत्त्वीय सामग्री १२वीं शताब्दी के अन्त में बौद्ध परम्परा का सहसा उच्छेद सूचित करती है जो सम्भवतः तुर्की विजय का परिणाम था।

मगध और पूर्व—पाल सम्राट् अपने को 'परमसौगत' कहते थे और मगध में उनके शासन-काल में बौद्ध धर्म, दर्शन, तन्त्र तथा कला का एक उज्ज्वल युग आविर्भूत हुआ।[९४] आठवीं शताब्दी में पालवंश के प्रभुत्व का बंगाल में उद्भव तथा मगध-में विस्तार हुआ। धर्मपाल के समय में पालसाम्राज्य का अधिकार समुद्र से कान्यकुब्ज तक विस्तृत था। देवपाल के समय में साम्राज्य का यह प्रताप बना रहा। पीछे अनेक भाग्य-विपर्ययों के बावजूद पालशक्ति न्यूनाधिक रूप में बारहवीं शताब्दी तक विद्यमान थी। इस युग में नालन्दा, विक्रमशील, ओदन्तपुरी, सोमपुरी आदि विहारों की विद्या और ख्याति अपने चरम शिखर तक पहुँची तथा बौद्ध धर्म ने तिब्बत पर विजय प्राप्त की जिसमें शान्तरक्षित, पद्मसम्भव और अतीश ने प्रधान नेतृत्व किया। दूसरी ओर, तन्त्र और हठयोग के विकास ने बौद्ध और ब्राह्मण धर्मों के बीच की खाई अंशतः पाटी।

तारानाथ के अनुसार पालयुग में सद्धर्म का मगध, बंगल, आडिविश, अपरान्तक जनपद, कश्मीर तथा नेपाल में विस्तार हुआ। इस विस्तार में सद्धर्म का रूप प्रधानतया महायान एवं मन्त्रनय था। प्रथम पालशासक गोपाल का मात्स्यन्याय से अभिभूत प्रजा ने राजपद में वरण किया था। गोपाल ने बंगल से प्रारम्भ कर अपना शासन मगध पर भी स्थापित कर लिया। ओदन्तपुरी में गोपाल के समय में ही

९४—द्र० तारानाथ, पृ० २०२–५७; जे० बी० ओ० आर० एस० ५.१७१; विद्याभूषण, हिस्टरी आव दि मेडीवल स्कूल आव् इण्डियन लोजिक; मित्र, डिक्लाइन ऑव् बुद्धिज्म इन इण्डिया; मजुमदार (सं०), हिस्टरी ऑव् बंगाल, जि० १, साहु, बुद्धिज्म इन उड़ीसा; बोस, इण्डियन टीचर्स आव् दि बुद्धिस्ट यूनिवर्सिटीज।

कदाचित् वहाँ के सुप्रसिद्ध विहार की स्थापना हुई। अभयाकरगुप्त के समय में यहाँ एक सहस्र भिक्षु थे। इसी युग में कश्मीर में आचार्य शान्तिप्रभ, पुण्यकीर्ति के शिष्य शाक्यप्रभ, दानशील, विशेषमित्र, प्रज्ञावर्मा तथा आचार्य शूर विद्यमान थे। पूर्व में इस समय आचार्य ज्ञानगर्भ थे तथा विरूप नाम के एक सिद्धाचार्य भी इसी समय के हैं। शान्तरक्षित नालन्दा के प्रसिद्ध आचार्य थे और पीछे धर्मप्रचार के लिए तिब्बत गये थे। उनका **'तत्त्वसंग्रह'** बौद्ध दर्शन की अनुपम कृति है। इसमें अन्य दर्शनों और सम्प्रदायों का विस्तृत खंडन है। ग्रन्थकार का अपना सिद्धान्त खण्डन में माध्यमिक-स्वातन्त्रिक, प्रमाणमीमांसा में सौतान्त्रिक, तथा परमार्थचिन्तन में योगाचार-विज्ञानवाद से प्रभावित है। बुद्ध की सर्वज्ञता ही उनके सिद्धान्तों में मूर्धन्य है।

धर्मपाल का शासन सुदीर्घ बताया गया है। तारानाथ ने उस साम्राज्य का विस्तार समुद्र से दिल्ली और जालन्धर तक बताया है। धर्मपाल ने सिंहभद्र और ज्ञानपाद को अपना आचार्य बनाया तथा **प्रज्ञापारमिता** एवं **गुह्यसमाज** का विशेष समादर किया। उनके समय में सिद्धाचार्य कुकुर का आविर्भाव हुआ। धर्मपाल ने ही विक्रम शील-विहार की स्थापना की। यह विहार मगध में उत्तर की ओर गंगातीर पर पर्वताग्र में स्थित था। विहार के चारों ओर प्राकार था तथा मध्य में १०८ चैत्यगृह थे। वहाँ १०८ आचार्य थे जिनके अतिरिक्त विहार के विविध प्रवन्ध के लिए ६ आचार्य और थे। कालान्तर में यहाँ एक मध्य में स्थित आवास के ६ तरफ ६ अन्य आवासों का विकास हुआ। विहार के ६ द्वारों में विख्यात विद्वान् द्वार-पण्डित के रूप में रहते थे। धर्मपाल के समय के प्रसिद्ध पण्डितों में कल्याणगुप्त, सिंहभद्र, शोभव्यूह, सागरमेघ, प्रभाकर, पूर्णवर्धन, वज्राचार्य बुद्धज्ञानपाद, बुद्धगुह्य एवं बुद्धशान्ति उल्लेखनीय हैं। सिंहभद्र ने शान्तिरक्षित से **माध्यमिकशास्त्र** का अध्ययन किया था तथा वेरोचनभद्र से **प्रज्ञापारमिता** एवं **अभिसमयालंकारोपदेश** का। इन्होंने अष्टसाहस्रिका पर व्याख्या आदि अनेक ग्रन्थों का प्रणयन किया। आचार्य सागरमेघ की **बोधिसत्त्वभूमि** पर व्याख्या प्रसिद्ध है। वज्राचार्य बुद्धज्ञानपाद के चमत्कारों के विषय में अनेक प्रसिद्धियाँ थीं। **गुह्यसमाज, मायाजाल, बुद्धसमायोग, चन्द्रगुह्यतिलक** तथा **मंजुश्रीक्रोध** नाम के तन्त्रों का वे प्रायः व्याख्यान करते थे। यह स्मरणीय है कि इसी युग में सैन्धव श्रावकों ने और सिंहल के भिक्षुओं ने विक्रमशील में तन्त्र-मन्त्र का विरोध प्रकट किया।

तारानाथ के अनुसार देवपाल ने योगी शिरोमणि से प्रेरित होकर ओडिविश के तीर्थिक राजा से युद्ध किया और ओडिविश जीता क्योंकि पूर्वकाल में वहाँ सद्धर्म का

प्रचार था जिसका स्थान उस समय तीर्थिकों ने ले लिया था। देवपाल ने ४० विशेष तीर्थ्य स्थानों का विनाश किया जिनमें अधिकांश मंगल और वरेन्द्र में थे, ऐसी प्रसिद्धि है। इन्होंने श्रीत्रैकूटक अथवा सोमपुरी विहार का उद्धार किया। इनके समय मे अपर कृष्णाचारिन नाम के आचार्य हुए थे। इन्होंने कामरूप में बसुसिद्धि प्राप्त की थी तथा ये सम्बर, हेवज्र और यमान्तक तन्त्रों के पण्डित थे। इन्होंने **शम्बरव्याख्या** और अन्य शास्त्रों का प्रणयन किया। इस समय के अन्य प्रमुख आचार्य थे—शाक्य-प्रभ, शाक्यमित्र, सुमतिशील, दंष्ट्रासेन, ज्ञानचन्द्र, वज्रायुध, मंजुश्रीकीर्ति, ज्ञानदत्त, और वज्रदेव। दक्षिण की ओर इस समय भदन्त अवलोकित थे तथा कश्मीर में आचार्य धनमित्र। शाक्यमित्र ने **तत्त्वसंग्रह** नाम के योगतन्त्र पर **कोसलालंकार** नाम की व्याख्या कोसल में लिखी। जीवन के अन्तिम भाग में ये कश्मीर चले गये। वज्राचार्य मंजुश्रीकीर्ति ने **नामसंगीति** पर टीका लिखी। वज्रदेव एक कवि थे और उनके **लोकेश्वरशतकस्तोत्र** की प्रसिद्धि थी।

महीपाल के समय में आचार्य आनन्दगर्भ, परहित, चन्द्रपद्म, ज्ञानदत्त, ज्ञानकीर्ति आदि थे। कश्मीर में इस समय जिनमित्र, सर्वज्ञदेव, दानशील आदि उल्लेख्य हैं। सिद्ध तिलोपा भी इसी युग के थे। आनन्दगर्भ महासांघिक सम्प्रदाय के तथा न्याय-माध्यमिक दर्शन के अनुयायी थे। उन्होंने बहुसंख्यक योग तन्त्रों पर व्याख्याएँ लिखीं।

तारानाथ के अनुसार महीपाल के अनन्तर 'महापाल' ने शासन किया। 'महा-पाल' से किस शासक को समझना चाहिए, यह अनिश्चित है। 'महापाल' ने ओदन्त-पुरी में उरुवास विहार स्थापित किया तथा वहाँ ५०० सैन्धव श्रावकों का प्रबन्ध किया। सोमपुरी, नालन्दा, आदि में उसने अनेक विहार स्थापित किये। कालचक्रतन्त्र का इस समय प्रचार हुआ तथा आचार्य प्रज्ञाकरगुप्त, पद्माकुश, जेतारि, कृष्णसमयवज्र आदि इसी समय के हैं।

तारानाथ के अनुसार 'चणक' के प्रशासन-काल में रत्नाकरशान्ति, प्रज्ञाकरमति, वागीश्वरकीर्ति, नारोपा, रत्नवज्र तथा ज्ञानश्रीमित्र विक्रमशील के 'द्वारपण्डित' थे। नारोपा मर-पा के गुरू थे। तिब्बत के प्रसिद्धतम सिद्ध मिल-रे-पा मर-पा के शिष्य थे। रत्नवज्र कश्मीर से विक्रमशील आये थे। कश्मीर लौट कर उन्होंने वहाँ धर्म का प्रचार किया तथा अन्त में उद्यान चले गये। ज्ञानश्रीमित्र गौडदेशीय थे तथा पहले सैन्धव श्रावकों के पण्डित थे। पीछे उन्होंने महायान स्वीकार किया।

अतीश दीपकर श्रीज्ञान को नयपाल के समय में रखना चाहिए। तारानाथ ने 'नयपाल' के समय में अमोघवज्र, प्रज्ञाकाररक्षित आदि पण्डित कहे हैं। प्रज्ञाकार-

रक्षित को पितृ-मातृ-तन्त्रों में विद्वान् बताया गया है। नारोपा के शिष्य रिरि, जाति के चाण्डाल थे। आचार्य अनुपमसागर कालचक्रतन्त्र के पण्डित थे। कश्मीर में इस समय शंकरानन्द ने धर्मकीर्ति के ग्रन्थों पर व्याख्याएँ लिखीं।

रामपाल के समय में अभयाकरगुप्त नाम के महान् आचार्य वज्रासनपण्डित थे। तारानाथ के अनुसार इस समय संघ का ह्रास हुआ। विक्रमशील में इस समय १६० पण्डित थे और १,००० आवासिक भिक्षु थे यद्यपि पर्व के अवसर पर ५,००० एकत्र हो जाते थे। वज्रासन में राजा के द्वारा पोषित ४० महायान के अभिज्ञ तथा २०० श्रावक भिक्षु निरन्तर वास करते थे। विशिष्ट अवसरों पर १०,००० श्रावक भिक्षु एकत्र होते थे। ओदन्तपुरी में १,००० भिक्षु सतत निवास करते थे, किन्तु अवसरों पर १२,००० एकत्र हो जाते थे। इस समय मगध के अतिरिक्त प्राय सर्वत्र: तीर्थिक और म्लेच्छ धर्मों की वृद्धि हो रही थी।

तारानाथ ने **'राथिकसेन'** के समय में २४ "महान्" (आचार्यों) का उल्लेख किया है जिनमें कुछ कश्मीर और नेपाल में थे तथा सब वज्रधर और सम्बर के अभिज्ञ थे। किन्तु सेनवंश के समय ही म्लेच्छों ने कुछ भिक्षुओं की सहायता से मगध में विजय प्राप्त की तथा विहारों को तहस-नहस किया। बौद्ध आचार्य तिब्बत, नेपाल, दक्षिण आदि की ओर भाग गये तथा मगध और बंगाल में भी सद्धर्म का सूर्यास्त हो गया।

ह्रास के कारण

भारत में सद्धर्म के ह्रास और पतन के विषय में अनेक भ्रान्तियाँ प्रचलित हैं। यह कहा गया है कि "सद्धर्म का प्रचार केवल स्थानीय तथा कादाचित्क था" (वासिलियफ), अत: उसका पतन आश्चर्यजनक नहीं है। यह भी कहा गया है कि बौद्ध धर्म हिन्दू धर्म में कवलित हो गया जिसमें ७वीं शताब्दी से सांमितीय और तान्त्रिक प्रसार ने सम्भवत: सहायता दी। बौद्ध संघ में तन्त्रों के कारण ज्ञान और आचार के लोप को भी उसके नाश का कारण बताया गया है। कुमारिल तथा शंकर के वाद-कौशल को भी बौद्धधर्म के ह्रास में कारण माना गया है। इस प्रसंग में यह निर्विवाद है कि बौद्ध धर्म के कतिपय तत्त्व हिन्दू धर्म में अवश्य स्वीकृत हुए हैं। यथा, शाक्तों की कौलपरम्परा में तथा यह भी स्वीकार्य है कि अनेक भिक्षुओं एवं विहारों मे भ्रष्टाचार का अभाव न था जिसका **'राष्ट्रपालपरिपृच्छा'** में स्पष्ट निर्देश है। किन्तु तान्त्रिक आचार तथा तत्सम्बद्ध कुछ विकृति केवल बौद्धों में ही विदित न थी, अपितु शैवों और शाक्तों में भी विदित थी, जिनका प्रचार लुप्त नहीं हुआ

और न तार्किक खंडन से किसी धर्म का लोप माना जा सकता है। वस्तुतः बौद्ध धर्म प्रधानतया भिक्षुओं का धर्म था तथा इन भिक्षुओं का जीवन विहारों में केन्द्रित था। उपासकों के लिए बौद्ध धर्म ने अपना पृथक् और पर्याप्त नैतिक-सामाजिक आचार एवं संस्थाएँ नहीं गढ़ पायी थीं। नैयायिक उदयन का कहना है कि बौद्ध भी वैदिक संस्कारों का पालन करते थे। उपासकों का बौद्ध धर्म मुख्यतया विहारों और चैत्यों के लिए दान तथा तारा, लोकेश्वर आदि की प्रतिमाओं का अर्चन ही था। बौद्ध विहार प्रायः राजाओं के द्वारा प्रदत्त अथवा अनुमत भूमिदान पर निर्भर करते थे। इसी कारण बौद्ध धर्म के प्रचार में राजकीय समर्थन एवं प्रोत्साहन का विशेष हाथ रहा है। दक्षिण और पश्चिम में हिन्दू शासकों की उपेक्षा अथवा वैमुख्य से तथा उत्तर में तुर्कों की विजय से बौद्ध विहार नष्ट और लुप्त हो गये। विहारों के लोप से उपासकों की क्षीण बौद्धता का विलोप अनिवार्य था।

32

Buddhism — History

History — Buddhism